जैनदर्शन

डॉ. महेन्द्रकुमार जी जैन, एम. ए., न्यायाचार्य

जन्म : सन् १९११ : **स्वर्गवास :** सन् १९५९

जन्म स्थान : खुरई (म. प्र.)

शिक्षा : ना. दि. जैन पाठशाला, बीना (म. प्र.),
शास्त्री : हु. दि. जैन महाविद्यालय, इन्दौर (म. प्र.)
न्यायाचार्य : स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, काशी
एम. ए. : आगरा वि. वि., **पी-एच. डी. :** (का. हि. वि. वि.)।

अध्यापन : स्याद्वाद जैन महाविद्यालय काशी (१९३२-१९४३)
महावीर जैन महाविद्यालय बम्बई (१९४४)
संस्कृत महाविद्यालय, का. हि. वि. वि. (१९४७-१९५९)

सम्पादन-कृतियाँ : न्यायकुमुदचन्द्र (दो भाग), न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग), अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवार्त्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय-टीका (दो भाग) आदि।

अन्य प्रवृत्तियाँ : आद्य व्यवस्थापक भारतीय ज्ञानपीठ काशी (१९४४-१९४९)।

अपनी बात

(प्रथम संस्करणका प्रकाशकीय)

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालासे श्रीयुक्त पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी
र्शन' जैसी स्वतन्त्र कृतिको प्रकाशित करते हुए जहाँ हमें हर्ष होता है वहाँ
ार्य भी। हर्ष तो इसलिये होता है कि समाजके माने हुए विद्वानोंका ध्यान
उत्तरोत्तर श्री० ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी ओर आकृष्ट हो रहा है।
णीय विद्वान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीकी श्रावकधर्मप्रदीप-टीकाको
शित हुए अभी कुछ ही दिन हुए हैं कि अनायास ही यह कृति ग्रन्थमालाको
ानके लिए उपलब्ध हो गई। और आश्चर्य इसलिए होता है कि ग्रन्थमालाके
पर्याप्त साधन न होते हुए भी यह सब चल कैसे रहा है!

यह तो समाजका प्रत्येक विचारक अनुभव करता है कि जिसे 'स्वतन्त्र कृति'
दी जा सकती है, ऐसे सांस्कृतिक साहित्यके निर्माणकी इस समय बड़ी
यकता है। किन्तु इस माँगको पूरा किया कैसे जाय, यह प्रश्न सबके सामने
एक तो जैन समाज अनेक भागोंमें विभक्त होनेके कारण उसकी शक्तिका
मात्रामें अपव्यय यों ही हो जाता है। कोई यदि किसी कार्यको सार्वजनिक
के उद्देश्यसे सहयोग देता भी है, तो सहयोग लेनेवालोंके द्वारा प्रस्तुत किये
ाम्प्रदायिक प्रश्न व दूसरे व्यामोह उसे बीचमें ही छोड़नेके लिए बाध्य कर
और तथ्य पिछड़ने लगता है। तथ्यके अपलापकी यह खींचतान कहाँ समाप्त
कह नहीं सकते। दूसरे, जैन समाजका आकार छोटा होनेके कारण इस
ो सम्पन्न करनेके लिए न तो उतने साधन ही उपलब्ध होते हैं और न उतनी
भूमिका ही अभी निष्पन्न हो सकी है। ये अड़चनें तो हैं ही। फिर भी
क जहाँ, जिसके द्वारा भी प्रयत्न हुए हैं उनकी हमें सराहना ही करनी
ए। ऐसे ही प्रयत्नोंका फल प्रस्तुत कृति है। इसके निर्माण करानेमें श्री
नाथ विद्याश्रम बनारस व दूसरे महानुभावोंका जो भी सहयोग मिला है उसके
वे सब धन्यवादके पात्र हैं। ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालाको यदि कुछ श्रेय है
तना ही कि उसने इसे मात्र प्रकाशमें ला दिया है।

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके विषयमें हम क्या लिखें। इतना ही लिखना
होगा कि जैन समाजमें दर्शनशास्त्रके जो भी इने-गिने विद्वान् हैं उनमें ये

प्रथम हैं। इन्होंने जैनदर्शनके साथ सब भारतीय दर्शनोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है और इस समय हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत महाविद्यालयमें बौद्धदर्शनकी गद्दीको सुशोभित कर रहे हैं।

इन्होंने ही बड़े परिश्रम और अध्ययनपूर्वक स्वतन्त्र कृतिके रूपमें इस ग्रंथका निर्माण किया है। ग्रन्थ सामान्यतः १२ अधिकारों और अनेक उपअधिकारोंमें समाप्त हुआ है। उन्हें देखते हुए इसे हम मुख्यरूपसे तीन भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—पृष्ठभूमि, जैनदर्शनके सब मन्तव्योंका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह और जैन-दर्शनके विरोधमें की गई टीका-टिप्पणियोंकी साधार मीमांसा। ग्रन्थके अन्तमें जैनदार्शनिक साहित्यका साङ्गोपाङ्ग परिचय भी दिया गया है। इसलिए सब दृष्टियोंसे इस कृतिका महत्त्व बढ़ गया है।

इस विषयपर 'जैनदर्शन' इस नामसे अबतक दो कृतियाँ हमारे देखनेमें आई हैं। प्रथम श्रीयुक्त पं० बेचरदासजी दोशीकी और दूसरी श्वे० मुनि श्रीन्याय-विजयजीकी। पहली कृति षड्दर्शनसमुच्चयके जैनदर्शन-भागका रूपान्तरमात्र है और दूसरी कृति स्वतन्त्रभावसे लिखी गई है। किन्तु इसमें तत्त्वज्ञानका दार्शनिक दृष्टिसे विशेष ऊहापोह नहीं किया गया है। पुस्तकके अन्तमें ही कुछ अध्याय हैं, जिनमें स्याद्वाद, सप्तभंगी और नय जैसे कुछ चुने हुए विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। शेष पूरी पुस्तक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे लिखी गई है। इसलिए एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता तो थी ही, जिसमें जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मन्तव्योंका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। हम समझते हैं कि इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। अतएव इस प्रयत्नके लिए हम श्रीयुक्त पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका जितना आभार मानें, थोड़ा है।

प्रस्तुत पुस्तक पर आद्य वक्तव्य राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (ग० सं० कालेज) के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्रीमान् डॉ० मंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० ने लिखा है। भारतीय विचारधाराका प्रतिनिधित्व करनेवाले जो अधिकारी विद्वान् हैं उनमें आपकी प्रमुख रूपसे परिगणना की जाती है, इससे न केवल प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती है, अपितु जैनदर्शनका भारतीय विचार-धारामें क्या स्थान है, इसके निश्चय करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। इस सेवाके लिए हम उनके भी अत्यन्त आभारी हैं।

यहाँ हमें सर्व प्रथम गुरुवर्य्य पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीका स्मरण कर लेना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ग्रन्थमालाकी जो भी प्रगति हो रही है वह सब उनके पुनीत शुभाशीर्वादका ही फल है। तथा और भी ऐसे अनेक उदार महानुभाव हैं जिनसे हमें इस कार्यको प्रगति देनेमें सक्रिय

सहायता मिलती रहती है। उनमें संस्थाके उपाध्यक्ष श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री मुख्य हैं। पण्डितजी संस्थाकी प्रगति और कार्यविधिकी ओर पूरा ध्यान रखते हैं और आने वाली समस्याओंको सुलझाते रहते हैं। अतएव हम उन सबके विशेष आभारी हैं।

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी अन्य प्रवृत्तियोंमें जैनसाहित्यके इतिहासका निर्माण कराना मुख्य कार्य है। अबतक इस दिशामें बहुत कुछ अंशमें प्रारम्भिक कार्यकी पूर्ति हो गई है और लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया है। अब धीरे-धीरे अन्य विद्वानोंको कार्य सौंपा जाने लगा है। जो महानुभाव इस कार्यमें लगे हुए हैं वे तो धन्यवादके पात्र हैं ही। साथ ही ग्रन्थमालाको आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास भी है कि उसे इस कार्यमें अन्य जिन महानुभावोंका वांछित सहयोग अपेक्षित होगा, वह भी अवश्य मिलेगा।

प्रस्तुत पुस्तकको इस त्वरासे मुद्रण करनेमें नया संसार प्रेसके प्रोप्राइटर पं० शिवनारायणजी उपाध्याय तथा कर्मचारियोंने जो परिश्रम किया है उसके लिये उन्हें धन्यवाद देना आवश्यक ही है।

अन्तमें प्रस्तुत पुस्तकके विषयमें हम इस आशाके साथ इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं कि जिस विशाल और अध्ययनपूर्ण दृष्टिकोणसे प्रस्तुत कृतिका निर्माण हुआ है, भारतीय समाज उसको उसी दृष्टिकोणसे अपनायेगी और उसके प्रसारमें सहायक बनेगी।

निवेदक—

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
२६।१०।५५

वंशीधर व्याकरणाचार्य
मंत्री, ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला,
बनारस

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें

(द्वितीय संस्करणका प्रकाशकीय)

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रथम संस्करण वीर-निर्वाण संवत् २४८१, सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ था। जैनदर्शन के अनुरागी मनीषियों तथा अन्य जिज्ञासुओंने इसे जिस आदर, रुचि और जिज्ञासासे अपनाया, वह ग्रन्थमालाके लिए गर्वकी बात है। यह महत्त्वपूर्ण कृति कितनी लोकप्रिय हुई, इसका अनुमान इसीसे लग जाता है कि यह ग्रन्थ तीन वर्ष पूर्व ही दुर्लभ एवं अप्राप्य हो गया था और लोगोंकी माँग नित्य-प्रति आ रही थी।

इसके लेखक स्वर्गीय डॉ० महेन्द्रकुमारजी आज विद्यमान होते, तो उन्हें अपनी इस कृतिकी लोकप्रियता देखकर कितनी प्रसन्नता न होती। उन्होंने अपने अल्प कार्यकालमें ही जैनदर्शनकी जो सेवा की है, वह अद्भुत और असाधारण है। न्यायकुमुदचन्द्र (दो भाग), न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग), अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवार्त्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति और सिद्धिविनिश्चयटीका (दो भाग) जैसे महनीय एवं विशाल दार्शनिक ग्रन्थोंका असाधारण योग्यता और विपुल अध्यवसायके साथ उन्होंने सम्पादन किया तथा उनपर चिन्तनपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। उनके अध्यवसायके फलस्वरूप ही ये अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ प्रकाशमें आ सके हैं। अन्तिम ग्रन्थपर तो हिन्दू विश्वविद्यालय काशीने उन्हें पी-एच० डी० (डॉक्टरेट) की उपाधि देकर सम्मानित भी किया। इसके साथ ही वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयने भी उनकी अपने यहाँ जैनदर्शन-विभागके अध्यक्षपदपर नियुक्ति करके उन्हें सम्मान प्रदान किया था। पर भवितव्यताने उन्हें इन दोनों सम्मानोंका उपभोग नहीं करने दिया और असमयमें ही उन्हें इस संसारसे चला जाना पड़ा। वे आज नहीं हैं, पर उनकी अमर कृतियाँ विद्यमान हैं, जो उन्हें चिरस्मरणीय रखेंगी।

ग्रन्थमालाके पास यद्यपि आर्थिक साधन नहीं हैं, यह स्पष्ट है, फिर भी पूज्य वर्णीजीका, जिनकी वरद छाया आज हमें प्राप्त नहीं है, परोक्ष आशीर्वाद और उनके उपकारोंसे उपकृत समाजका बल उसे प्राप्त है। २८ दिसम्बर १९६५ में ग्रन्थमाला-प्रबन्ध-समितिकी वाराणसी-बैठकमें इस ग्रन्थके प्रकाशनका प्रस्ताव रखा गया, जिसे समितिने सहर्ष पारित किया। दायित्व आ जानेसे उसके प्रकाशनकी

चिन्ता होना स्वाभाविक था। सुयोगसे हमें ला० राजकृष्णजी जैन दिल्लीके पौत्रके विवाहमें जानेका सुअवसर मिला। हमें प्रसन्नता है कि लालाजीने हमारे संकेतपर तुरन्त इसकी १०० प्रतियोंके प्रकाशनमें ७००) तथा इसी ग्रन्थमालासे पहली बार प्रकाशित हो रही पं० जयचन्दजी छाबड़ा कृत द्रव्यसंग्रह-भाषावचनिकाकी १०० प्रतियोंके प्रकाशनमें १०० कुल ८००) की उदार सहायता प्रदान की। ला० शान्तिलालजी जैन कागजी दिल्लीने भी इसकी २५ प्रतियोंके लिए १५०) की सहायता की। उधर श्रीनीरजजी जैन सतना भी हमें ५० प्रतियोंके लिए स्वीकारता दे चुके थे। अतः इन सभी उदार महानुभावों और ग्रन्थमालाप्रेमियोंके सहयोग-बलपर हम जैनदर्शनका यह द्वितीय संस्करण निकालनेमें सक्षम हो सके हैं। इसका श्रेय ग्रन्थमाला-प्रबन्ध-समितिके सदस्यों और ग्रन्थमाला-प्रेमियोंके सहयोगको है।

यह भी कम सुयोगकी बात नहीं है कि प्रिय श्री बाबूलालजी जैन फागुल्लने स्वावलम्बी बननेकी दृष्टिसे हालमें चालू किये अपने महावीर-प्रेसमें इसका शीघ्रताके साथ सुन्दर प्रकाशन किया, जिसके लिए हम उन्हें तथा प्रेसमें काम करनेवाले सभी लोगोंको धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

आशा है इस द्वितीय संस्करणको भी सहृदय पाठक उसी तरह अपनायेंगे, जिस तरह वे प्रथम संस्करणको अपना चुके हैं।

चमेली-कुटीर,
अस्सी, वाराणसी,
२४ मार्च, १९६६

—दरबारीलाल कोठिया
(एम० ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य)
मंत्री, वर्णी ग्रन्थमाला

●

प्रस्तुत तृतीय संस्करण

'जैनदर्शन'का द्वितीय संस्करण अप्रैल १९६६ में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशकीय वक्तव्यके अन्तमें हमने आशा व्यक्त की थी कि 'इस द्वितीय संस्करणको भी सहृदय पाठक उसी तरह अपनायेंगे, जिस तरह वे प्रथम संस्करणको अपना चुके हैं।' हमें प्रसन्नता है कि हमारी वह आशा पूर्ण ही नहीं हुई, बल्कि उत्साह-पूर्ण बल भी मिला है। फलत: आज हम तृतीय संस्करणके निकालनेमें भी सक्षम हो सके हैं।

'जैनदर्शन'के पाठक-मनीषियोंने ग्रन्थकी महत्ताको प्रकट करते हुए उसके वर्तमान २० × ३०–१६ पेजी साइज—आकार को परिवर्तित करने और डिमाई साइज करने का परामर्श दिया। उनका यह परामर्श उपयुक्त और उचित लगा। अत: हमने ग्रन्थका आकार बदल दिया है। आज ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राय: इसी साइजमें प्रकाशित हो रहे हैं।

आज कागजकी दुर्लभता और अनर्घ्यता इतनी बढ़ गयी है कि किसी ग्रन्थके प्रकाशनका साहस नहीं होता। छपाईका दाम भी दुगुनेसे ज्यादा हो गया है। ऐसी स्थितिमें, ग्रन्थकी अप्राप्यता और पाठकोंकी माँगको देखते हुए इसका प्रकाशन करना पड़ा है। अतएव हमें ग्रन्थका मूल्य भी विवश होकर बढ़ाना पड़ा है। यद्यपि यह मूल्य कागज, छपाई, बाइंडिंग आदिके बढ़े हुए मूल्यसे कम ही है। हमें आशा है हमारी विवशताको पाठक क्षमा करेंगे और ग्रन्थको पूर्ववत् अपनायेंगे।

प्रबन्ध-समिति, संरक्षक-सदस्यों और स्वस्तिक मुद्रणालयके समवेत प्रयत्नोंसे इसका प्रकाशन कार्य निर्बाध सम्पन्न हो सका है। अत: इन सबका आभार व्यक्त करता हूँ।

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि० जैन संस्थान

दशलक्षण-पर्व,
द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ५,
वी. नि. सं. २५००,
२० सितम्बर, १९७४,

प्राक्कथन

मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बहिर्मुख और ऐन्द्रियक है। वह अपने दैनिक जीवनमें अपनी साधारण आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए दृश्य जगत्के आपाततः प्रतीयमान स्वरूपसे ही सन्तुष्ट रहता है। जीवनमें कठिन परिस्थितियोंके आनेपर ही उसके मनमें समस्याओंका उदय होता है और वह जगत्के आपाततः प्रतीयमान रूपसे, जिसमें कि उसे कई प्रकारकी उलझनें प्रतीत होती हैं, सन्तुष्ट न रहकर उसके वास्तविक स्वरूपके जाननेके लिए और उसके द्वारा अपनी उलझनोंके समाधानके लिए प्रवृत्त होता है। इसी तथ्यका प्राचीन ग्रन्थोंमें—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मन्यवैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥"

—कठोप० २।१।१

इस प्रकारके शब्दोंमें प्रायः वर्णन किया गया है।

वास्तवमें दार्शनिक दृष्टिका यहीं सूत्रपात होता है। दार्शनिक दृष्टि और तात्त्विक दृष्टि दोनोंको समानार्थक समझना चाहिए।

व्यक्तियोंके समान जातियोंके जीवनमें भी दार्शनिक दृष्टि सांस्कृतिक विकासकी एक विशेष अवस्थामें ही उद्भूत होती है। भारतीय संस्कृतिकी परम्पराको अति प्राचीनताका बड़ा भारी प्रमाण इसी बातमें है कि उसमें दार्शनिक दृष्टिकी परम्परा अति-प्राचीनकालसे ही दिखलाई देती है। वास्तवमें उसका प्रारम्भ कब हुआ, इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है।

वेदोंका विशेषतः ऋग्वेदका काल अति प्राचीन है, इसमें सन्देह नहीं। उसके नासदीय सदृश सूक्तों और मन्त्रोंमें उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधारा पाई जाती है। ऐसे युगके साथ, जब कि प्रकृतिके कार्य-निर्वाहक तत्तद्- देवताओंकी स्तुति आदिके रूपमें अत्यन्त जटिल वैदिक कर्मकाण्ड ही आर्य-जातिका परम ध्येय हो रहा था, उपर्युक्त उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधाराकी संगति बैठाना कुछ कठिन ही दिखलाई देता है। ऐसा हो सकता है कि उस दार्शनिक विचारधाराका आदि स्रोत वैदिक-धारासे पृथक् या उससे पहिलेका ही हो।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यमें कापिल—सांख्य दर्शनके लिये स्पष्टतः अवैदिक कहा है।[1] इस कथनमें हमें तो कुछ ऐसी ध्वनि प्रतीत होती है कि उसकी परम्परा प्राग्वैदिक या वैदिकेतर हो सकती है। जो कुछ भी हो, ऋग्वेद-संहितामें जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अंकित हैं, उनकी स्वयं परम्परा और भी प्राचीनतर होना ही चाहिये।

जैन दर्शनकी सारी दार्शनिक दृष्टि वैदिक दार्शनिक दृष्टिसे स्वतन्त्र ही नहीं, भिन्न भी है, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दार्शनिक धाराको हमने ऊपर जिस प्राग्वैदिक परम्परासे जोड़ा है, मूलतः जैन दर्शन भी उसीके स्वतन्त्र विकासकी एक शाखा हो सकता है। उसकी सारी दृष्टिसे तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दोंसे इसी बातकी पुष्टि होती है।

जैन दर्शनका विशेष महत्त्व :

परन्तु जैन दर्शनका अपना विशेष महत्त्व उसकी प्राचीन परम्पराको छोड़कर अन्य महत्त्वके आधारों पर भी है। किसी भी तात्त्विक विमर्शका विशेषतः दार्शनिक विचारका महत्त्व इस बातमें होना चाहिये कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओंपर वस्तुतः उन्हींकी दृष्टिसे किसी प्रकारके पूर्वाग्रहके बिना विचार करे। भारतीय अन्य दर्शनोंमें शब्दप्रमाणका जो प्रामुख्य है वह एक प्रकारसे उनके महत्त्वको कुछ कम ही कर देता है। उन दर्शनोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि विचारधाराकी स्थूल रूपरेखाका अङ्कन तो शब्द-प्रमाण कर देता है और तत्तद्दर्शन केवल उसमें अपने-अपने रङ्गोंको ही भरना चाहते हैं। इसके विपरीत जैनदर्शनमें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई बिलकुल साफ स्लेट (Tabula Rasa) पर लिखना शुरू करता है। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिमें इस बातका बड़ा महत्त्व है। किसी भी व्यक्तिमें दार्शनिक दृष्टिके विकासके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र विचार-धाराकी भित्तिपर अपने विचारोंका निर्माण करे और परम्परा-निर्मित पूर्वाग्रहोंसे अपनेको बचा सके।

उपर्युक्त दृष्टिसे इस दृष्टिमें मौलिक अन्तर है। पूर्वोक्त दृष्टिमें दार्शनिक दृष्टि शब्दप्रमाणके पीछे-पीछे चलती है, और जैन दृष्टिमें शब्दप्रमाणको दार्शनिक दृष्टिका अनुगामी होना पड़ता है।

---

१. 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्'।

—ब्र० सू० शां० भा० २।१।१।

जैनदर्शन नास्तिक नहीं :

इसी प्रसङ्गमें भारतीय दर्शनके विषयमें एक परम्परागत मिथ्या भ्रमका उल्लेख करना भी हमें आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ कालसे लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शनकी आस्तिक और नास्तिक नामसे दो शाखाएँ हैं। तथाकथित 'वैदिक' दर्शनोंको आस्तिक दर्शन और जैन, बौद्ध जैसे दर्शनोंको 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। वस्तुतः यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" (पा० ४।४।३०) इस पाणिनिसूत्रके अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दोंमें इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ताको माननेवाला 'आस्तिक' और न माननेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थमें जैन और बौद्ध जैसे दर्शनोंको नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द-प्रमाणकी निरपेक्षतासे वस्तुतत्त्वपर विचार करनेके कारण दूसरे दर्शनोंकी अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।

जैनदर्शनकी देन :

भारतीय दर्शनके इतिहासमें जैनदर्शनकी अपनी अनोखी देन है। दर्शन शब्दका फिलासफीके अर्थमें कबसे प्रयोग होने लगा है, इसका तत्काल निर्णय करना कठिन है, तो भी इस शब्दकी इस अर्थमें प्राचीनताके विषयमें सन्देह नहीं हो सकता। तत्तद् दर्शनोंके लिये दर्शन शब्दका प्रयोग मूलमें इसी अर्थसे हुआ होगा कि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्वके परीक्षणमें तत्तद् व्यक्तिकी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या अधिकारिताके भेदसे जो तात्त्विक दृष्टिभेद होता है उसीको दर्शन शब्दसे व्यक्त किया जाय। ऐसी अवस्थामें यह स्पष्ट है कि किसी तत्त्वके विषयमें कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्वमें अनेकरूपता स्वभावतः होनी चाहिये और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्तको जैनदर्शनकी परिभाषामें 'अनेकान्तदर्शन' कहा गया है। जैनदर्शनका तो यह आधारस्तम्भ है ही, परन्तु वास्तवमें प्रत्येक दार्शनिक विचारधाराके लिये भी इसको आवश्यक मानना चाहिये।

बौद्धिक स्तरमें इस सिद्धान्तके मान लेनेसे मनुष्यके नैतिक और लौकिक व्यवहारमें एक महत्त्वका परिवर्तन आ जाता है। चारित्र ही मानवके जीवनका सार है। चारित्रके लिये मौलिक आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य एक ओर तो अभिमानसे अपनेको पृथक् रखे, साथ ही हीन भावनासे भी अपनेको बचाये। स्पष्टतः यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। वास्तविक अर्थोंमें जो अपने स्वरूपको समझता

है, दूसरे शब्दोंमें आत्मसम्मान करता है, और साथ ही दूसरेके व्यक्तित्वको भी उतना ही सम्मान देता है, वही उपर्युक्त दुष्कर मार्गका अनुगामी बन सकता है। इसीलिये सारे नैतिक समुत्थानमें व्यक्तित्वका समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैन-दर्शनके उपर्युक्त अनेकान्तदर्शनका अत्यन्त महत्त्व इसी सिद्धान्तके आधारपर है कि उसमें व्यक्तित्वका सम्मान निहित है।

जहाँ व्यक्तित्वका समादर होता है वहाँ स्वभावतः साम्प्रदायिक संकीर्णता, संघर्ष या किसी भी छल, जाति, जल्प, वितण्डा आदि जैसे असदुपायसे वादि-पराजयकी प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवनमें भी खण्डनके स्थानमें समन्वयात्मक निर्माणकी प्रवृत्ति ही वहाँ रहती है। साध्यकी पवित्रताके साथ साधनकी पवित्रताका महान् आदर्श भी उक्त सिद्धान्तके साथ ही रह सकता है। इस प्रकार अनेकान्तदर्शन नैतिक उत्कर्षके साथ-साथ व्यवहारशुद्धिके लिये भी जैनदर्शनकी एक महान् देन है।

विचार-जगत्का अनेकान्तदर्शन ही नैतिक जगत्में आकर अहिंसाके व्यापक सिद्धान्तका रूप धारण कर लेता है। इसीलिये जहाँ अन्य दर्शनोंमें परमतखण्डनपर बड़ा बल दिया गया है, वहाँ जैनदर्शनका मुख्य ध्येय अनेकान्त-सिद्धान्तके आधार-पर वस्तुस्थितिमूलक विभिन्न मतोंका समन्वय रहा है। वर्तमान जगत्की विचार-धाराकी दृष्टिसे भी जैनदर्शनके व्यापक अहिंसामूलक सिद्धान्तका अत्यन्त महत्त्व है। आजकलके जगत्की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि अपने-अपने परम्परागत वैशिष्ट्यको रखते हुए भी विभिन्न मनुष्यजातियाँ एक-दूसरेके समीप आवें और उनमें एक व्यापक मानवताकी दृष्टिका विकास हो। अनेकान्तसिद्धान्तमूलक समन्वयकी दृष्टिसे ही यह हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शनके विकासका अनुगम करनेके लिये, अपितु भारतीय संस्कृतिके उत्तरोत्तर विकासको समझनेके लिये भी जैनदर्शन-का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारामें अहिंसावादके रूपमें अथवा परमत-सहिष्णुताके रूपमें अथवा समन्वयात्मक भावनाके रूपमें जैनदर्शन और जैन विचार-धाराकी जो देन है उसको समझे बिना वास्तवमें भारतीय संस्कृतिके विकासको नहीं समझा जा सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ :

अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दीमें कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी, जिसमें व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट किया गया हो। बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि इस बड़ी भारी कमीको प्रकृत पुस्तकके द्वारा उसके सुयोग्य विद्वान्

लेखकने दूर कर दिया है। पुस्तककी शैली विद्वत्तापूर्ण है। उसमें प्राचीन मूल ग्रन्थोंके प्रमाणोंके आधारसे जैनदर्शनके सभी प्रमेयोंका बड़ी विशद रीतिसे यथासंभव सुबोध शैलीमें निरूपण किया गया है। विभिन्न दर्शनोंके सिद्धान्तोंके साथ तद्विषयक आधुनिक दृष्टियोंका भी इसमें सन्निवेश और उनपर प्रसङ्गानुसार विमर्श करनेका भी प्रयत्न किया गया है। पुस्तक अपनेमें मौलिक, परिपूर्ण और अनूठी है।

न्यायाचार्य आदि पदवियोंसे विभूषित प्रो० महेन्द्रकुमारजी अपने विषयके परिनिष्ठित विद्वान् हैं। जैनदर्शनके साथ तात्त्विक दृष्टिसे अन्य दर्शनोंका तुलनात्मक अध्ययन भी उनका एक महान् वैशिष्ट्य है। अनेक प्राचीन दुरूह दार्शनिक ग्रन्थोंका उन्होंने बड़ी योग्यतासे सम्पादन किया है। ऐसे अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत यह 'जैनदर्शन' वास्तवमें राष्ट्रभाषा हिन्दीके लिये एक बहुमूल्य देन है। हम हृदयसे इस ग्रन्थका अभिनन्दन करते हैं।

वाराणसी
२०।१०।५५

—मङ्गलदेव शास्त्री
एम०, ए०; डी० फिल्(ऑक्सन),
पूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी

दो शब्द

जब भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित न्यायविनिश्चयविवरण और तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें मैंने सुहृद्वर महापंडित राहुल सांकृत्यायनके 'स्याद्वाद' विषयक विचारोंकी आलोचना की, तो उन्होंने मुझे उलाहना दिया कि "क्यों नहीं आप स्याद्वादपर दो ग्रन्थ लिखते—एक गम्भीर और विद्वद्भोग्य और दूसरा स्याद्वाद-प्रवेशिका"। उनके इस उलाहनेने इस ग्रन्थके लिखनेका संकल्प कराया और उक्त दोनों प्रयोजनोंको साधनेके हेतु इस ग्रन्थका जन्म हुआ।

ग्रन्थके लिखनेके संकल्पके बाद लिखनेसे लेकर प्रकाशन तककी इसकी विचित्र कथा है। उसमें न जाकर उन सब अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंके फलस्वरूप निर्मित अपनी इस कृतिको मूर्तरूपमें देखकर सन्तोषका अनुभव करता हूँ।

जैन धर्म और दर्शनके सम्बन्धमें बहुत प्राचीन कालसे ही विभिन्न साम्प्रदायिक और संकुचित सांस्कृतिक कारणोंसे एक प्रकारका उपेक्षाका भाव ही नहीं, उसे विपर्यास करके प्रचारित करनेकी प्रवृत्ति भी जान-बूझकर चालू रही है। इसके लिये पुराकालमें जो भी प्रचारके साधन—ग्रन्थ, शास्त्रार्थ और रीति-रिवाज आदि थे, उन प्रत्येकका उपयोग किया गया। जहाँ तक विशुद्ध दार्शनिक मतभेदकी बात है, वहाँ तक दर्शनके क्षेत्रमें दृष्टिकोणोंका भेद होना स्वाभाविक है। पर जब वे ही मतभेद साम्प्रदायिक वृत्तियोंकी जड़में चले जाते हैं तब वे दर्शनको दूषित तो कर ही देते हैं, साथ ही स्वस्थ समाजके निर्माणमें बाधक बन देशकी एकताको छिन्न-भिन्न कर विश्वशान्तिके विघातक हो जाते हैं। भारतीय दर्शनोंके विकासका इतिहास इस बातका पूरी तरह साक्षी है। दर्शन ऐसी ओषधि है कि यदि इसका उचित रूपमें और उचित मात्रामें उपयोग नहीं किया गया, तो यह समाज-शरीरको सड़ा देगी और उसे विस्फोटके पास पहुँचा देगी।

(जैन तीर्थङ्करोंने मनुष्यकी अहङ्कारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वासनामय मानसका स्पष्ट दर्शन कर उन तत्त्वोंकी ओर प्रारम्भसे ध्यान दिलाया है, जिनसे इसकी दृष्टिकी एकाङ्गिता निकलकर उसमें अनेकाङ्गिता आती है और वह अपनी दृष्टिकी तरह सामनेवाले व्यक्तिकी दृष्टिका भी सम्मान करना सीखती है, उसके प्रति सहिष्णु होती है, अपनी तरह उसे भी जीवित रहने और परमार्थ होनेकी अधिकारिणी मानती है।) दृष्टिमें इस आत्मौपम्य भावके आ जाने पर उसकी भाषा बदल जाती है, उसमें स्वमतका दुर्दान्त अभिनिवेश हटकर समन्वयशीलता आती

है। उसकी भाषामें परका तिरस्कार न होकर उसके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षा दृष्टिको समझनेकी सरल वृत्ति आ जाती है। और इस तरह भाषामेंसे आग्रह यानी एकान्तका विष दूर होते ही उसकी स्याद्वादामृतगर्भिणी वाक्सुधासे चारों ओर संवाद, सुख और शान्तिकी सुषमा सरसने लगती है, सब ओर संवाद ही संवाद होता है, विसंवाद, विवाद और कलह-कण्टक उन्मूल हो जाते हैं। इस मनःशुद्धि यानी अनेकान्तदृष्टि और वचनशुद्धि अर्थात् स्याद्वादमय वाणीके होते ही उसके जीवन-व्यवहारका नकशा ही बदल जाता है, उसका कोई भी आचरण या व्यवहार ऐसा नहीं होता, जिससे कि दूसरेके स्वातन्त्र्यपर आँच पहुँचे। तात्पर्य यह कि वह ऐसे महात्मत्वकी[1] ओर चलने लगता है, जहाँ मन, वचन और कर्मकी एकसूत्रता होकर स्वस्थ व्यक्तित्वका निर्माण होने लगता है। ऐसे स्वस्थ स्वोदयी व्यक्तियोंसे ही वस्तुतः सर्वोदयी नव समाजका निर्माण हो सकता है और तभी विश्वशान्तिकी स्थायी भूमिका आ सकती है।

भ० महावीर तीर्थङ्कर थे, दर्शनङ्कर नहीं। वे उस तीर्थ अर्थात् तरनेका उपाय बताना चाहते थे, जिससे व्यक्ति निराकुल और स्वस्थ बनकर समाज, देश और विश्वकी सुन्दर इकाई हो सकता है। अतः उनके उपदेशकी धारा वस्तु-स्वरूपकी अनेकान्तरूपता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी चरम प्रतिष्ठापर आधारित थी। इसीका फल है कि जैनदर्शनका प्रवाह मनःशुद्धि और वचनशुद्धि मूलक अहिंसक आचारकी पूर्णताको पानेकी ओर है। उसने परमतमें दूषण दिखाकर भी उनका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वयका मार्ग भी दिखाया है। इस तरह जैनदर्शनकी व्यावहारिक उपयोगिता जीवनको यथार्थ वस्तुस्थितिके आधारसे बुद्धिपूर्वक संवादी बनानेमें है और किसी भी सच्चे दार्शनिकका यही उद्देश्य होना भी चाहिये।

प्रस्तुत ग्रन्थमें मैंने इसी भावसे 'जैनदर्शन'की मौलिक दृष्टि समझानेका प्रयत्न किया है। इसके प्रमाण, प्रमेय और नयकी मीमांसा तथा स्याद्वाद-विचार आदि प्रकरणोंमें इतर दर्शनोंकी समालोचना तथा आधुनिक भौतिकवाद और विज्ञानकी मूल धाराओंका भी यथासंभव आलोचन-प्रत्यालोचन करनेका प्रयत्न किया है। जहाँ तक परमत-खण्डनका प्रश्न है, मैंने उन-उन मतोंके मूल ग्रन्थोंसे वे अवतरण दिये हैं या उनके स्थलका निर्देश किया है, जिससे समालोच्य पूर्वपक्षके सम्बन्धमें भ्रान्ति न हो।

इस ग्रन्थमें १२ प्रकरण हैं। इनमें संक्षेपरूपसे उन ऐतिहासिक और तुलनात्मक विकास-बीजोंको बतानेकी चेष्टा की गई है, जिनसे यह सहज समझमें आ सके कि

---

१. "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"।

तीर्थङ्करकी वाणीके बीज किन-किन परिस्थितियोंमें कैसे-कैसे अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और सफल हुए।

१. प्रथम प्रकरण—'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन'में इस कर्मभूमिके आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक तथा उनसे आगेके आचार्यों तक जैन तत्त्वकी धारा किस रूपमें प्रवाहित हुई है, इसका सामान्य विचार किया गया है। इसीमें जैनदर्शनका युग-विभाजनकर उन-उन युगोंमें उसका क्रमिक विकास बताया है।

२. द्वितीय प्रकरण—'विषय प्रवेश'में दर्शनकी उद्भूति, दर्शनका वास्तविक अर्थ, भारतीय दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य, जैनदर्शनके मूल मुद्दे आदि शीर्षकोंसे इस ग्रन्थके विषय-प्रवेशका सिलसिला जमाया गया है।

३. तृतीय—''जैनदर्शनकी देन' प्रकरणमें जैनदर्शनकी महत्त्वपूर्ण विरासत—अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद-भाषा, अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप, धर्मज्ञता-सर्वज्ञताविवेक, पुरुषप्रामाण्य, निरीश्वरवाद, कर्मणा वर्णव्यवस्था, अनुभवकी प्रमाणता और साध्यकी तरह साधनकी पवित्रताका आग्रह आदिका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है।

४. चतुर्थ—'लोक-व्यवस्था' प्रकरणमें इस विश्वकी व्यवस्था जिस उत्पादादादि त्रयात्मक परिणामी स्वभावके कारण स्वयमेव है उस परिणामवादका, सत्के स्वरूपका और निमित्त, उपादान आदिका विवेचन है। साथ ही विश्वकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें जो कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पुरुषवाद, कर्मवाद, भूतवाद, यदृच्छावाद और अव्याकृतवाद आदि प्रचलित थे, उनकी आलोचना करके उत्पादादित्रयात्मक परिणामवादका स्थापन किया गया है। आधुनिक भौतिकवाद, विरोधी समागम और द्वन्द्ववादकी तुलना और मीमांसा भी परिणामवादसे की गई है।

५. पञ्चम—'पदार्थस्वरूप' प्रकरणमें पदार्थके त्रयात्मक स्वरूप, गुण और धर्मकी व्याख्या आदि करके सामान्यविशेषात्मकत्वका समर्थन किया गया है।

६. छठे—'षट् द्रव्यविवेचन' प्रकरणमें जीवद्रव्यके विवेचनमें व्यापक आत्मवाद, अणुआत्मवाद, भूतचैतन्यवाद आदिकी मीमांसा करके आत्माको कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण और परिणामी सिद्ध किया गया है। पुद्गल द्रव्यके विवेचनमें पुद्गलोंके अणु-स्कन्ध भेद, स्कन्धकी प्रक्रिया, शब्द, बन्ध आदिका पुद्गलपर्यायत्व आदि सिद्ध किया है। इसी तरह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्यका विविध मान्यताओंका उल्लेख करके स्वरूप बताया है। साथ ही वैशेषिक आदिकी द्रव्य-व्यवस्था और पदार्थ-व्यवस्थाका अन्तर्भाव दिखाया है। इसी प्रकरणमें कार्योत्पत्तिविचारमें सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद आदिकी आलोचना करके सदसत्कार्यवादका समर्थन किया है।

७. सातवें—'सप्ततत्त्वनिरूपण' प्रकरणमें मुमुक्षुओंको अवश्य ज्ञातव्य जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन है। बौद्धोंके चार आर्यसत्योंकी तुलना, निर्वाण और मोक्षका भेद, नैरात्म्यवादकी मीमांसा; आत्माकी अनादिबद्धता आदि विषयोंकी चर्चा भी प्रसङ्गतः आई है। शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशद विवेचन तुलनात्मक ढंगसे किया है।

८. आठवें—'प्रमाणमीमांसा' प्रकरणमें प्रमाणके स्वरूप, भेद, विषय और फल इन चारों मुद्दों पर खूब विस्तारसे परपक्षकी मीमांसा करके विवेचन किया गया है। प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास शीर्षकोंमें सांख्य, वेदान्त, शब्दाद्वैत, क्षणिकवाद आदिकी मीमांसा की गई है। आगम प्रकरणमें वेदके अपौरुषेयत्वका विचार, शब्दकी अर्थवाचकता, अपोहवादकी परीक्षा, प्राकृत-अपभ्रंश शब्दोंकी अर्थवाचकता, आगमवाद तथा हेतुवादका क्षेत्र आदि सभी प्रमुख विषय चर्चित हैं। मुख्य प्रत्यक्षके निरूपणमें सर्वज्ञसिद्धि और सर्वज्ञताके इतिहासका निरूपण है। अनुमानप्रकरणमें जय-पराजयव्यवस्था और पत्रवाक्य आदिका विशद विवेचन है। विपर्ययज्ञानके प्रकरणमें अख्याति, असत्ख्याति आदिकी मीमांसा करके विपरीतख्याति स्थापित की गई है।

९. नवें—'नयविचार' प्रकरणमें नयोंका स्वरूप, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक भेद, सातों नयोंका तथा तदाभासोंका विवेचन, निक्षेप-प्रक्रिया और निश्चय-व्यवहारनय आदिका खुलासा किया गया है।

१०. दसवें—'स्याद्वाद और सप्तभंगी' प्रकरणमें स्याद्वादकी निरुक्ति, आवश्यकता, उपयोगिता और स्वरूप बताकर 'स्याद्वाद'के सम्बन्धमें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, सर राधाकृष्णन्, प्रो० बलदेवजी उपाध्याय, डॉ० देवराजजी, श्री हनुमन्तरावजी आदि आधुनिक दर्शन-लेखकोंके मतकी आलोचना करके स्याद्वादके सम्बन्धमें प्राचीन आ० धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्धदार्शनिक, शंकराचार्य, भास्कराचार्य, नीलकण्ठाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, व्योमशिवाचार्य आदि वैदिक तथा तत्त्वोपप्लववादी आदिके भ्रान्त मतोंकी विस्तृत समीक्षा की गई है। सप्तभङ्गीका स्वरूप, सकलादेश-विकलादेशकी रेखा तथा इस सम्बन्धमें आ० मलयगिरि आदिके मतोंकी मीमांसा करके स्याद्वादकी जीवनोपयोगिता सिद्ध की है। इसीमें संशयादि दूषणोंका उद्धार करके वस्तुको भावाभावात्मक, नित्यानित्यात्मक, सदसदात्मक, एकानेकात्मक और भेदाभेदात्मक सिद्ध किया है।

११. ग्यारहवें—'जैनदर्शन और विश्वशान्ति' प्रकरणमें जैनदर्शनकी अनेकान्तदृष्टि और समन्वयकी भावना, व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वीकृति और सर्व समानाधिकार-

की भूमिपर सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्वशान्तिकी सम्भावनाका समर्थन किया है।

१२. बारहवें—'जैनदार्शनिक साहित्य' प्रकरणमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थोंका शताब्दीवार नामोल्लेख करके सूची प्रस्तुत की गई है।

इस तरह इस ग्रन्थमें 'जैनदर्शन' के सभी अङ्गोंपर समूल पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अन्तमें मैं उन सभी उपकारकोंका आभार मानना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके सहयोगसे यह ग्रन्थ इस रूपमें प्रकाशमें आ गया है। सुप्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता गुरुवर्य श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीका सहज स्नेह और आशीर्वाद इस जनको सदा प्राप्त रहा है।

भारतीय संस्कृतिके तटस्थ विवेचक डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री पूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेजने अपना अमूल्य समय लगाकर 'प्राक्कथन' लिखनेकी कृपा की है। पार्श्वनाथ विद्याश्रमकी लाइब्रेरीमें बैठकर ही इस ग्रन्थका लेखन कार्य हुआ है और उसकी बहुमूल्य ग्रंथराशिका इसमें उपयोग हुआ है। भाई पं० फुलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने, जो जैन समाजके खरे विचारक विद्वान् हैं, आड़े समयमें इस ग्रन्थको जिस कसक-आत्मीयता और तत्परतासे श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित करानेका प्रबन्ध किया है उसे मैं नहीं भुला सकता। मैं इन सबका हार्दिक आभार मानता हूँ। और इस आशासे इस राष्ट्रभाषा हिन्दीमें लिखे गये प्रथम 'जैनदर्शन' ग्रन्थको पाठकोंके सन्मुख रख रहा हूँ कि वे इस प्रयासको सद्भावकी दृष्टिसे देखेंगे और इसकी त्रुटियोंकी सूचना देनेकी कृपा करेंगे, ताकि आगे उनका सुधार किया जा सके।

विजयादशमी
वि० सं० २०१२
ता० २६।१०।५५

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
प्राध्यापक संस्कृत महाविद्यालय
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषयानुक्रम

१. पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन १–२०

२. विषयप्रवेश २२–३७

३. भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन ३८–५२

४. लोकव्यवस्था ५३–१००

५. पदार्थका स्वरूप

६. षट्द्रव्य विवेचन

७. तत्त्व-निरूपण

प्रमाणमीमांसा १८७–३३१

९. नयविचार ३३२–३६०

१०. स्याद्वाद और सप्तभंगी ३६१–४३०

जैनदर्शन

—:o:—

१. पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन

कर्मभूमिका प्रारम्भ :

जैन अनुश्रुतिके अनुसार इस कल्पकालमें पहले भोगभूमि थी। यहाँके निवासी अपनी जीवनयात्रा कल्पवृक्षोंसे चलाते थे। उनके खाने-पीने, पहिरने-ओढ़ने, भूषण, मकान, सजावट, प्रकाश और आनन्द-विलासकी सब आवश्यकताएँ इन वृक्षोंसे ही पूर्ण हो जाती थीं। इस समय न शिक्षा थी और न दीक्षा। सब अपने प्राकृत भोगमें ही मग्न थे। जनसंख्या कम थी। युगल उत्पन्न होते थे और दोनों ही जीवन-सहचर बनकर साथ रहते थे और मरते भी साथ ही थे। जब धीरे-धीरे यह भोगभूमिकी व्यवस्था क्षीण हुई, जनसंख्या बढ़ी और कल्पवृक्षोंकी शक्ति प्रजाकी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सकी, तब कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ। भोगभूमिमें सन्तान-युगलके उत्पन्न होते ही माँ-बापयुगल मर जाते थे। अतः कुटुम्ब-रचना और समाज-रचनाका प्रश्न ही नहीं था। प्रत्येक युगल स्वाभाविक क्रमसे बढ़ता था और स्वाभाविक रीतिसे ही भोग भोगकर अपनी जीवनलीला प्रकृतिकी गोदमें ही संवृत कर देता था। किन्तु जब सन्तान अपने जीवनकालमें ही उत्पन्न होने लगी और उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा आदिकी समस्याएँ सामने आईं, तब वस्तुतः भोगजीवनसे कर्मजीवन प्रारम्भ हुआ। इसी समय क्रमशः चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते हैं। वे इन्हें भोजन बनाना, खेती करना, जंगली पशुओंसे अपनी और सन्तानकी रक्षा करना, उनका सवारी आदिमें उपयोग करना, चन्द्र, सूर्य आदिसे निर्भय रहना तथा समाज-रचनाके मूलभूत अनुशासनके नियम आदि सभी कुछ सिखाते हैं। वे ही कुलके लिये उपयोगी मकान बनाना, गाँव बसाना आदि सभी व्यवस्थाएँ जमाते हैं, इसीलिये उन्हें कुलकर या मनु कहते हैं। अन्तिम कुलकर श्रीनाभिरायने जन्मके समय बच्चोंकी नाभिका नाल

काटना सिखाया था, इसीलिये इनका नाम नाभिराय पड़ा था। इनकी युगलसह-चरीका नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव :

इनके ऋषभदेव नामक पुत्र हुए। वस्तुतः कर्मभूमिका प्रारम्भ इनके समयसे होता है। गाँव, नगर आदि इन्हींके कालमें बसे थे। इन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरीको अक्षराभ्यासके लिये लिपि बनाई थी, जो ब्राह्मी लिपिके नामसे प्रसिद्ध हुई। इसी लिपिका विकसित रूप वर्तमान नागरी लिपि है। भरत इन्हींके पुत्र थे, जिनके नामसे इस देशका नाम भारत पड़ा। भरत बड़े ज्ञानी और विवेकी थे। ये राजकाज करते हुए भी सम्यग्दृष्टि थे, इसीलिये ये 'विदेह भरत' के नामसे प्रसिद्ध थे। ये प्रथम षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती थे। ऋषभदेवने अपने राज्यकालमें समाज-व्यवस्थाकी स्थिरताके लिये प्रजाका कर्मके अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके रूपमें विभाजन कर त्रिवर्णकी स्थापना की। जो व्यक्ति रक्षा करनेमें कटिबद्ध और वीर प्रकृतिके थे, उन्हें क्षत्रिय, व्यापार और कृषिप्रधान वृत्तिवालोंको वैश्य और शिल्प तथा नृत्य आदि कलाओंसे आजीविका चलानेवालों-को शूद्र वर्णमें स्थान दिया। ऋषभदेवके मुनि हो जानेके बाद भरत चक्रवर्तीने इन्हीं तीन वर्णोंमेंसे व्रत और चारित्र धारण करनेवाले सुशील व्यक्तियोंका ब्राह्मण वर्ण बनाया। इसका आधार केवल व्रत-संस्कार था। अर्थात् जो व्यक्ति अहिंसा आदि व्रतोंसे सुसंस्कृत थे, वे ब्राह्मणवर्णमें परिगणित किये गए। इस तरह गुण और कर्मके अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हुई। ऋषभदेव ही प्रमुख रूपसे कर्मभूमि-व्यवस्थाके अग्र सूत्रधार थे; अतः इन्हें आदिब्रह्मा या आदिनाथ कहते हैं। प्रजाकी रक्षा और व्यवस्थामें तत्पर इन प्रजापति ऋषभदेवने अपने राज्यकालमें जिस प्रकार व्यवहारार्थ राज्यव्यवस्था और समाज-रचनाका प्रवर्तन किया, उसी तरह तीर्थकालमें व्यक्तिकी शुद्धि और समाजमें शान्ति स्थापनके लिये 'धर्मतीर्थ' का भी प्रवर्तन किया। अहिंसाको धर्मकी मूल धुरा मानकर इसी अहिंसाका समाज-रचनाके लिए आधार बनानेके हेतुसे सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह आदिके रूपमें अवतार किया। साधनाकालमें इनने राज्यका परित्याग कर बाहर-भीतरकी सभी गाँठें खोल परम निर्ग्रन्थ मार्गका अवलम्बन कर आत्मसाधना की और क्रमशः कैवल्य प्राप्त किया। यही धर्मतीर्थके आदि प्रवर्तक थे।

इनकी ऐतिहासिकताको सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० हर्मन् जैकोबी और सर राधाकृष्णन् आदि स्वीकार करते हैं। भागवत (५। २-६) में जो ऋषभदेवका वर्णन मिलता है वह जैन परम्पराके वर्णनसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भागवत-

में जैनधर्मके संस्थापकके रूपमें ऋषभदेवका उल्लेख होना और आठवें अवतारके रूपमें उनका स्वीकार किया जाना इस बातका साक्षी है कि ऋषभके जैनधर्मके संस्थापक होनेकी अनुश्रुति निर्मूल[1] नहीं है।

बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंमें[2] दृष्टान्ताभास या पूर्वपक्षके रूपमें जैनधर्मके प्रवर्तक और स्याद्वादके उपदेशकके रूपमें ऋषभ और वर्धमानका ही नामोल्लेख पाया जाता है। धर्मोत्तर आचार्य[3] तो ऋषभ, वर्धमानादिको दिगम्बरोंका शास्ता लिखते हैं।

इन्होंने मूल अहिंसा धर्मका आद्य उपदेश दिया और इसी अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठाके लिये उसके आधारभूत तत्त्वज्ञानका भी निरूपण किया। इनने समस्त आत्माओंको स्वतन्त्र, परिपूर्ण और अखण्ड मौलिक द्रव्य मानकर अपनी तरह समस्त जगत्के प्राणियोंको जीवित रहनेके समान अधिकारको स्वीकार किया और अहिंसाके सर्वोदयी स्वरूपकी संजीवनी जगत्को दी। विचार-क्षेत्रमें अहिंसाके मानस रूपकी प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये आदिप्रभुने जगत्के अनेकान्त स्वरूपका उपदेश दिया। उनने बताया कि विश्वका प्रत्येक जड़-चेतन, अणु-परमाणु और जीवराशि अनन्त गुण-पर्यायोंका आकर है। उसके विराट् रूपको पूर्ण ज्ञान स्पर्श भी कर ले, पर वह शब्दोंके द्वारा कहा नहीं जा सकता। वह अनन्त ही दृष्टि-कोणोंसे अनन्त रूपमें देखा जाता और कहा जाता है। अतः इस अनेकान्तमहा-सागरको शान्ति और गम्भीतासे देखो। दूसरेके दृष्टिकोणोंका भी आदर करो; क्योंकि वे भी तुम्हारी ही तरह वस्तुके स्वरूपांशोंको ग्रहण करनेवाले हैं। अने-कान्तदर्शन वस्तुविचारके क्षेत्रमें दृष्टिकी एकाङ्गिता और संकुचिततासे होनेवाले मतभेदोंको उखाड़कर मानस-समताकी सृष्टि करता है और वीतराग चित्तकी सृष्टिके लिए उर्वर भूमि बनाता है। मानस अहिंसाके लिए जहाँ विचारशुद्धि करनेवाले अनेकान्तदर्शनकी उपयोगिता है वहाँ वचनकी निर्दोष पद्धति भी उपादेय है, क्योंकि अनेकान्तको व्यक्त करनेके लिये 'ऐसा ही है' इस प्रकारकी अवधारिणी भाषा माध्यम नहीं बन सकती। इसलिये उस परम अनेकान्त तत्त्वका प्रतिपादन

---

१. खंडगिरि-उदयगिरिकी हाथीगुफाके २१०० वर्ष पुराने लेखसे ऋषभदेवकी प्रतिमाकी कुलक्रमागतता और प्राचीनता स्पष्ट है। यह लेख कलिंगाधिपति खारवेलने लिखाया था। इस प्रतिमाको नन्द ले गया था। पीछे खारवेलने इसे नन्दके ३०० वर्ष बाद पुष्यमित्रसे प्राप्त किया था।

२. देखो, न्यायबि० १।१४२-५१। तत्त्वसंग्रह (स्याद्वादपरीक्षा)।

३. "यथा ऋषभो वर्धमानश्च, तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिः दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति।"—न्यायबि० टीका ३।१४२।

करनेके लिये 'स्याद्वाद' रूप वचनपद्धतिका उपदेश दिया गया। इससे प्रत्येक वाक्य अपनेमें सापेक्ष रहकर स्ववाच्यको प्रधानता देता हुआ भी अन्य अंशोंका लोप नहीं करता, उनका तिरस्कार नहीं करता और उनकी सत्तासे इनकार नहीं करता। वह उनका गौण अस्तित्व स्वीकार करता है। इसीलिये इन धर्मतीर्थकरोंकी 'स्याद्वादी' के रूपमें स्तुति की जाती है[1], जो इनके तत्त्वस्वरूपके प्रकाशनकी विशिष्ट प्रणालीका वर्णन है।

इनने प्रमेयका स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण बताया है। प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, त्रिलक्षणयुक्त परिणामी है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण अपनी पूर्वपर्यायको छोड़ता हुआ नवीन उत्तरपर्यायको धारण करता जाता है और इस अनादिप्रवाहको अनन्तकाल तक चलाता जाता है, कभी भी समाप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि तीर्थंकर ऋषभदेवने अहिंसा मूल-धर्मके साथ ही साथ त्रिलक्षण प्रमेय, अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद भाषाका भी उपदेश दिया। नय, सप्तभंगी आदि इन्हीके परिवारभूत हैं। अतः जैनदर्शनके आधारभूत मुख्य मुद्दे हैं—त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद। आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता तो एक ऐसी आधारभूत शिला है जिसके माने बिना बन्ध-मोक्षकी प्रक्रिया ही नहीं बन सकती। प्रमेयका षट् द्रव्य, सात तत्त्व आदिके रूपमें विवेचन तो विवरणकी बात है।

भगवान् ऋषभदेवके बाद अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए हैं और इन सब तीर्थंकरोंने अपने-अपने युगमें इसी सत्यका उद्घाटन किया है।

तीर्थंकर नेमिनाथ :

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ नारायण कृष्णके चचेरे भाई थे। इनका जन्म-स्थान द्वारिका था और पिता थे महाराज समुद्रविजय। जब इनके विवाहका जुलूस नगरमें घूम रहा था और युवक कुमार नेमिनाथ अपनी भावी संगिनी राजुलकी सुखसुषमाके स्वप्नमें झूमते हुए दूल्हा बनकर रथमें सवार थे उसी समय बारातमें आये हुए मांसाहारी राजाओंके स्वागतार्थ इकट्ठे किये गये विविध पशुओं-की भयङ्कर चीत्कार कानोंमें पड़ी। इस एक चीत्कारने नेमिनाथके हृदयमें अहिंसाका सोता फोड़ दिया और उन दयामूर्तिने उसी समय रथसे उतरकर उन पशुओंके बन्धन अपने हाथों खोले। विवाहकी वेषभूषा और विलासके स्वप्नोंको

---

१. "धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥"—लघी० श्लो० १।

असार समझ भोगसे योगकी ओर अपने चित्तको मोड़ दिया और बाहर-भीतरकी समस्त गाँठोंको खोल ग्रन्थि भेदकर परम निर्ग्रन्थ हो साधनामें लीन हुए। इन्हींका अरिष्टनेमिके रूपमें उल्लेख यजुर्वेदमें भी आता है।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ :

तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ इसी बनारसमें उत्पन्न हुए थे। वर्तमान भेलूपुर उनका जन्मस्थान माना जाता है। ये राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवीके नयनोंके तारे थे। जब ये आठ वर्षके थे, तब एक दिन अपने संगी-साथियोंके साथ गंगाके किनारे घूमने जा रहे थे। गंगातट पर कमठ नामका तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था। दयामूर्ति कुमार पार्श्वने एक जलते हुए लक्कड़से अधजले नाग-नागिनको बाहर निकालकर प्रतिबोध दिया और उन मृतप्राय नागयुगल पर अपनी दया-ममता उड़ेल दी। वे नागयुगल धरणेन्द्र और पद्मावतीके रूपमें इनके भक्त हुए। कुमार पार्श्वका चित्त इस प्रकारके बालतप तथा जगत्की विषम हिंसापूर्ण परिस्थितियोंसे विरक्त हो उठा, अतः इस युवा कुमारने सादी-विवाहके बन्धनमें न बँधकर जगत्के कल्याणके लिये योगसाधनाका मार्ग ग्रहण किया। पाली पिटकोंमें बुद्धका जो प्राक् जीवन मिलता है और छह वर्ष तक बुद्धने जो कृच्छ्र साधनाएँ की थीं उससे निश्चित होता है कि उस कालमें बुद्ध पार्श्वनाथकी परम्पराके तपयोगमें भी दीक्षित हुए थे। इनके चातुर्याम संवरका उल्लेख बार-बार आता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्मके प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ थे, यह श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे भी स्पष्ट है। उस समय स्त्री परिग्रहमें शामिल थी और उसका त्याग अपरिग्रह व्रतमें आ जाता था। इनने भी अहिंसा आदि मूल तत्त्वोंका ही उपदेश दिया।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर :

इस युगके अंतिम तीर्थंकर थे भगवान् महावीर। ईसासे लगभग ६०० वर्ष पूर्व इनका जन्म कुण्डग्राममें हुआ था। वैशालीके पश्चिममें गण्डकी नदी है। उसके पश्चिम तटपर ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रिय कुण्डपुर, वाणिज्य ग्राम, करमार ग्राम और कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखा ग्राम थे। भगवान् महावीरका जन्मस्थान वैशाली माना जाता है, क्योंकि कुण्डग्राम वैशालीका ही उपनगर था। इनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्रिय ज्ञातृक्षत्रिय थे और ये उस प्रदेशके राजा थे। रानी त्रिशलाकी कुक्षिसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी रात्रिमें कुमार वर्द्धमानका जन्म हुआ। इनने अपने बाल्यकालमें संजय-विजय (संभवतः संजय-

वेलट्ठिपुत्त)के तत्त्वविषयक संशयका समाधान किया था, इसलिए लोग इन्हें सन्मति भी कहते थे। ३० वर्ष तक ये कुमार रहे। उस समयकी विषम परिस्थितिने इनके चित्तको स्वार्थसे जन-कल्याणकी ओर फेरा। उस समयकी राजनीतिका आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग-स्वार्थियोंने धर्मकी आड़में धर्मग्रन्थोंके हवाले दे-देकर अपने वर्गके संरक्षणकी चक्कीमें बहुसंख्यक प्रजाको पीस डाला था। ईश्वरके नामपर अभिजात वर्ग विशेष प्रभु-सत्ता लेकर ही उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्वका अभिमान स्ववर्गके संरक्षण तक ही नहीं फैला था, किन्तु शूद्र आदि वर्णोंके मानवोचित अधिकारोंका अपहरण कर चुका था और यह सब हो रहा था धर्मके नामपर। स्वर्गलाभके लिए अजमेधसे लेकर नरमेध तक धर्म-वेदी पर होते थे। जो धर्म प्राणिमात्रके सुख-शान्ति और उद्धारके लिए था, वही हिंसा, विषमता, प्रताड़न और निर्दलनका अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्द्धमानका मानस इस हिंसा और विषमतासे होनेवाली मानवताके उत्पीड़नसे दिन-रात बेचैन रहता था। वे व्यक्तिकी निराकुलता और समाज-शान्तिका सरल मार्ग ढूँढ़ना चाहते थे और चाहते थे मनुष्यमात्रकी समभूमिका निर्माण करना। सर्वोदयकी इस प्रेरणाने उन्हें ३० वर्षकी भरी जवानीमें राजपाटको छोड़कर योगसाधनकी ओर प्रवृत्त किया। जिस परिग्रहके अर्जन, रक्षण, संग्रह और भोगके लिए वर्ग-स्वार्थियोंने धर्मको राजनीतिमें दाखिल किया था उस परिग्रहकी बाहर-भीतरकी दोनों गाँठें खोलकर वे परम निर्ग्रन्थ हो अपनी मौन साधनामें लीन हो गये। १२ वर्ष तक कठोर साधना करनेके बाद ४२ वर्षकी अवस्थामें इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये वीतराग और सर्वज्ञ बने। ३० वर्ष तक इन्होंने धर्मतीर्थका प्रवर्तन कर ७२ वर्षकी अवस्थामें पावा नगरीसे निर्वाण लाभ किया।

सत्य एक और त्रिकालाबाधित :

निर्ग्रन्थ नाथपुत्त भगवान् महावीरको कुल-परम्परासे यद्यपि पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानकी धारा प्राप्त थी, पर ये उस तत्त्वज्ञानके मात्र प्रचारक नहीं थे, किन्तु अपने जीवनमें अहिंसाकी पूर्ण साधना करके सर्वोदय मार्गके निर्माता थे। मैं पहले बता आया हूँ कि इस कर्मभूमिमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेवके बाद तेईस तीर्थङ्कर और हुए हैं। ये सभी वीतरागी और सर्वज्ञ थे। इन्होंने अहिंसाकी परम ज्योतिसे मानवताके विकासका मार्ग आलोकित किया था। व्यक्तिकी निराकुलता और समाजमें शान्ति स्थापन करनेके लिये जो मूलभूत तत्त्वज्ञान और सत्य साक्षात्कार अपेक्षित होता है, उसको ये तीर्थङ्कर युगरूपता देते हैं। सत्य त्रिकालाबाधित और

एक होता है[1] । उसकी आत्मा देश, काल और उपाधियोंसे परे सदा एकरस होती है । देश और काल उसकी व्याख्याओंमें यानी उसके शरीरमें भेद अवश्य लाते हैं, पर उसकी मूलधारा सदा एकरसवाहिनी होती है । इसीलिये जगत्के असंख्य श्रमण-सन्तोंने व्यक्तिकी मुक्ति और जगत्की शान्तिके लिये एक ही प्रकारके सत्य-का साक्षात्कार किया है और वह व्यापक मूल सत्य है 'अहिंसा' ।

जैनधर्म और दर्शनके मूल मुद्दे :

इसी अहिंसाकी दिव्य ज्योति विचारके क्षेत्रमें अनेकान्तके रूपमें प्रकट होती है तो वचन-व्यवहारके क्षेत्रमें स्याद्वादके रूपमें जगमगाती है और समाज-शान्तिके लिये अपरिग्रहके रूपमें स्थिर आधार बनती है; यानी आचारमें अहिंसा, विचारमें अनेकान्त, वाणीमें स्याद्वाद और समाजमें अपरिग्रह ये वे चार महान् स्तम्भ हैं, जिनपर जैनधर्मका सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है । युग-युगमें तीर्थङ्करोंने इसी प्रासादका जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूपको स्थिर किया है ।

जगत्का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता । वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण है । कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियमका अपवाद नहीं है । यह 'त्रिलक्षण परिणामवाद' जैन-दर्शनके मण्डपकी आधारभूमि है । इस त्रिलक्षण परिणामवादकी भूमिपर अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादपद्धतिके खम्भोंसे जैन-दर्शनका तोरण बाँधा गया है । विविध नय, सप्तभङ्गी, निक्षेप आदि इसकी झिलमिलाती हुई झालरें हैं ।

भगवान् महावीरने धर्मके क्षेत्रमें मानव मात्रको समान अधिकार दिये थे । जाति, कुल, शरीर, आकारके बंधन धर्माधिकारमें बाधक नहीं थे । धर्म आत्माके सद्गुणोंके विकासका नाम है । सद्गुणोंके विकास अर्थात् सदाचरण धारण करनेमें किसी प्रकारका बन्धन स्वीकार्य नहीं हो सकता । राजनीति व्यवहारके लिये कैसी भी चले, किन्तु धर्मकी शीतल छाया प्रत्येकके लिये समान भावसे सुलभ हो, यही उनकी अहिंसा और समताका लक्ष्य था । इसी लक्ष्यनिष्ठाने धर्मके नामपर किये जानेवाले पशुयज्ञोंको निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी सिद्ध कर दिया था । अहिंसाका झरना एक बार हृदयसे जब झरता है तो वह मनुष्यों तक ही नहीं, प्राणिमात्रके संरक्षण और पोषण तक जा पहुँचता है । अहिंसक सन्तकी प्रवृत्ति तो इतनी

१. "जे य अतीता पडुप्पन्ना अनागता य भगवंतो अरिहंता ते सव्वे एयमेव धम्मं" —आचारांग सू० ।

स्वावलम्बिनी तथा निर्दोष हो जाती है कि उसमें प्राणिघातकी कम-से-कम सम्भावना रहती है।

जैन श्रुत :

वर्तमानमें जो श्रुत उपलब्ध हो रहा है वह इन्हीं महावीर भगवान्के द्वारा उपदिष्ट है। इन्होंने जो कुछ अपनी दिव्य ध्वनिसे कहा उसको इनके शिष्य गणधरोंने ग्रन्थरूपमें गूँथा। अर्थागम तीर्थंकरोंका होता है और शब्द-शरीरकी रचना गणधर करते हैं। वस्तुतः तीर्थंकरोंका प्रवचन दिनमें तीन बार या चार बार होता था। प्रत्येक प्रवचनमें कथानुयोग, द्रव्यचर्चा, चारित्र-निरूपण और तात्त्विक विवेचन सभी कुछ होता था। यह तो उन गणधरोंकी कुशल पद्धति है, जिससे वे उनके सर्वात्मक प्रवचनको द्वादशांगमें विभाजित कर देते हैं—चरित्र-विषयक वार्ताएँ आचारांगमें, कथांश ज्ञातृधर्मकथा और उपासकाध्ययन आदिमें, प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रश्नव्याकरण आदिमें। यह सही है कि जो गाथाएँ और वाक्य दोनों परम्पराके आगमोंमें हैं उनमें कुछ वही हों जो भगवान् महावीर-के मुखारविन्दसे निकले हों। जैसे समय-समयपर बुद्धने जो मार्मिक गाथाएँ कहीं, उनका संकलन 'उदान' में पाया जाता है। ऐसे ही अनेक गाथाएँ और वाक्य उन प्रसंगोंपर जो तीर्थंकरोंने कहे वे सब मूल अर्थ ही नहीं, शब्दरूपमें भी इन गणधरों-ने द्वादशांगमें गूँथे होंगे। यह श्रुत अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य रूपमें विभाजित है। अङ्गप्रविष्ट श्रुत ही द्वादशांग श्रुत है। यथा आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदश, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौप-पादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद श्रुतके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, और चूलिका। पूर्वगत श्रुतके चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।

तीर्थङ्करोंके साक्षात् शिष्य, बुद्धि और ऋद्धिके अतिशय निधान, श्रुतकेवली गणधरोंके द्वारा ग्रन्थबद्ध किया गया वह अङ्ग-पूर्वरूप श्रुत इसलिए प्रमाण है कि इसके मूल वक्ता परम अचिन्त्य केवलज्ञानविभूतिवाले परम ऋषि सर्वज्ञदेव हैं। आरातीय आचार्योंके द्वारा अल्पमति शिष्योंके अनुग्रहके लिए जो दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि रूपमें रचा गया अङ्गबाह्य श्रुत है वह भी प्रमाण है, क्योंकि अर्थरूपमें यह श्रुत तीर्थङ्कर प्रणीत अङ्गप्रविष्टसे जुदा नहीं है। यानी इस अङ्गबाह्य श्रुतकी परम्परा चूँकि अङ्गप्रविष्ट श्रुतसे बँधी हुई है, अतः उसीकी तरह प्रमाण

है। जैसे क्षीरसमुद्रका जल घड़ेमें भर लेने पर मूलरूपमें वह समुद्रजल ही रहता है[1]।

दोनों परंपराओंका आगमश्रुत :

वर्तमानमें जो आगमश्रुत श्वेताम्बर परम्पराको मान्य है उसका अंतिम संस्करण वलभीमें वीर निर्वाण संवत् ९८० में हुआ था। विक्रमकी ६वीं शताब्दीमें यह संकलन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। इस समय जो त्रुटित-अत्रुटित आगम-वाक्य उपलब्ध थे, उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। उनमें अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन हुए। एक बात खास ध्यान देनेकी है कि महावीरके प्रधान गणधर गौतमके होते हुए भी इन आगमोंकी परम्परा द्वितीय गणधर सुधर्मा स्वामीसे जुड़ी हुई है। जब कि दिगम्बर परम्पराके सिद्धान्त-ग्रन्थोंका सम्बन्ध गौतम स्वामीसे है। यह भी एक विचारणीय बात है कि श्वेताम्बर परम्परा जिस दृष्टिवाद श्रुतका उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुतके अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद पूर्वसे षट्खंडागम, महाबन्ध, कसायपाहुड आदि दिगम्बर सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी रचना हुई है। यानि जिस श्रुतका श्वेताम्बर परम्परामें लोप हुआ उस श्रुतकी धारा दिगम्बर परम्परामें सुरक्षित है और दिगम्बर परम्परा जिस अङ्गश्रुतका लोप मानती है, उसका संकलन श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित है।

श्रुतविच्छेदका मूल कारण :

इस श्रुत-विच्छेदका एक ही कारण है--वस्त्र। महावीर स्वयं निर्वस्त्र परम निर्ग्रन्थ थे, यह दोनों परम्पराओंको मान्य है। उनके अचेलक-धर्मकी सङ्गति आपवादिक वस्त्रको औत्सर्गिक मानकर नहीं बैठायी जा सकती। जिनकल्प आदर्श मार्ग था, इसकी स्वीकृति श्वेताम्बर परम्परा मान्य दशवैकालिक, आचाराङ्ग आदिमें होनेपर भी जब किसी भी कारणसे एक बार आपवादिक वस्त्र घुस गया तो उसका निकलना कठिन हो गया। जम्बूस्वामीके बाद श्वेताम्बर परम्परा द्वारा

---

१. "तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति। किंकृतोऽयं विशेषः? वक्तृविशेषकृतः। त्रयो वक्तारः–सर्वज्ञतीर्थंकरः इतरो वा श्रुतकेवली, आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उपदिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम् तत्प्रमाणं, तत्प्रामाण्यात्। आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्सङ्क्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्, तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।"—सर्वार्थसिद्धि १।२०।

जिनकल्पका उच्छेद माननेसे[1] तो दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदको पूरा-पूरा बल मिला है। इस मतभेदके कारण श्वेताम्बर परम्परामें वस्त्रके साथ-ही-साथ उपधियोंकी संख्या चौदह तक हो गई। यह वस्त्र ही श्रुतविच्छेदका मूल कारण हुआ।

सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बेचरदासजीने अपनी 'जैन साहित्यमें विकार' पुस्तक (पृष्ट ४०) में ठीक ही लिखा है कि—"किसी वैद्यने संग्रहणीके रोगीको दवाके रूपमें अफीम सेवन करनेकी सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होनेपर भी जैसे उसे अफ़ीमकी लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता वैसी ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई।"

यह निश्चित है कि भगवान् महावीरको कुलाम्नायसे अपने पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथकी आचार-परम्परा प्राप्त थी। यदि पार्श्वनाथ स्वयं सचेल होते और उनकी परम्परामें साधुओंके लिए वस्त्रकी स्वीकृति होती तो महावीर स्वयं न तो नग्न दिगम्बर रहकर साधना करते और न नग्नताको साधुत्वका अनिवार्य अंग मानकर उसे व्यावहारिक रूप देते। यह सम्भव है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके साधु मृदुमार्गको स्वीकार कर आखिरमें वस्त्र धारण करने लगे हों और आपवादिक वस्त्रको उत्सर्ग मार्गमें दाखिल करने लगे हों, जिसकी प्रतिध्वनि उत्तराध्ययनके केशीगौतम संवादमें आई है। यही कारण है कि ऐसे साधुओंको 'पासत्थ' शब्दसे विकत्थना की गई है।

भगवान् महावीरने जब सर्वप्रथम सर्वसावद्य योगका त्यागकर समस्त परिग्रहको छोड़ दीक्षा ली तब उनने लेशमात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखा था। वे परम दिगम्बर होकर ही अपनी साधनामें लीन हुए थे। यदि पार्श्वनाथके सिद्धान्तमें वस्त्रकी गुन्जाइश होती और उसका अपरिग्रह महाव्रतसे मेल होता तो सर्वप्रथम दीक्षाके समय ही साधक अवस्थामें न तो वस्त्रत्यागकी तुक थी और न आवश्यकता ही। महावीरके देवदूष्यकी कल्पना करके वस्त्रकी अनिवार्यता और औचित्यकी संगति बैठाना आदर्श-मार्गको नीचे ढकेलना है। पार्श्वनाथके चातुर्याममें अपरिग्रहकी पूर्णता तो स्वीकृत थी ही। इसी कारणसे सचेलत्व समर्थक श्रुतको दिगम्बर परम्पराने मान्यता नहीं दी और न उनकी वाचनाओंमें वे शामिल ही हुए। अस्तु,

---

१. "मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजमतिय-केवलि-सिज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिण्णा ॥ २६६३ ॥"—विशेषा०।

काल-विभाग :

हमें तो यहाँ यह देखना है कि दिगम्बर परम्पराके सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें और श्वेताम्बर परम्परासम्मत आगमोंमें जैनदर्शनके क्या बीज मौजूद हैं ?

मैं पहिले बता आया हूँ कि—उत्पादादित्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद-भाषा तथा आत्मद्रव्यकी स्वतन्त्र सत्ता इन चार महान् स्तम्भोंपर जैन-दर्शनका भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। इन चारोंके समर्थक, विवेचक और व्याख्या करनेवाले प्रचुर उल्लेख दोनों परम्पराके आगमोंमें पाये जाते हैं। हमें जैन दार्शनिक साहित्यका सामान्यावलोकन करते समय आजतक उपलब्ध समग्र साहित्यको घ्यानमें रखकर ही कालविभाग इस प्रकार करना होगा[1]।

१. सिद्धान्त-आगमकाल : वि० ६वीं शती तक
२. अनेकान्त-स्थापनकाल : वि० ३री से ८वीं तक
३. प्रमाणव्यवस्था-युग : वि० ८वीं से १७वीं तक
४. नवीनन्याय-युग : वि० १८वीं से

१. सिद्धान्त-आगमकाल

दिगम्बर सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें षट्खंडागम, महाबंध, कषायप्राभृत और कुन्द-कुन्दाचार्यके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि मुख्य हैं। षट्खंडागमके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि हैं और कषायप्राभृतके रचयिता गुणधर आचार्य। आचार्य यतिवृषभने त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गाथा ६६ से ८२) में भगवान् महावीरके निर्वाणके बादकी आचार्य-परम्परा और उसकी ६८३ वर्षकी काल-गणना दी है[2]।

---

१. युगोंका इसी प्रकारका विभाजन दार्शनिकप्रवर पं० सुखलालजीने भी किया है, जो विवेचनके लिए सर्वथा उपयुक्त है।

२. जिस दिन भगवान् महावीरको मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधरने केवलज्ञान पद पाया। जब गौतम स्वामी सिद्ध हो गये, तब सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामीके मोक्ष हो जानेके बाद जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन केवलियोंका काल ६२ वर्ष है। इनके बाद नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन पाँचोंका काल १०० वर्ष होता है। इनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ११ आचार्य क्रमसे दशपूर्वके धारियोंमें विख्यात हुए। इनका काल १८३ वर्ष है। इनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य ११ ग्यारह अंगके धारी हुए। इनके बाद भरत क्षेत्रमें कोई ११ अंगका धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु

इस ६८३ वर्षके बाद ही धवला और जयधवलाके उल्लेखानुसार धरसेनाचार्यको सभी अंगों और पूर्वोंके एक देशका ज्ञान आचार्य परम्परासे प्राप्त हुआ था। किन्तु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीसे इस बातका समर्थन नहीं होता। उसमें लोहाचार्य तकका काल ५६५ वर्ष दिया है। इसके बाद एक अंगके धारियोंमें अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, भूतवलि और पुष्पदन्त इन पाँच आचार्योंको गिनाकर उनका काल क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया है। इस हिसाबसे पुष्पदन्त और भूतबलिका समय ६८३ वर्षके भीतर ही आ जाता है। विक्रम संवत् १५५६ में लिखी गई बृहत् टिप्पणिका[१] नामकी सूचीमें धरसेन द्वारा वीर निर्वाण संवत् ६०० में बनाये गये "जोणिपाहुड" ग्रन्थका उल्लेख है। इससे भी उक्त समयका समर्थन होता है[२]। यह स्मरणीय है कि पुष्पदन्त-भूतबलि ने दृष्टिवादके अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्वसे षट्खण्डागमकी रचना की है और गुणधराचार्यने ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वकी दशम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत तीसरे पेज्ज-दोषप्राभृतसे कसायप्राभृतकी रचना की है। इन सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें जैनदर्शनके उक्त मूल मुद्दोंके सूक्ष्म बीज बिखरे हुए हैं। स्थूल रूपसे इनका समय वीर निर्वाण संवत् ६१४ यानी विक्रमकी दूसरी शताब्दी (वि० सं० १४४) और ईसाकी प्रथम (सन् ८७) शताब्दी सिद्ध होता है[३]।

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी ३री शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं लाया जा सकता; क्योंकि मरकराके ताम्रपत्रमें कुन्द-

और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्गके धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अंग और १४ पूर्वके एकदेशके ज्ञाता थे। इनका समय ११८ वर्ष होता है अर्थात् गौतम गणधरसे लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल कालका परिमाण ६८३ वर्ष होता है।

तीन केवलज्ञानी ६२ बासठ वर्ष,
पाँच श्रुतकेवली १०० सौ वर्ष,
ग्यारह ग्यारह अंग और दश पूर्वके धारी १८३ वर्ष,
पाँच, ग्यारह अंगके धारी २२० वर्ष,
चार. आचारांगके धारी ११४ वर्ष,
कुल ६८३ वर्ष।

हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदिमें भी लोहाचार्य तकके आचार्योंका काल यही ६८३ वर्ष दिया गया है। देखो, जयधवला प्रथम भाग, प्रस्तावना पृष्ठ ४७–५०।

१. "योनिप्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम्"—बृहट्टिप्पणिका, जैन सा० सं० १–२ परिशिष्ट।
२. देखो, धवला प्रथम भाग, प्रस्तावना पृष्ठ २३–३०।
३. धवला प्र० भा०, प्र० पृष्ठ ३५ और जयधवला, प्रस्तावना पृष्ठ ६४।

कुन्दान्वयके छह आचार्योंका उल्लेख है। यह ताम्रपत्र शकसंवत् ३८८ में लिखा गया था। उन छह आचार्योंका समय यदि १५० वर्ष भी मान लिया जाय तो शक संवत् २३८ में कुन्दकुन्दान्वयके गुणनन्दि आचार्य मौजूद थे। कुन्दकुन्दान्वय प्रारम्भ होनेका समय स्थूल रूपसे यदि १५० वर्ष पूर्व मान लिया जाता है तो लगभग विक्रमकी पहली और दूसरी शताब्दी कुन्दकुन्दका समय निश्चित होता है। डॉक्टर उपाध्येने इनका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी ही अनुमान किया है[1]। आचार्य कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार आदि ग्रन्थोंमें जैनदर्शनके उक्त चार मुद्दोंके न केवल बीज ही मिलते हैं, किन्तु उनका विस्तृत विवेचन और साङ्गोपाङ्ग व्याख्यान भी उपलब्ध होता है, जैसा कि इस ग्रन्थके उन-उन प्रकरणोंसे स्पष्ट होगा। सप्तभंगी, नय, निश्चय व्यवहार, पदार्थ, तत्त्व, अस्तिकाय आदि सभी विषयों पर आ० कुन्दकुन्दकी सफल लेखनी चली है। अध्यात्मवादका अनूठा विवेचन तो इन्हींकी देन है।

श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थोंमें भी उक्त चार मुद्दोंके पर्याप्त बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं[2]। इसके लिए विशेषरूपसे भगवती, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग और अनुयोगद्वार द्रष्टव्य हैं।

भगवतीसूत्रके अनेक प्रश्नोत्तरोंमें नय, प्रमाण, सप्तभंगी, अनेकान्तवाद आदिके दार्शनिक विचार हैं।

सूत्रकृतांगमें भूतवाद और ब्रह्मवादका निराकरण करके पृथक् आत्मा तथा उसका नानात्व सिद्ध किया है। जीव और शरीरका पृथक् अस्तित्व बताकर कर्म और कर्मफलकी सत्ता सिद्ध की है। जगत्को अकृत्रिम और अनादि-अनन्त प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवादका निराकरण कर विशिष्ट क्रियावादकी स्थापना की गई है। प्रज्ञापनामें जीवके विविध भावोंका निरूपण है।

राजप्रश्नीयमें श्रमण केशीके द्वारा राजा प्रदेशीके नास्तिकवादका निराकरण अनेक युक्तियों और दृष्टान्तोंसे किया गया है।

नन्दीसूत्र जैनदृष्टिसे ज्ञानचर्चा करनेवाली अच्छी रचना है। स्थानांग और समवायांगकी रचना बौद्धोंके अंगुत्तरनिकायके ढंगकी है। इन दोनोंमें आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय और प्रमाण आदि विषयोंकी चर्चा आई है। "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" यह मातृका-त्रिपदी स्थानांगमें उल्लिखित है, जो उत्पादा-

१. देखो, प्रवचनसारकी प्रस्तावना।
२. देखो, जैनदार्शनिक साहित्यका सिंहावलोकन, पृष्ठ ४।

दित्रयात्मकताके सिद्धान्तका निरपवाद प्रतिपादन करती है। अनुयोगद्वारमें प्रमाण और नय तथा तत्त्वोंका शब्दार्थप्रक्रियापूर्वक अच्छा वर्णन है। तात्पर्य यह कि जैनदर्शनके मुख्य स्तम्भोंके न केवल बीज ही, किन्तु विवेचन भी इन आगमोंमें मिलते हैं।

पहले मैंने जिन चार मुद्दोंकी चर्चा की है उन्हें संक्षेपमें ज्ञापकतत्त्व या उपाय-तत्त्व और उपेयतत्त्व इन दो भागोंमें बांटा जा सकता है। सामान्यावलोकनके इस प्रकरणमें इन दोनोंकी दृष्टिसे भी जैनदर्शनका लेखा-जोखा कर लेना उचित है।

ज्ञापकतत्त्व :

सिद्धान्त-आगमकालमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेयके जाननेके साधन माने गये हैं। इनके साथ ही नयोंका स्थान भी अधिगमके उपायोंमें है। आगमिक कालमें ज्ञानकी सत्यता और असत्यता (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थोंको यथार्थ जानने या न जाननेके ऊपर निर्भर नहीं थी। किन्तु जो ज्ञान आत्मसंशोधन और अन्ततः मोक्षमार्गमें उपयोगी सिद्ध होते थे वे सच्चे और जो मोक्षमार्गोपयोगी नहीं थे वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टिसे शत-प्रतिशत सच्चा भी ज्ञान यदि मोक्षमार्गोपयोगी नहीं है तो वह झूठा है और लौकिक दृष्टिसे मिथ्याज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा कहा जाता था। इस तरह सत्यता और असत्यताकी कसौटी बाह्य पदार्थोंके अधीन न होकर मोक्षमार्गोपयोगितापर निर्भर थी। इसीलिये सम्यग्दृष्टिके सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान झूठे कहलाते थे। वैशेषिकसूत्रमें विद्या और अविद्या शब्दके प्रयोग बहुत कुछ इसी भूमिकापर हैं।

इन पाँच ज्ञानोंका प्रत्यक्ष और परोक्षरूपमें विभाजन भी पूर्व युगमें एक भिन्न ही आधारसे था। वह आधार था आत्ममात्रसापेक्षत्व। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष थे वे प्रत्यक्ष तथा जिनमें इन्द्रिय और मनकी सहायता अपेक्षित होती थी वे परोक्ष थे। लोकमें जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष कहते हैं वे ज्ञान आगमिक परम्परामें परोक्ष थे।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति :

आ० उमास्वाति या उमास्वामी (गृद्धपिच्छ)का तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्मका आदि संस्कृत सूत्रग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव आदि सात तत्त्वोंका विस्तारसे विवेचन है। जैनदर्शनके सभी मुख्य मुद्दे इसमें सूत्रित हैं। इनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र और आ० कुन्दकुन्दके प्रवचन-

सारमें ज्ञानका प्रत्यक्ष और परोक्षभेदोंमें विभाजन स्पष्ट होनेपर भी उनकी सत्यता और असत्यताका आधार तथा लौकिक प्रत्यक्षको परोक्ष कहनेकी परम्परा जैसीकी तैसी चालू थी। यद्यपि कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैलीमें लिखे गये हैं, फिर भी इनकी भूमिका दार्शनिककी अपेक्षा आध्यात्मिक ही अधिक है।

पूज्यपाद :

श्वेताम्बर विद्वान् तत्त्वार्थसूत्रके तत्त्वार्थाधिगम भाष्यको स्वोपज्ञ मानते हैं। इसमें भी दर्शनान्तरीय चर्चाएँ नहींके बराबर हैं। आ० पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामकी सारगर्भ टीका लिखी है। इसमें तत्त्वार्थके सभी प्रमेयोंका विवेचन है। इनके इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टिसे ही लिखे गये हैं। हाँ, जैनेन्द्रव्याकरणका आदिसूत्र इनने "सिद्धिरनेकान्तात्" ही बनाया है।

२. अनेकान्त-स्थापनकाल

समन्तभद्र और सिद्धसेन :

जब बौद्धदर्शनमें नागार्जुन, वसुबंधु, असंग तथा बौद्धन्यायके पिता दिग्नागका युग आया और दर्शनशास्त्रियोंमें इन बौद्धदार्शनिकोंके प्रबल तर्कप्रहारोंसे बेचैनी उत्पन्न हो रही थी, एक तरहसे दर्शनशास्त्रके तार्किक अंश और परपक्ष खंडनका प्रारम्भ हो चुका था, उस समय जैनपरम्परामें युगप्रधान स्वामी समन्तभद्र और न्यायावतारी सिद्धसेनका उदय हुआ। इनके सामने सैद्धान्तिक और आगमिक परिभाषाओं और शब्दोंको दर्शनके चौखटेमें बैठानेका महान् कार्य था। इस युगमें जो धर्मसंस्था प्रतिवादियोंके आक्षेपोंका निराकरण कर स्वदर्शनकी प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरेमें था। अतः परचक्रसे रक्षा करनेके लिये अपना दुर्ग स्वतः संवृत करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यका प्रारम्भ इन दो महान् आचार्योंने किया।

स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इनने आप्तकी स्तुति करनेके प्रसंगसे आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रमें एकान्तवादोंकी आलोचनाके साथ-ही-साथ अनेकान्तका स्थापन, स्याद्वादका लक्षण, सुनय-दुर्नयकी व्याख्या और अनेकान्तमें अनेकान्त लगानेकी प्रक्रिया बताई। इनने बुद्धि और शब्दकी सत्यता और असत्यताका आधार मोक्षमार्गोपयोगिताकी जगह बाह्यार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिको बताया[1]। 'स्वपरावभासक बुद्धि प्रमाण है' यह प्रमाणका लक्षण स्थिर

१. आप्तमी० श्लो० ८७।

किया[1], तथा अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षाको प्रमाणका फल बताया[2]। इनका समय २री, ३री शताब्दी है।

आ० सिद्धसेनने सन्मतितर्कसूत्रमें नय और अनेकान्तका गम्भीर, विशद और मौलिक विवेचन तो किया ही है, पर उनकी विशेषता है न्यायके अवतार करने की। इनने प्रमाणके स्वपरावभासक लक्षणमें 'बाधवर्जित'[3] विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया, ज्ञानकी प्रमाणता और प्रमाणताका आधार मोक्षमार्गोपयोगिताकी जगह धर्मकीर्तिकी तरह 'मेयविनिश्चय'को रखा। यानी इन आचार्योंके युगसे 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्रमें अपनी प्रमाणता बाह्यार्थकी प्राप्ति या मेयविनिश्चयसे ही साबित कर सकता था। आ० सिद्धसेनने न्यायावतारमें प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये हैं। इस प्रमाणत्रित्ववादकी परम्परा आगे नहीं चली। इनने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंके स्वार्थ और परार्थ भेद किये हैं। अनुमान और हेतुका लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमानके समस्त परिकरका निरूपण किया है।

पात्रकेसरी और श्रीदत्त :

जब दिग्नागने हेतुका लक्षण 'त्रिलक्षण' स्थापित किया और हेतुके लक्षण तथा शास्त्रार्थकी पद्धतिपर ही शास्त्रार्थ होने लगे तब पात्रस्वामी (पात्रकेसरी)ने त्रिलक्षणकदर्शन और श्रीदत्तने जल्पनिर्णय ग्रन्थोंमें हेतुका अन्यथानुपपत्ति-रूपसे एकलक्षण स्थापित किया और 'वाद'का सांगोपांग विवेचन किया।

३. प्रमाणव्यवस्था-युग

जिनभद्र और अकलंक :

आ० जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (ई० ७वीं सदी) अनेकान्त और नय आदिका विवेचन करते हैं तथा प्रत्येक प्रमेयमें उसे लगानेकी पद्धति भी बताते हैं। इनने लौकिक इन्द्रियप्रत्यक्षको, जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था और इसके कारण लोक व्यवहारमें असमंजसता आती थी, 'संव्यवहारप्रत्यक्ष' संज्ञा दी[4]। अर्थात् आगमिक परिभाषाके अनुसार यद्यपि इन्द्रियन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोकव्यवहारके निर्वाहार्थ उसे संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाता है। यह 'संव्यवहार' शब्द विज्ञानवादी बौद्धोंके यहाँ प्रसिद्ध रहा है। भट्ट अकलंकदेव (ई० ७ वीं) सचमुच जैन प्रमाणशास्त्रके सजीव प्रतिष्ठापक हैं। इनने अपने लघीयस्त्रय (का० ३, १०)में प्रथमतः

१. बृहत्स्वय० श्लो० ६३। २. आप्तमी० श्लो० १०२।
३. न्यायावतार० श्लो० १। ४. विशेषा० भाष्य गा० ९५।

प्रमाणके दो भेद करके फिर प्रत्यक्षके स्पष्ट रूपसे मुख्यप्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। परोक्षप्रमाणके भेदोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगमको अविशद ज्ञान होनेके कारण स्थान दिया। इस तरह प्रमाणशास्त्रकी व्यवस्थित रूपरेखा यहाँसे प्रारम्भ होती है।

अनुयोगद्वार, स्थानांग और भगवतीसूत्रमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणोंका निर्देश मिलता है। यह परम्परा न्यायसूत्रकी है। तत्त्वार्थभाष्यमें इस परम्पराको 'नयवादान्तरेण' रूपसे निर्देश करके भी इसको स्वपरम्परामें स्थान नहीं दिया है और न उत्तरकालीन किसी जैन ग्रंथमें इनका कुछ विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकोंने अकलंकद्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाणपद्धतिको ही पल्लवित और पुष्पित करके जैन न्यायोद्यानको सुवासित किया है।

उपायतत्त्व :

उपाय तत्त्वोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान नय और स्याद्वादका है। नय सापेक्ष दृष्टिका नामान्तर है। स्याद्वाद भाषाका वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा अनेकान्तवस्तुके परिपूर्ण और यथार्थ रूपके अधिक-से-अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। आ० कुन्दकुन्दके पंचास्तिकायमें सप्तभंगीका हमें स्पष्ट रूपसे उल्लेख मिलता है। भगवतीसूत्रमें जिन अनेक भंगजालोंका वर्णन है, उनमेंसे प्रकृत सात भंग भी छाँटे जा सकते हैं[1]। स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें इसी सप्तभंगीका अनेक दृष्टियोंसे विवेचन है। उसमें सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, द्वैत-अद्वैत, दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेक प्रमेयोंपर इस सप्तभंगीको लगाया गया है। सिद्धसेनके सन्मतितर्कमें अनेकान्त और नयका विशद वर्णन है। आ० समन्तभद्रने[2] "विधेयं वार्यं" आदि रूपसे सात प्रकारके पदार्थ ही निरूपित किये हैं। दैव और पुरुषार्थका जो विवाद उस समय दृढ़मूल था उसके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने स्पष्ट लिखा है[3] कि न तो कोई कार्य केवल दैवसे होता है और न केवल पुरुषार्थसे। जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके अभावमें फलप्राप्ति हो वहाँ दैवकी प्रधानता माननी चाहिये और पुरुषार्थको गौण, तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्नसे कार्यसिद्धि हो वहाँ पुरुषार्थको प्रधान और दैवको गौण मानना चाहिए।

इस तरह आ० समन्तभद्र और सिद्धसेनने नय, सप्तभंगी, अनेकान्त आदि जैनदर्शनके आधारभूत पदार्थोंका सांगोपांग विवेचन किया है। इन्होंने उस समयके

१. देखो, जैनतर्कवार्तिक प्रस्तावना पृ० ४४–४८।
२. बृहत्स्वय० श्लो० ११८। ३. आप्तमी० श्लो० ९१।

प्रचलित सभी वादोंका नयदृष्टिसे जैनदर्शनमें समन्वय किया और सभी वादियोंमें परस्पर विचारसहिष्णुता और समता लानेका प्रयत्न किया। इसी युगमें न्याय-भाष्य, योगभाष्य और शावरभाष्य आदि भाष्य रचे गये हैं। यह युग भारतीय तर्कशास्त्रके विकासका प्रारम्भ युग था। इसमें सभी दर्शन अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने तर्क-शस्त्र पैना रहे थे। दर्शन-क्षेत्रमें सबसे पहला आक्रमण बौद्धोंकी ओरसे हुआ, जिसके सेनापति थे नागार्जुन और दिग्नाग। तभी वैदिक दार्शनिक परम्परामें न्यायवार्तिककार उद्योतकर, मीमांसाश्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदिने वैदिकदर्शनके संरक्षणमें पर्याप्त प्रयत्न किये। आ० मल्लवादिने द्वादशारनयचक्र ग्रन्थमें विविध भंगों द्वारा जैनेतर दृष्टियोंके समन्वयका सफल प्रयत्न किया। यह ग्रन्थ आज मूलरूपमें उपलब्ध नहीं है। इसकी सिंहगणिक्षमा-श्रमणकृत वृत्ति उपलब्ध है। इसी युगमें सुमति, श्रीदत्त, पात्रस्वामी आदि आचार्योंने जैनन्यायके विविध अंगोंपर स्वतन्त्र और व्याख्या ग्रन्थोंका निर्माण प्रारम्भ किया।

वि० की ७ वीं और ८ वीं शताब्दी दर्शनशास्त्रके इतिहासमें विप्लवका युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्तिका सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थोंकी धूम मची हुई थी। धर्मकीर्तिने सदलबल प्रबल तर्कबलसे वैदिक दर्शनोंपर प्रचंड प्रहार किये। जैनदर्शन भी इनके आक्षेपोंसे नहीं बचा था। यद्यपि अनेक मुद्दोंमें जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्ध वादोंका दृष्टिकोण ऐकान्तिक होनेके कारण दोनोंमें स्पष्ट विरोध था और इसीलिये इनका प्रबल खंडन जैनन्यायके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। धर्मकीर्तिके आक्षेपोंके उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर, व्योमशिव, मंडनमिश्र, शंकराचार्य, भट्ट जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिकोंका प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने वैदिकदर्शनके संरक्षणके लिये भरसक प्रयत्न किये। इसी संघर्षयुगमें जैनन्यायके प्रस्थापक दो महान् आचार्य हुए। वे हैं अकलंक और हरिभद्र। इनके बौद्धोंसे जमकर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धदर्शनके खंडनसे भरा हुआ है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदिका खंडन अकलंकके सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि प्रकरणोंमें पाया जाता है। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकान्तवादप्रवेश आदिमें बौद्धदर्शनकी प्रखर आलोचना है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिकदर्शनके ग्रन्थोंमें इतर मतोंका मात्र खंडन ही खंडन है वहाँ जैनदर्शनग्रन्थोंमें इतर मतोंका नय और स्याद्वाद-पद्धतिसे विशिष्ट समन्वय भी किया गया है। इस

तरह मानस अहिंसाकी उसी उदार दृष्टिका परिपोषण किया गया है। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्मसंग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक आदि मतोंके खंडनमें धर्मकीर्तिने जो अथक श्रम किया है उससे इन आचार्योंका उक्त मतोंके खंडनका कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्तिके शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शांतरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिकटीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति-टीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्यायटीका और हेतुबिन्दुटीका आदि ग्रन्थ रच चुके और इनमें कुमारिल, ईश्वरसेन और मंडनमिश्र आदिके मतोंका खंडन कर चुके तथा वाचस्पति, जयन्त आदि उस खंडनोद्धारके कार्यमें व्यस्त थे तब इसी युगमें अनन्तवीर्यने बौद्धदर्शनके खंडनमें सिद्धिनिश्चयटीका बनाई। आचार्य सिद्धसेनके सन्मतिसूत्र और अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चयको जैनदर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें स्थान प्राप्त है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और युक्त्यनुशासनटीका जैसे जैनन्यायके मूर्धन्य ग्रन्थोंको बनाकर अपना नाम सार्थक किया। इसी समय उदयनाचार्य, भट्ट श्रीधर आदि वैदिक दार्शनिकोंने वाचस्पति मिश्रके अवशिष्ट कार्यको पूरा किया। यह युग विक्रमकी ८वीं, ९वीं सदीका था। इसी समय आचार्य माणिक्य-नंदिने परीक्षामुखसूत्रकी रचना की। यह जैन न्यायका आद्य सूत्रग्रन्थ है जो आगेके सूत्रग्रन्थोंके लिये आधारभूत आदर्श सिद्ध हुआ।

वि० की दसवीं सदीमें आ० सिद्धर्षिसूरिने न्यायावतारपर टीका रची।

वि० ११–१२ वीं सदीको एक प्रकारसे जैनदर्शनिका मध्याह्नोत्तर समझना चाहिए। इसमें वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र जैसे बृहत्काय टीकाग्रन्थोंका निर्माण किया। शान्ति-सूरिका जैनतर्कवार्तिक, अभयदेवसूरिकी सन्मतितर्कटीका, जिनेश्वरसूरिका प्रमाण-लक्षण, अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रसूरिकी प्रमाणमीमांसा, वादिदेव-सूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और स्याद्वादरत्नाकर, चन्द्रप्रभसूरिका प्रमेयरत्न-कोष, मुनिचन्द्र सूरिका अनेकान्तजयपताकाका टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युगकी कृतियाँ हैं।

तेरहवीं शताब्दीमें मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए। इसी युगमें मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी, रत्नप्रभसूरिकी रत्नाकरावतारिका, चन्द्रसेनकी उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र गुणचन्द्रका द्रव्यालंकार आदि ग्रन्थ लिखे गये।

१४वीं सदीमें सोमतिलककी षड्दर्शनसमुच्चयटीका, १५वीं सदीमें गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति, राजशेखरकी स्याद्वादकलिका आदि, भावसेन त्रैविद्यदेवका विश्वतत्त्वप्रकाश आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। धर्मभूषणकी न्यायदीपिका भी इसी युगकी महत्त्वकी कृति है।

४. नवीन न्याययुग

विक्रमकी तेरहवीं सदीमें गंगेशोपाध्यायने नव्यन्यायकी नींव डाली और प्रमाण-प्रमेयको अवच्छेदकावच्छिन्नकी भाषामें जकड़ दिया। सत्रहवीं शताब्दीमें उपाध्याय यशोविजयजीने नव्यन्यायकी परिष्कृत शैलीमें खंडन-खंडखाद्य आदि अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया और उस युग तकके विचारोंका समन्वय तथा उन्हें नव्यढंगसे परिष्कृत करनेका आद्य और महान् प्रयत्न किया। विमलदासकी सप्तभंगितरंगिणी नव्य शैलीकी अकेली और अनूठी रचना है। अठारहवीं सदीमें यशस्वतसागरने सप्तपदार्थी आदि ग्रन्थोंकी रचना की।

अकलंकदेवके प्रतिष्ठापित प्रमाणशास्त्रपर अनेकों विद्वच्छिरोमणि आचार्योंने ग्रन्थ लिखकर जैनदर्शनके विकासमें जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं उनकी यह एक झलक मात्र है।

इसी तरह उपेयके उत्पादादित्रयात्मक स्वरूप तथा आत्माके स्वतन्त्र तथा अनेक द्रव्यत्वकी सिद्धि उक्त आचार्योंके ग्रन्थोंमें बराबर पाई जाती है।

उपसंहार

मूलतः जैनधर्म आचारप्रधान है। इसमें तत्त्वज्ञानका उपयोग भी आचारशुद्धिके लिए ही है। यही कारण है कि तर्क जैसे शुष्क शास्त्रका उपयोग भी जैनाचार्योंने समन्वय और समताके स्थापनमें किया है। दार्शनिक कटाकटीके युगमें भी इस प्रकारकी समता और उदारता तथा एकताके लिये प्रयोजक समन्वयदृष्टिका कायम रखना अहिंसाके पुजारियोंका ही कार्य था। स्याद्वादके स्वरूप तथा उसके प्रयोगकी विधियोंके विवेचनमें ही जैनाचार्योंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करनेमें जैनदर्शनका अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती हैं। यथा—

"भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"—हेमचन्द्र।

अर्थात् जिसके संसारको पुष्ट करनेवाले रागादि दोष विनष्ट हो गये हैं, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, या जिन हो उसे नमस्कार है ।

'पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥"—लोकतत्त्वनिर्णय ।

अर्थात् मुझे महावीरसे राग नहीं है और न कपिल आदिसे द्वेष । जिसके भी वचन युक्तियुक्त हों, उसकी शरण जाना चाहिये ।

२. विषय प्रवेश

दर्शनकी उद्‌भूति :

भारत धर्मप्रधान देश है। इसने सदासे 'मैं' और 'विश्व' तथा उनके परस्पर सम्बन्धको लेकर चिन्तन और मनन किया है। द्रष्टा ऋषियोंने ऐहिक चिन्तासे मुक्त हो उस आत्मतत्त्वके गवेषणमें अपनी शक्ति लगाई है जिसकी धुरीपर यह संसारचक्र घूमता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रह सकता। उसे अपने आसपासके प्राणियोंसे सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है। आत्मसाधनाके लिए भी चारों ओरके वातावरणकी शान्ति अपेक्षित होती है। व्यक्ति चाहता है कि मैं स्वयं निराकुल कैसे होऊँ ? राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे परे होकर निर्द्वन्द्व दशामें किस प्रकार पहुँचूँ ? और समाज तथा विश्वमें सुख-शान्तिका राज कैसे हो ? इन्हीं दो चिन्ताओंमेंसे समाज-रचनाके अनेक प्रयोग निष्पन्न हुए तथा होते जा रहे हैं। व्यक्तिकी निराकुल होनेकी प्रबल इच्छाने यह सोचनेको बाध्य किया कि आखिर 'व्यक्ति' है क्या ? यह जन्मसे मरण तक चलनेवाला भौतिक पिण्ड ही है या मृत्युके बाद भी इसका स्वतन्त्र रूपसे अस्तित्व रह जाता है ? उपनिषद्‌के ऋषियोंको जब आत्मतत्त्वके विवादके बाद सोना, गायें और दासियों-का परिग्रह करते हुए देखते हैं तब ऐसा लगता है कि यह आत्म-चर्चा क्या केवल लौकिक प्रतिष्ठाका साधनमात्र ही है ? क्या इसीलिये बुद्धने आत्माके पुनर्जन्मको 'अव्याकरणीय' बताया ? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनने 'आत्मजिज्ञासा' उत्पन्न की और जीवन-संघर्षने सामाजिक-रचनाके आधारभूत तत्त्वोंकी खोजकी ओर प्रवृत्त किया। पुनर्जन्मकी अनेक घटनाओंने कौतूहल उत्पन्न किये। अन्ततः भारतीय दर्शन आत्मतत्त्व, पुनर्जन्म और उसकी प्रक्रियाके विवेचनमें प्रवृत्त हुए। बौद्ध-दर्शनमें आत्माकी अभौतिकताका समर्थन तथा शास्त्रार्थ पीछे आये अवश्य, पर मूलमें बुद्धने इसके स्वरूपके सम्बन्धमें मौन ही रखा। इसका विवेचन उनने दो 'न' के सहारे किया और कहा—कि आत्मा न तो भौतिक है और न शाश्वत ही है। न वह भूतपिण्डकी तरह उच्छिन्न होता है और न उपनिषद्‌वादियोंके अनुसार शाश्वत होकर सदा काल एक रहता है। फिर है क्या ? इसको उनने अनुपयोगी (इसका जानना न निर्वाणके लिए आवश्यक है और न ब्रह्मचर्यके लिए ही) कहकर टाल दिया। अन्य भारतीय दर्शन 'आत्मा' के स्वरूपके सम्बन्धमें चुप नहीं रहे, किन्तु उन्होंने अपने-अपने ग्रंथोंमें इतर मतका निरास करके पर्याप्त

ऊहापोह किया है। उनके लिए यह मूलभूत समस्या थी, जिसके ऊपर भारतीय चिन्तन और साधनाका महाप्रासाद खड़ा होता है। इस तरह संक्षेपमें देखा जाय तो भारतीय दर्शनोंकी चिन्तन और मननकी धुरी 'आत्मा और विश्वका स्वरूप' ही रही है। इसीका श्रवण, दर्शन, मनन, चिन्तन और निदिध्यासन जीवनके अन्तिम लक्ष्य थे।

दर्शन शब्दका अर्थ :

साधारणतया दर्शनका मोटा और स्पष्ट अर्थ है साक्षात्कार करना, प्रत्यक्षज्ञान-से किसी वस्तुका निर्णय करना। यदि दर्शनका यही अर्थ है तो दर्शनोंमें तीन और छहकी तरह परस्पर विरोध क्यों है? प्रत्यक्ष दर्शनसे जिन पदार्थोंका निश्चय किया जाता है उनमें विरोध, विवाद या मतभेदकी गुञ्जाइश नहीं रहती। आजका विज्ञान इसीलिए प्रायः निर्विवाद और सर्वमतिसे सत्यपर प्रतिष्ठित माना जाता है कि उसके प्रयोगांश केवल दिमागी न होकर प्रयोगशालाओंमें प्रत्यक्षज्ञान या तन्मूलक अव्यभिचारी कार्यकारणभावकी दृढ़ भित्तिपर आश्रित होते हैं। 'हाइड्रोजन और ऑक्सिजन मिलकर जल बनता है' इसमें मतभेद तभी तक चलता है जबतक प्रयोगशालामें दोनोंको मिलाकर जल नहीं बना दिया जाता। जब दर्शनोंमें पग-पग पर पूर्व पश्चिम जैसा विरोध विद्यमान है तब स्वभावतः जिज्ञासुको यह सन्देह होता है कि—दर्शन शब्दका सचमुच साक्षात्कार अर्थ है या नहीं? या यदि यही अर्थ है तो वस्तुके पूर्ण रूपका वह दर्शन है या नहीं? यदि वस्तुके पूर्ण स्वरूपका दर्शन भी हुआ हो तो उसके वर्णनकी प्रक्रियामें अन्तर है क्या? दर्शनोंके परस्पर विरोधका कोई-न-कोई ऐसा ही हेतु होना चाहिये। दूर न जाइये, सर्वथा और सर्वतः सन्निकट और प्रतिश्वास अनुभवमें आनेवाले आत्माके स्वरूप पर ही दर्शनकारोंके साक्षात्कारपर विचार कीजिये। सांख्य आत्माको कूटस्थ नित्य मानते हैं। इनके मतमें आत्मा साक्षी चेता निर्गुण अनाद्य-नन्त अविकारी और नित्य तत्त्व है। बौद्ध ठीक इसके विपरीत प्रतिक्षण परि-वर्तनशील चित्तक्षणरूप ही आत्मा मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक परिवर्तन तो मानते हैं, पर वह परिवर्तन भिन्न गुण तथा क्रिया तक ही सीमित है, आत्मामें उसका असर नहीं होता। मीमांसकने अवस्थाभेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी और उन अवस्थाओंका द्रव्यसे कथञ्चित् भेदाभेद मानकर भी द्रव्यको नित्य स्वीकार किया है। जैनोंने अवस्था-पर्यायभेदकृत परिवर्तनके मूल आधार द्रव्यमें परिवर्तन कालमें किसी स्थायी अंशको नहीं माना, किन्तु अविच्छिन्न पर्यायपरम्पराके अनाद्यनन्त चालू रहनेको ही द्रव्य माना है। यह पर्यायपरम्परा न कभी विच्छिन्न

होती है और न उच्छिन्न ही। वेदान्ती इस जीवको ब्रह्मका प्रातिभासिक रूप मानता है तो चार्वाक इन सबसे भिन्न भूतचतुष्टयरूप ही आत्मा स्वीकार करता है—उसे आत्माके स्वतन्त्र तत्त्वके रूपमें कभी दर्शन नहीं हुए। यह तो आत्माके स्वरूप-दर्शनका हाल है। अब उसकी आकृतिपर विचार करें, तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते हैं। 'आत्मा अमूर्त या मूर्त होकर भी वह इतना सूक्ष्मतम है कि हमें इन चर्मचक्षुओंसे नहीं दिखाई देता' इसमें सभी एकमत हैं। इसलिये कुछ अतीन्द्रियदर्शी ऋषियोंने अपने दर्शनसे बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है, तो दूसरे ऋषियोंने उसका अणुरूपसे साक्षात्कार किया, वह वटबीजके समान अत्यन्त सूक्ष्म है या अंगुष्ठमात्र है। 'कुछको देहरूप ही आत्मा दिखा' तो किन्हींको छोटे-बड़े देहके आकार संकोच-विकासशील। विचारा जिज्ञासु अनेक पगडंडियोंवाले इस दशराहेपर खड़ा होकर दिग्भ्रान्त हो जाता है। वह या तो दर्शनशब्दके अर्थमें ही शंका करता है या फिर दर्शनकी पूर्णतामें ही अविश्वास करने लगता है। प्रत्येक दर्शनका यही दावा है कि वही यथार्थ और पूर्ण है। एक ओर ये दर्शन मानवके मनन-तर्कको जगाते हैं, पर ज्यों ही मनन-तर्क अपनी स्वाभाविक खुराक माँगता है तो "तर्कोऽप्रतिष्ठः"[१] "तर्काप्रतिष्ठानात्"[२] "नैषा तर्केण मतिरपनेया"[३] जैसे बन्धनोंसे उसका मुँह बन्द किया जाता है। 'तर्कसे कुछ नहीं हो सकता' इत्यादि तर्कनैराश्यका प्रचार भी इसी परम्पराका कार्य है। जब इन्द्रियगम्य पदार्थोंमें तर्ककी आवश्यकता नहीं और उपयोगिता भी नहीं है तथा अतीन्द्रिय पदार्थोंमें उसकी निःसारता एवं अक्षमता है तो फिर उसका क्षेत्र क्या बचता है? आचार्य हरिभद्र तर्ककी असमर्थता बहुत स्पष्ट रूपसे बताते हैं—

"ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः॥"—योगदृष्टिस० १४५।

अर्थात्—यदि हेतुवाद—तर्कके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंका निश्चय करना शक्य होता तो आज तक बड़े-बड़े तर्कमनीषी हुए, वे इन पदार्थोंका निर्णय अभी तक कर चुके होते। परन्तु अतीन्द्रिय पदार्थोंके स्वरूपकी पहेली पहलेसे भी अधिक उलझी है। उस विज्ञानकी जय मानना चाहिये जिसने भौतिक पदार्थोंकी अतीन्द्रियता बहुत हद तक समाप्त कर दी है और उसका फैसला अपनी प्रयोगशालामें कर डाला है।

---

१. महाभारत वनपर्व ३१३।११०। २. ब्रह्मसू० २।१।११।
३. कठोपनिषत् २।९।

दर्शनका अर्थ निर्विकल्पक नहीं :

बौद्ध परम्परामें दर्शन शब्द निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अर्थमें व्यवहृत होता है। इसके द्वारा यद्यपि यथार्थ वस्तुके सभी धर्मोंका अनुभव हो जाता है, अखंडभावसे पूरी वस्तु इसका विषय बन जाती है, पर निश्चय नहीं होता—उसमें संकेतानुसारी शब्द-प्रयोग नहीं होता। इसलिये उन उन अंशोंके निश्चयके लिये विकल्पज्ञान तथा अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप अनुभवमें आता है वह वस्तुतः शब्दोंके अगोचर है। शब्द वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। समस्त वाच्यवाचक व्यवहार बुद्धिकल्पित है, वह दिमाग तक ही सीमित है। अतः इस दर्शनके द्वारा हम वस्तुको जान भी लें तो भी वह उसी रूपमें हमारे वचन-व्यवहारमें नहीं आ सकती। साधारण रूपसे इतना ही समझ सकते हैं कि निर्विकल्पक दर्शनसे वस्तुके अखंड रूपकी कुछ झाँकी मिलती है, जो शब्दोंके अगोचर है। अतः 'दर्शनशास्त्र' का दर्शन शब्द इस 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' की सीमामें नहीं बँध सकता; क्योंकि दर्शनका सारा फैलाव विकल्पक्षेत्र और शब्द-प्रयोगकी भूमि पर हुआ है।

अर्थक्रियाके लिये वस्तुके निश्चयकी आवश्यकता है। यह निश्चय विकल्परूप ही होता है। जिन विकल्पोंको वस्तुदर्शनका पृष्ठबल प्राप्त है, वे प्रमाण हैं अर्थात् जिनका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परासे वस्तुके साथ जुड़ सकता है वे प्राप्य वस्तुकी दृष्टिसे प्रमाणकोटिमें आ जाते हैं। जिन्हें दर्शनका पृष्ठबल प्राप्त नहीं है अर्थात् जो केवल विकल्पवासनासे उत्पन्न होते हैं वे अप्रमाण हैं। अतः यदि दर्शन शब्द-को आत्मा आदि पदार्थोंके सामान्यावलोकन अर्थमें लिया जाता है तो मतभेदकी गुन्जाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकनकी व्याख्या और निरूपण करनेमें हैं। एक सुन्दरीका शव देखकर भिक्षुको संसारकी असार दशाकी भावना होती है तो कामीका मन गुदगुदाने लगता है। कुत्ता उसे अपना भक्ष्य समझ कर प्रसन्न होता है। यद्यपि इन तीनों कल्पनाओंके पीछे शवदर्शन है, पर व्याख्याएँ और कल्पनाएँ जुदी-जुदी हैं[1]। यद्यपि निर्विकल्पक दर्शन वस्तुके अभावमें नहीं होता और वही दर्शन प्रमाण है जो अर्थसे उत्पन्न होता है। पर प्रश्न यह है कि—कौन दर्शन पदार्थसे उत्पन्न हुआ है या पदार्थकी सत्ताका अविनाभावी है? प्रत्येक दर्शनकार यही कहनेका आदी है कि—हमारे दर्शनकार ऋषिने आत्मा आदिका उसी प्रकार निर्मल बोधसे साक्षात्कार किया है जैसा कि उनके दर्शनमें

---

१. "परिव्राट्कामुकशुनाम् एकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपं कामिनी भक्ष्यस्तिस्र एता हि कल्पनाः॥"

वर्णित है। तब यह निर्णय कैसे हो कि—'अमुक दर्शन वास्तविक अर्थसमुद्भूत है और अमुक दर्शन मात्र कपोलकल्पित ?' अतः दर्शन शब्दकी यह निर्विकल्पक रूप व्याख्या भी दर्शनशास्त्रके 'दर्शन' को अपनेमें नहीं बाँध पाती।

दर्शनकी पृष्ठभूमि :

संसारका प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मोंका अखंड मौलिक पिण्ड है। पदार्थका विराट् स्वरूप समग्रभावसे वचनोंके अगोचर है। वह सामान्य रूपसे अखंड मौलिककी दृष्टिसे ज्ञानका विषय होकर भी शब्दकी दौड़के बाहर है। केवलज्ञानमें जो वस्तुका स्वरूप झलकता है, उसका अनन्तवाँ भाग ही शब्दके द्वारा प्रज्ञापनीय होता है। और जितना शब्दके द्वारा कहा जाता है उसका अनन्तवाँ भाग श्रुत-निबद्ध होता है। तात्पर्य यह कि—श्रुतनिबद्धरूप दर्शनमें पूर्ण वस्तुके अनन्त धर्मोंका समग्रभावसे प्रतिपादन होना शक्य नहीं है। उस अखंड अनन्तधर्मवाली वस्तुको विभिन्न दर्शनकार ऋषियोंने अपने अपने दृष्टिकोणसे देखनेका प्रयास किया है और अपने दृष्टिकोणोंको शब्दोंमें बाँधनेका उपक्रम किया है। जिस प्रकार वस्तुके धर्म अनन्त हैं उसी प्रकार उनके दर्शक दृष्टिकोण भी अनन्त हैं और प्रतिपादनके साधन शब्द भी अनन्त ही हैं। जो दृष्टियाँ वस्तुके स्वरूपका आधार छोड़कर केवल कल्पनालोकमें दौड़ती हैं, वे वस्तुस्पर्शी न होनेके कारण दर्शनाभास ही हैं, सत्य नहीं। जो वस्तुस्पर्श करनेवाली दृष्टियाँ अपनेसे भिन्न वस्त्वंशको ग्रहण करनेवाले दृष्टिकोणोंका समादर करती हैं, वे सत्योन्मुख होनेसे सत्य हैं। जिनमें यह आग्रह है कि मेरे द्वारा देखा गया वस्तुका अंश ही सच है, अन्यके द्वारा जाना गया मिथ्या है, वे वस्तुस्वरूपसे पराङ्मुख होनेके कारण मिथ्या और विसंवादिनी होती हैं। इस तरह वस्तुके अनन्तधर्मा स्वरूपको केन्द्रमें रखकर उसके ग्राहक विभिन्न 'दृष्टिकोण' के अर्थमें यदि दर्शन शब्दका व्यवहार माना जाय तो वह कथमपि सार्थक हो सकता है। जब जगत्का प्रत्येक पदार्थ सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी विभिन्न धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब इनके ग्राहक विभिन्न दृष्टिकोणोंको आपसमें टकरानेका अवसर ही नहीं है। उन्हें परस्पर उसी तरह सद्भाव और सहिष्णुता वर्तनी चाहिये जिस प्रकार उनके विषयभूत अनन्तधर्म वस्तुमें अविरोधी भावसे समाये हुए रहते हैं।

दर्शन अर्थात् भावनात्मक साक्षात्कार :

तात्पर्य यह है कि विभिन्न दर्शनकार ऋषियोंने अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे वस्तुके स्वरूपको जाननेकी चेष्टा की है और उसीका बार-बार मनन-चिन्तन और

निदिध्यासन किया है। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उन्हें अपनी बलवती भावनाके अनुसार वस्तुका वह स्वरूप स्पष्ट झलका और दिखा। भावनात्मक साक्षात्कारके बलपर भक्तको भगवान्का दर्शन होता है, इसकी अनेक घटनाएँ सुनी जाती हैं। शोक या कामकी तीव्र परिणति होने पर मृत इष्टजन और प्रिय कामिनीका स्पष्ट दर्शन अनुभवका विषय ही है[1]। कालिदासका यक्ष अपनी भावनाके बलपर मेघको सन्देशवाहक बनाता है और उसमें दूतत्वका स्पष्ट दर्शन करता है। गोस्वामी तुलसीदासको भक्ति और भगवद्गुणोंकी प्रकृष्ट भावनाके बलपर चित्रकूटमें भगवान् रामके दर्शन अवश्य हुए होंगे। आज भक्तोंकी अनगिनत परम्परा अपनी तीव्रतम प्रकृष्ट भावनाके परिपाकसे अपने आराध्यका स्पष्ट दर्शन करती है, यह विशेष सन्देहकी बात नहीं। इस तरह अपने लक्ष्य और दृष्टिकोणकी प्रकृष्ट भावनासे विश्वके पदार्थोंका स्पष्ट दर्शन विभिन्न दर्शनकार ऋषियोंको हुआ होगा। यह निःसन्देह है। अतः इसी 'भावनात्मक साक्षात्कार' के अर्थमें 'दर्शन' शब्दका प्रयोग हुआ है, यह बात हृदयको लगती है और सम्भव भी है। फलितार्थ यह है कि प्रत्येक दर्शनकार ऋषिने पहिले चेतन और जड़के स्वरूप, उनका परस्पर सम्बन्ध तथा दृश्य जगत्की व्यवस्थाके मर्मको जाननेका अपना दृष्टिकोण बनाया, पीछे उसीकी सतत चिन्तन और मननधाराके परिपाकसे जो तत्त्व-साक्षात्कारकी प्रकृष्ट और बलवती भावना हुई उसके विशद और स्फुट आभाससे निश्चय किया कि उनने विश्वका यथार्थ दर्शन किया है तो दर्शनका मूल उद्गम 'दृष्टिकोण' से हुआ है और उसका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कारमें।

दर्शन अर्थात् दृढ़ प्रतीति :

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागके प्राक्कथनमें दर्शन शब्दका 'सबल प्रतीति' अर्थ किया है। 'सम्यग्दर्शन' में जो 'दर्शन' शब्द है उसका अर्थ तत्त्वार्थसूत्र (१।२), में 'श्रद्धान' किया गया है। तत्त्वोंकी दृढ़ श्रद्धाको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस अर्थसे जिसकी जिस तत्त्वपर दृढ़ श्रद्धा हो अर्थात् अटूट विश्वास हो वही उसका दर्शन है। यह अर्थ और भी हृदयग्राही है; क्योंकि प्रत्येक दर्शनकार ऋषिको अपने दृष्टिकोण पर दृढ़तम विश्वास था ही। विश्वासकी भूमिकाएँ विभिन्न होती ही हैं। जब दर्शन इस तरह विश्वासकी भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ तो उसमें मतभेद होना स्वाभाविक ही है। इसी मतभेदके कारण **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'** मूर्तरूपमें अनेक दर्शनोंकी सृष्टि हुई।

---

१. "कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव॥"—प्रमाणवा० २।२८२।

दर्शनोंने विश्वासकी भूमिपर उत्पन्न होकर भी अपनेमें पूर्णता और साक्षात्कारका रूपक लिया तथा अनेक अपरिहार्य विवादोंको जन्म दिया। शासनप्रभावनाके नामपर इन्हीं मतवादोंके समर्थनके लिए शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए और दर्शन-शास्त्रके इतिहासके पृष्ठ रक्तरञ्जित किये गये।

सभी दर्शन विश्वासकी उर्वर-भूमिमें पनपकर भी अपने प्रणेताओंमें साक्षात्कार और पूर्ण ज्ञानकी भावनाको फैलाते रहे। फलतः जिज्ञासुकी जिज्ञासा सन्देहके चौराहेपर पहुँचकर भटक गई। दर्शनोंने जिज्ञासुको सत्यसाक्षात्कार या तत्त्वनिर्णयका भरोसा तो दिया, पर अन्ततः उसके हाथमें अनन्त तर्कजालके फलस्वरूप सन्देह ही पड़ा।

जैन दृष्टिकोणसे दर्शन अर्थात् नय :

जैनदर्शनमें प्रमेयके अधिगमके उपायोंमें 'प्रमाण'के साथ-ही-साथ 'नय'को भी स्थान दिया गया है। ('नय' प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके अंशको विषय करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय कहलाता है।) ज्ञाता प्रमाणके द्वारा वस्तुका रूप अखण्डभावसे जानता है, फिर उसे व्यवहारमें लानेके लिये उसमें शब्दयोजनाके उपयुक्त विभाग करता है। और एक-एक अंशको जाननेवाले अभिप्रायोंकी सृष्टि करके उन्हें व्यवहारोपयोगी शब्दोंके द्वारा व्यवहारमें लाता है। कुछ नयोंमें पदार्थका प्राथमिक आधार रहनेपर भी आगे वक्ताका अभिप्राय भी शामिल होता है और उसी अभिप्रायके अनुसार पदार्थको देखनेकी चेष्टा की जाती है। अतः सभी नयोंका यथार्थ वस्तुकी सीमामें ही विचरण करना आवश्यक नहीं रह जाता। वे अभिप्रायलोक और शब्दलोकमें भी यथेच्छ विचरते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्णज्ञानके द्वारा जो वस्तु जानी जाती है, वह व्यवहार तक आते-आते शब्दसंकेत और अभिप्रायसे मिलकर पर्याप्त रंगीन बन जाती है। दर्शन इसी प्रक्रियाकी एक अभिप्राय भूमिवाली प्रतिपादन और देखनेकी शैली है, जो एक हद तक वस्तुलक्ष्यी होकर भी विशेष रूपसे अभिप्राय अर्थात् दृष्टिकोणके निर्देशानुसार आगे बढ़ती है। यही कारण है कि दर्शनोंमें अभिप्राय और दृष्टिकोणके भेदसे असंख्य भेद हो जाते हैं। इस तरह नयके अर्थमें भी दर्शनका प्रयोग एक हद तक ठीक बैठता है।

इन नयोंके तीन विभाग किये गये हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। ज्ञाननय अर्थकी चिन्ता नहीं करके संकल्पमात्रको ग्रहण करता है और यह विचार या कल्पनालोकमें विचरता है। अर्थनयमें संग्रहनयकी मर्यादाका प्रारम्भ तो अर्थसे होता है पर वह आगे वस्तुके मौलिक सत्त्वकी मर्यादाको लांघकर काल्पनिक

अभेद तक जा पहुँचता है। संग्रहनय जब तक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अभेदको विषय करता है यानी वह एक द्रव्यगत अभेदकी सीमामें रहता है तब तक उसकी वस्तु सम्बद्धता है। पर जब वह दो द्रव्योंमें सादृशमूलक अभेदको विषय कर आगे बढ़ता है तब उसकी वस्तुमूलकता पिछड़ जाती है। यद्यपि एकका दूसरेमें सादृश्य भी वस्तुगत ही है पर उसकी स्थिति पर्यायकी तरह सर्वथा परनिरपेक्ष नहीं है। उसकी अभिव्यंजना परसापेक्ष होती है। जब यह संग्रह 'पर' अवस्थामें पहुँच कर 'सत्' रूपसे सकल द्रव्यगत एक अभेदको 'सत्' इस दृष्टिकोणसे ग्रहण करता है तब उसकी कल्पना चरम छोर पर पहुँच तो जाती है, पर इसमें द्रव्योंकी मौलिक स्थिति धुँधली पड़ जाती है। इसी भयसे जैनाचार्योंने नयके सुनय और दुर्नय ये दो विभाग कर दिये हैं। जो नय अपने अभिप्रायको मुख्य बनाकर भी नयान्तरके अभिप्रायका निषेध नहीं करता वह सुनय है और जो नयान्तरका निराकरण कर निरपेक्ष राज्य करना चाहता है वह दुर्नय है। सुनय सापेक्ष होता है और दुर्नय निरपेक्ष। इसीलिये सुनयके अभिप्रायकी दौड़ उस सादृश्यमूलक चरम अभेद तक हो जाने पर भी, चूँकि वह परमार्थसत् भेदका निषेध नहीं करता, उसकी अपेक्षा रखता है, और उसकी वस्तुस्थितिको स्वीकार करता है, इसलिये सुनय कहलाता है। किन्तु जो नय अपने ही अभिप्राय और दृष्टिकोणकी सत्यताको वस्तुके पूर्णरूपपर लादकर अपने साथी अन्य नयोंका तिरस्कार करता है, उनसे निरपेक्ष रहता है और उनकी वस्तुस्थितिका प्रतिषेध करता है वह 'दुर्नय' है; क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी है ही नहीं। वस्तु तो गुणधर्म या पर्यायके रूपमें प्रत्येक नयके विषयभूत अभिप्रायको वस्त्वंश मान लेनेकी उदारता रखती है और अपने गुण-पर्यायवाले वास्तविक स्वरूपके साथ ही अनन्तधर्मवाले व्यावहारिक स्वरूपको धारण किये हुए है। पर ये दुर्नय उसकी इस उदारताका दुरुपयोग कर मात्र अपने कल्पित धर्मको उसपर छा देना चाहते हैं।

'सत्य पाया जाता है, बनाया नहीं जाता।' प्रमाण सत्य वस्तुको पाता है, इसलिये चुप है। पर कुछ नय उसी प्रमाणकी अंशग्राही सन्तान होकर भी अपनी वावदूकताके कारण सत्यको बनानेकी चेष्टा करते हैं, सत्यको रंगीन तो कर ही देते हैं।

जगत्के अनन्त अर्थोंमें वचनोंके विषय होनेवाले पदार्थ अत्यल्प हैं। शब्दकी यह सामर्थ्य कहाँ, जो वह एक भी वस्तुके पूर्ण रूपको कह सके? केवलज्ञान वस्तुके अनन्तधर्मोंको जान भी ले, पर शब्दके द्वारा उसका अनन्तबहुभाग अवाच्य ही रहता है। और जो अनन्तवाँ भाग वाच्यकोटिमें है उसका अनन्तवाँ भाग शब्दसे

कहा जाता है और जो शब्दोंसे कहा जाता है वह सब-का-सब ग्रन्थमें निबद्ध नहीं हो पाता। अर्थात् अनभिधेय पदार्थ अनन्तबहुभाग हैं और शब्दके द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थ एक भाग। प्रज्ञापनीय एक भागमेंसे भी श्रुतनिबद्ध अनन्तएकभाग प्रमाण हैं, अर्थात् उनसे और भी कम हैं।[1]

सुदर्शन और कुदर्शन :

अतः जब वस्तुस्थितिकी अनन्तधर्मात्मकता, शब्दकी अत्यल्प सामर्थ्य तथा अभिप्रायकी विविधताका विचार करते हैं तो ऐसे दर्शनसे, जो दृष्टिकोण या अभिप्रायकी भूमिपर अंकुरित हुआ है, वस्तुस्थिति तक पहुँचनेके लिए बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। जिस प्रकार नयके सुनय और दुर्नय विभाग, सापेक्षता और निरपेक्षताके कारण होते हैं उसी तरह 'दर्शन'के भी सुदर्शन और कुदर्शन (दर्शनाभास) विभाग होते हैं। जो दर्शन अर्थात् दृष्टिकोण वस्तुकी सीमाको उल्लंघन नहीं करके उसे पानेकी चेष्टा करता है, बनानेकी नहीं, और दूसरे वस्तु-स्पर्शी दृष्टिकोण—दर्शनको भी उचित स्थान देता है, उसकी अपेक्षा रखता है वह सुदर्शन है और जो दर्शन केवल भावना और विश्वासकी भूमिपर खड़ा होकर कल्पनालोकमें विचरण कर, वस्तु सीमाको लांघकर भी वास्तविकताका दंभ करता है, अन्य वस्तुग्राही दृष्टिकोणोंका तिरस्कार कर उनकी अपेक्षा नहीं करता वह कुदर्शन है। दर्शन अपने ऐसे कुपूतोंके कारण ही मात्र संदेह और परीक्षाकी कोटिमें जा पहुँचा है। अतः जैन तीर्थंकरों और आचार्योंने इस बातकी सतर्कतासे चेष्टा की है कि कोई भी अधिगमका उपाय, चाहे वह प्रमाण (पूर्ण ज्ञान) हो या नय (अंशग्राही), सत्यको पानेका यत्न करे, बनानेका नहीं। वह मौजूद वस्तुकी मात्र व्याख्या कर सकता है। उसे अपनी मर्यादाको समझते रहना चाहिए। वस्तु तो अनन्तगुण-पर्याय और धर्मोंका पिंड है। उसे विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखा जा सकता है और उसके स्वरूपकी ओर पहुँचनेकी चेष्टा की जा सकती है। इस प्रकारके यावत् दृष्टिकोण और वस्तु तक पहुँचनेके समस्त प्रयत्न दर्शन शब्दकी सीमामें आते हैं।

दर्शन एक दिव्य ज्योति :

विभिन्न देशोंमें आज तक सहस्रों ऐसे ज्ञानी हुए, जिनने अपने-अपने दृष्टि-कोणोंसे जगत्की व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है। इसीलिए दर्शनका क्षेत्र

---

१. "पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो दु सुदणिवद्धो॥"
—गो० जीवकाण्ड गा० ३३३।

सुविशाल है और अब भी उसमें उसी तरह फैलनेकी गुञ्जाइश है। किन्तु जब यह दर्शन मतवादके जहरसे विषाक्त हो जाता है तो वह अपनी अत्यल्प शक्तिको भूलकर मानवजातिके मार्गदर्शनका कार्य तो कर ही नहीं पाता, उल्टा उसे पतनकी ओर ले जाकर हिंसा और संघर्षका स्रष्टा बन जाता है। अतः दार्शनिकोंके हाथमें यह वह प्रज्वलित दीपक दिया गया है, जिससे वे चाहें तो अज्ञान-अन्धकारको हटाकर जगत्में प्रकाशकी ज्योति जला सकते हैं और चाहें तो उससे मतवादकी अग्नि प्रज्वलित कर हिंसा और विनाशका दृश्य उपस्थित कर सकते हैं। दर्शनका इतिहास दोनों प्रकारके उदाहरणोंसे भरा पड़ा है, पर उसमें ज्योतिके पृष्ठ कम हैं, विनाशके अधिक। हम दृढ़ विश्वासके साथ यह कह सकते हैं कि जैनदर्शनने ज्योतिके पृष्ठ जोड़नेका ही प्रयत्न किया है। उसने दर्शनान्तरोंके समन्वयका मार्ग निकालकर उनका अपनी जगह समादर भी किया है। आग्रही[1]-मतवादकी मदिरासे बेभान हुआ कुदार्शनिक, जहाँ जैसा उसका अभिप्राय या मत बन चुका है वहाँ युक्तिको खींचनेकी चेष्टा करता है, पर सच्चा दार्शनिक जहाँ युक्ति जाती अर्थात् जो युक्तिसिद्ध हो पाता है उसके अनुसार अपना मत बनाता है। संक्षेपमें सुदार्शनिकका नारा होता है—'सत्य सो मेरा' और कुदार्शनिकका हल्ला होता है—'जो मेरा सो सत्य'। जैनदर्शनमें समन्वयके जितने और जैसे उदाहरण मिल सकते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

भारतीय दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य :

भारतके समस्त दर्शन चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक, मोक्ष अर्थात् दुखः-निवृत्तिके लिए अपना विचार प्रारम्भ करते हैं। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक दुःख प्रत्येक प्राणीको न्यूनाधिक-रूपमें नित्य ही अनुभवमें आते हैं। जब कोई सन्त या विचारक इन दुःखोंकी निवृत्तिका कोई मार्ग बतानेका दावा करता है, तो समझदार वर्ग उसे सुनने और समझनेके लिए जागरूक होता है। प्रत्येक मतमें दुःखनिवृत्तिके लिए त्याग और संयमका उपदेश दिया है, और 'तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है', इस बातमें प्रायः सभी एकमत हैं। सांख्यकारिका[3]में "दुःखत्रयके अभिघातसे सन्तप्त यह प्राणी दुःख-नाशके उपायोंको जाननेकी इच्छा करता है।" जो यह भूमिका बांधी गई है, वही भूमिका प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंकी है। दुःखनिवृत्तिके बाद 'स्वस्वरूपस्थिति ही मुक्ति है' इसमें भी किसीको

---

१. "आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥"–हरिभद्र।

३ "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।"–सांख्यका० १।

विवाद नहीं है। अतः मोक्ष, मोक्षके कारण, दुःख और दुःखके कारणोंकी खोज करना भारतीय दर्शनकार ऋषिको अत्यावश्यक था। चिकित्साशास्त्रकी प्रवृत्ति रोग, निदान, आरोग्य और ओषधि इस चतुर्व्यूहको लेकर ही हुई है। बुद्धके[१] तत्त्वज्ञानके आधार तो 'दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग' ये चार आर्यसत्य ही हैं। जैन तत्त्वज्ञानमें मुमुक्षुको अवश्य-ज्ञातव्य जो सात तत्त्व गिनाये हैं[२], उनमें बन्ध, बन्धके कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्षके कारण (संवर और निर्जरा) इन्हींका प्रमुखतासे विस्तार किया गया है। जीव और अजीवका ज्ञान तो आस्रवादिके आधार जाननेके लिए है। तात्पर्य यह है कि समस्त भारतीय चिन्तनकी दिशा दुःखनिवृत्तिके उपाय खोजनेकी ओर रही है और न्यूनाधिकरूपसे सभी चिन्तकोंने इसमें अपने-अपने ढंगसे सफलता भी पाई है।

तत्त्वज्ञान जब मुक्तिके साधनके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ और "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" जैसे जीवनसूत्रोंका प्रचार हुआ तब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका उपाय तथा तत्त्वके स्वरूपके सम्बन्धमें भी अनेक प्रकारकी जिज्ञासाएँ और मीमांसाएँ चलीं। वैशेषिकोंने ज्ञेयका[३] षट् पदार्थके रूपमें विभाजन कर उनका तत्त्वज्ञान उपासनीय बताया तो नैयायिकोंने[४] प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान पर जोर दिया।[५] सांख्योंने प्रकृति और पुरुषके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति बताई, तो[६] बौद्धोंने मुक्तिके लिए नैरात्म्यज्ञान आवश्यक समझा। वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है, तो जैनदर्शनमें सात तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान मोक्षकी कारणसामग्रीमें गिनाया गया है।

पश्चिमी दर्शनोंका उद्गम केवल कौतुक और आश्चर्यसे होता है, और उसका फैलाव दिमागी व्यायाम और बुद्धिरंजन तक ही सीमित है। कौतुककी शान्ति होनेके बाद या उसकी अपने ढंगकी व्याख्या कर लेनेके बाद पाश्चात्य दर्शनोंका

---

१. "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः"—अभिधर्मको० ६।२।—धर्मसं० ६०५।

२. "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।"—तत्त्वार्थसूत्र १।४।

३. "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।"—वैशे० सू० १।१।४।

४. "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगतिः।"
—न्यायसूत्र १।१।१।

५. सांख्यका० ६४।

६. "हेतुविरोधिनैरात्म्यदर्शनं तस्य बाधकम्।"—प्रमाणवा० १।१३८।

कोई अन्य महान् उद्‌देश्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। भारतवर्षकी भौगोलिक परिस्थितिके कारण यहाँकी प्रकृति धन-धान्य आदिसे पूर्ण समृद्ध रही है, और सादा जीवन, त्याग और आध्यात्मिकताकी सुगन्ध यहाँके जनजीवनमें व्याप्त रही है। इसीलिए यहाँ प्रागैतिहासिक कालसे ही "मैं और विश्व" के सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे चिन्तन चालू रहे हैं, और आज तक उनकी धाराएँ अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित हैं। पाश्चात्य दर्शनोंका उद्‌गम विक्रम पूर्व सातवीं शताब्दीके आसपास प्राचीन यूनानमें हुआ था। इसी समय भारतवर्षमें उपनिषत्‌का तत्त्वज्ञान तथा श्रमणपरम्पराका आत्मज्ञान विकसित था। महावीर और बुद्धके समय यहाँ मक्खलिगोशाल, प्रक्रुध कात्यायन, पूर्ण कश्यप, अजितकेशकम्बलि और संजय वेलट्ठिपुत्त जैसे अनेक तपस्वी अपनी-अपनी विचारधाराका प्रचार करनेवाले मौजूद थे। यहाँके दर्शनकार प्रायः त्यागी, तपस्वी और ऋषि ही रहे हैं। यही कारण था कि जनताने उनके उपदेशोंको ध्यानसे सुना। साधारणतया उस समयकी जनता कुछ चमत्कारोंसे भी प्रभावित होती थी, और जिस तपस्वीने थोड़ा भी भूत और भविष्यकी बातोंका पता बताया वह तो यहाँ ईश्वरके अवतारके रूपमें भी पुजा। भारतवर्ष सदासे विचार और आचारकी उर्वरा भूमि रहा है। यहाँकी विचार-दिशा भी आध्यात्मिकताकी ओर रही है। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए यहाँके साधक अपना घर-द्वार छोड़कर अनेक प्रकारके कष्ट सहते हुए, कृच्छ्र साधनाएँ करते रहे हैं। ज्ञानीका सन्मान करना यहाँकी प्रकृतिमें है।

दो विचार-धाराएँ :

इस तरह एक धारा तत्त्वज्ञान और विचारको मोक्षका साक्षात् कारण मानती थी और वैराग्य आदिको उस तत्त्वज्ञानका पोषक। विना विषयनिवृत्तिरूप वैराग्यके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है और ज्ञान प्राप्त हो जानेपर उसी ज्ञानाग्निसे समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। श्रमणधाराका साध्य तत्त्वज्ञान नहीं, चारित्र था। इस धारामें वह तत्त्वज्ञान किसी कामका नहीं, जो अपने जीवनमें अनासक्तिकी सृष्टि न करे। इसीलिए इस परम्परामें मोक्षका साक्षात् कारण तत्त्वज्ञानसे परिपुष्ट चारित्र बताया गया है। निष्कर्ष यह है कि चाहे वैराग्य आदिके द्वारा पुष्ट तत्त्वज्ञान या तत्त्वज्ञानसे समृद्ध चारित्र दोनों ही पक्ष तत्त्वज्ञानकी अनिवार्य आवश्यकता समझते ही थे। कोई भी धर्म तबतक जनतामें स्थायी आधार नहीं पा सकता था जबतक कि उसका अपना तत्त्वज्ञान न हो। पश्चिममें ईसाई धर्मका प्रभु ईशुके नामसे इतना व्यापक प्रचार होते हुए भी तत्त्वज्ञानके अभावमें वह वहाँके वैज्ञानिकों और प्रबुद्ध प्रजाकी जिज्ञासाको परितुष्ट नहीं कर सका।

भारतीय धर्मोंका अपना दर्शन अवश्य रहा है और उसी सुनिश्चित तत्त्वज्ञानकी धारापर उन-उन धर्मोंकी अपनी-अपनी आचार-पद्धति बनी है। दर्शनके बिना धर्म एक सामान्य नैतिक नियमोंके सिवा कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता और धर्मके बिना दर्शन भी कोरा वाग्जाल ही साबित होता है। इस तरह सामान्यतया भारतीय धर्मोंको अपने-अपने तत्त्वज्ञानके प्रचार और प्रसारके लिए अपना-अपना दर्शन नितान्त अपेक्षणीय रहा है।

'जैनदर्शन' का विकास मात्र तत्त्वज्ञानकी भूमिपर न होकर आचारकी भूमिपर हुआ है। जीवन-शोधनकी व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया और समाज तथा विश्वमें शान्ति-स्थापनकी लोकैषणाका मूलमंत्र 'अहिंसा' ही है। अहिंसाका निरपवाद और निरुपाधि प्रचार समस्त प्राणियोंके जीवनको आत्मसम समझे विना हो नहीं सकता था। "जह मम ण पियं दुखं जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं" [आचारांग] यानी जैसे मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता उसी तरह संसारके समस्त प्राणियोंको समझो। यह करुणापूर्ण वाणी अहिंसक मस्तिष्कसे नहीं, हृदयसे निकलती है। श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवनशोधन और चारित्रवृद्धिके लिए हुआ है। हम पहले बता आये हैं कि वैदिकपरम्परामें तत्त्वज्ञानको मुक्तिका साधन माना है, जब कि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिकपरम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है, और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है, जब कि श्रमणपरम्परा कहती है, उस ज्ञान या विचारका कोई विशेष मूल्य नहीं जो जीवनमें न उतरे, जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। कोरा ज्ञान या विचार दिमागी कसरतसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। जैनपरम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आदि सूत्र है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥"—तत्त्वार्थसूत्र १।१

इसमें मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है, और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान उस चारित्रके परिपोषक। बौद्धपरम्पराका अष्टांग[1] मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है, और प्रत्येक विचार या ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमण-सन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की थी और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसाकी पूत ज्योतिको विश्वमें प्रसारित करनेके लिए समस्त तत्त्वोंका साक्षात्कार

१. सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

किया। इनका साध्य विचार नहीं, आचार था; ज्ञान नहीं, चारित्र था; वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन-शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है–जीवमात्रमें, चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतत् देशीय हो या विदेशी, इन देश, काल और शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्व दर्शन करना। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्य-शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्मवासनाके कारण भले ही वृक्ष, कीड़ा, मकोड़ा, पशु या मनुष्य, किसीके भी शरीरोंको क्यों न धारण करे, पर उसके चैतन्य-स्वरूपका एक भी अंश नष्ट नहीं होता, कर्मवासनाओंसे विकृत भले ही हो जाय। इसी तरह मनुष्य अपने देश-काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किये हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारतः की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी संतका उपासक हो, वह उन व्यावहारिक निमित्तोंसे निसर्गतः ऊँच या नीच नहीं हो सकता। मानवमात्रकी मूलतः समान स्थिति है। आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे ही कोई महान् हो सकता है; न कि जगत्में भयंकर विषमताका सर्जन करनेवाले हिंसा और संघर्षके मूल कारण परिग्रहके संग्रहसे।

युग-दर्शन ?

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अहिंसा या दयाकी साधनाके लिए तत्त्वज्ञानकी क्या आवश्यकता है? मनुष्य किसी भी विचारका क्यों न हो, परस्पर सद्व्यवहार, सद्भावना और मैत्री उसे समाज-व्यवस्थाके लिए करनी चाहिए। परन्तु जरा गहराईसे विचार करनेपर यह अनिवार्य एवं आवश्यक हो जाता है कि हम विश्व और विश्वान्तर्गत प्राणियोंके स्वरूप और उनकी अधिकार-स्थितिका तात्त्विक दर्शन करें। बिना इस तत्त्वदर्शनके हमारी मैत्री कामचलाऊ और केवल तत्कालीन स्वार्थको साधनेवाली साबित हो सकती हैं।

लोग यह सस्ता तर्क करते हैं कि—'कोई ईश्वरको मानो या न मानो, इससे क्या बनता बिगड़ता है? हमें परस्पर प्रेमसे रहना चाहिये।' लेकिन भाई, जब एक वर्ग उस ईश्वरके नामसे यह प्रचार[1] करता हो कि ईश्वरने मुखसे ब्राह्मणको, बाहुसे क्षत्रियको, उदरसे वैश्यको और पैरोंसे शूद्रको उत्पन्न किया है और उन्हें भिन्न-भिन्न अधिकार और संरक्षण देकर इस जगत्में भेजा है। दूसरी ओर ईश्वरके

१. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥"–ऋग्वेद १०।९०।१२।

नामपर गोरी जातियाँ यह फतवा दे रही हों कि—ईश्वरने उन्हें शासक होनेके लिए तथा अन्य काली-पीली जातियोंको सभ्य बनानेके लिए पृथ्वीपर भेजा है। अतः गोरी जातिको शासन करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है, और काली-पीली जातियोंको उनका गुलाम रहना चाहिये। इस प्रकारकी वर्गस्वार्थकी घोषणाएँ जब ईश्वरवादके आवरणमें प्रचारित की जाती हों, तब परस्पर अहिंसा और मैत्रीका तात्त्विक मूल्य क्या हो सकता है? अतः इस प्रकारके अवास्तविक कुसंस्कारोंसे मुक्ति पानेके लिए यह शशकवृत्ति कि 'हमें क्या करना है? कोई कैसे ही विचार रखें' आत्मघातिनी ही सिद्ध होगी। हमें ईश्वरके नामपर चलनेवाले वर्गस्वार्थियोंके उन नारोंकी परीक्षा करनी ही होगी तथा स्वयं ईश्वरकी भी, कि क्या इस अनन्त विश्वका नियन्त्रक कोई करुणामय महाप्रभु ही है? और यदि है, तो क्या उसकी करुणाका यही रूप है? हर हालतमें हमें अपना स्पष्ट दर्शन व्यक्तिकी मुक्ति और विश्वकी शान्तिके लिए बनाना ही होगा। इसीलिए महावीर और बुद्ध जैसे क्रान्तदर्शी क्षत्रियकुमारोंने अपनी वंश-परम्परासे प्राप्त उस पापमय राज्यविभूतिको लात मारकर प्राणिमात्रकी महामैत्रीकी साधनाके लिये जंगलका रास्ता लिया था। समस्याओंके मूलकारणोंकी खोज किये बिना ऊपरी मलहमपट्टी तात्कालिक शान्ति भले ही दे दे, किन्तु यह शान्ति आगे आनेवाले विस्फोटक तूफानका प्रागूरूप ही सिद्ध हो सकती है।

जगत्की जीती-जागती समस्याओंका समाधान यह मौलिक अपेक्षा रखता है कि विश्वके चर-अचर पदार्थोंके स्वरूप, अधिकार और परस्पर सम्बन्धोंकी तथ्य और सत्य व्याख्या हो। संस्कृतियोंके इतिहासकी निष्पक्ष मीमांसा हमें इस नतीजे पर पहुँचाती है कि विभिन्न संस्कृतियोंके उत्थान और पतनकी कहानी अपने पीछे वर्गस्वार्थियोंके झूठे और खोखले तत्त्वज्ञानके भीषण षड्यन्त्रको छुपाये हुए है। पश्चिमका इतिहास एक ही ईसाके पुत्रोंकी मारकाटकी काली किताब है। भारतवर्षमें कोटि-कोटि मानवोंको वंशानुगत दासता और पशुओंसे भी बदतर जीवन बितानेके लिए बाध्य किया जाना भी, आखिर उसी दयालु ईश्वरके नामपर ही तो हुआ। अतः प्राणिमात्रके उद्धारके लिए कृतसंकल्प इन श्रमणसन्तोंने जहाँ चारित्रको मोक्षका अन्तिम और साक्षात् कारण माना वहाँ संघरचना, विश्वशान्ति और समाज-व्यवस्थाके लिए, उस अहिंसाके आधारभूत तत्त्वज्ञानको खोजनेका भी गम्भीर और तलस्पर्शी प्रयत्न किया। उन्होंने वर्गस्वार्थके पोषणके लिये चारों तरफसे सिमटकर एक कठोर शिकंजेमें ढलनेवाली कुत्सित विचारधाराको रोककर कहा—ठहरो, जरा इस कल्पित शिकंजेके साँचेसे निकलकर स्वतंत्र विचरो, और देखो कि जगत्का हित किसमें है? क्या जगत्का स्वरूप यही है? क्या जीवनका

उच्चतम लक्ष्य यही हो सकता है ? और इसी एक रोकने सदियोंकी जड़ीभूत विचारधाराको झकझोरकर जगा दिया, और उसे मानवकल्याणकी दिशामें तथा जगत्के विपरिवर्तनमान स्वतन्त्र स्वरूपकी ओर मोड़ दिया। यह दर्शन और संस्कृतिके परिवर्तनका युग था। बिहारकी पवित्र भूमिपर भगवान् महावीर और बुद्ध इन दो युगदर्शियोंने मानवकी दृष्टि भोगसे योगकी ओर तथा वर्गस्वार्थसे प्राणिमात्रके कल्याणकी ओर फेरी। उस युगमें जिस तत्त्वज्ञान और दर्शनका निर्माण हुआ, वह आजके युगमें भी उसी तरह आवश्यक उपयोगी बना हुआ है।

३. भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन

मानस अहिंसा अर्थात् अनेकान्तदृष्टि :

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक तीर्थंकर थे। मन, वचन, और काय त्रिविध अहिंसाकी परिपूर्ण साधना, खासकर मानसिक अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा, वस्तुस्वरूपके यथार्थ दर्शनके बिना होना अशक्य थी। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें, पर यदि वचन-व्यवहार और चित्तगत विचार विषम और विसंवादी हैं, तो कायिक अहिंसाका पालन भी कठिन है। अपने मनके विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच-नीच शब्द अवश्य बोले जायँगे, फलतः हाथा-पाईका अवसर आये विना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास इस प्रकारके अनेक हिंसाकाण्डोंके रक्तरंजित पन्नोंसे भरा हुआ है, अतः यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवनव्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नहीं है कि एक ही वस्तुके विषयमें दो परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिये उचित-अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्ष-प्रतिपक्षोंका संगठन हो तथा शास्त्रार्थमें हारनेवालोंको तेलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा बनी रहें। उन्होंने देखा कि आज सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जब तक इन मतवादोंका वस्तुस्थितिके आधारसे यथार्थदर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तब तक हिंसा और संघर्षकी जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि 'विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्त धर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव पूर्णरूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है।' विवाद वस्तुमें नहीं है, विवाद तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक स्वरूपकी झाँकी पा सकते!

उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि—देखो प्रत्येक वस्तु, अनन्तगुणपर्य्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि-अनन्त सन्तान-स्थितिकी दृष्टिसे नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रंगमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो

जाय या उनकी सन्तति सर्वथा उच्छिन्न हो जाय। साथ ही उसकी पर्य्यायें प्रतिक्षण बदल रही हैं। उसके गुणधर्मोंमें भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्य्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति हैं। हमारा स्वल्प ज्ञानलव इनमेंसे एक-एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति अनित्यवादियोंकी उखाड़-पछाड़में लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यपक्षवालोंको भला-बुरा कह रहा है। भ० महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और प्रवृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्माके नित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत कहकर बौद्धिक नैराश्यकी सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने उन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाशमें ला, उन्हें मानस-समताकी भूमिपर खड़ा कर दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उसका ईमानदारीसे विचार करो, तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसंधि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणके विषयको भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्य्यादाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमें जड़त्व, तो वह नहीं मिल सकता; क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं।

वस्तु सर्वधर्मात्मक नहीं :

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्तधर्मोंमें चेतनके सम्भव अनन्तधर्म चेतनमें मिलेंगे और अचेतनगत अनन्तधर्म अचेतनमें। चेतनके गुणधर्म अचेतनमें नहीं पाये जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सादृश्य-मूलक वस्तुत्व आदि सामान्यधर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन सभी द्रव्योंमें पाये जा सकते हैं, परन्तु सबकी सत्ता जुदी-जुदी है। तात्पर्य यह कि वस्तु बहुत बड़ी है। वह इतनी विराट् है कि हमारे-तुम्हारे अनन्तदृष्टिकोणोंसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र दृष्टिका आग्रह करके दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तु-स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। इस तरह मानस समताके लिए इस प्रकारका वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त-तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस मनुष्यतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह

कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है और वह किस तरह दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सृजन करके मानव समाजका अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्तदर्शनसे विचारों या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीला-ढाला समझौता नहीं होता, किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञान-मूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

अनेकान्तदृष्टिका वास्तविक क्षेत्र :

इस तरह अनेकान्तदर्शन वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता मानकर केवल कल्पनाकी उड़ानको और उससे फलित होनेवाले कल्पित धर्मोको वस्तुगत माननेकी हिमाकत नहीं करता। वह कभी भी वस्तुकी सीमाको नहीं लांघना चाहता। वस्तु तो अपने स्थानपर विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है। हमें परस्पर विरोधी मालूम होनेवाले भी अनन्तधर्म उसमें अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं। अपनी संकुचित विरोधयुक्त दृष्टिके कारण हम उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तवबहुत्ववादी है। वह दो पृथक्सत्ताक वस्तुओंको व्यवहारके लिए कल्पनासे एक कह भी दे, पर वस्तुकी निजी मर्यादाको नहीं लांघना चाहता। एक वस्तुका अपने गुण-पर्य्यायोंसे वास्तविक अभेद तो हो सकता है, पर दो व्यक्तियोंमें वास्तविक अभेद सम्भव नहीं है। इसकी यह विशेषता है, जो यह परमार्थसत् वस्तुकी परिधिको न लाँघकर उसकी सीमामें ही विचरण करता है, और मनुष्योंको कल्पनाकी उड़ानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। यद्यपि जैनदर्शनमें 'संग्रहनय' की एक दृष्टिसे चरम अभेदकी भी कल्पना की जाती है और कहा जाता है कि "सर्वमेकं सदविशेषात्" [तत्त्वार्थभा० १।३५] अर्थात् जगत् एक है, सद्‌रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। किन्तु यह एक कल्पना है। कोई एक ऐसा वास्तविक सत् नहीं है, जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः जैनदर्शन वस्तुस्थितिके बाहरकी कल्पनाकी उड़ानको जिस प्रकार असत् कहता है, उसी तरह वस्तुके एक धर्मके दर्शनमें ही वस्तुके सम्पूर्णरूपके अभिमानको भी विघातक मानता है। इन ज्ञानलवधारियोंको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी यथार्थ झाँकी दिखानेवाले अनेकान्तदर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खींची है और यह सब हुआ है, मानस समता-मूलक तत्त्वज्ञानकी खोजसे।

मानस समताका प्रतीक :

इस तरह जब वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है, तब मनुष्य सहज ही यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है, उसकी

सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिए, और उसका वस्तुस्थितिमूलक समीकरण होना चाहिए। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानस समताकी सृष्टि होगी, जो कि अहिंसाकी संजीवनी वेल है। मानस समताके लिए 'अनेकान्त-दर्शन' ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। इस प्रकार जब 'अनेकान्तदर्शन' से विचारशुद्धि हो जाती है, तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न होती है। वह वस्तुस्थितिका उल्लंघन करनेवाले किसी भी शब्दका प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्योंने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमें एक ही धर्मको कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त होता है। इस 'स्यात्' का अर्थ सुनिश्चित दृष्टिकोण या निर्णीत अपेक्षा है; न कि शायद, सम्भव, या कदाचित् आदि। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है—स्वरूपादिकी अपेक्षा वस्तु है ही, न कि शायद है, सम्भव है, कदाचित् है, आदि। संक्षेपतः जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्तमें माध्यस्थभाव, वीतरागता और निष्पक्षताका उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता आनेका पूरा-पूरा अवसर देता है।

स्याद्वाद एक निर्दोष भाषा-शैली :

इस प्रकार अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायित्वकी प्रेरणाने मानस-शुद्धिके लिए 'अनेकान्तदर्शन' और वचनशुद्धिके लिए 'स्याद्वाद' जैसी निधियोंको भारतीय दर्शनके कोषागारमें दिया है। बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि वह जो बोल रहा है, उतनी ही वस्तु नहीं है। शब्द उसके पूर्णरूप तक पहुँच ही नहीं सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिंगमें भी है। पर यहाँ वह निपात-अव्ययमें निष्पन्न होता है। वह अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है; न कि संशयरूपमें। जैन तीर्थङ्करोंने इस प्रकार सर्वांगीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका और उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका रास्ता भी दिखाया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शन-कारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता, तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास इतना रक्तरंजित न हुआ होता; और धर्म तथा दर्शनके नामपर मानवताका निर्दलन नहीं

होता। पर अहंकार और शासनकी भावना मानवको दानव बना देती है; और उसपर मत और धर्मका 'अहम्' तो अतिदुर्निवार होता है। युग-युगमें ऐसे ही दानवको मानव बनानेके लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वयदृष्टिका, इसी समताभावका और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका उपदेश देते आये हैं। यह जैनदर्शनकी ही विशेषता है, जो वह अहिंसाकी तह तक पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वास्तविक आधारसे मतवादोंकी गुत्थियोंको सुलझानेकी मौलिक दृष्टि भी खोज सका। उसने न केवल दृष्टि ही खोजी, किन्तु मन, वचन और काय इन तीनों द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित किया।

अहिंसाका आधारभूत तत्त्वज्ञान अनेकान्तदर्शन :

व्यक्तिकी मुक्तिके लिये या चित्तशुद्धि और वीतरागता प्राप्त करनेके लिए अहिंसाकी ऐकान्तिक चारित्रगत साधना उपयुक्त हो सकती है, किन्तु संघरचना और समाजमें उस अहिंसाकी उपयोगिता सिद्ध करनेके लिए उसके तत्त्वज्ञानकी खोज न केवल उपयोगी ही है, किन्तु आवश्यक भी है। भगवान् महावीरके संघमें जो सर्वप्रथम इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वान् दीक्षित हुए थे, वे आत्माको नित्य मानते थे। उधर अजितकेश-कम्बलिका उच्छेदवाद भी प्रचलित था। उपनिषदोंके उल्लेखोंके अनुसार विश्व सत् है या असत्, उभय है या अनुभय, इस प्रकारकी विचारधाराएँ उस समयके वातावरणमें अपने-अपने रूपमें प्रवाहित थीं। महावीरके वीतराग करुणामय शान्त स्वरूपको देखकर जो भव्यजन उनके धर्ममें दीक्षित होते थे, उन पचमेल शिष्योंकी विविध जिज्ञासाओंका वास्तविक समाधान यदि नहीं किया जाता तो उनमें परस्पर स्वमत पुष्टिके लिए वादविवाद चलते और संघभेद हुए बिना नहीं रहता। चित्तशुद्धि और विचारोंके समीकरणके लिए यह नितान्त आवश्यक था कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ निरूपण हो। यही कारण है कि भगवान् महावीरने वीतरागता और अहिंसाके उपदेशसे पारस्परिक बाह्य व्यवहारशुद्धि करके ही अपने कर्त्तव्यको समाप्त नहीं किया; किन्तु शिष्योंके चित्तमें अहंकार और हिंसाको बढ़ानेवाले इन सूक्ष्म मतवादोंकी जो जड़ें बद्धमूल थीं, उन्हें उखाड़नेका आन्तरिक ठोस प्रयत्न किया। वह प्रयत्न था वस्तुके विराट् स्वरूपका यथार्थ दर्शन। वस्तु यदि अपने मौलिक अनादिअनन्त असंकर प्रवाहकी दृष्टिसे नित्य है, तो प्रतिक्षण परिवर्तमान पर्य्यायोंकी दृष्टिसे अनित्य भी। द्रव्यकी दृष्टिसे सत्से ही सत् उत्पन्न होता है, तो पर्य्यायकी दृष्टिसे असत्से सत्। इस

---

१. "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।"–ऋग्वेद १।१६४।४६।

तरह जगत्के यावत् पदार्थोंको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामी और अनन्तधर्मात्मक बताकर उन्होंने शिष्योंकी न केवल बाह्य परिग्रहकी ही गाँठ खोली, किन्तु अन्तरंग हृदयग्रन्थिको भी खोलकर उन्हें अन्तर-बाह्य सर्वथा निर्ग्रन्थ बनाया था।

विचारकी चरम रेखा :

यह अनेकान्तदर्शन वस्तुतः विचारविकासकी चरम रेखा है। चरम रेखासे मेरा तात्पर्य यह है कि दो विरुद्ध बातोंमें शुष्क तर्कजन्य कल्पनाओंका विस्तार तब तक बराबर होता जायगा, जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी समाधान न निकल आवे। अनेकान्तदृष्टि वस्तुके उसी स्वरूपका दर्शन कराती है, जहाँ विचार समाप्त हो जाते हैं। जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती, तभी तक विवाद चलते हैं। अग्नि ठंडी है या गरम, इस विवादकी समाप्ति अग्निको हाथसे छू लेने पर जैसे हो जाती है, उसी तरह एक-एक दृष्टिकोणसे चलनेवाले विवाद अनेकान्तात्मक वस्तुदर्शनके बाद अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश :

हम अनेकान्तदर्शनको न्यायाधीशके पदपर अनायास ही बैठा सकते हैं। प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षके समर्थनके लिए संकलित दलीलोंकी फाइलकी तरह न्यायाधीशका फैसला भले ही आकारमें बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता, सूक्ष्मता और निष्पक्षपातिता अवश्य होती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भंडार-भूत एकान्तवादी दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें विकल्प या कल्पनाओंका चरम विकास न हो, पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, समतावृत्ति एवं अहिंसाधारितामें तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्योंने वस्तुस्थितिके आधारसे प्रत्येक दर्शनके दृष्टिकोणके समन्वयकी पवित्र चेष्टा की है और हर दर्शनके साथ न्याय किया है। यह वृत्ति अहिंसाहृदयीके सुसंस्कृत मस्तिष्ककी उपज है। यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्य स्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। ··
तस्मादसतः सज्जायत···।" –छान्दो० ६।२।

है। युगप्रधान आ० समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकोंने इसी दृष्टिके पुण्य प्रकाशमें सत्-असत्, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, पुण्य-पाप, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादोंका समन्वय किया है। मध्यकालीन आ० अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकोंने अंशतः परपक्षका खण्डन करके भी उसी दृष्टिको प्रौढ़ किया है।

वाचनिक अहिंसा स्याद्वाद :

मानसशुद्धिके लिए विचारोंकी दिशामें समन्वयशीलता लानेवाली अनेकान्त-दृष्टिके आ जानेपर भी यदि तदनुसारिणी भाषाशैली नहीं बनाई तो उसका सार्व-जनिक उपयोग होना असम्भव था। अतः अनेकान्त-दर्शनको ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली 'स्याद्वाद' नामकी भाषाशैलीका आविष्कार उसी अहिंसाके वाचनिक विकासके रूपमें हुआ। जब वस्तु अन्तधर्मात्मक है और उसको जाननेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है तब वस्तुके सर्वथा एक अंशका निरूपण करनेवाली निर्धारिणी भाषा-वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली नहीं हो सकती। जैसे यह कलम लम्बी, चौड़ी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हल्की, भारी आदि अनेक धर्मोंका युगपत् आधार है। अब यदि शब्दसे यह कहा जाय कि यह कलम 'लम्बी ही है' तो शेष धर्मोंका लोप इस वाक्य से फलित होता है, जब कि उसमें उसी समय अनन्त धर्म विद्यमान हैं। न केवल इसी तरह, किन्तु जिस समय कलम अमुक अपेक्षासे लम्बी है, उसी समय अन्य अपेक्षासे लम्बी नहीं भी है। प्रत्येक धर्मकी अभिव्यक्ति सापेक्ष होनेसे उसका विरोधी धर्म उस वस्तुमें पाया ही जाता है। अतः विवक्षित धर्मवाची शब्दके प्रयोगकालमें हमें अन्य अविवक्षित अशेष धर्मके अस्तित्वको सूचन करनेवाले 'स्यात्' शब्दके प्रयोगको नहीं भूलना चाहिए। यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मवाची शब्दको समस्त वस्तुपर अधिकार करनेसे रोकता है और कहता है कि 'भाई, इस समय शब्दके द्वारा उच्चारित होनेके कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर तुम्हारा ही अधिकार हो। तुम्हारे अनन्त धर्म-भाई इसी वस्तुके उसी तरह समान अधिकारी हैं जिस तरह कि तुम।'

'स्यात्' एक प्रहरी :

'स्यात्' शब्द एक ऐसा प्रहरी है, जो शब्दकी मर्यादाको संतुलित रखता है। वह संदेह या संभावनाको सूचित नहीं करता, किन्तु एक निश्चित स्थितिको बताता है कि वस्तु अमुक दृष्टिसे अमुक धर्मवाली है ही। उसमें अन्य धर्म उस समय

गौण हैं। यद्यपि हमेशा 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका नियम नहीं है, किन्तु वह समस्त वाक्योंमें अन्तर्निहित रहता है। कोई भी वाक्य अपने प्रतिपाद्य अंशका अवधारण करके भी वस्तुगत शेष अंशोंको गौण तो कर सकता है पर उनका निराकरण करके वस्तुको सर्वथा ऐकान्तिक नहीं बना सकता, क्योंकि वस्तु स्वरूपसे अनेकान्त—अनेक धर्मवाली है।

'स्यात्' का अर्थ 'शायद' नहीं :

'स्यात्' शब्द हिन्दी भाषामें भ्रान्तिवश शायदका पर्यायवाची समझा जाने लगा है। प्राकृत और पालीमें 'स्यात्' का 'सिया' रूप होता है। यह वस्तुके सुनिश्चित भेदोंके साथ सदा प्रयुक्त होता रहा है। जैसे कि 'मज्झिमनिकाय' के 'महाराहुलोवादसुत्त' में आपो धातुका वर्णन करते हुए लिखा है कि "कतमा च राहुल आपोधातु ?" "आपोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा" अर्थात् आपोधातु (जल) कितने प्रकारकी है ? आपोधातु स्यात् आभ्यन्तर है और स्यात् बाह्य। यहाँ आभ्यन्तर धातुके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग आपोधातुके आभ्यन्तर भेदके सिवा द्वितीय बाह्य भेदकी सूचनाके लिए है, और बाह्यके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग बाह्यके सिवा आभ्यन्तर भेदकी सूचना देता है। अर्थात् 'आपो' धातु न तो बाह्यरूप ही है और न आभ्यन्तररूप ही। इस उभयरूपताकी सूचना 'सिया'—'स्यात्' शब्द देता है। यहाँ न तो 'स्यात्' शब्दका 'शायद' ही अर्थ है, और न 'संभव' और न 'कदाचित्' ही। क्योंकि 'आपो' धातु शायद आभ्यन्तर और शायद बाह्य नहीं है और न संभवतः आभ्यन्तर और संभवतः बाह्य और न कदाचित् आभ्यन्तर और बाह्य अपितु उभय भेदवाली है।

'स्यात्' अविवक्षितका सूचक :

इसी तरह प्रत्येक धर्मवाची शब्दके साथ जुड़ा हुआ 'स्यात्' शब्द एक सुनिश्चित दृष्टिकोणसे उस धर्मका वर्णन करके भी अन्य अविवक्षित धर्मोंका अस्तित्व भी वस्तुमें द्योतित करता है। कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो वस्तुके पूर्ण रूपको स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोणसे प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्मका कथन करता है। इस तरह जब शब्दमें स्वभावतः विवक्षानुसार अमुक धर्मके प्रतिपादन करनेकी ही शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मोंकी सूचनाके लिए एक 'प्रतीक' अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोताको भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है। वह श्रोताको विवक्षित धर्मका प्रधानतासे ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मोंके अस्तित्वका द्योतन

कराता है। इस तरह भगवान् महावीरने सर्वथा एकांश प्रतिपादिका वाणीको भी 'स्यात्' संजीवनके द्वारा वह शक्ति दी, जिससे वह अनेकान्तका मुख्य-गौण भावसे द्योतन कर सकी। यह 'स्याद्वाद' जैनदर्शनमें सत्यका प्रतीक बना है।

धर्मज्ञता और सर्वज्ञता :

भगवान् महावीर और बुद्धके सामने एक सीधा प्रश्न था कि धर्म जैसा जीवंत पदार्थ, जिसके ऊपर इहलोक और परलोकका बनाना और बिगाड़ना निर्भर करता है, क्या मात्र वेदके द्वारा निर्णीत हो या उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाके अनुसार अनुभवी पुरुष भी अपना निर्णय दें ? वैदिक परम्पराकी इस विषयमें दृढ़ और निर्बाध श्रद्धा है कि धर्ममें अन्तिम प्रमाण वेद है और जब धर्म जैसा अतीन्द्रिय पदार्थ मात्र वेदके द्वारा ही जाना जा सकता है तो धर्म जैसे अतिसूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अन्य पदार्थ भी वेदके द्वारा ही ज्ञात हो सकेंगे, इनमें पुरुषका ज्ञान साक्षात् प्रवृत्ति नहीं कर सकता। पुरुष प्रायः राग, द्वेष और अज्ञानसे दूषित होते हैं। उनका आत्मा इतना निष्कलंक और ज्ञानवान् नहीं हो सकता, जो प्रत्यक्षसे अतीन्द्रियदर्शी हो सके। न्याय-वैशेषिक और योग परम्पराओंने वेदको उस नित्य ज्ञानवान् ईश्वरकी कृति माना, जो अनादिसिद्ध है। ऐसा नित्य ज्ञान दूसरी आत्माओंमें संभव नहीं है। निष्कर्ष यह कि वर्तमान वेद, चाहे वह अपौरुषेय हो या अनादिसिद्ध ईश्वरकर्तृक, शाश्वत है और धर्मके विषयमें अपनी निर्बाध सत्ता रखता है। अन्य महर्षियोंके द्वारा रची गई स्मृतियाँ आदि यदि वेदानुसारिणी हैं, तो ही प्रमाण हैं अन्यथा नहीं; यानी प्रमाणताकी ज्योति वेदकी अपनी है।

लौकिक व्यवहारमें शब्दकी प्रमाणताका आधार निर्दोषता है। वह निर्दोषता दो ही प्रकारसे आती है—एक तो गुणवान् वक्ता होनेसे और दूसरे, वक्ता ही न होनेसे। आचार्य कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं कि[1] शब्दमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्तासे होती है। उनका अभाव कहीं तो गुणवान् वक्ता होनेसे हो जाता है; क्योंकि वक्ताके यथार्थवेदित्व आदि गुणोंसे दोषोंका अभाव होनेपर वे दोष शब्दमें अपना स्थान नहीं जमा पाते। दूसरे, वक्ताका अभाव होनेसे निराश्रय दोष नहीं रह

१. "शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ ६२ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥ ६३ ॥"

—मी० श्लो० चोदना०।

गयी है उनका[1] खण्डन जैन और बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंमें प्रचुरतासे पाया जाता है। इनका सीधा सिद्धान्त है कि मनुष्योंमें जब मनुष्यत्व नामक सामान्य ही सादृश्य-मूलक है तब ब्राह्मणत्वादि जातियाँ भी सदृश आधार और व्यवहारमूलक ही बन सकतीं हैं। जिनमें अहिंसा, दया आदि सद्व्रतोंके संस्कार विकसित हों वे ब्राह्मण, पररक्षाकी वृत्तिवाले क्षत्रिय, कृषिवाणिज्यादि-व्यापारप्रधान वैश्य और शिल्पसेवा आदिसे आजीविका चलानेवाले शूद्र हैं। कोई भी शूद्र अपनेमें व्रत आदि सद्गुणोंका विकास करके ब्राह्मण बन सकता है।[2] ब्राह्मणत्वका आधार व्रतसंस्कार है न कि नित्य ब्राह्मणत्व जाति।

जैनदर्शनने जहाँ पदार्थ-विज्ञानके क्षेत्रमें अपनी मौलिक दृष्टि रखी है वहाँ समाज-रचना और विश्वशांतिके मूलभूत सिद्धान्तोंका भी विवेचन किया है। उनमें निरीश्वरवाद और वर्ण-व्यवस्थाको व्यवहारकल्पित मानना ये दो प्रमुख हैं। यह ठीक है कि कुछ संस्कार वंशानुगत होते हैं, किन्तु उन्हें समाजरचनाका आधार नहीं बनाया जा सकता। सामाजिक और सार्वजनिक साधनोंके विशिष्ट संरक्षणके लिए वर्णव्यवस्थाकी दुहाई नहीं दी जा सकती। सार्वजनिक विकासके अवसर प्रत्येकके लिये समानरूपसे मिलनेपर स्वस्थ समाजका निर्माण हो सकता है।

अनुभवकी प्रमाणता :

धर्मज्ञ और सर्वज्ञके प्रकरणमें लिखा जा चुका है कि श्रमण-परम्परामें पुरुष प्रमाण है, ग्रन्थविशेष नहीं। इसका अर्थ है शब्द स्वतः प्रमाण न होकर पुरुषके अनुभवकी प्रमाणतासे अनुप्राणित होता है। मीमांसकने लौकिक शब्दोंमें वक्ताको गुण और दोषोंकी एक हद तक उपयोगिता स्वीकार करके भी धर्ममें वैदिक शब्दोंको पुरुषके गुण-दोषोंसे मुक्त रखकर स्वतः प्रमाण माना है। पहली बात तो यह है कि जब भाषात्मक शब्द एकान्ततः पुरुषके प्रयत्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें अपौरुषेय और अनादि मानना ही अनुभवविरुद्ध है तब उनके स्वतः प्रमाण माननेकी बात तो बहुत दूर की है। वक्ताका अनुभव ही शब्दकी प्रमाणताका मूल स्रोत है। प्रामाण्यवादके विचारमें मैंने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

साधनकी पवित्रताका आग्रह :

भारतीय दर्शनोंमें वादकथाका इतिहास जहाँ अनेक प्रकारसे मनोरंजक है वहाँ उसमें अपनी-अपनी परम्पराकी कुछ मौलिक दृष्टियोंके भी दर्शन होते हैं।

१. देखो, प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २२। तत्त्वसंग्रह का० ३५७९। प्रमेयकमलमा० पृ० ४८३। न्यायकुमु० पृ० ७७०। सन्मति० टी० पृ० ६९७। स्या० रत्ना० ९५९।

२. 'ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात्'''—आदिपुराण ३८।४६।

नैयायिकोंने शास्त्रार्थमें जीतनेके लिए छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असद् उपायोंका भी आलम्बन लेकर सन्मार्ग-रक्षाका लक्ष्य सिद्ध करनेकी परम्पराका समर्थन किया है। छल, जाति और निग्रहस्थानोंकी किलेबन्दी प्रतिवादीको किसी भी तरह चुप करनेके लिए की गयी थी। जिसका आश्रय लेकर सदोष साधनवादी भी निर्दोष प्रतिवादीपर कीचड़ उछाल सकता था और उसे पराजित कर सकता था। किन्तु जैनदार्शनिकोंने शासन-प्रभावनाको भी असद् उपायोंसे करना उचित नहीं माना। वे साध्यकी तरह साधनकी पवित्रतापर भी उतना ही जोर देते हैं। सत्य और अहिंसाका ऐकान्तिक आग्रह होनेके कारण उन्होंने वादकथा जैसे कलुषित क्षेत्रमें भी छल, जाति आदिके प्रयोगोंको सर्वथा अन्याय्य कहकर नीतिका सीधा मार्ग दिखाया कि जो भी अपना पक्ष सिद्ध कर ले, उसकी जय और दूसरेकी पराजय होनी चाहिए। और छल, जाति आदिके प्रयोगकी कुशलतासे जय-पराजयका कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्धोंका भी यही दृष्टिकोण है। (विशेषके लिए देखो, जय-पराजयव्यवस्था प्रकरण)।

तत्त्वाधिगमके उपाय :

जैनदर्शनने पदार्थके वास्तविक स्वरूपका सूक्ष्म विवेचन तो किया ही है। साथ-ही-साथ उन पदार्थोंके जानने, देखने, समझने और समझानेकी दृष्टियोंका भी स्पष्ट वर्णन किया है। इनमें नय और सप्तभंगीका विवेचन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रमाणके साथ नयोंको भी तत्त्वाधिगमके उपायोंमें गिनाना जैनदर्शनकी अपनी विशेषता है। अखण्ड वस्तुको ग्रहण करनेके कारण प्रमाण तो मूक है। वस्तुको अनेक दृष्टियोंसे व्यवहारमें उतारना अंशग्राही सापेक्ष नयोंका ही कार्य है। नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुको विभाजित कर उसके एक-एक अंशको ग्रहण करते हैं और उसे शब्दव्यवहारका विषय बनाते हैं। नयोंके भेद-प्रभेदोंका विशेष विवेचन करनेवाले नयचक्र, नयविवरण आदि अनेक ग्रन्थ और प्रकरण जैनदर्शनके कोषागारको उद्भासित कर रहे हैं। (विस्तृत विवेचनके लिए देखो, नय-मीमांसा प्रकरण)।

इस तरह जैनदर्शनने वस्तु-स्वरूपके विचारमें अनेक मौलिक दृष्टियाँ भारतीय दर्शनको दी हैं, जिनसे भारतीय दर्शनका कोषागार जीवनोपयोगी ही नहीं, समाज-रचना और विश्वशान्तिके मौलिक तत्त्वोंसे समृद्ध बना है।

४. लोकव्यवस्था

जैनी लोकव्यवस्थाका मूल मन्त्र :

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति।"

—पंचा० गा० १५०।

किसी भाव अर्थात् सद्का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत्का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूपसे उत्पाद, व्यय करते रहते हैं। लोकमें जितने सत् हैं वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामें कभी भी हेर-फेर नहीं होता। उनकी गुण और पर्यायोंमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है, उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। इस विश्वमें अनन्त चेतन, अनन्त पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्य हैं। इनसे यह लोक व्याप्त है। जितने आकाश देशमें ये जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। लोकके बाहर भी आकाश है, वह अलोक कहलाता है। लोकगत आकाश और अलोकगत आकाश दोनों एक अखण्ड द्रव्य हैं। यह विश्व इन अनन्तानन्त 'सतों'का विराट् आगार है और अकृत्रिम है[1]। प्रत्येक 'सत' अपनेमें परिपूर्ण स्वतन्त्र और मौलिक है।

सत्का लक्षण है[2] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होना। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिणमन करता है। वह पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसकी यह पूर्व व्यय तथा उत्तरोत्पादकी धारा अनादि और अनन्त है, कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। चाहे चेतन हो या अचेतन, कोई भी सत् इस उत्पाद, व्ययके चक्रसे बाहर नहीं है। यह उसका निज स्वभाव है। उसका मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करना ही चाहिये और अपनी अविच्छिन्न धारामें असंकरभावसे अनाद्यनन्त रूपमें परिणत होते रहना चाहिये। ये परिणमन कभी सदृश भी होते हैं और कभी विसदृश भी। ये कभी एक दूसरेके निमित्तसे प्रभावित भी होते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमनकी

---

१. "लोगो अकिट्टिमो खलु"—मूला० गा० ७१२।
२. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"—त० सू० ५।३०।

परम्परा किसी समय दीपनिर्वाणकी तरह बुझ नहीं सकती। यह भाव उपरोक्त गाथामें 'भावस्स णत्थि णासो' पद द्वारा दिखाया गया है। कितना भी परिवर्तन क्यों न हो जाय, परिवर्तनोंकी अनन्त संख्या होनेपर भी वस्तुकी सत्ता नष्ट नहीं होती। उसका मौलिक तत्त्व अर्थात् द्रव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता। अनन्त प्रयत्न करनेपर भी जगत्के रंगमंचसे एक भी अणुको विनष्ट नहीं किया जा सकता, उसकी हस्तीको नहीं मिटाया जा सकता। विज्ञानकी तीव्रतम भेदक शक्ति अणु द्रव्यका भेद नहीं कर सकती। आज जिसे विज्ञानने 'एटम' माना है और जिसके इलेक्ट्रान और प्रोट्रान रूपसे भेदकर वह यह समझता है कि हमने अणुका भेद कर लिया, वस्तुतः वह अणु न होकर सूक्ष्म स्कन्ध ही है और इसीलिए उसका भेद संभव हो सका है। परमाणुका तो लक्षण है :—

"अंतादि अंतमज्झं अंतंतं णेव इंदिए गेज्झं।
जं अविभागी दव्वं तं परमाणुं पसंसंति॥"

—नियमसा० गा० २६।

अर्थात्—परमाणुका वही आदि, वही अन्त तथा वही मध्य है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। वह सर्वथा अविभागी है—उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्यको परमाणु कहते हैं।

"सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो॥"

—पंचा० १७७।

अर्थात्—समस्त स्कन्धोंका जो अन्तिम भेद है, वह परमाणु है। वह शाश्वत है, शब्दरहित है, एक है, सदा अविभागी है और मूर्तिक है। तात्पर्य यह कि परमाणु द्रव्य अखंड है और अविभागी है। उसको छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता। जहाँ तक छेदन-भेदन सम्भव है वह सूक्ष्म स्कन्धका हो सकता है, परमाणुका नहीं। परमाणुकी द्रव्यता और अखण्डताका सीधा अर्थ है—उसका अविभागी एक सत्ता और मौलिक होना। वह छिद-भिदकर दो सत्तावाला नहीं बन सकता। यदि बनता है तो समझना चाहिए कि वह परमाणु नहीं है। ऐसे अनन्त मौलिक अविभागी अणुओंसे यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। इन्हीं परमाणुओंके परस्पर सम्बन्धसे छोटे-बड़े स्कन्धरूप अनेक अवस्थाएँ होती हैं।

परिणमनोंके प्रकार :

सत्के परिणाम दो प्रकारके होते हैं—एक स्वभावात्मक और दूसरा विभावरूप। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालाणुद्रव्य ये सदा

शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करते हैं। इनमें पूर्व पर्याय नष्ट होकर भी जो नयी उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है वह सदृश और स्वभावात्मक ही होती है, उसमें विलक्षणता नहीं आती। प्रत्येक द्रव्यमें एक 'अगुरुलघु' गुण या शक्ति है, जिसके कारण द्रव्यकी समतुला बनी रहती है, वह न तो गुरु होता है और न लघु। यह गुण द्रव्यकी निजरूपमें स्थिर-मौलिकता कायम रखता है। इसी गुणमें अनन्त-भागवृद्धि आदि षड्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है, जिससे ये द्रव्य अपने ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभावको धारण करते हैं और कभी अपने द्रव्यत्वको नहीं छोड़ते। इनमें कभी भी विभाव या विलक्षण परिणमन नहीं होता और न कहने योग्य कोई ऐसा फर्क आता है, जिससे प्रथम क्षणके परिणमनसे द्वितीय क्षणके परिणमनका भेद बताया जा सके।

परिणमनका कोई अपवाद नहीं :

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनादिसे अनन्तकाल तक ये द्रव्य सदा एक-जैसे समान परिणमन करते हैं, उनमें कभी भी कहीं भी किसी भी रूपमें विसदृशता, विलक्षणता या असमानता नहीं आती तब उनमें परिणमन अर्थात् परिवर्तन कैसे कहा जाय ? उनके परिणमनका क्या लेखा-जोखा हो ? परन्तु जब लोकका प्रत्येक 'सत्' सदा परिणामी है, कूटस्थ नित्य नहीं, सदा शाश्वत नहीं; तब सत्के इस अपरिहार्य और अनिवार्य नियमका आकाशादि 'सत्' कैसे उल्लंघन कर सकते हैं ? उनका अस्तित्व ही त्रयात्मक अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। इसका अपवाद कोई भी सत् कभी भी नहीं हो सकता। भले ही उनका परिणमन हमारे शब्दोंका या स्थूल ज्ञानका विषय न हो, पर इस परिणामित्वका अपवाद कोई भी सत् नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जब हम एक सत्—पुद्गलपरमाणुमें प्रतिक्षण परिवर्तनको उसके स्कन्धादि कार्यों द्वारा जानते हैं, एक सत्—आत्मामें ज्ञानादि गुणोंके परिवर्तनको स्वयं अनुभव करते हैं तथा दृश्य विश्वमें सत्की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशीलता प्रमाणसिद्ध है; तब लोकके किसी भी सत्को उत्पादादिसे रहित होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती। एक मृत्पिड पिंडाकारको छोड़कर घटके आकारको धारण करता है तथा मिट्टी दोनों अवस्थाओंमें अनुगत रहती है। वस्तुके स्वरूपको समझनेका यह एक स्थूल दृष्टान्त है। अतः जगत्का प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, परिणामी-नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। वह प्रतिक्षण पर्यायान्तरको प्राप्त होकर भी कभी समाप्त नहीं होता, ध्रुव है।

जीवद्रव्यमें जो आत्माएँ कर्मबन्धनको काटकर सिद्ध हो गई हैं उन मुक्त जीवोंका भी सिद्धिके कालसे अनन्तकाल तक सदा शुद्ध ही परिणमन होता है। समान और एकरस परिणमनकी धारा सदा चलती रहती है, उसमें कभी कोई विलक्षणता नहीं आती। रह जाते हैं संसारी जीव और अनन्त पुद्गल, जिनका रंगमंच यह दृश्य विश्व है। इनमें स्वाभाविक और वैभाविक दोनों परिणमन होते हैं। फर्क इतना ही है कि संसारी जीवके एक बार शुद्ध हो जानेके बाद फिर अशुद्धता नहीं आती, जब कि पुद्गलस्कन्ध अपनी शुद्ध दशा परमाणुरूपतामें पहुँचकर भी फिर अशुद्ध हो जाते हैं। पुद्गलकी शुद्ध अवस्था परमाणु है और अशुद्ध दशा स्कन्ध-अवस्था है। पुद्गल द्रव्य स्कन्ध बनकर फिर परमाणु अवस्थामें पहुँच जाते हैं और फिर परमाणुसे स्कन्ध बन जाते हैं। सारांश यह कि संसारी जीव और अनन्त पुद्गल परमाणु भी प्रतिक्षण अपने परिणामी स्वभावके कारण एक दूसरेके तथा परस्पर निमित्त बनकर स्वप्रभावित परिणमनके भी जनक हो जाते हैं। एक हाइड्रोजनका स्कन्ध ऑक्सिजनके स्कन्धसे मिलकर जल पर्यायको प्राप्त हो जाता है। फिर गर्मीका सन्निधान पाकर भाफ बनकर उड़ जाता है, फिर सर्दी पाकर पानी बन जाता है, और इस तरह अनन्त प्रकारके परिवर्तन-चक्रमें बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार परिणत होता रहता है। यही हाल संसारी जीवका है। उसमें भी अपनी सामग्रीके अनुसार गुणपर्यायोंका परिणमन बराबर होता रहता है। कोई भी समय परिवर्तनसे शून्य नहीं होता। इस परिवर्तन-परम्परामें प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादानकारण होता है तथा अन्य द्रव्य निमित्तकारण।

धर्मद्रव्य :

जीव और पुद्गलोंकी गति-क्रियामें धर्मद्रव्य साधारण उदासीन निमित्त होता है, प्रेरक कारण नहीं। जैसे चलनेको तत्पर मछलीके लिए जल कारण तो होता है, पर प्रेरणा नहीं करता।

अधर्मद्रव्य :

जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें अधर्मद्रव्य साधारण कारण होता है, प्रेरक नहीं। जैसे ठहरनेवाले पथिकोंको छाया।

आकाशद्रव्य :

समस्त चेतन-अचेतन द्रव्योंको आकाशद्रव्य स्थान देता है और अवगाहनका साधारण कारण होता है, प्रेरक नहीं।। आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

कालद्रव्य :

समस्त द्रव्योंके वर्तना, परिणमन आदिका कालद्रव्य साधारण निमित्त है। पर्याय किसी-न-किसी क्षणमें उत्पन्न होती तथा नष्ट होती है, अतः 'क्षण' समस्त द्रव्योंकी पर्यायपरिणतिमें निमित्त होता है।

ये चार द्रव्य अरूपी हैं। धर्म, अधर्म और असंख्य कालाणु लोकाकाशव्यापी हैं और आकाश लोकालोकव्यापी अनन्त है।

संसारी जीव और पुद्गल द्रव्योंमें विभाव परिणमन होता है। जीव और पुद्गलका अनादिकालीन सम्बन्ध होनेके कारण जीव संसारीदशामें विभाव परिणमन करता है। इसका सम्बन्ध समाप्त होते ही मुक्तदशामें जीव शुद्ध परिणमनका अधिकारी हो जाता है।

इस तरह लोकमें अनन्त 'सत्' स्वयं अपने स्वभावके कारण परस्पर निमित्त-नैमित्तिक बनकर प्रतिक्षण परिवर्तित होते हैं। उनमें परस्पर कार्यकारणभाव भी बनते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार समस्त कार्य उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। प्रत्येक 'सत्' अपनेमें परिपूर्ण और स्वतंत्र है। वह अपने गुण और पर्यायका स्वामी है और है अपनी पर्यायोंका आधार। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया परिणमन नहीं ला सकता। जैसी-जैसी सामग्री उपस्थित होती जाती है उसके कार्यकारण-नियमके अनुसार द्रव्य स्वयं वैसा परिणत होता जाता है। जिस समय कोई बाह्य सामग्रीका प्रबल निमित्त नहीं मिलता उस समय भी द्रव्य अपने स्वभावानुसार सदृश या विसदृश परिणमन करता ही है। कोई सफेद कपड़ा एक दिनमें मैला होता है, तो यह नहीं मानना चाहिए कि वह २३ घण्टा ५९ मिनिट तो साफ़ रहा और आखिरी मिनिटमें मैला हुआ है; किन्तु प्रतिक्षण उसमें सदृश या विसदृश परिवर्तन होते रहे हैं और २४ घण्टेके समान या असमान परिणमनोंका औसत फल वह मैलापन है। इसी तरह मनुष्यमें भी बचपन, जवानी और वृद्धावस्था आदि स्थूल परिणमन प्रतिक्षणभावी असंख्य सूक्ष्म परिणमनोंके फल हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान होता है और सजातीय या विजातीय निमित्तके अनुसार प्रभावित होकर या प्रभावित करके परस्पर परिणमनमें निमित्त बनता जाता है। यह निमित्तोंका जुटाव कहीं परस्पर संयोगसे होता है तो कहीं किसी पुरुषके प्रयत्नसे। जैसे किसी हॉइड्रोजनके स्कन्धके पास हवाके झोंकेसे उड़कर ऑक्सिजन स्कन्ध पहुँच जाय तो दोनोंका जलरूप परिणमन हो जायगा, और यदि न पहुँचे तो दोनोंका अपने-अपने रूप ही अद्वितीय परिणमन होता रहता है। यह भी संभव है कि कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें ऑक्सिजनमें हाइड्रोजन मिलावे और इस तरह दोनोंकी जल पर्याय बन जाय। अग्नि है, यदि उसमें गीला

ईंधन स्वयं या किसी पुरुषके प्रयत्नसे पहुँच जाय तो धूम उत्पन्न हो जायगा, अन्यथा अग्नि धीरे-धीरे राख हो जायगी। कोई द्रव्य जबरदस्ती किसी दूसरे द्रव्यमें असंभवनीय परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रयत्न करनेपर भी अचेतनसे चेतन नहीं बन सकता और न एक चेतन चेतनान्तर या अचेतन या अचेतन अचेतनान्तर ही हो सकता है। सब अपनी-अपनी पर्यायधारामें प्रवहमान हैं। वे प्रत्येक क्षणमें नवीन-नवीन पर्यायोंको धारण करते हुए स्वमग्न हैं। वे एक-दूसरेके सम्भवनीय परिणमनके प्रकट करनेमें निमित्त हो भी जाँय, पर असंभव या असत् परिणमन उत्पन्न नहीं कर सकते। आचार्य कुन्दकुन्दने बहुत सुन्दर लिखा है—

अण्णदविएण अण्णदव्वस्स णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पजन्ते सहावेण॥"

—समयसार गा० ३७२।

अर्थात्—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई भी गुणोत्पाद नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावसे उत्पन्न होते हैं।

इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी परिपूर्ण अखंडता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी चरम निष्ठापर सभी अपने-अपने परिणाम-चक्रके स्वामी हैं। कोई किसीके परिणमनका नियन्त्रक नहीं है और न किसीके इशारेपर इस लोकका निर्माण या प्रलय होता है। प्रत्येक 'सत्' का अपने गुण और पर्यायपर ही अधिकार है, अन्य द्रव्यका परिणमन तदधीन नहीं है। इतनी स्पष्ट और असन्दिग्ध स्थिति प्रत्येक सत्की होनेपर भी पुद्गलोंमें परस्पर तथा जीव और पुद्गलका परस्पर एवं संसारी जीवोंका परस्पर प्रभाव डालनेवाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है। जल यदि अग्नि पर गिर जाता है तो उसे बुझा देता है और यदि वह किसी बर्तनमें अग्निके ऊपर रखा जाता है तो अग्नि ही उसके सहज शीतल स्पर्शको बदलकर उसको उष्णस्पर्श स्वीकार करा देती है। परस्परकी पर्यायमें इस तरह प्रभावक निमित्तता होने पर भी समस्त लोकरचनाके लिए कोई नित्यसिद्ध ईश्वर निमित्त या उपादान होता हो, यह बात न केवल युक्तिविरुद्ध ही है किन्तु द्रव्योंके निजस्वभावके विपरीत भी है। कोई भी द्रव्य सदा अविकारी नित्य हो ही नहीं सकता। अनन्त पदार्थोंकी अनन्त पर्यायोंपर नियन्त्रण रखने जैसा महाप्रभुत्व न केवल अवैज्ञानिक है किन्तु पदार्थ-स्थितिके विरुद्ध भी है।

निमित्त और उपादान :

जो कारण स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाय वह उपादान कारण है और जो स्वयं कार्यरूप परिणत तो न हो, पर उस परिणमनमें सहायता दे वह निमित्त या

सहकारी कारण कहा जाता है। घटमें मिट्टी उपादान कारण है; क्योंकि वह स्वयं घड़ा बनती है, और कुम्हार निमित्त है; क्योंकि वह स्वयं घड़ा तो नहीं बनता, पर घड़ा बननेमें सहायता देता है। प्रत्येक सत् या द्रव्य प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण करते हैं, यह एक निरपवाद नियम है। सब प्रतिक्षण अपनी धारामें परिवर्तित होकर सदृश या विसदृश अवस्थाओंमें बदलते जा रहे हैं। उस परिवर्तन-धारामें जो सामग्री उपस्थित होती है या कराई जाती है उसके बलाबलसे परिवर्तनमें होनेवाला प्रभाव तरतमभाव प्राप्त करता है। नदीके घाटपर यदि कोई व्यक्ति लाल रंग जलमें घोल देता है तो उस लाल रंगकी शक्तिके अनुसार आगेका प्रवाह अमुक हद तक लाल होता जाता है, और यदि नीला रंग घोलता है तो नीला। यदि कोई दूसरी उल्लेख योग्य निमित्तसामग्री नहीं आती तो जो सामग्री है उसकी अनुकूलताके अनुसार उस धाराका स्वच्छ या अस्वच्छ या अर्धस्वच्छ परिणमन होता जाता है। यह निश्चित है कि लाल या नीला परिणमन, जो भी नदीकी धारामें हुआ है, उसमें वही जलपुञ्ज उपादान है जो धारा बनकर बह रहा है; क्योंकि वही जल अपना पुराना रूप बदलकर लाल या नीला हुआ है। उसमें निमित्त या सहकारी होता है वह घोला हुआ लाल रंग या नीला रंग। यह एक स्थूल दृष्टान्त है—उपादान और निमित्तकी स्थिति समझनेके लिए।

मैं पहिले लिख आया हूँ कि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और शुद्ध जीवद्रव्यके परिणमन सदा एक-से होते हैं; उनमें बाहरी प्रभाव नहीं आता; क्योंकि इनमें वैभाविक शक्ति नहीं है। शुद्ध जीवमें वैभाविक शक्तिका सदा स्वाभाविक परिणमन होता है। इनकी उपादानपरम्परा सुनिश्चित है और इनपर निमित्तका कोई बल या प्रभाव नहीं होता। अतः निमित्तोंकी चर्चा भी इनके सम्बन्धमें व्यर्थ है। ये सभी द्रव्य निष्क्रिय हैं। शुद्ध जीवमें भी एक देशसे दूसरे देशमें प्राप्त होने रूप क्रिया नहीं होती। इनमें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक निज स्वभावके कारण अपने अगुरुलघुगुणके सद्भावसे सदा समान परिणमन होता रहता है। प्रश्न है सिर्फ संसारी जीव और पुद्गल द्रव्यका। इनमें वैभाविकी शक्ति है। अतः जिस प्रकारकी सामग्री जिस समय उपस्थित होती है उसकी शक्तिकी तरतमतासे वैसे-वैसे उपादान बदलता जाता है। यद्यपि निमित्तभूत सामग्री किसी सर्वथा असद्भूत परिणमनको उस द्रव्यमें नहीं लाती; किन्तु उस द्रव्यके जो शक्य—संभाव्य परिणमन हैं, उन्हींमेंसे उस पर्यायसे होनेवाला अमुक परिणमन उत्पन्न हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गल अणुमें समान रूपसे पुद्गलजन्य यावत् परिणमनोंकी योग्यता है। प्रत्येक अणु अपनी स्कन्ध अवस्थामें कपड़ा बन सकता है, सोना बन सकता

है, घड़ा बन सकता है और पत्थर बन सकता है तथा तैलके आकार हो सकता है। परन्तु लाख प्रयत्न होनेपर भी पत्थररूप पुद्गलसे तैल नहीं निकल सकता, यद्यपि तैल पुद्गलकी ही पर्याय है। मिट्टीसे कपड़ा नहीं बन सकता, यद्यपि कपड़ा भी पुद्गलका ही एक विशेष परिणमन है। हाँ, जब पत्थर-स्कन्धके पुद्गलाणु खिरकर मिट्टीमें मिल जाँय और खाद बन कर तैलके पौधेमें पहुँचकर तिल बीज बन जायँ तो उससे तैल निकल ही सकता है। इसी तरह मिट्टी कपास बनकर कपड़ा बन सकती है पर साक्षात् नहीं। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमें समान शक्ति होने पर भी अमुक स्कन्धोंसे साक्षात् उन्हीं कार्योंका विकास हो सकता है जो उस पर्यायसे शक्य हों और जिनकी निमित्त-सामग्री उपस्थित हो। अतः संसारी जीव और पुद्गलोंकी स्थिति उस मोम जैसी है जिसे संभव साँचोंमें ढाला जा सकता है और जो विभिन्न साँचोंमें ढलते जाते हैं।

निमित्तभूत पुद्गल या जीव परस्पर भी प्रभावित होकर विभिन्न परिणमनोंके आधार बन जाते हैं। एक कच्चा घड़ा अग्निमें जब पकाया जाता है तब उसमें अनेक जगहके पुद्गल स्कन्धोंमें विभिन्न प्रकारसे रूपादिका परिपाक होता है। इसी तरह अग्निमें भी उसके सन्निधानसे विचित्र परिणमन होते हैं। एक ही आम-फलमें परिपाकके अनुसार कहीं खट्टा और कहीं मीठा रस तथा कहीं मृदु और कहीं कठोर स्पर्श एवं कहीं पीत रूप और कहीं हरा रूप हमारे रोजके अनुभवकी बात है। इससे उस आम्र स्कन्धगत परमाणुओंका सम्मिलित स्थूल-आम्रपर्यायमें शामिल रहने पर भी स्वतन्त्र अस्तित्व भी बराबर बना रहता है, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। उस स्कन्धमें सम्मिलित परमाणुओंका अपना-अपना स्वतन्त्र परिणमन बहुधा एक प्रकारका होता है। इसीलिये उस औसत परिणमनमें 'आम्र' संज्ञा रख दी जाती है। जिस प्रकार अनेक पुद्गलाणु द्रव्य सम्मिलित होकर एक साधारण स्कन्ध पर्यायका निर्माण कर लेते हैं फिर भी स्वतन्त्र हैं, उसी तरह संसारी जीवोंमें भी अविकसित दशामें अर्थात् निगोदकी अवस्थामें अनन्त जीवोंके साधारण सदृश परिणमनकी स्थिति हो जाती है और उनका उस समय साधारण आहार, साधारण श्वासोच्छ्वास, साधारण जीवन और साधारण ही मरण होता है[१]। एकके मरने पर सब मर जाते हैं और एकके जीवित रहने पर भी सब जीवित रहते हैं। ऐसी प्रवाहपतित साधारण अवस्था होने पर उनका अपना व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता, प्रत्येक अपना विकास करनेमें

१. "साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥"

—गोम्मटसार जी० गा० १९१।

स्वतन्त्र रहते हैं। उन्हींकी चेतना विकसित होकर कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी, मनुष्य-देव आदि विविध विकासकी श्रेणियोंपर पहुँच जाती है। वही कर्मबन्धन काटकर सिद्ध भी हो जाती है।

सारांश यह कि प्रत्येक संसारी जीव और पुद्गलाणुमें सभी सम्भाव्य द्रव्य-परिणमन साक्षात् या परम्परासे सामग्रीकी उपस्थितिमें होते रहते हैं। ये कदाचित् समान होते हैं और कदाचित् असमान। असमानताका अर्थ इतनी असमानता नहीं है कि एक द्रव्यके परिणमन दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य-रूप हो जाँय और अपनी पर्यायपरम्पराकी धाराको जाँघ जाय। उन्हें अपने परिणामी स्वभावके कारण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन करना ही होगा। किसी भी क्षण वे परिणामशून्य नहीं हो सकते। "तद्भावः परिणामः" [तत्त्वार्थसूत्र ५।४२]। उस सत्का उसी रूपमें होना, अपनी सीमाको नहीं लाँघ कर होते रहना, प्रतिक्षण पर्यायरूपसे प्रवहमान होना ही परिणाम है। न वह उपनिषद्वादियोंकी तरह कूटस्थ नित्य है और न बौद्धके दीपनिर्वाणवादी पक्षकी तरह उच्छिन्न होनेवाला ही। सच पूछा जाय तो बुद्धने जिन दो अन्तों (छोरों) से डरकर आत्माका अशाश्वत और अनुच्छिन्न इस उभय प्रतिषेधके सहारे कथन किया या उसे अव्याकृत कहा और जिस अव्याकृतताके कारण निर्वाणके सम्बन्धमें सन्तानोच्छेदका एक पक्ष उत्पन्न हुआ, उस सर्वथा उभय अन्तका तात्त्विक दृष्टिसे विवेचन अनेकान्तद्रष्टा भ० महावीरने किया और बताया कि प्रत्येक वस्तु अपने 'सत्' रूपको त्रिकालमें नहीं छोड़ती, इसलिए धाराकी दृष्टिसे वह शाश्वत है, और चूँकि प्रतिक्षणकी पर्याय उच्छिन्न होती जाती है, अतः उच्छिन्न भी है। वह न तो संतति-विच्छेद रूपसे उच्छिन्न ही है और न सदा अविकारी कूटस्थके अर्थमें शाश्वत ही।

विश्वकी रचना या परिणमनके सम्बन्धमें प्राचीनकालसे ही अनेक पक्ष देखे जाते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषत्[1] में ऐसे ही अनेक विचारोंका निर्देश किया है। वहाँ प्रश्न है कि 'विश्वका क्या कारण है? कहाँसे हम सब उत्पन्न हुए हैं? किसके बलपर हम सब जीवित हैं? कहाँ हम स्थित हैं? अपने सुख और दुःखमें किसके अधीन होकर वर्तते हैं?' उत्तर दिया है कि 'काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा (इच्छानुसार-अटकलपच्चू), पृथिव्यादिभूत और पुरुष ये जगत्के कारण हैं, यह चिन्तनीय है। इन सबका संयोग भी कारण नहीं है। सुख-दुःखका हेतु होनेसे आत्मा भी जगत्को उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।

१. "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"–श्वेता० १।२।

कालवाद : Kalwad.

इस प्रश्नोत्तरमें जिन कालादिवादोंका उल्लेख है वे मत आज भी विविध रूपमें वर्तमान हैं। महाभारतमें[1] (आदिपर्व १।२७२-२७६) कालवादियोंका विस्तृत वर्णन है। उसमें बताया है कि जगत्के समस्त भाव और अभाव तथा सुख और दुःख कालमूलक हैं। काल ही समस्त भूतोंकी सृष्टि करता है, संहार करता है और प्रलयको प्राप्त प्रजाका शमन करता है। संसारके समस्त शुभ अशुभ विकारोंका काल ही उत्पादक है। काल ही प्रजाओंका संकोच और विस्तार करता है। सब सो जाँय पर काल जाग्रत रहता है। सभी भूतोंका वही चालक है। अतीत, अनागत और वर्तमान यावत् भावविकारोंका काल ही कारण है। इस तरह यह दुरतिक्रम महाकाल जगत्का आदिकारण है।

परन्तु एक अखंड नित्य और निरंश काल परस्पर विरोधी अनन्तपरिणमनोंका क्रमसे कारण कैसे हो सकता है? कालरूपी समर्थ कारणके सदा रहते हुए भी अमुक कार्य कदाचित् हो, कदाचित् नहीं, यह नियत व्यवस्था कैसे संभव हो सकती है? फिर काल अचेतन है, उसमें नियामकला स्वयं संभव नहीं हो सकती। जहाँ तक कालका स्वभावसे परिवर्तन करनेवाले यावत् पदार्थोंमें साधारण उदासीन कारण होना है वहाँ तक कदाचित् वह उदासीन निमित्त बन भी जाय, पर प्रेरक निमित्त और एकमात्र निमित्त तो नहीं हो सकता। यह नियत कार्य-कारणभावके सर्वथा प्रतिकूल है। कालकी समानहेतुता होनेपर भी मिट्टीसे ही घड़ा उत्पन्न हो और तंतुसे ही पट, यह प्रतिनियत लोकव्यवस्था नहीं जम सकती। अतः प्रतिनियत कार्योंकी उत्पत्तिके लिये प्रतिनियत उपादान तथा सबके स्वतन्त्र कार्यकारणभाव स्वीकार करना चाहिये।

स्वभाववाद :

स्वभाववादीका कहना है[2] कि कांटोंका नुकीलापन, मृग और पक्षियोंके चित्र-विचित्र रंग, हंसका शुक्लवर्ण होना, शुकोंका हरापन और मयूरका चित्र-विचित्र वर्णका होना आदि सब स्वभावसे हैं। सृष्टिका नियन्त्रक कोई नहीं है।

---

१. "कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥"—महाभा० १।२४८

२. उक्तं च—

"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥"

—सूत्रकृताङ्गटी०।

इस जगत्की विचित्रताका कोई दृष्ट हेतु उपलब्ध नहीं होता, अतः यह सब स्वाभाविक है, निर्हेतुक है। इसमें किसीका यत्न कार्य नहीं करता, किसीकी इच्छाके अधीन यह नहीं है।

इस वादमें जहाँ तक किसी एक लोक-नियन्ताके नियन्त्रणका विरोध है वहाँ तक उसकी युक्तिसिद्धता है। पर यदि स्वभाववादका अर्थ अहेतुकवाद है, तो यह सर्वथा बाधित है, क्योंकि जगत्में अनन्त कार्योंकी अनन्त कारणसामग्री प्रतिनियत रूपसे उपलब्ध होती है। प्रत्येक पदार्थका अपने संभव कार्योंके करनेका स्वभाव होने पर भी उसका विकास बिना सामग्रीके नहीं हो सकता। मिट्टीके पिंडमें घड़ेको उत्पन्न करनेका स्वभाव विद्यमान होनेपर भी उसकी उत्पत्ति दंड, चक्र, कुम्हार आदि पूर्ण सामग्रीके होनेपर ही हो सकती है। कमलकी उत्पत्ति कीचड़से होती है; अतः पंक आदि सामग्रीकी कमलकी सुगन्ध और उसके मनोहर रूपके प्रति हेतुता स्वयं सिद्ध है, उनमें स्वभावको ही मुख्यता देना उचित नहीं है। यह ठीक है कि किसानका पुरुषार्थ खेत जोतकर बीज बो देने तक है, आगे कोमल अंकुरका निकलना तथा उससे क्रमशः वृक्षके बन जाने रूप असंख्य कार्यपरम्परामें उसका साक्षात् कारणत्व नहीं है, परन्तु यदि उसका उतना भी प्रथम-प्रयत्न नहीं होता, तो बीजका वह वृक्ष बननेका स्वभाव बोरेमें पड़ा-पड़ा सड़ जाता। अतः प्रतिनियत कार्योंमें यथासंभव पुरुषका प्रयत्न भी कार्य करता है। साधारण रुई कपासके बीजसे सफेद रंगकी उत्पन्न होती है। पर यदि कुशल किसान लाखके रंगसे कपासके बीजोंको रंग देता है तो उससे रंगीन रुई भी उत्पन्न हो जाती है। आज वैज्ञानिकोंने विभिन्न प्राणियोंकी नस्लपर अनेक प्रयोग करके उनके रंग, स्वभाव, ऊँचाई और वजन आदिमें विविध प्रकारका विकास किया है। अतः "न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?" जैसे निराशावादसे स्वभाववादका आलम्बन लेना उचित नहीं है। हाँ, सकल जगत्के एक नियन्ताकी इच्छा और प्रयत्नका यदि इस स्वभाववादसे विरोध किया जाता है तो उसके परिणामसे सहमति होनेपर भी प्रक्रियामें अन्तर है। अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा असंख्य कार्योंके असंख्य कार्यकारणभाव निश्चित होते हैं और अपनी-अपनी कारण-सामग्रीसे असंख्य कार्य विभिन्न विचित्रताओंसे युक्त होकर उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। अतः स्वभावनियतता होनेपर भी कारणसामग्री और जगत्के नियत कार्यकारणभावकी ओरसे आँख नही मूँदी जा सकती।

नियतिवाद :

नियतिवादियोंका कहना है कि जिसका, जिस समयमें, जहाँ, जो होना है वह होता ही है। तीक्ष्ण शस्त्रघात होनेपर भी यदि मरण नहीं होना है तो व्यक्ति

जीवित ही बच जाता है और जब मरनेकी घड़ी आ जाती है तब बिना किसी कारणके ही जीवनकी घड़ी बन्द हो जाती है।

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः[1] ॥"

अर्थात्—मनुष्योंको नियतिके कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, पर जो नहीं होना है वह नहीं ही होगा, और जो होना है उसे कोई रोक नहीं सकता। सब जीवोंका सब कुछ नियत है, वह अपनी गतिसे होगा ही।[2]

मज्झिमनिकाय (२।३।६।) तथा बुद्धचर्या (सामञ्ञफलसुत्त पृ० ४६२-६३) में अकर्मण्यतावादी मक्खलि गोशालके नियतिचक्रका इस प्रकार वर्णन मिलता है—"प्राणियोंके क्लेशके लिये कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतु, बिना प्रत्यय ही प्राणी क्लेश पाते हैं। प्राणियोंकी शुद्धिका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं है। बिना प्रत्यय ही प्राणी विशुद्ध होते हैं। न आत्मकार है, न परकार है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषका पराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव अवश हैं, बल-वीर्य-रहित हैं। नियतिसे निर्मित अवस्थामें परिणत होकर छह ही अभिजातियोंमें सुख-दुःख अनुभव करते हैं।.... वहाँ यह नहीं है कि इस शील-व्रतसे, इस तप-ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा, परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख द्रोणसे नपे हुए हैं। संसारमें घटना-बढ़ना, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है, वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर आवागमनमें पड़कर दुःखका अन्त करेंगे।" (दर्शन-दिग्दर्शन पृ० ४८८-८९)। भगवतीसूत्र (१५वाँ शतक) में भी गोशालकको नियतिवादी ही बताया है।

---

१. उद्धृत–सूत्रकृताङ्गटीका १।१।२।—लोकतत्त्व अ० २९।

२. "तथा चोक्तम्"—

"नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः॥
यद्यदेव यतो यावत् तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एनां बाधितुं क्षमः॥"

—नन्दीसू० टी०।

इसी नियतिवादका रूप आज भी 'जो होना है वह होगा ही' इस भवितव्यताके रूपमें गहराईके साथ प्रचलित है।

नियतिवादका एक आध्यात्मिक रूप और निकला है[1]। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्यकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है वह अपने नियत स्वभावके कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादान-शक्तिसे ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, वहाँ निमित्तकी उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलानेकी आवश्यकता नहीं। इनके मतसे पेट्रोलसे मोटर नहीं चलती, किन्तु मोटरको चलना ही है और पेट्रोलको जलना ही है। और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्यके शुद्ध स्वभावके नामपर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करते हैं। जिसको जहाँ जिस रूपमें निमित्त बनना है उस समय उसकी वहाँ उपस्थिति हो ही जायगी। इस नियतिवादसे पदार्थोंके स्वभाव और परिणमनका आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षणका अनन्तकाल तकका कार्यक्रम बना दिया गया है, जिसपर चलनेको हर पदार्थ बाध्य है। किसीको कुछ नया करनेका नहीं है। इस तरह नियतिवादियोंके विविध रूप विभिन्न समयोंमें हुए हैं। इन्होंने सदा पुरुषार्थको रेड़ मारी है और मनुष्यको भाग्यके चक्करमें डाला है।

किन्तु जब हम द्रव्यके स्वरूप और उसकी उपादान और निमित्तमूलक कार्यकारणव्यवस्थापर ध्यान देते हैं तो इसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। जगत्में समग्र भावसे कुछ बातें नियत हैं, जिनका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। यथा—

१. यह नियत है कि जगत्में जितने सत् हैं, उनमें कोई नया 'सत्' उत्पन्न नहीं हो सकता और न मौजूदा 'सत्' का समूल विनाश ही हो सकता है। वे सत् हैं—अनन्त चेतन, अनन्त पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालद्रव्य। इनकी संख्यामें न तो एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि ही। अनादिकालसे इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

२. प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण पुरानी पर्यायको छोड़ता है, नईको ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्वकी अनुवृत्ति रखता है। चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिवर्तनचक्रसे अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थके उत्पाद और व्ययरूप इस परिवर्तनको रोक नहीं सकता और न इतना

१. देखो, श्रीकानजीस्वामी लिखित 'वस्तुविज्ञानसार' आदि पुस्तकें।

विलक्षण परिणमन ही करा सकता है कि वह अपने सत्त्वको ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

३. कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नहीं कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर ही। वह चेतन 'तच्चेतन' ही रहेगा और वह अचेतन 'तदचेतन' ही।

४. जिस प्रकार दो या अनेक अचेतन पुद्गलपरमाणु मिलकर एक संयुक्त समान स्कन्धरूप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं उस तरह दो चेतन मिलकर संयुक्त पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते, प्रत्येक चेतनका सदा स्वतन्त्र परिणमन रहेगा।

५. प्रत्येक द्रव्यकी अपनी मूल द्रव्यशक्तियाँ और योग्यताएँ समानरूपसे सुनिश्चित हैं, उनमें हेरफेर नहीं हो सकता। कोई नई शक्ति कारणान्तरसे ऐसी नहीं आ सकती, जिसका अस्तित्व द्रव्यमें न हो। इसी तरह कोई विद्यमान शक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं हो सकती।

६. द्रव्यगत शक्तियोंके समान होनेपर भी अमुक चेतन या अचेतनमें स्थूल-पर्याय-सम्बन्धी अमुक योग्यताएँ भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती है उसका विकास हो जाता है। जैसे कि प्रत्येक पुद्गलाणुमें पुद्गलकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ रहनेपर भी मिट्टीके पुद्गल ही साक्षात् घड़ा बन सकते हैं, कंकड़ोंके पुद्गल नहीं, तन्तुके पुद्गल ही साक्षात् कपड़ा बन सकते हैं, मिट्टीके पुद्गल नहीं। यद्यपि घड़ा और कपड़ा दोनों ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तरमें परम्परासे बदलते हुए मिट्टीके पुद्गल भी कपड़ा बन सकते हैं और तन्तुके पुद्गल भी घड़ा। तात्पर्य यह कि—संसारी जीव और पुद्गलोंकी मूलतः समान शक्तियाँ होनेपर भी अमुक स्थूल पर्यायमें अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं। शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलनेपर भी तत्काल विकसित नहीं हो सकतीं।

७. यह नियत है कि—उस द्रव्यकी उस स्थूल पर्यायमें जितनी पर्याय-योग्यताएँ हैं उनमेंसे ही जिस-जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है उस-उसका विकास होता है, शेष पर्याययोग्यताएँ द्रव्यकी मूलयोग्यताओंकी तरह सद्भावमें ही रहती हैं।

८. यह भी नियत है कि—अगले क्षणमें जिस प्रकारकी सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्यका परिणमन उससे प्रभावित होगा। सामग्रीके अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं, उनके परिणमन भी इस द्रव्यसे प्रभावित होंगे। जैसे कि ऑक्सिजनके परमाणु-को यदि हॉइड्रोजनका निमित्त नहीं मिलता तो वह ऑक्सीजनके रूपमें ही परिणत रह जाता है, पर यदि हॉइड्रोजनका निमित्त मिल जाता है तो दोनोंका ही जल-

रूपसे परिवर्तन हो जाता है। तात्पर्य यह कि पुद्गल और संसारी जीवोंके परिणमन अपनी तत्कालीन सामग्रीके अनुसार परस्पर प्रभावित होते रहते हैं। किन्तु—

केवल यही अनिश्चित है कि 'अगले क्षणमें किसका क्या परिणाम होगा ? कौन-सी पर्याय विकासको प्राप्त होगी ? या किस प्रकारकी सामग्री उपस्थित होगी ?' यह तो परिस्थिति और योगायोगके ऊपर निर्भर करता है। जैसी सामग्री उपस्थित होगी उसके अनुसार परस्पर प्रभावित होकर तात्कालिक परिणमन होते जायेंगे। जैसे एक मिट्टीका पिंड है, उसमें घड़ा, सकोरा, प्याला आदि अनेक परिणमनोंके विकासका अवसर है। अब कुम्हारकी इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार अमुक पर्याय प्रकट हो जाती है। उस समय न केवल मिट्टीके पिंडका ही परिणमन होगा, किन्तु चक्र और कुम्हारकी भी उस सामग्रीके अनुसार पर्याय उत्पन्न होगी। पदार्थोंके कार्यकारणभाव नियत हैं। 'अमुक कारणसामग्रीके होनेपर अमुक कार्य उत्पन्न होता है' इस प्रकारके अनन्त कार्यकारणभाव उपादान और निमित्तकी योग्यतानुसार निश्चित हैं। उनकी शक्तिके अनुसार उनमें तारतम्य भी होता रहता है। जैसे गीले ईंधन और अग्निके संयोगसे धुआँ होता है, यह एक साधारण कार्यकारणभाव है। अब गीले ईंधन और अग्निकी जितनी शक्ति होगी उसके अनुसार उसमें प्रचुरता या न्यूनता—कमीबेशी हो सकती है। कोई मनुष्य बैठा हुआ है, उसके मनमें कोई-न-कोई विचार प्रतिक्षण आना ही चाहिये। अब यदि वह सिनेमा देखने चला जाता है तो तदनुसार उसका मानस प्रवृत्त होगा और यदि साधुके सत्संगमें बैठ जाता है तो दूसरे ही भव्य भाव उसके मनमें उत्पन्न होंगे। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परिणमन अपनी तत्कालीन उपादान-योग्यता और सामग्रीके अनुसार विकसित होते हैं। यह समझना कि 'सबका भविष्य सुनिश्चित है और उस सुनिश्चित अनन्तकालीन कार्यक्रमपर सारा जगत् चल रहा है' महान् भ्रम है। इस प्रकारका नियतिवाद न केवल कर्त्तव्यभ्रष्ट ही करता है अपितु पुरुषके अनन्त बल, वीर्य, पराक्रम, उत्थान और पौरुषको ही समाप्त कर देता है। जब जगत्के प्रत्येक पदार्थका अनन्तकालीन कार्यक्रम निश्चित है और सब अपनी नियतिकी पटरीपर ढँड़कते जा रहे हैं, तब शास्त्रोपदेश, शिक्षा, दीक्षा और उन्नतिके उपदेश तथा प्रेरणाएँ बेकार हैं। इस नियतिवादमें क्या सदाचार और क्या दुराचार ? स्त्री और पुरुषका उस समय वैसा संयोग होना ही था। जिसने जिसकी हत्या की उसका उसके हाथसे वैसा होना ही था। जिसे हत्याके अपराधमें पकड़ा जाता है, वह भी जब नियतिके परवश था तब उसका स्वातंत्र्य कहाँ है, जिससे उसे हत्याका कर्त्ता कहा जाय ? यदि वह यह चाहता कि 'मैं हत्या न करूँ और न कर सकता' तो ही

उसकी स्वतन्त्रता कही जा सकती है, पर उसके चाहने-न-चाहनेका प्रश्न ही नहीं है।

आ० कुन्दकुन्दका अकर्तृत्ववाद :

आचार्य कुन्दकुन्दने 'समयसार'में[1] लिखा है कि 'कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई गुणोत्पाद नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कुछ नया उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावके अनुसार उत्पन्न रहते हैं।' इस स्वभावका वर्णन करनेवाली गाथाको कुछ विद्वान् नियतिवादके समर्थनमें लगाते हैं। पर इस गाथामें सीधी बात तो यही बताई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया गुण नहीं ला सकता, जो आयगा वह उपादान योग्यताके अनुसार ही आयगा। कोई भी निमित्त उपादानद्रव्यमें असद्भूत शक्तिका उत्पादक नहीं हो सकता, वह तो केवल सद्भूत शक्तिका संस्कारक या विकासक है। इसीलिए गाथाके द्वितीयार्धमें स्पष्ट लिखा है कि 'प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावके अनुसार उत्पन्न होते हैं।' प्रत्येक द्रव्यमें तत्कालमें भी विकसित होनेवाले अनेक स्वभाव और शक्तियाँ हैं। उनमेंसे अमुक स्वभावका प्रकट होना या परिणमन होना तत्कालीन सामग्रीके ऊपर निर्भर करता है। भविष्य अनिश्चित है। कुछ स्थूल कार्यकारणभाव बनाये जा सकते हैं, पर कारणका अवश्य ही कार्य उत्पन्न करना सामग्रीकी समग्रता और अविकलतापर निर्भर है।[2] "नावश्यकारणानि कार्यवन्ति भवन्ति"—कारण अवश्य ही कार्यवाले हों, यह नियम नहीं है। पर वे कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करेंगे, जिसकी समग्रता और निर्बाधताकी गारन्टी हो।

आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ प्रत्येक पदार्थके स्वभावानुसार परिणमनकी चर्चा की है वहाँ द्रव्योंके परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावको भी स्वीकार किया है। यह पराकर्तृत्व निमित्तके अहंकारकी निवृत्तिके लिये है। कोई निमित्त इतना अहंकारी न हो जाय कि वह समझ बैठे कि मैंने इस द्रव्यका सब कुछ कर दिया है। वस्तुतः नया कुछ हुआ नहीं, जो उसमें था, उसका ही एक अंश प्रकट हुआ है। जीव और कर्मपुद्गलके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावकी चर्चा करते हुए आ० कुन्दकुन्दने स्वयं लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥

---

१. देखो, गाथा पृ० ८२ पर।
२, न्यायवि० टीका २।४६।

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तं तु कत्ता आदा सएण भावेण ॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥"
—समयसार गा० ८६–८८ ।

अर्थात् जीवके भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंकी कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गलकर्मोंके निमित्तसे जीव रागादिरूपसे परिणमन करता है। इतना विशेष है कि जीव उपादान बनकर पुद्गलके गुणरूपसे परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपसे परिणत हो सकता है। केवल परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अनुसार दोनोंका परिणमन होता है। अतः आत्मा उपादानदृष्टिसे अपने भावोंका कर्ता है, वह पुद्गलकर्मके ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथनका फलितार्थ यह है कि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी हर द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका ही कर्त्ता हो सकता है। अध्यात्ममें कर्तृत्व-व्यवहार उपादानमूलक है। अध्यात्म और व्यवहारका यह मूलभूत अन्तर है कि अध्यात्मक्षेत्रमें पदार्थोंके मूल स्वरूप और शक्तियोंका विचार होता है तथा उसीके आधारसे निरूपण होता है जब कि व्यवहारमें परनिमित्तकी प्रधानतासे कथन किया जाता है। 'कुम्हारने घड़ा बनाया' यह व्यवहार निमित्तमूलक है क्योंकि 'घड़ा' पर्याय कुम्हारकी नहीं है किन्तु उन परमाणुओंकी है जो घड़ेके रूपमें परिणत हुए हैं। कुम्हारने घड़ा बनाते समय भी अपने योग—हलनचलन और उपयोगरूपसे ही परिणति की है। उसका सन्निधान पाकर मिट्टीके परमाणुओंने घट पर्यायरूपसे परिणति कर ली है। इस तरह हर द्रव्य अपने परिणमनका स्वयं उपादानमूलक कर्त्ता है। आ० कुन्दकुन्दने इस तरह निमित्तमूलक कर्त्तृत्वव्यवहारको अध्यात्मक्षेत्रमें नहीं माना है। पर स्वकर्त्तृत्व तो उन्हें हर तरह इष्ट है ही, और उसीका समर्थन और विवेचन उनने विशद रीतिसे किया है। परन्तु इस नियतिवादमें तो स्वकर्तृत्व ही नहीं है। हर द्रव्यकी प्रतिक्षणकी अनन्त भविष्यत्कालीन पर्यायें क्रम-क्रमसे सुनिश्चित हैं। वह उनकी धाराको नहीं बदल सकता। वह केवल नियतिपिशाचिनीका क्रीड़ास्थल है और उसीके यन्त्रसे अनन्तकाल तक परिचालित रहेगा। अगले क्षणको वह असत्से सत् या तमसे प्रकाशकी ओर ले जानेमें अपने उत्थान, बल, वीर्य, पराक्रम या पौरुषका कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता। जब वह अपने भावोंको ही नहीं बदल सकता, तब स्वकर्तृत्व कहाँ रहा? तथ्य यह है कि भविष्यके प्रत्येक क्षणका अमुक रूप होना *अनिश्चित है। मात्र इतना निश्चित है कि* कुछ-न-कुछ होगा

अवश्य। द्रव्यशब्द स्वयं 'भव्य' होने योग्य, योग्यता और शक्तिका वाचक है। द्रव्य उस पिघले हुए मोमके समान है, जिसे किसी-न-किसी साँचेमें ढलना है। यह निश्चित नहीं है कि वह किस साँचेमें ढलेगा। जो आत्माएँ अबुद्ध और पुरुषार्थहीन हैं उनके सम्बन्धमें कदाचित् भविष्यवाणी की भी जा सकती हो कि अगले क्षणमें इनका यह परिणमन होगा। पर सामग्रीकी पूर्णता और प्रकृतिपर विजय करनेको दृढ़प्रतिज्ञ आत्माके सम्बन्धमें कोई भविष्य कहना असंभव है। कारण कि भविष्य स्वयं अनिश्चित है। वह जैसा चाहे वैसा एक सीमा तक बनाया जा सकता है। प्रतिसमय विकसित होनेके लिये सैकड़ों योग्यतायें हैं। जिनकी सामग्री जब जिस रूपमें मिल जाती है या मिलाई जाती हैं वे योग्यताएँ कार्य-रूपमें परिणत हो जाती हैं। यद्यपि आत्माकी संसारी अवस्थामें नितान्त परतन्त्र स्थिति है और वह एक प्रकारसे यन्त्रारूढकी तरह परिणमन करता जाता है। फिर भी उस द्रव्यकी निज सामर्थ्य यह है कि वह रुके और सोचे, तथा अपने मार्गको स्वयं मोड़कर उसे नई दिशा दे।

अतीत कार्यके बलपर आप नियतिको जितना चाहे कुदाइए, पर भविष्यके सम्बन्धमें उसकी सीमा है। कोई भयंकर अनिष्ट यदि हो जाता है तो सन्तोषके लिये 'जो होना था सो हुआ' इस प्रकार नियतिकी संजीवनी उचित कार्य करती भी है। जो कार्य जब हो चुका उसे नियत कहनेमें कोई शाब्दिक और आर्थिक विरोध नहीं है। किन्तु भविष्यके लिये नियत (done) कहना अर्थविरुद्ध तो है ही, शब्दविरुद्ध भी है। भविष्य (to be) तो नियंस्यत् या नियंस्यमान (will be done) होगा न कि नियत (done)। अतीतको नियत (done) कहिये, वर्तमानको नियम्यमान (being) और भविष्यको नियंस्यत् (will be done)।

अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका भावनीय अर्थ यह है कि निमित्तभूत व्यक्तिको अनुचित अहंकार उत्पन्न न हो। एक अध्यापक कक्षामें अनेक छात्रोंको पढ़ाता है। अध्यापकके शब्द सब छात्रोंके कानमें टकराते हैं, पर विकास एक छात्रका प्रथम श्रेणीका, दूसरेका द्वितीय श्रेणीका तथा तीसरेका तृतीय श्रेणीका होता है। अतः अध्यापक यदि निमित्त होनेके कारण यह अहंकार करे कि मैंने इस लड़केमें ज्ञान उत्पन्न कर दिया, तो वह एक अंशमें व्यर्थ ही है; क्योंकि यदि अध्यापकके शब्दोंमें ज्ञानके उत्पन्न करनेकी क्षमता थी, तो सबमें एक-सा ज्ञान क्यों नहीं हुआ? और शब्द तो दिवालोंमें भी टकराये होंगे, उनमें ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? अतः गुरुको 'कर्तृत्व' का दुरहंकार उत्पन्न न होनेके लिए

उस अकर्तृत्व भावनाका उपयोग है। इस अकर्तृत्वकी सीमा पराकर्तृत्व है; स्वाकर्तृत्व नहीं। पर नियतिवाद तो स्वकर्तृत्वको ही समाप्त कर देता है; क्योंकि इसमें सब कुछ नियत है।

पुण्य और पाप क्या ? :

जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नहीं है तब क्या पुण्य और क्या पाप ? क्या सदाचार और क्या दुराचार ? जब प्रत्येक घटना पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार घट रही है तब किसीको क्या दोष दिया जाय ? किसी स्त्रीका शील भ्रष्ट हुआ। इसमें जो स्त्री, पुरुष और शय्या आदि द्रव्य संबद्ध हैं, जब सबकी पर्यायें नियत हैं तब पुरुषको क्यों पकड़ा जाय ? स्त्रीका परिणमन वैसा होना था, पुरुषका वैसा और बिस्तरका भी वैसा। जब सबके नियत परिणमनोंका नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था, तब किसीको दुराचारी या गुण्डा क्यों कहा जाय ? यदि प्रत्येक द्रव्यका भविष्यके प्रत्येक क्षणका अनन्तकालीन कार्यक्रम नियत है, भले ही वह हमें मालूम न हो, तब इस नितान्त परतन्त्र स्थितिमें व्यक्तिका स्वपुरुषार्थ कहाँ रहा ?

गोडसे हत्यारा क्यों ? :

नाथूराम गोडसेने महात्माजीको गोली मारी तो क्यों नाथूरामको हत्यारा कहा जाय ? नाथूरामका उस समय वैसा ही परिणमन होना था, महात्माजीका वैसा ही होना था और गोली और पिस्तौलका भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या नामक घटना नाथूराम, महात्माजी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थोंके नियत कार्यक्रमका परिणाम है। इस घटनासे सम्बद्ध सभी पदार्थोंके परिणमन नियत थे, सब परवश थे। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजीके प्राणवियोगमें निमित्त होनेसे हत्यारा है; तो महात्माजी नाथूरामके गोली चलानेमें निमित्त होनेसे अपराधी क्यों नहीं ? यदि नियतिदास नाथूराम दोषी है तो नियति-परवश महात्माजी क्यों नहीं। हम तो यह कहते हैं कि पिस्तौलसे गोली निकलनी थी और गोलीको छातीमें छिदना था, इसलिए नाथूराम और महात्माजीकी उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौलके उस अवश्यंभावी परिणमनका एक निमित्त था, जिसे नियतिचक्रके कारण वहाँ पहुँचना पड़ा। जिन पदार्थोंकी नियतिका परिणाम हत्या नामकी घटना है, वे सब पदार्थ समानरूपसे नियतियन्त्रसे नियन्त्रित हो जब उसमें जुटे हैं, तब उनमेंसे क्यों मात्र नाथूरामको पकड़ा जाता है ? इतना ही नहीं, हम सबको उस दिन ऐसी खबर सुननी

थी और श्री आत्माचरणको जज बनना था, इसलिये यह सब हुआ। अतः हम सब और आत्माचरण भी उस घटनाके नियत निमित्त हैं। अतः इस नियतिवादमें न कोई पुण्य है, न पाप, न सदाचार और न दुराचार। जब कर्तृत्व ही नहीं, तब क्या सदाचार और क्या दुराचार? गोडसेको नियतिवादके नामपर ही अपना बचाव करना चाहिये था और जजको ही पकड़ना चाहिये था कि 'चूँकि तुम्हें हमारे मुकद्दमेका जज बनना था, इसलिये यह सब नियतिचक्र घूमा और हम सब उसमें फँसे।' और यदि सबको बचाना है, तो पिस्तौलके भविष्य पर सब दोष थोपा जा सकता है कि 'न पिस्तौलका उस समय वैसा परिणमन होना होता, तो न वह गोडसेके हाथमें आती और न गाँधीजीकी छाती छिदती। सारा दोष पिस्तौलके नियत परिणमनका है।' तात्पर्य यह कि इस नियतिवादमें सब माफ है, व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन-उन पदार्थोंके नियत परिणाम हैं, इसमें व्यक्तिविशेषका कोई दोष नहीं।

एक ही प्रश्न : एक ही उत्तर :

इस नियतिवादमें एक ही प्रश्न है और एक ही उत्तर। 'ऐसा क्यों हुआ', 'ऐसा होना ही था' इस प्रकारका एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर है। शिक्षा, दीक्षा, संस्कार, प्रयत्न और पुरुषार्थ, सबका उत्तर भवितव्यता। न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। अग्निसे धुआ क्यों हुआ? ऐसा होना ही था। फिर गीला ईंधन न रहने पर धुँआ क्यों नहीं हुआ? ऐसा ही होना था। जगत्‌में पदार्थोंके संयोग-वियोगसे विज्ञानसम्मत अनन्त कार्यकारणभाव हैं। अपनी उपादान-योग्यता और निमित्त-सामग्रीके संतुलनमें परस्पर प्रभावित, अप्रभावित या अर्धप्रभावित कार्य उत्पन्न होते हैं। वे एक दूसरेके परिणमनके निमित्त भी बनते हैं। जैसे एक घड़ा उत्पन्नहो रहा है। इसमें मिट्टी, कुम्हार, चक्र, चीवर आदि अनेक द्रव्य कारणसामग्रीमें सम्मिलित हैं। उस समय न केवल घड़ा ही उत्पन्न हुआ है किन्तु कुम्हारकी भी कोई पर्याय, चक्रकी अमुक पर्याय और चीवरकी भी अमुक पर्याय उत्पन्न हुई है। अतः उस समय उत्पन्न होनेवाली अनेक पर्यायोंमें अपने-अपने द्रव्य उपादान हैं और बाकी एक दूसरेके प्रति निमित्त हैं। इसी तरह जगत्‌में जो अनन्त कार्य उत्पन्न हो रहे उनमें तत्तत् द्रव्य, जो परिणमन करते हैं, उपादान बनते हैं और शेष निमित्त होते हैं—कोई साक्षात् और कोई परम्परासे, कोई प्रेरक और कोई अप्रेरक, कोई प्रभावक और कोई अप्रभावक। यह तो योगायोगकी बात है। जिस प्रकारकी बाह्य और आभ्यन्तर कारणसामग्री जुट जाती है वैसा ही कार्य हो जाता है। आ० समन्तभद्रने लिखा है—

"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।"

—बृहत्स्व० श्लो० ६० ।

अर्थात् कार्योत्पत्तिके लिए बाह्य और आभ्यन्तर—निमित्त और उपादान दोनों कारणोंकी समग्रता—पूर्णता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है ।

ऐसी स्थितिमें नियतिवादका आश्रय लेकर भविष्यके सम्बन्धमें कोई निश्चित बात कहना अनुभवसिद्ध कार्यकारणभावकी व्यवस्थाके सर्वथा विपरीत है । यह ठीक है कि नियत कारणसे नियत कार्यकी उत्पत्ति होती है और इस प्रकारके नियतत्वमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । पर इस कार्यकारणभावकी प्रधानता स्वीकार करनेपर नियतिवाद अपने नियतरूपमें नहीं रह सकता ।

कारण हेतु :

जैनदर्शनमें कारणको भी हेतु मानकर उसके द्वारा अविनाभावी कार्यका ज्ञान कराया जाता है । अर्थात् कारणको देखकर कार्यकारणभावकी नियतताके बलपर उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यका भी ज्ञान करना अनुमान-प्रणालीमें स्वीकृत है । हाँ, उसके साथ दो शर्तें लगी हैं—'यदि कारण-सामग्रीकी पूर्णता हो और कोई प्रतिबन्धक कारण न आवें, तो अवश्य ही कारण कार्यको उत्पन्न करेगा ।' यदि समस्त पदार्थोंका सब कुछ नियत हो तो किसी नियत कारणसे नियत कार्यकी उत्पत्तिका उदाहरण भी दिया जा सकता था; पर सामान्यतया कारणसामग्रीकी पूर्णता और अप्रतिबन्धका भरोसा इसलिए नहीं दिया जा सकता कि भविष्य सुनिश्चित नहीं है । इसीलिये इस बातकी सतर्कता रखी जाती है कि कारण-सामग्रीमें कोई बाधा उत्पन्न न हो । आजके यन्त्रयुगमें यद्यपि बड़े-बड़े यन्त्र अपने निश्चित उत्पादनके आँकड़ोंका खाना पूरा कर देते हैं पर उनके कार्यकालमें बड़ी सावधानी और सतर्कता बरती जाती है । फिर भी कभी-कभी गड़बड़ हो जाती है । बाधा आनेकी और सामग्रीकी न्यूनताकी सम्भावना जब है तब निश्चित कारणसे निश्चित कार्यकी उत्पत्ति संदिग्धकोटिमें जा पहुँचती है । तात्पर्य यह कि पुरुषका प्रयत्न एक हदतक भविष्यकी रेखाको बाँधता भी है, तो भी भविष्य अनुमानित और सम्भावित ही रहता है ।

नियति एक भावना है :

इस नियतिवादका उपयोग किसी घटनाके घट जानेपर साँस लेनेके लिये और मनको समझानेके लिए तथा आगे फिर कमर कसकर तैयार हो जानेके लिए किया जा सकता है और लोग करते भी हैं, पर इतने मात्रसे उसके आधारसे वस्तु-व्यवस्था नहीं की जा सकती । वस्तुव्यवस्था तो वस्तुके वास्तविक स्वरूप और

परिणमनपर ही निर्भर करती है। भावनाएँ चित्तके समाधानके लिये भायी जाती हैं और उनसे वह उद्देश्य सिद्ध हो भी जाता है; पर तत्त्वव्यवस्थाके क्षेत्रमें भावनाका उपयोग नहीं है। वहाँ तो वैज्ञानिक विश्लेषण और तन्मूलक कार्य-कारणभावकी परम्पराका ही कार्य है उसीके बलपर पदार्थके वास्तविक स्वरूपका निर्णय किया जा सकता है।

कर्मवाद :

जगत्के प्रत्येक कार्यमें कर्म कारण हैं। ईश्वर भी कर्मके अनुसार ही फल देता है। बिना कर्मके पत्ता भी नहीं हिलता। यह कर्मवाद है, जो ईश्वरके ऊपर आनेवाले विषमताके दोषको अपने ऊपर ले लेता है और निरीश्वरवादियोंका ईश्वर बन बैठा है। प्राणीकी प्रत्येक क्रिया कर्मसे होती है। जैसा जिसने कर्म बाँधा है उसके विपाकके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति स्वयं होती जाती है। पुराना कर्म पकता है और उसीके अनुसार नया बँधता जाता है। यह कर्मका चक्कर अनादिसे है। वैशेषिकके[१] मतसे कर्म अर्थात् अदृष्ट जगत्के प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका कारण होता है। बिना अदृष्टके परमाणु भी नहीं हिलता। अग्निका जलना, वायुका चलना, अणु तथा मनकी क्रिया सभी कुछ उपभोक्ताओंके अदृष्टसे होते हैं। एक कपड़ा, जो अमेरिकामें बन रहा है, उसके परमाणुओंमें क्रिया भी उस कपड़ेके पहिननेवालेके अदृष्टसे ही हुई है। कर्मवासना, संस्कार और अदृष्ट आदि आत्मामें पड़े हुए संस्कारको ही कहते हैं। हमारे मन, वचन और कायकी प्रत्येक क्रिया आत्मापर एक संस्कार छोड़ती है जो दीर्घकाल तक बना रहता है और अपने परिपाक कालमें फल देता है। जब वह आत्मा समस्त संस्कारों-से रहित हो वासनाशून्य हो जाता है तब वह मुक्त कहलाता है। एक बार मुक्त हो जानेके बाद पुनः कर्मसंस्कार आत्मापर नहीं पड़ते।

इस कर्मवादका मूल प्रयोजन है जगत्की दृश्यमान विषमताकी समस्याको सुलझाना। जगत्की विचित्रताका समाधान कर्मके माने बिना हो नहीं सकता। आत्मा अपने पूर्वकृत या इहकृत कर्मोंके अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थितियोंका निर्माण करता है, जिसका असर बाह्यसामग्रीपर भी पड़ता है। उसके अनुसार उसका परिणमन होता है। यह एक विचित्र बात है कि पाँच वर्ष पहलेके बने खिलौनोंमें अभी उत्पन्न भी नहीं हुए बच्चेका अदृष्ट कारण हो। यह तो कदाचित् समझमें भी आ जाय, कि कुम्हार घड़ा बनाता है और उसे बेचकर वह अपनी आजीविका चलाता है, अतः उसके निर्माणमें कुम्हारका अदृष्ट कारण भी हो, पर उस व्यक्तिके अदृष्टको घड़ेकी उत्पत्तिमें कारण मानना, जो उसे खरीदकर उपयोग-

में लायगा, न तो युक्तिसिद्ध ही है और न अनुभवगम्य ही। फिर जगत्में प्रतिक्षण अनन्त ही कार्य ऐसे उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं, जो किसीके उपयोगमें नहीं आते। पर भौतिक सामग्रीके आधारसे वे बराबर परस्पर परिणत होते जाते हैं।

कार्यमात्रके प्रति अदृष्टको कारण माननेके पीछे यह ईश्वरवाद छिपा हुआ है कि जगत्के प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रिया ईश्वरकी प्रेरणासे होती है, बिना उसकी इच्छाके पत्ता भी नहीं हिलता। और संसारकी विषमता और निर्दयतापूर्ण परिस्थितियोंके समाधानके लिए प्राणियोंके अदृष्टकी आड़ लेना, जब आवश्यक हो गया तब 'अर्थात्' ही अदृष्टको जन्यमात्रकी कारणकोटिमें स्थान मिल गया; क्योंकि कोई भी कार्य किसी-न-किसीके साक्षात् या परम्परासे उपयोगमें आता ही है और विषमता और निर्दयतापूर्ण स्थितिका घटक होता ही है। जगत्में परमाणुओंके परस्पर संयोग-विभागसे बड़े-बड़े पहाड़, नदी, नाले, जंगल और विभिन्न प्राकृतिक दृश्य बने हैं। उनमें भी अदृष्टको और उसके अधिष्ठाता किसी चेतनको कारण मानना वस्तुतः अदृष्टकल्पना ही है। 'दृष्टकारणवैफल्ये अदृष्टपरिकल्पनोपपत्तेः—जब दृष्टकारणकी संगति न बैठे तो अदृष्ट हेतुकी कल्पना की जाती है', यह दर्शनशास्त्रका न्याय है। दो मनुष्य समान परिस्थितियोंमें उद्यम और यत्न करते हैं पर एककी कार्यकी सिद्धि देखी जाती है और दूसरेको सिद्धि तो दूर रही, उलटा नुकसान होता है, ऐसी दशामें 'कारणसामग्री'की कमी या विपरीततांकी खोज न करके किसी अदृष्टको कारण मानना दर्शनशास्त्रको युक्तिके क्षेत्रसे बाहर कर मात्र कल्पनालोकमें पहुँचा देना है। कोई भी कार्य अपनी कारणसामग्रीकी पूर्णता और प्रतिबन्धकी शून्यतापर निर्भर करता है। वह कारणसामग्री जिस प्रकारकी सिद्धि या असिद्धिके लिये अनुकूल बैठती है वैसा कार्य अवश्य ही उत्पन्न होता है। जगत्के विभिन्न कार्यकारणभाव सुनिश्चित हैं। द्रव्योंमें प्रतिक्षण अपनी पर्याय बदलनेकी योग्यता स्वयं है। उपादान और निमित्त उभयसामग्री जिस प्रकारकी पर्यायके लिये अनुकूल होती है वैसी ही पर्याय उत्पन्न हो जाती है। 'कर्म या अदृष्ट जगत्में उत्पन्न होनेवाले यावत् कार्योंके कारण होते हैं' इस कल्पनाके कारण ही अदृष्टका पदार्थोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए आत्माको व्यापक मानना पड़ा।

कर्म क्या है?

फिर कर्म क्या है? और उसका आत्माके साथ सम्बन्ध कैसे होता है? उसके परिपाककी क्या सीमा है? इत्यादि प्रश्न हमारे सामने हैं? वर्तमानमें आत्माकी

स्थिति अर्धभौतिक जैसी हो रही है[1]। उसका ज्ञानविकास, क्रोधादिविकार, इच्छा और संकल्प आदि सभी, बहुत कुछ शरीर, मस्तिष्क और हृदयकी गतिपर निर्भर करते हैं। मस्तिष्ककी एक कील ढीली हुई कि सारी स्मरण-शक्ति समाप्त हो जाती है और मनुष्य पागल और बेभान हो जाता है। शरीरके प्रकृतिस्थ रहनेसे ही आत्माके गुणोंका विकास और उनका अपनी उपयुक्त अवस्थामें संचालित रहना बनता है। बिना इन्द्रिय आदि उपकरणोंके आत्माकी ज्ञानशक्ति प्रकट ही नहीं हो पाती। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, विचार, कला, सौन्दर्याभिव्यक्ति और संगीत आदि सम्बन्धी प्रतिभाओंका विकास भीतरी और बाहरी दोनों उपकरणोंकी अपेक्षा रखता है।

आत्माके साथ अनादिकालसे कर्मपुद्गल (कार्मण शरीर) का सम्बन्ध है, जिसके कारण वह अपने पूर्ण चैतन्यरूपमें प्रकाशमान नहीं हो पाता। यह शंका स्वाभाविक है कि 'क्यों चेतनके साथ अचेतनका संपर्क हुआ ? दो विरोधी द्रव्योंका सम्बन्ध हुआ ही क्यों ? हो भी गया हो तो एक द्रव्य दूसरे विजातीय द्रव्यपर प्रभाव क्यों डालता है ?' इसका उत्तर इस छोर से नहीं दिया जा सकता, किन्तु दूसरे छोरसे दिया जा सकता है—आत्मा अपने पुरुषार्थ और साधनाओंसे क्रमशः वासनाओं और वासनासे उद्बोधक कर्मपुद्गलोंसे मुक्ति पा जाता है और एक बार शुद्ध (मुक्त) होनेके बाद उसे पुनः कर्मबन्धन नहीं होता, अतः हम समझते हैं कि दोनों पृथक् द्रव्य हैं। एक बार इस कार्मणशरीरसे संयुक्त आत्माका चक्र चला तो फिर कार्यकारणव्यवस्था जमती जाती है। आत्मा एक संकोच-विकासशील—सिकुड़ने और फैलनेवाला द्रव्य है जो अपने संस्कारोंके परिपाकानुसार छोटे-बड़े स्थूल शरीरके आकार हो जाता है। देहात्मवाद (जड़वाद) की बजाय देहप्रमाण आत्मा माननेसे सब समस्याएँ हल हो जाती हैं।

---

१. 'नवनीत' जनवरी ५३ के अंकमें 'साइंसवीकली' से एक 'ट्रुथड्रग' का वर्णन दिया है। जिसका इंजेक्शन देनेसे मनुष्य साधारणतया सत्य बात बता देता है। 'नवनीत' नवम्बर ५२ में बताया है कि 'सोडियम पेंटोथल' का इंजेक्शन देने पर भयंकर अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। इन इंजेक्शनोंके प्रभावसे मनुष्यकी उन ग्रन्थियोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है जिनके कारण उसकी झूठ बोलनेकी प्रवृत्ति होती है।

अगस्त ५२ के 'नवनीत' में साइन्स डाइजेस्टके एक लेखका उद्धरण है, जिसमें 'क्रोमोसोम' में तबदीली कर देनेसे १२ पौंड वजनका खरगोश उत्पन्न किया गया है। हृदय और आँखें बदलनेके भी प्रयोग विज्ञानने कर दिखाये हैं।

आत्मा देहप्रमाण भी अपने कर्मसंस्कारके कारण ही होता है। कर्मसंस्कार छूट जानेके बाद उसके प्रसारका कोई कारण नहीं रह जाता; अतः वह अपने अन्तिम शरीरके आकार बना रहता है, न सिकुड़ता है और न फैलता है। ऐसे संकोचविकासशील शरीरप्रमाण रहनेवाले, अनादि कार्मण शरीरसे संयुक्त, अर्ध-भौतिक आत्माकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक विचार और वचनव्यवहार अपना एक संस्कार तो आत्मा और उसके अनादिसाथी कार्मण शरीरपर डालते हैं। संस्कार तो आत्मापर पड़ता है, पर उस संस्कारका प्रतिनिधि द्रव्य उस कार्मणशरीरसे बँध जाता है जिसके परिपाकानुसार आत्मामें वही भाव और विचार जाग्रत होते हैं और उसीका असर बाह्य सामग्रीपर भी पड़ता है, जो हित और अहितमें साधक बन जाती है। जैसे कोई छात्र किसी दूसरे छात्रकी पुस्तक चुराता है या उसकी लालटेन इस अभिप्रायसे नष्ट करता है कि 'वह पढ़ने न पावे' तो वह इस ज्ञान-विरोधक क्रिया तथा विचारसे अपनी आत्मामें एक प्रकारका विशिष्ट कुसंस्कार डालता है। उसी समय इस संस्कारका मूर्त्तरूप पुद्गलद्रव्य आत्माके चिरसंगी कार्मणशरीरसे बँध जाता है। जब उस संस्कारका परिपाक होता है तो उस बँधे हुए कर्मद्रव्यके उदयसे आत्मा स्वयं उस हीन और अज्ञान अवस्थामें पहुँच जाता है जिससे उसका झुकाव ज्ञानविकासकी ओर नहीं हो पाता। वह लाख प्रयत्न करें, पर अपने उस कुसंस्कारके फलस्वरूप ज्ञानसे वंचित हो ही जाता है। यही कहलाता है 'जैसी करनी तैसी भरनी।' वे विचार और क्रिया न केवल आत्मापर ही असर डालते हैं किन्तु आसपासके वातावरणपर भी अपना तीव्र, मन्द और मध्यम असर छोड़ते हैं। शरीर, मस्तिष्क और हृदयपर तो उसका असर निराला ही होता है। इस तरह प्रतिक्षणवर्ती विचार और क्रियाएँ यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मके परिपाकसे उत्पन्न हुई हैं पर उनके उत्पन्न होते ही जो आत्माकी नयी आसक्ति, अनासक्ति, राग, द्वेष और तृष्णा आदि रूप परिणति होती है ठीक उसीके अनुसार नये-नये संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल सम्बन्धित होते जाते हैं और पुराने झड़ते जाते हैं। इस तरह यह कर्मबन्धनका सिलसिला तब तक बराबर चालू रहता है जब तक आत्मा सभी पुरानी वासनाओंसे शून्य होकर पूर्ण वीतराग या सिद्ध नहीं हो जाता।

कर्मविपाक :

विचारणीय बात यह है कि कर्मपुद्गलोंका विपाक कैसे होता है? क्या कर्मपुद्गल स्वयमेव किसी सामग्रीको जुटा लेते हैं और अपने आप फल दे देते हैं या इसमें कुछ पुरुषार्थ की भी अपेक्षा है? अपने विचार, वचनव्यवहार और क्रियाएँ

अन्ततः संस्कार तो आत्मामें ही उत्पन्न करती हैं और उन संस्कारोंको प्रबोध देनेवाले पुद्गलद्रव्य कार्मणशरीरसे बँधते हैं। ये पुद्गल शरीरके बाहरसे भी खिंचते हैं और शरीरके भीतरसे भी। उम्मीदवार कर्मयोग्य पुद्गलोंमेंसे कर्म बन जाते हैं। कर्मके लिए एक विशेष प्रकारके सूक्ष्म और असरकारक पुद्गलद्रव्योंकी अपेक्षा होती है। मन, वचन और कायकी प्रत्येक क्रिया, जिसे योग कहते हैं, परमाणुओंमें हलन-चलन उत्पन्न करती है और उसके योग्य परमाणुओंको बाहर भीतरसे खींचती जाती है। यों तो शरीर स्वयं एक महान् पुद्गल पिंड है। इसमें असंख्य परमाणु श्वासोच्छ्वास तथा अन्य प्रकारसे शरीरमें आते-जाते रहते हैं। इन्हींमेंसे छटकर कर्म बनते जाते हैं।

जब कर्मके परिपाकका समय आता है, जिसे उदयकाल कहते हैं, तब उसके उदयकालमें जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी सामग्री उपस्थित होती है वैसा उसका तीव्र, मध्यम और मन्द फल होता है। नरक और स्वर्गमें औसतन असाता और साताकी सामग्री निश्चित है। अतः वहाँ क्रमशः असाता और साताका उदय अपना फलोदय करता है और साता और असाता प्रदेशोदयके रूपमें अर्थात् फल देनेवाली सामग्रीकी उपस्थिति न होनेसे बिना फल दिये ही झड़ जाते हैं। जीवमें साता और असाता दोनों बँधी हैं, किन्तु किसीने अपने पुरुषार्थसे साताकी प्रचुर सामग्री उपस्थित की है तथा अपने चित्तको सुसमाहित किया है तो उसको आनेवाला असाताका उदय फलविपाकी न होकर प्रदेशविपाकी ही होगा। स्वर्गमें असाताके उदयकी बाह्य सामग्री न होनेसे असाताका प्रदेशोदय या उसका साता-रूपमें परिणमन होना माना जाता है। इसी तरह नरकमें केवल असाताकी सामग्री होनेसे वहाँ साताका या तो प्रदेशोदय ही होगा या उसका असातारूपसे परिणमन हो जायगा।

जगत्के समस्त पदार्थ अपने-अपने उपादान और निमित्तके सुनिश्चित कार्य-कारणभावके अनुसार उत्पन्न होते हैं और सामग्रीके अनुसार जुटते और बिखरते हैं। अनेक सामाजिक और राजनैतिक मर्यादाएँ साता और असाताके साधनोंकी व्यवस्थाएँ बनाती हैं। पहले व्यक्तिगत संपत्ति और साम्राज्यका युग था तो उसमें उच्चतम पद पानेमें पुराने साताके संस्कार कारण होते थे, तो अब प्रजातंत्रके युगमें जो भी उच्चतम पद हैं, उन्हें पानेमें संस्कार सहायक होंगे।

जगत्के प्रत्येक कार्यमें किसी-न-किसीके अदृष्टको निमित्त मानना न तर्कसिद्ध है और न अनुभवगम्य ही। इस तरह यदि परम्परासे कारणों की गिनती की जाय तो कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। कल्पना कीजिए—आज कोई व्यक्ति नरकमें

पड़ा हुआ असाताके उदयमें दुःख भोग रहा है और एक दरी किसी कारखानेमें बन रही है जो २० वर्ष बाद उसके उपयोगमें आयगी और साता उत्पन्न करेगी तो आज उस दरीमें उस नरकस्थित प्राणीके अदृष्टको कारण माननेमें बड़ी विसंगति उत्पन्न होती है। अतः समस्त जगत्के पदार्थ अपने-अपने साक्षात् उपादान और निमित्तोंसे उत्पन्न होते हैं और यथासम्भव सामग्रीके अन्तर्गत होकर प्राणियोंके सुख और दुःखमें तत्काल निमित्तता पाते रहते हैं। उनकी उत्पत्तिमें किसी-न-किसीके अदृष्टको जोड़नेकी न तो आवश्यकता ही है और न उपयोगिता ही और न कार्यकारणव्यवस्थाका बल ही उसे प्राप्त है।

कर्मोंका फल देना, फलकालकी सामग्रीके ऊपर निर्भर करता है। जैसे एक व्यक्तिके असाताका उदय आता है, पर वह किसी साधुके सत्संगमें बैठा हुआ तटस्थभावसे जगत्के स्वरूपको समझकर स्वात्मानंदमें मग्न हो रहा है। उस समय आनेवाली असाताका उदय उस व्यक्तिको विचलित नहीं कर सकता, किन्तु वह बाह्य असाताकी सामग्री न होनेसे बिना फल दिये ही झड़ जायगा। कर्म अर्थात् पुराने संस्कार। वे संस्कार अबुद्ध व्यक्तिके ऊपर ही अपना कुत्सित प्रभाव डाल सकते हैं, ज्ञानीके ऊपर नहीं। यह तो बलाबलका प्रश्न है। यदि आत्मा वर्तमानमें जाग्रत है तो पुराने संस्कारोंपर विजय पा सकता है और यदि जाग्रत नहीं है तो वे कुसंस्कार ही फूलते-फलते जाँयगें। आत्मा जबसे चाहे तबसे नया कदम उठा सकता है और उसी समयसे नवनिर्माणकी धारा प्रारम्भ कर सकता है। इसमें न किसी ईश्वरकी प्रेरणाकी आवश्यकता है और न "कर्मगति टाली नाहिं टलै"के अटल नियमकी अनिवार्यता ही है।

जगत्का अणु-परमाणु ही नहीं किन्तु चेतन-आत्माएँ भी प्रतिक्षण अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावके कारण अविराम गतिसे पूर्वपर्यायको छोड़ उत्तर पर्यायको धारण करती जा रही हैं। जिस क्षण जैसी बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री जुटती जाती है उसीके अनुसार उस क्षणका परिणमन होता जाता है। हमें जो स्थूल परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी असंख्य सूक्ष्म परिणमनोंका जोड़ और औसत है। इसीमें पुराने संस्कारोंकी कारणसामग्रीके अनुसार सुगति या दुर्गति होती जाती है। इसी कारण सामग्रीके जोड़-तोड़ और तरतमतापर ही परिणमनका प्रकार निश्चित होता है। वस्तुके कभी सदृश, कभी विसदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश और असदृश आदि विविध प्रकारके परिणमन हमारी दृष्टिसे बराबर गुजरते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य अपने कार्यकारणभावको उल्लंघन करके उत्पन्न नहीं हो सकता। द्रव्यमें सैकड़ों ही योग्यताएँ विकसित

होनेको प्रतिसमय तैयार बैठी हैं, उनमेंसे उपयुक्त योग्यताका उपयुक्त समयमें विकास करा लेना, यही नियतिके बीच पुरुषार्थका कार्य है। इस पुरुषार्थसे कर्म भी एक हद तक नियन्त्रित होते हैं।

यदृच्छावाद :

यदृच्छावादका अर्थ है—अटकलपच्चू। मनुष्य जिस कार्यकारण-परम्पराका सामान्य ज्ञान भी नहीं कर पाता है उसके सम्बन्धमें वह यदृच्छाका सहारा लेता है। वस्तुतः यदृच्छावाद उस नियति और ईश्वरवादके विरुद्ध एक प्रतिशब्द है, जिनने जगत्‌को नियन्त्रित करनेका रूपक बाँधा था। यदि यदृच्छाका अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अपनी कारणसामग्रीसे होता है और सामग्रीको कोई बन्धन नहीं कि वह किस समय, किसे, कहाँ, कैसे रूपमें मिलेगी, तो यह एक प्रकारसे वैज्ञानिक कार्यकारणभावका ही समर्थन है। पर यदृच्छाके भीतर वैज्ञानिकता और कार्यकारण भाव दोनोंकी ही उपेक्षाका भाव है।

पुरुषवाद :

'पुरुष ही इस जगत्‌का कर्त्ता, हर्ता और विधाता है' यह मत सामान्यतः पुरुषवाद कहलाता है। प्रलय कालमें भी उस पुरुषकी ज्ञानादि शक्तियाँ अलुप्त रहती हैं।[१] जैसे कि मकड़ी जालेके लिए और चन्द्रकान्तमणि जलके लिए, तथा वटवृक्ष प्ररोह—जटाओंके लिए कारण होता है उसी तरह पुरुष समस्त जगत्‌के प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयमें निमित्त होता है। पुरुषवादमें दो मत सामान्यतः प्रचलित हैं। एक तो है ब्रह्मवाद, जिसमें ब्रह्म ही जगत्‌के चेतन-अचेतन, मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थोंका उपादान कारण होता है। दूसरा है ईश्वरवाद, जिसमें वह स्वयंसिद्ध जड़ और चेतन द्रव्योंके परस्पर संयोजनमें निमित्त होता है।

ब्रह्मवादमें एक ही तत्त्व कैसे विभिन्न पदार्थोंके परिणमनमें उपादान बन सकता है? यह प्रश्न विचारणीय है। आजके विज्ञानने अनन्त एटमकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करके उनके परस्पर संयोग और विभागसे इस विचित्र सृष्टिकी उत्पत्ति मानी है। यह युक्तिसिद्ध भी है और अनुभवगम्य भी। केवक माया कह देने मात्रसे अनन्त जड़ पदार्थ, तथा अनन्त चेतन—आत्माओंका पारस्परिक यथार्थ भेद—व्यक्तित्व, नष्ट नहीं किया जा सकता। जगत्‌में अनन्त आत्माएँ अपने-अपने संस्कार और वासनाओंके अनुसार विभिन्न पर्यायोंको धारण करती हैं। उनके

---

१ "ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥"
—उपनिषत्, उद्धृत प्रमेयक० पृ० ६५।

होकर विचारते हैं कि सृष्टिके पहले यहाँ कोई सत् पदार्थ नहीं था और असत्से ही सत्की उत्पत्ति हुई है। तो दूसरे ऋषि सोचते हैं कि असत्से सत् कैसे हो सकता है? अतः पहले भी सत् ही था और सत्से ही सत् हुआ है। तो तीसरे ऋषिका चिंतन सत् और असत् उभयकी ओर जाता है। चौथा ऋषि उस तत्त्वको जिससे इस जगत्का विकास हुआ है, वचनोंके अगोचर कहता है। तात्पर्य यह है कि सृष्टिकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें आज तक सहस्रों चिन्तकोंने अनेक प्रकारके विचार प्रस्तुत किये हैं।

अव्याकृतवाद :

भ० बुद्धसे 'लोक सान्त है या अनन्त, शाश्वत है या अशाश्वत, जीव और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न, मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं ?' इस प्रकारके प्रश्न जब मोलुक्यपुत्रने पूँछे तो उन्होंने इनको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया और कहा कि मैंने इन्हें अव्याकृत इसलिए कहा है कि 'उनके बारेमें कहना सार्थक नहीं है, न भिक्षुचर्य्याके लिए और न ब्रह्मचर्यके लिए ही उपयोगी है, न यह निर्वेद, शान्ति, परमज्ञान और निर्वाणके लिए आवश्यक ही है।' आत्मा आदिके सम्बन्धमें बुद्धकी यह अव्याकृतता हमें सन्देहमें डाल देती है। जब उस समयके वातावरणमें इन दार्शनिक प्रश्नोंकी जिज्ञासा सामान्यसाधकके मनमें उत्पन्न होती थी और इसके लिये वाद तक रोपे जाते थे, तब बुद्ध जैसे व्यवहारी चिन्तकका इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें मौन रहना रहस्यसे खाली नहीं है। यही कारण है कि आज बौद्ध तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें अनेक विवाद उत्पन्न हो गए हैं। कोई बौद्धके निर्वाणको शून्यरूप या अभावात्मक मानता है, तो कोई उसे सद्भावात्मक। आत्माके सम्बन्धमें बुद्धका यह मत तो स्पष्ट था कि वह न तो उपनिषद्वादियोंकी तरह शाश्वत ही है और न भूतवादियोंकी तरह सर्वथा उच्छिन्न होनेवाली ही है। अर्थात् उन्होंने आत्माको न शाश्वत माना और न उच्छिन्न। इस अशाश्वतानुच्छेदरूपी उभयप्रतिषेधके होनेपर भी बुद्धका आत्मा किस रूप था, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। इसीलिए आज बुद्धके दर्शनको अशाश्वतानुच्छेदवाद कहा जाता है। पाली साहित्यमें हम जहाँ बुद्धके आर्यसत्योंका सांगोपांग विधिवत् निरूपण देखते हैं, वहाँ दर्शनका स्पष्ट वर्णन नहीं पाते।

उत्पादादित्रयात्मकवाद :

निग्गंथ नाथपुत्त वर्धमान महावीरने लोकव्यवस्था और द्रव्योंके स्वरूपके सम्बन्धमें अपने सुनिश्चित विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने षट्द्रव्यमय लोक तथा द्रव्योंके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूपको बहुत स्पष्ट और सुनिश्चित पद्धतिसे

बताया। जैसा कि इस प्रकरणके शुरूमें लिख चुका हूं। प्रत्येक वर्तमान पर्याय अपने समस्त अतीत संस्कारोंका परिवर्तित पुञ्ज है और है अपनी समस्त भविष्यत् योग्यताओंका भंडार। उस प्रवहमान पर्यायपरम्परामें जिस समय जैसी कारण-सामग्री मिल जाती है, उस समय उसका वैसा परिणमन उपादान और निमित्तके बलाबलके अनुसार होता जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके इस सार्वद्रव्यिक और सार्वकालिक नियमका इस विश्वमें कोई भी अपवाद नहीं है। प्रत्येक सत्‌को प्रत्येक समय अपनी पर्याय बदलनी ही होगी, चाहे आगे आनेवाली पर्याय सदृश, असदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश या विसदृश ही क्यों न हो। इस तरह अपने परि-णामी स्वभावके कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी उपादानयोग्यता और सन्निहित निमित्त-सामग्रीके अनुसार पिपीलकाक्रम या मेंढककुदानके रूपमें परिवर्तित हो ही रहा है।

दो विरुद्ध शक्तियाँ :

द्रव्यमें उत्पादशक्ति यदि पहले क्षणमें पर्यायको उत्पन्न करती है तो विनाश-शक्ति उस पर्यायका दूसरे क्षणमें नाश कर देती है। यानी प्रतिसमय यदि उत्पाद-शक्ति किसी नूतन पर्यायको लाती है तो विनाशशक्ति उसी समय पूर्व पर्यायको नाश करके इसके लिए स्थान खाली कर देती है। इस तरह इस विरोधी-समागम-के द्वारा द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, विनाश और इसकी कभी विच्छिन्न न होनेवाली ध्रौव्य-परम्पराके कारण त्रिलक्षण है। इस तरह प्रत्येक द्रव्यके इस स्वाभाविक परिणमन-चक्रमें जब जैसी कारणसामग्री जुट जाती है उसके अनुसार वह परिणमन स्वयं प्रभावित होता है और कारणसामग्रीके घटक द्रव्योंको प्रभावित भी करता है। यानी यदि एक पर्याय किसी परिस्थितिसे उत्पन्न हुई है तो वह परिस्थितिको बनाती भी है। द्रव्यमें अपने संभाव्य परिणमनोंकी असंख्य योग्यताएँ प्रतिसमय मौजूद हैं। पर विकसित वही योग्यता होती है जिसकी सामग्री परिपूर्ण हो जाती है। जो इस प्रवहमान चक्रमें अपना प्रभाव छोड़नेका बुद्धिपूर्वक यत्न करते हैं वे स्वयं परिस्थितिके निर्माता बनते हैं और जो प्रवाहपतित हैं वे परिवर्तनके थपेड़ोंमें इतस्ततः अस्थिर रहते हैं।

लोक शाश्वत भी है :

यदि लोकको समग्र भावसे संततिकी दृष्टिसे देखें तो लोक अनादि और अनन्त है। कोई भी द्रव्य इसके रंगमंचसे सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता और न कोई असत्‌से सत् बनकर इसकी नियत द्रव्यसंख्यामें एककी भी वृद्धि ही कर सकता है। यदि प्रतिसमयभावी, प्रतिद्रव्यगत पर्यायोंकी दृष्टिसे देखें तो लोक 'सान्त' भी है। उस

अशाश्वत है। इसमें कार्योंकी उत्पत्तिमें काल एक साधारण निमित्तकारण है, जो प्रत्येक परिणमनशील द्रव्यके परिणाममें निमित्त होता है, और स्वयं भी अन्य द्रव्योंकी तरह परिवर्त्तनशील है।

द्रव्ययोग्यता और पर्याययोग्यता :

जगत्का प्रत्येक कार्य अपने सम्भाव्य स्वभावोंके अनुसार ही होता है, यह सर्वमत साधारण सिद्धान्त है। यद्यपि प्रत्येक पुद्गलपरमाणुमें घट, पट आदि सभी कुछ बननेकी द्रव्ययोग्यता है किन्तु यदि वह परमाणु मिट्टीके पिण्डमें शामिल है तो वह साक्षात् घट ही बन सकता है, पट नहीं। सामान्य स्वभाव होनेपर भी उन द्रव्योंकी स्थूल पर्यायोंमें साक्षात् विकसनेयोग्य कुछ नियत योग्यताएँ होती हैं। यह नियतिपन समय और परिस्थितिके अनुसार बदलता रहता है। यद्यपि यह पुरानी कहावत प्रसिद्ध है कि 'घड़ा मिट्टीसे बनता है बालूसे नहीं। किन्तु आजके वैज्ञानिक युगमें बालूको काँचकी भट्टीमें पकाकर उससे अधिक सुन्दर और पारदर्शी घड़ा बनने लगा है।

अतः द्रव्ययोग्यताएँ सर्वथा नियत होने पर भी, पर्याययोग्यताओंकी नियतता परिस्थितिके ऊपर निर्भर करती है। जगत्में समस्त कार्योंके परिस्थितिभेदसे अनन्त कार्यकारणभाव हैं और उन कार्यकारणपरम्पराओंके अनुसार ही प्रत्येक कार्य उत्पन्न होता है। अतः अपने अज्ञानके कारण किसी भी कार्यको यदृच्छा—अटकल पच्चू कहना अतिसाहस है।

पुरुष उपादान होकर केवल अपने ही गुण और अपनी ही पर्यायोंका कारण बन सकता है, उन ही रूपसे परिणमन कर सकता है, अन्य रूपसे कदापि नहीं। एक द्रव्य दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यमें केवल निमित्त ही बन सकता है, उपादान कदापि नहीं, यह एक सुनिश्चित मौलिक द्रव्यसिद्धान्त है। संसारके अनन्त कार्योंका बहुभाग अपने परिणमनमें किसी चेतन-प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं रखता। जब सूर्य निकलता है तो उसके संपर्कसे असंख्य जलकण भाप बनते हैं, और क्रमशः मेघोंकी सृष्टि होती है। फिर सर्दी-गर्मीका निमित्त पाकर जल बरसता है। इस तरह प्रकृतिनटीके रंगमंचपर अनन्त कार्य प्रतिसमय अपने स्वाभाविक परिणामी स्वभावके अनुसार उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। उनका अपना द्रव्यगत ध्रौव्य ही उन्हें क्रमभंग करनेसे रोकता है अर्थात् वे अपने द्रव्यगत स्वभावके कारण अपनी ही धारामें स्वयं नियन्त्रित हैं—उन्हें किसी दूसरे द्रव्यके नियन्त्रणकी न कोई अपेक्षा है और न आवश्यकता ही। यदि कोई चेतनद्रव्य भी किसी द्रव्यकी कारणसामग्रीमें सम्मिलित हो जाता है तो ठीक है, वह भी उसके

कर्मकी कारणता :

जीवोंके प्रतिक्षण जो संस्कार संचित होते हैं वे ही परिपाककालमें कर्म कहलाते हैं। इन कर्मोंकी कोई स्वतन्त्र कारणता नहीं है। उन जीवोंके परिणमनमें तथा उन जीवोंसे सम्बद्ध पुद्‌गलोंके परिणमनमें वे संस्कार उसी तरह कारण होते हैं जिस तरह एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें। अर्थात् अपने भावोंकी उत्पत्तिमें वे उपादान होते हैं और पुद्‌गलद्रव्य या जीवान्तरके परिणमनमें निमित्त। समग्र लोककी व्यवस्था या परिवर्तनमें कोई कर्म नामका एक तत्त्व महाकारण बनकर बैठा हो, यह स्थिति नहीं है।

इस तरह काल, आत्मा, स्वभाव, नियति, यदृच्छा और भूतादि अपनी-अपनी मर्यादामें सामग्रीके घटक होकर प्रतिक्षण परिवर्तमान इस जगत्‌के द्रव्यके परिणमन-में यथासंभव निमित्त और उपादान होते रहते हैं। किसी एक कारणका सर्वाधि-पत्य जगत्‌के अनन्त द्रव्योंपर नहीं हैं। आधिपत्य यदि हो सकता है तो प्रत्येक द्रव्यका केवल अपनी ही गुण और पर्यायोंपर हो सकता है।

जड़वाद और परिणामवाद :

वर्तमान जड़वादियोंने विश्वके स्वरूपको समझाते समय इन चार सिद्धान्तोंका निर्णय किया है।

(१) ज्ञाता और ज्ञेय अथवा समस्त सद्‌वस्तु नित्य परिवर्तनशील है। वस्तुओंका स्थान बदलता रहता है। उनके घटक बदलते रहते हैं और उनके गुण-धर्म बदलते रहते हैं परन्तु परिवर्तनका अखण्ड प्रवाह चालू है।

(२) दूसरा सिद्धान्त यह है कि सद्‌वस्तुका सम्पूर्ण विनाश नहीं होता और सम्पूर्ण अभावमेंसे सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती। यह क्रम नित्य निर्बाध रूपसे चलता रहता है। प्रत्येक सत् वस्तु किसी-न-किसी अन्य सद् वस्तुमेंसे ही निर्मित होती है, सद्‌वस्तुसे ही बनी होती है, और किसी सद्‌वस्तुके आँखसे ओझल हो जानेपर दूसरी सद्‌वस्तुका निर्माण होता है ? जिस एक वस्तुमेंसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है उसे द्रव्य कहते हैं। जिससे वस्तुएँ बनती हैं और जिसके गुण-धर्म होते हैं वह द्रव्य है। और गुणोंका समुच्चय जगत् है। यह जगत् कार्य-कारणोंकी सतत परम्परा है। प्रत्येक वस्तु या घटना अपनेसे पूर्ववर्ती वस्तु या घटनाका कार्य होती है, तथा आगेकी घटनाओंका कारण। प्रत्येक घटना कार्य-कारणभावकी अनादि एवं अनन्त मालाका एक मनका है। कार्यकारणभावके विशिष्ट नियमसे प्रत्येक घटना एक-दूसरेके साथ बँधी रहती है।

(३) तीसरा सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वभावसिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तन-शक्ति अवश्य रहती है। अणुरूप द्रव्योंका जगत् बना करता है। उन अणुओंको आपसमें मिलने तथा एक-दूसरेसे अलग-अलग होनेके लिए जो गति मिलती रहती है वह उनका स्वभावधर्म है। उनको परिचालित करनेवाला, उनको इकट्ठा करनेवाला और अलग-अलग करनेवाला अन्य कोई नहीं है। इस विश्वमें जो प्रेरणा या गति है, वह वस्तुमात्रके स्वभावमेंसे निर्मित होती है। एकके बाद दूसरी गतिकी एक अनादि परम्परा इस विश्वमें विद्यमान है। यह प्रश्न ठीक नहीं है कि 'प्रारम्भमें इस विश्वमें कितने गति उत्पन्न की'। 'प्रारम्भमें' शब्दोंका अभिप्राय उस कालसे है जब गति नहीं थी, अथवा किसी प्रकारका कोई परिवर्तन नहीं था। ऐसे कालकी तर्कसम्मत कल्पना नहीं की जा सकती जब कि किसी प्रकारका कोई भी परिवर्तन न रहा हो। ऐसे कालकी कल्पना करनेका अर्थ तो यह मानना हुआ कि एक समय था, जब सर्वत्र सर्वशून्यता थी। जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु है, तो वह निश्चय ही कार्यकारणभावसे बँधी रहती है। इसीलिए गति और परिवर्तनका रहना आवश्यक हो जाता है। सर्वशून्य स्थितिमेंसे कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तुकी घटनामें दो प्रकारसे परिवर्तन होता है। एक तो यह है कि वस्तुमें स्वाभाविक रीतिसे परिवर्तन होता है। दूसरा यह कि वस्तुका उसके चारों ओरकी परिस्थितियोंका प्रभाव पड़नेसे परिवर्तन होता है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुसे जुड़ी या संलग्न रहती है। यह संलग्नता तीन प्रकारकी होती है—एक वस्तुका चारों तरफकी वस्तुओंसे सम्बन्ध रहता है, दूसरी वह वस्तु जिस वस्तुसे उत्पन्न हुई है उसके साथ कार्यकारण-सम्बन्धसे जुड़ी रहती है। तीसरी उस वस्तुकी घटनाके गर्भमें दूसरी घटना रहती है और वह वस्तु तीसरी घटनाके गर्भमें रहती है। ये जो सारे वस्तुओंके सम्बन्ध हैं उनकी ठीकसे जान-कारी हो जाने पर यह भ्रान्ति या आशंका दूर हो जाती है कि वस्तुओंकी गति किंवा क्रियाके लिए कोई पहला प्रवर्तक चाहिए। कोई भी क्रिया पहली नहीं हुआ करती। प्रत्येक गतिसे किंवा क्रियासे पूर्व दूसरी गति और क्रिया रहती है। इस क्रियाका स्वरूप एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना ही नहीं होता। क्रिया-शक्तिका केवल स्थानान्तर होना या चलायमान होना ही स्वरूप नहीं है। बीजका अँखुआ बनता है और अँखुएका वृक्ष बन जाता है, ऑक्सीजन और हाँइड्रोजनका पानी बनता है, प्रकाशके अणु बनते हैं अथवा लहरें बनती हैं, यह सारा बनना और होना भी क्रिया ही हैं। इस प्रकारकी क्रिया वस्तुका मूलभूत स्वभाव है। वह यदि न रहता, तो जो पहली बार गति देता है उसके लिए भी वस्तुमें गति उत्पन्न

करना सम्भव न होता। विश्व स्वयं प्रेरित है। उसे किसी बाह्य प्रेरककी आवश्यकता नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त यह है कि रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तुका मूलभूत स्वभाव है। हम जब भी किसी वस्तुका, किंवा वस्तुसमुदायका वर्णन करते हैं तब वस्तुओंकी रचना, किंवा व्यवस्थाका ही वर्णन किया करते हैं। वस्तुमें योजना या व्यवस्था नहीं, इसका अर्थ यही होता है कि वस्तु ही नहीं। वस्तु है, इस कथनका यही अर्थ निकलता है कि एक विशेष प्रकारकी योजना और विशेष प्रकारकी व्यवस्था है। वस्तुकी योजनाका आकलन होना ही वस्तुस्वरूपका आकलन है। विश्वकी रचना अथवा योजना किसी दूसरेने नहीं की है। अग्नि जलाना स्वाभाविक धर्म है। यह एक व्यवस्था अथवा योजना है। यह व्यवस्था किंवा योजना अग्निमें किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लाई हुई नहीं है। यह तो अग्निके अस्तित्वका ही एक पहलू है। संख्या, परिमाण एवं कार्य-कारणभाव वस्तु स्वरूपके अंग हैं। हम संख्या वस्तुमें उत्पन्न नहीं कर सकते, वह वस्तुमें रहती ही है। वस्तुओंके कार्यकारणभावको पहिचाना जा सकता है किन्तु निर्माण नहीं किया जा सकता[1]।"

जड़वादका आधुनिक रूप :

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने अपनी[2] वैज्ञानिक भौतिकवाद पुस्तकमें भौतिकवादके आधुनिकतम स्वरूपपर प्रकाश डालते हुए बताया है कि "जगत्का प्रत्येक परिवर्तन जिन सीढ़ियोंसे गुजरता है वे सीढ़ियाँ वैज्ञानिक भौतिकवादकी त्रिपुटी हैं। (१) विरोधी समागम (२) गुणात्मक परिवर्तन और (३) प्रतिषेधका प्रतिषेध। वस्तुके उदरमें विरोधी प्रवृत्तियाँ जमा होती हैं, इससे परिवर्तनके लिए सबसे आवश्यक चीज गति पैदा होती है। फिर हेगेलकी द्वंद्ववादी प्रक्रियाके वाद और प्रतिवादके संघर्षसे नया गुण पैदा होता है। इसे दूसरी सीढ़ी गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। पहले जो वाद था उसको भी उसकी पूर्वगामी कड़ीसे मिलानेपर वह किसीका प्रतिषेध करनेवाला संवाद था। अब गुणात्मक परिवर्तन—आमूल परिवर्तन जबसे उसका प्रतिषेध हुआ तो यह प्रतिषेधका प्रतिषेध है। दो या अधिक, एक दूसरेसे गुण और स्वभावमें विरोधी वस्तुओंका समागम दुनियामें पाया जाता है। यह बात हरएक आदमीको जब तब नजर आती है। किन्तु उसे देखकर यह ख्याल नहीं आता कि एक बार इस विरोधी समागमको मान लेने पर फिर विश्वके संचालक ईश्वरकी जरूरत नहीं रहती। न किसी अभौतिक दिव्य,

---

१. देखो, 'जड़वाद और अनीश्वरवाद' पृष्ठ ६०-६६। २. पृ० ४५-४६।

रहस्यमय नियमकी आवश्यकता है। विश्वके रोम-रोममें गति है। दो परस्पर विरोधी शक्तियोंका मिलना ही गति पैदा करनेके लिए पर्याप्त है। गतिका नाम विकास है। यह 'लेनिन' के शब्दोंमें कहिये तो विकास विरोधियोंके संघर्षका नाम है। विरोधी जब मिलेंगे तक संघर्ष जरूर होगा। संघर्ष नये स्वरूप, नयी गति, नयी परिस्थिति अर्थात् विकासको जरूर पैदा करेगा। यह बात साफ है। विरोधियोंके समागमको परस्पर अन्तरव्यापन या एकता भी कहते हैं। जिसका अर्थ यह है कि वे एक ही (अभिन्न) वास्तविकताके ऐसे दोनों प्रकारके पहलू होते हैं। ये दोनों विरोध दार्शनिकोंको परमार्थकी तराजू पर तुले सनातन कालसे एक दूसरे-से सर्वथा अलग अवस्थित भिन्न-भिन्न तत्त्वके तौर पर नहीं रहते बल्कि वह वस्तु-रूपेण एक हैं—एक ही समय एक ही स्थान पर अभिन्न होकर रहते हैं। जो कर्जखोरके लिए ऋण है, वही महाजनके लिए धन है। हमारे लिए जो पूर्वका रास्ता है, वही दूसरेके लिए पश्चिमका भी रास्ता है। बिजलीमें धन और ऋणके छोर दो अलग स्वतंत्र तरल पदार्थ नहीं हैं। लैनिनने विरोधको द्वंद्ववादका सार कहा है। केवल परिमाणात्मक परिवर्तन ही एक खास सीमापर होने पर गुणात्मक भेदोंमें बदल जाता है।"

जड़वादका एक और स्वरूप :

कर्नल इंगरसोल प्रसिद्ध विचारक और निरीश्वरवादी थे। ये अपने व्याख्यान-में लिखते हैं[1] कि—मेरा एक सिद्धान्त है और उसके चारों कोनों पर रखनेके लिए मेरे पास चार पत्थर हैं। पहला शिलान्यास है कि—पदार्थ-रूप नष्ट नहीं हो सकता, अभावको प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरा शिलान्यास है कि गति-शक्तिका विनाश नहीं हो सकता, वह अभावको प्राप्त नहीं हो सकती। तीसरा शिलान्यास है कि पदार्थ और गति पृथक्-पृथक् नहीं रह सकती। बिना गतिके पदार्थ नहीं और बिना पदार्थके गति नहीं। चौथा शिलान्यास है कि जिसका नाश नहीं वह कभी पैदा भी नहीं हुआ होगा, जो अविनाशी है वह अनुत्पन्न है। यदि ये चारों बातें यथार्थ हैं तो उनका यह परिणाम अवश्य निकलता है कि—पदार्थ और गति सदा से हैं और सदा रहेंगे। वे न बढ़ सकते हैं और न घट सकते हैं। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि न कोई चीज कभी उत्पन्न हुई है और न उत्पन्न हो सकती है और न कभी कोई रचयिता हुआ है और न हो सकता है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि पदार्थ और गतिके पीछे न कोई योजना हो सकती थी और न कोई बुद्धि। बिना गतिके बुद्धि नहीं हो सकती। बिना पदार्थके गति

१. स्वतन्त्र चिन्तन पृ० २१४-१५।

नहीं हो सकती। इसलिए पदार्थसे पहले किसी भी तरह किसी बुद्धिकी, किसी गतिकी संभावना हो ही नहीं सकती। इससे यह परिणाम निकलता है कि प्रकृतिसे परे न कुछ है और न हो सकता है। यदि ये चारों शिलान्यास यथार्थ बातें हैं तो प्रकृतिका कोई स्वामी नहीं। यदि पदार्थ और गति अनादि कालसे अनन्त काल तक हैं तो यह अनिवार्य परिणाम निकलता है कि कोई परमात्मा नहीं है और न किसी परमात्माने जगत्को रचा है और न कोई इसपर शासन करता है। ऐसा कोई परमात्मा नहीं, जो प्रार्थनाएँ सुनता हो। दूसरे शब्दोंमें इससे यह सिद्ध होता है कि आदमीको भगवान्से कभी कोई सहायता नहीं मिली, तमाम प्रार्थनाएँ अनन्त आकाशमें यों ही विलीन हो गईं।····यदि पदार्थ और गति सदासे चली आई हैं तो इसका यह मतलब है कि जो संभव था वह हुआ है, जो संभव है वह हो रहा है और जो संभव होगा वही होगा। विश्वमें कोई भी बात यों ही अचानक नहीं होती। हर घटना जनित होती है। जो नहीं हुआ वह हो ही नहीं सकता था। वर्तमान तमाम भूतका अवश्यंभावी परिणाम है और भविष्यका अवश्यंभावी कारण।

यदि पदार्थ और गति सदासे हैं तो हम यह कह सकते हैं कि आदमीका कोई चेतन रचयिता नहीं हुआ है, आदमी किसीकी विशेष रचना नहीं है। यदि हम कुछ जानते हैं तो यह जानते हैं कि उस दैवी कुम्हारने, उस ब्रह्माने कभी मिट्टी और पानी मिला कर पुरुषों तथा स्त्रियोंकी रचना नहीं की और उनमें कभी जान नहीं फूँकी।"

समीक्षा और समन्वय—भौतिकवादके उक्त मूल सिद्धान्तके विवेचनसे निम्न-लिखित बातें फलित होती हैं—

(१) विश्व अनन्त स्वतंत्र मौलिक पदार्थोंका समुदाय है।

(२) प्रत्येक मौलिकमें विरोधी शक्तियोंका समागम है, जिसके कारण उसमें स्वभावतः गति या परिवर्तन होता रहता है।

(३) विश्वकी रचना योजना और व्यवस्था, उसके अपने निजी स्वभावके कारण है, किसीके नियन्त्रणसे नहीं।

(४) किसी सत्का न तो सर्वथा विनाश होता है और सर्वथा असत्का उत्पाद ही।

(५) जगत्का प्रत्येक अणु परमाणु प्रतिक्षण गतिशील याने परिवर्तनशील है। ये परिवर्तन परिणामात्मक भी होते हैं और गुणात्मक भी।

(६) प्रत्येक वस्तु सैकड़ों विरोधी शक्तियोंका समागम है।

(७) जगत्का यह परिवर्तन चक्र अनादि-अनन्त है।

हम इन निष्कर्षोंपर ठंडे दिल और दिमागसे विचार करें तो ज्ञात होगा कि भौतिकवादियोंकी यह वस्तुस्वरूपकी विवेचना वस्तुस्थितिके विरुद्ध नहीं है। जहाँ तक भूतोंके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे जीवतत्त्वकी उत्पत्तिका प्रश्न है वहाँ तक उनका कहना एक हद तक विचारणीय है। पर सामान्यस्वरूपकी व्याख्या न केवल तर्कसिद्ध ही है किन्तु अनुभवगम्य भी है। इनका सबसे मौलिक सिद्धान्त यह है कि—प्रत्येक वस्तुमें स्वभावसे ही दो विरोधी शक्तियाँ मौजूद हैं, जिनके संघर्षसे उसे गति मिलती है, उसका परिवर्तन होता है और जगत्का समस्त कार्यकारण-चक्र चलता है। मैं पहले लिख आया हूँ कि जैनदर्शनकी द्रव्यव्यवस्थाका मूल मंत्र उत्पादन-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणता है। भौतिकवादियोंने जब वस्तुके कार्यकारण-प्रवाहको अनादि और अनन्त स्वीकार किया है, और वे सत्का सर्वथा विनाश और असत्की उत्पत्ति जब नहीं मानते तो उन्होंने द्रव्यकी अविच्छिन्न धारा रूप ध्रौव्यत्वको स्पष्ट स्वीकार किया ही है। ध्रौव्यका अर्थ सर्वथा अपरिणामी नित्य और कूटस्थ नहीं हैं; किन्तु जो द्रव्य अनादि कालसे इस विश्वके रंगमंचपर परि-वर्तन करता हुआ चला आ रहा है, उसकी परिवर्तन धाराका कभी समूलोच्छेद नहीं होना है। इसके कारण एक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी पर्यायोंमें बदलता हुआ भी, कभी न तो समाप्त होता है और न द्रव्यान्तरमें विलीन ही होता है। इस द्रव्यान्तर-असंक्रान्तिका और द्रव्यकी किसी न किसी रूपमें स्थितिका नियामक ध्रौव्यांश है। जिससे भौतिकवादी भी इनकार नहीं कर सकते।

विरोधी समागम अर्थात् उत्पाद और व्यय :

जिस विरोधी शक्तियोंके समागमकी चर्चा उन्होंने द्वन्द्ववाद (Diaiectism) के रूपमें की है वह प्रत्येक द्रव्यमें रहनेवाले उनके निजी स्वभाव उत्पाद और व्यय हैं। इन दो विरोधी शक्तियोंकी वजहसे प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। यानि पूर्वपर्यायका विनाश और उत्तरपर्यायका उत्पाद प्रतिक्षण वस्तुमें निरपवादरूपसे होता रहता है।[1] पूर्व पर्यायका विनाश ही उत्तरका उत्पाद है। ये दोनों शक्तियाँ एक साथ वस्तुमें अपना काम करती हैं और ध्रौव्य-शक्ति द्रव्यका मौलिकत्व सुरक्षित रखती है। इस तरह अनन्तकाल तक परिवर्तन करते रहने पर भी द्रव्य कभी निःशेष नहीं हो सकता। उसमें चाहे गुणात्मक परिवर्तन हों या परिमाणात्मक, किन्तु उसका अपना अस्तित्व किसी न किसी अवस्था में अवश्य ही रहेगा। इस तरह प्रतिक्षण त्रिलक्षण पदार्थ एक क्रमसे अपनी पर्यायोंमें

१. 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्''—आप्तमी० श्लोक० ५८।

बदलता हुआ और परस्पर परिणमनोंको प्रभावित करता हुआ भी निश्चित कार्यकारणपरम्परासे आबद्ध है ।

इस तरह 'भौतिकवाद'के वस्तुविवर्तनके सामान्य सिद्धान्त जैनदर्शनके अनन्त द्रव्यवाद और उत्पादादि त्रयात्मक सत्के मूल सिद्धान्तसे जरा भी भिन्न नहीं है। जिस तरह आजका विज्ञान अपनी प्रयोगशालामें भौतिकवादके इन सामान्य सिद्धान्तोंकी कड़ी परीक्षा दे रहा है इसी तरह भगवान् महावीरने अपने अनुभव-प्रसूत तत्त्वज्ञानके बलपर आजसे २५०० वर्ष पहले जो यह घोषणा की थी कि—'प्रत्येक पदार्थ चाहे जड़ हो या चेतन, उ पाद व्यय और ध्रौव्यरूपसे परिणामी है । "उपपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" (स्थाना० स्था० १०) अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, और स्थिर रहता है ।' उनकी इस मातृकात्रिदीमें जिस त्रयात्मक परिणामवादका प्रतिपादन हुआ था, वही सिद्धान्त विज्ञानकी प्रयोग-शालामें भी अपनी सत्यताको सिद्ध कर रहा है ।

चेतनसृष्टि :

विचारणीय प्रश्न इतना रह जाता है कि भौतिकवादमें इन्हीं जड़ परमाणुओंसे ही जो जीवसृष्टि और चेतनसृष्टिका विकास गुणात्मक परिवर्तनके द्वारा माना है, वह कहाँ तक ठीक है ? अचेतनको चेतन बननेमें करोड़ों वर्ष लगे हैं । इस चेतन सृष्टिके होनेमें करोड़ों वर्ष या अरब वर्ष जो भी लगे हों उनका अनुमान तो आजका भौतिक विज्ञान कर लेता है; पर वह जिस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजनको मिलाकर जल बना देता है और जलका विश्लेपण कर पुनः ऑक्सीजन और हॉइड्रोजन रूपसे भिन्न-भिन्न कर देता है उस तरह असंख्य प्रयोग करनेके बाद भी न तो आज वह एक भी जीव तैयार कर सका है, और न स्वतःसिद्ध जीवका विश्लेपण कर उस अदृश्य शक्तिका साक्षात्कार ही करा सका है, जिसके कारण जीवित शरीरमें ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि उत्पन्न होते हैं ।

यह तो निश्चित है कि—भौतिकवादने जीवसृष्टिकी परम्परा करोड़ों वर्ष पूर्वसे स्वीकार की है और आज जो नया जीव विकसित होता है, वह किसी पुराने जीवित सेलको केन्द्र बनाकर ही । ऐसी दशामें यह अनुमान कि 'किसी समय जड़ पृथ्वी तरल रही होगी, फिर उसमें घनत्व आया और अमीबा आदि उत्पन्न हुए' केवल कल्पना ही मालूम होती है । जो हो, व्यवहारमें भौतिकवाद भी मनुष्य या प्राणिसृष्टिको प्रकृतिकी सर्वोत्तम सृष्टि मानता है, और उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व भी स्वीकार करता है ।

विचारणीय बात इतनी ही है कि एक ही तत्त्व परस्पर विरुद्ध चेतन और अचेतन दोनों रूपसे परिणमन कर सकता है क्या ? एक ओर तो ये जड़वादी हैं जो जड़का परिणमन चेतनरूपसे मानते हैं, तो दूसरी ओर एक ब्रह्मवाद तो इससे भी अधिक काल्पनिक है, जो चेतनाका ही जड़रूपसे परिणमन मानता है। जड़वादमें परिवर्तनका प्रकार, अनन्त जड़ोंका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करनेसे बन जाता है। इसमें केवल एक ही प्रश्न शेष रहता है कि क्या जड़ भी चेतन बन सकता है ? पर इस अद्वैत चेतनवादमें तो परिवर्तन भी असत्य है, अनेकत्व भी असत्य है, और जड़ चेतनका भेद भी असत्य है। एक किसी अनिर्वचनीय मायाके कारण एक ही ब्रह्म जड़-चेतन नानारूपसे प्रतिभासित होने लगता है। जड़वादके सामान्य सिद्धान्तोंका परीक्षण विज्ञानकी प्रयोगशालामें किया जा सकता है और उसकी तथ्यता सिद्ध की जा सकती है। पर इस ब्रह्मवादके लिए तो सिवाय विश्वासके कोई प्रबल युक्तिबल भी प्राप्त नहीं है। विभिन्न मनुष्योंमें जन्मसे ही विभिन्न रुझान और बुद्धिका कविता, संगीत और कला आदिके विविध क्षेत्रोंमें विकास आकस्मिक नहीं हो सकता। इसका कोई ठोस और सत्य कारण अवश्य होना ही चाहिए।

समाजव्यवस्थाके लिए जड़वादकी अनुपयोगिता :

जिस सहयोगात्मक समाजव्यवस्थाके लिए भौतिकवाद मनुष्यका संसार गर्भसे मरण तक ही मानना चाहता है, उस व्यवस्थाके लिए यह भौतिकवादी प्रणाली कोई प्राभाविक उपाय नहीं है। जब मनुष्य यह सोचता है कि मेरा अस्तित्व शरीरके साथ ही समाप्त होनेवाला है, तो वह भोगविलास आदिकी वृत्तिसे विरक्त होकर क्यों राष्ट्रनिर्माण और समाजवादी व्यवस्थाकी ओर झुकेगा ? चेतन आत्माओं-के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व स्वीकार कर लेनेपर उनमें प्रतिक्षण स्वाभाविक परिवर्तन योग्यता मान लेनेपर तो अनुकूल विकासका अनन्त क्षेत्र सामने उपस्थित हो जाता है, जिसमें मनुष्य अपने समग्र पुरुषार्थका, खुलकर उपयोग कर सकता है। यदि मनुष्योंको केवल भौतिक माना जाता है, तो भूतजन्य वर्ण और वंश आदिकी श्रेष्ठता और कनिष्ठताका प्रश्न सीधा सामने आता है। किन्तु इस भूतजन्य वंश, रंग आदिके स्थूल भेदोंकी ओर दृष्टि न कर जब समस्त मनुष्य-आत्माओंका मूलतः समान अधिकार और स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना जाता है, तो ही सहयोगमूलक समाज-व्यवस्थाके लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत होती है।

समाजव्यवस्थाका आधार समता :

जैनदर्शनने प्रत्येक जड़-चेतन तत्त्वका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। मूलतः एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई अधिकार नहीं है। सब अपने-अपने परिणामी

स्वभावके अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तित होते जा रहे हैं। जब इस प्रकारकी स्वाभाविक समभूमिका द्रव्योंकी स्वीकृत है, तब यह अनधिकार चेष्टासे इकट्ठे किये गये परिग्रहके संग्रहसे प्राप्त विषमता, अपने आप अस्वाभाविक और अप्राकृतिक सिद्ध होती जाती है। यदि प्रतिबुद्ध मानव-समाज समान अधिकारके आधार-पर अपने व्यवहारके लिए सर्वोदयकी दृष्टिसे कोई भी व्यवस्थाका निर्माण करते हैं तो वह उनकी सहजसिद्ध प्रवृत्ति ही मानी जानी चाहिए। एक ईश्वरको जगन्नियन्ता मानकर उसके आदेश या पैगामके नामपर किसी जातिकी उच्चता और विशेषाधिकार तथा पवित्रताका ढिंढोरा पीटना और उसके द्वारा जगत्में वर्ग-स्वार्थकी सृष्टि करना, तात्त्विक अपराध तो है ही, साथ ही यह नैतिक भी नहीं है। इस महाप्रभुका नाम लेकर वर्गस्वार्थी गुटने संसारमें जो अशान्ति युद्ध और खूनकी नदियाँ बहाई हैं उसे देखकर यदि सचमुच कोई ईश्वर होता तो वह स्वयं आकर अपने इन भक्तोंको साफ-साफ कह देता कि 'मेरे नामपर इस निकृष्टरूपमें स्वार्थका नग्न पोषण न करो।' तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें दृष्टि-विपर्यास होनेसे मनुष्यको दूसरे प्रकारसे सोचनेका अवसर ही नहीं मिला। भगवान् महावीर और बुद्धने अपने-अपने ढंगसे इस दुर्दृष्टिकी ओर ध्यान दिलाया, और मानवको समता और अहिंसाकी सर्वोदयी भूमिपर खड़े होकर सोचनेकी प्रेरणा दी।

जगत्के स्वरूपके दो पक्ष : १ विज्ञानवाद :

जगत्के स्वरूपके सम्बन्धमें स्थूल रूपसे दो पक्ष पहलेसे ही प्रचलित रहे हैं। एक पक्ष तो इन भौतिकवादियोंका था, जो जगत्को ठोस सत्य मानते रहे। दूसरा पक्ष विज्ञानवादियोंका था, जो संवित्ति या अनुभवके सिवाय किसी बाह्य ज्ञेयकी सत्ताको स्वीकार नहीं करना चाहते। उनके मतसे[1] बुद्धि ही विविध वासनाओंके कारण नाना रूपमें प्रतिभासित होती है। बिशप, बर्कले, योम और हैगल आदि पश्चिमी तत्त्ववेत्ता भी संवेदनाओंके प्रवाहसे भिन्न संवेद्यका अस्तित्व नहीं मानना चाहते। जिस प्रकार स्वप्नमें बाह्य पदार्थोंके अभावमें भी अनेक प्रकारके अर्थ-क्रियाकारी दृश्य उपस्थित होते हैं उसी तरह जागृति भी एक लम्बा सपना है। स्वप्नज्ञानकी तरह जागृतज्ञान भी निरालम्बन है, केवल प्रतिभासमात्र है। इसके मतसे मात्र ज्ञानकी ही पारमार्थिक सत्ता है। इनमें भी अनेक मतभेद हैं—

१. वेदान्ती एक नित्य और व्यापक ब्रह्मका ही पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्म नानाविध जीवात्माओं और घट-पटादि बाह्य अर्थोंके रूपमें प्रतिभासित होता है।

---

१. "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥"—प्रमाणवा० ३।४३५।

२. संवेदनाद्वैतवादी क्षणिक परमाणुरूप अनेक ज्ञानक्षणोंका पृथक् पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इनके मतसे ज्ञानसंतान ही अपनी-अपनी वासनाओंके अनुसार विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भासित होती हैं।

३. एक ज्ञानसन्तान माननेवाले भी संवेदनाद्वैतवादी हैं।

बाह्यार्थलोपकी इस विचारधाराका आधार यह मालूम होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पनाके अनुसार पदार्थोंमें शब्द-संकेत करके व्यवहार करता है। जैसे एक पुस्तकको देखकर उस धर्मका अनुयायी उसे 'धर्मग्रन्थ' समझकर पूज्य मानता है, पुस्तकाध्यक्ष उसे अन्य पुस्तकोंकी तरह एक 'सामान्य पुस्तक' समझता है, तो दुकानदार उसे 'रद्दी'के भाव खरीदकर उससे पुड़िया बाँधता हैं, भंगी उसे 'कूड़ा कचड़ा' समझकर झाड़ देता है और गाय-भैंस आदि उसे 'पुद्गलोंका पुंज' समझकर 'घास'की तरह खा जाते हैं। अब आप विचार कीजिये कि पुस्तकमें धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी, कचरा और एक खाद्य आदिकी संज्ञाएँ तत्-तत् व्यक्तियोंके ज्ञानसे ही आयी हैं, अर्थात् धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिका सद्भाव उन व्यक्तियोंके ज्ञानमें है, बाहर नहीं। इस तरह धर्मग्रन्थ और पुस्तक आदिकी व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक नहीं। यदि इनकी पारमार्थिक सत्ता होती तो बिना किसी संकेत और संस्कारके वह सबको उसी रूपमें दिखनी चाहिए थी। अतः जगत् केवल कल्पना-मात्र है, उसका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं।

बाह्य पदार्थोंके स्वरूपपर जैसे-जैसे विचार करते हैं—उनका स्वरूप एक, अनेक, उभय और अनुभय आदि किसी रूपमें भी सिद्ध नहीं हो पाता। अन्ततः उनका अस्तित्व तदाकार ज्ञानसे ही तो सिद्ध किया जा सकता है। यदि नीलाकार ज्ञान मौजूद है, तो बाह्य नीलके माननेकी क्या आवश्यकता है?[1] और यदि नीलाकार ज्ञान नहीं है तो उस बाह्य नीलका अस्तित्व ही कैसे सिद्ध किया जा सकता है? अतः ज्ञान ही बाह्य और आन्तर, ग्राह्य और ग्राहक रूपमें स्वयं प्रकाशमान है, कोई बाह्यार्थ नहीं है।

सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि—ज्ञान या अनुभव किसी पदार्थका ही तो होता है। विज्ञानवादी स्वप्नका दृष्टान्त देकर बाह्यपदार्थका लोप करना चाहते हैं। किन्तु स्वप्नकी अग्नि और बाह्य सत् अग्निमें जो वास्तविक अन्तर है, वह तो एक छोटा बालक भी समझ सकता है। समस्त प्राणी घट पट आदि बाह्य पदार्थोंसे

१. "धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किंप्रमाणकः?
धियोऽनीलादिरूपत्वे स तस्यानुभवः कथम्॥"

—प्रमाणवा० ३।४३३।

अपनी इष्ट अर्थक्रिया करके आकांक्षाओंको शान्त करते हैं और संतोषका अनुभव करते हैं, जबकि स्वप्नदृष्टि वा ऐन्द्रजालिक पदार्थोंसे न तो अर्थक्रिया ही होती है न तज्जन्य संतोषका अनुभव ही। उनकी काल्पनिकता तो प्रतिभासकालमें ही ज्ञात हो जाती है। धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी आदि संज्ञाएँ मनुष्यकृत और काल्पनिक हो सकती हैं, पर जिस वजनवाले रूप-रस-गंध-स्पर्शवाले स्थूल ठोस पदार्थमें ये संज्ञाएँ की जाती हैं, वह तो काल्पनिक नहीं है। वह तो ठोस, वजनदार, सप्रतिघ और रूप-रसादि-गुणोंका आधार परमार्थसत् पदार्थ है। इस पदार्थको अपने-अपने संकेतके अनुसार चाहे कोई धर्मग्रन्थ कहे, कोई पुस्तक, कोई किताब, कोई बुक या अन्य कुछ कहे, ये संकेत व्यवहारके लिये अपनी परम्परा और वासनाओंके अनुसार होते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं है, पर उस ठोस पुद्गलसे इनकार नहीं किया जा सकता।

दृष्टि-सृष्टिका भी अर्थ यही है कि सामने रखे हुए परमार्थसत् ठोस पदार्थमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार अनेक पुरुष अनेक प्रकारके व्यवहार करते हैं। उनकी व्यवहारसंज्ञायें भले ही प्रातिभासिक हों, पर वह पदार्थ, जिसमें ये संज्ञायें की जाती हैं, विज्ञानकी तरह ही परमार्थसत् है। ज्ञान पदार्थपर निर्भर हो सकता है, न कि पदार्थ ज्ञानपर। जगत्में अनन्त ऐसे पदार्थ भरे पड़े हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके पहले भी वे पदार्थ थे और ज्ञानके बाद भी रहेंगे। हमारा इन्द्रिय-ज्ञान तो पदार्थकी उपस्थितिके बिना हो ही नहीं सकता। नीलाकार ज्ञानसे तो कपड़ा नहीं रंगा जा सकता। कपड़ा रंगनेके लिए ठोस जड नील चाहिए, जो ठोस और जड़ कपड़ेके प्रत्येक तन्तुको नीला बनाता है। यदि कोई परमार्थसत् नील अर्थ न हो, तो नीलाकार वासना कहाँसे उत्पन्न होगी ? वासना तो पूर्वानुभव-की उत्तर दशा है। यदि जगत्में नील अर्थ नहीं है तो ज्ञानमें नीलाकार कहाँसे आया ? वासना नीलाकार कैसे बन गई ?

तात्पर्य यह कि व्यवहारके लिए की जानेवाली संज्ञाएँ, इष्ट-अनिष्ट और सुन्दर-असुन्दर आदि कल्पनाएँ भले ही विकल्पकल्पित हों, और दृष्टि-सृष्टिकी सीमामें हों, पर जिस आधारपर ये कल्पनाएँ कल्पित होती हैं, वह आधार ठोस और सत्य है।[1] विषके ज्ञानसे मरण नहीं होता। विषका ज्ञान जिस प्रकार परमार्थ-सत् है, उसी तरह विष पदार्थ, विषका खानेवाला और विषके संयोगसे होनेवाला शरीरगत रासायनिक परिणमन भी परमार्थसत् ही हैं। पर्वत, मकान, नदी आदि पदार्थ यदि ज्ञानात्मक ही हैं, तो उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व और तरलता आदि कैसे

१. "न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति।"—न्यायवि० १।६९।

आ सकते हैं ? ज्ञानस्वरूप नदीमें स्नान या ज्ञानात्मक जलसे तृषाकी शान्ति और ज्ञानात्मक पत्थरसे सिर तो नहीं फूट सकता ?

यदि ज्ञानसे भिन्न मूर्त शब्दकी सत्ता न हो तो संसारका समस्त शाब्दिक व्यवहार लुप्त हो जायगा। परप्रतिपत्तिके लिए ज्ञानसे अतिरिक्त वचनकी सत्ता मानना आवश्यक है। फिर, 'अमुक ज्ञान प्रमाण है और अमुक अप्रमाण' यह भेद ज्ञानोंमें कैसे किया जा सकता है। ज्ञानमें तत्त्व-अतत्त्व, अर्थ-अनर्थ, और प्रमाण-अप्रमाणका भेद बाह्यवस्तुकी सत्ता पर ही निर्भर करता है। स्वामी समन्तभद्रने ठीक ही कहा है—

"बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नाऽसति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु॥"
—आप्तमी० श्लोक ८७।

अर्थात् बुद्धि और शब्दकी प्रमाणता बाह्यपदार्थके होनेपर ही सिद्ध की जा सकती है, अभावमें नहीं। इसी तरह अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे ही सत्यता और मिथ्यापन बताया जा सकता है।

बाह्यपदार्थोंमें परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका समागम देखकर उसके विराट् स्वरूप तक न पहुँच सकनेके कारण उसकी सत्तासे ही इनकार करना, अपनी अशक्ति या नासमझीको विचारे पदार्थपर लाद देना है।

यदि हम बाह्यपदार्थोंके एकानेक स्वभावोंका विवेचन नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उन पदार्थोंके अस्तित्वसे ही सर्वथा इनकार किया जाय। अनन्तधर्मात्मक पदार्थका पूर्ण विवेचन, अपूर्ण ज्ञान और शब्दोंके द्वारा असम्भव भी है। जिस प्रकार एक संवेदन ज्ञान स्वयं ज्ञेयाकार, ज्ञानाकार और ज्ञप्ति रूपसे अनेक आकार-प्रकारका अनुभवमें आता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेक विरोधी धर्मोंका अविरोधी आधार है।

अफलातूँ तर्क करता था कि—'कुर्सीका काठ कड़ा है। कड़ा न होता तो हमारे बोझको कैसे सहारता ? और काठ नर्म है, यदि नर्म न होता तो कुल्हाड़ा उसे कैसे काट सकता ? और चूँकि दो विरोधी गुणोंका एक जगह होना असम्भव है, इसलिए यह कड़ापन, यह नरमपन और कुर्सी सभी असत्य हैं।" अफलातूँ विरोधी दो धर्मोंको देखकर ही घबड़ा जाता है और उन्हें असत्य होनेका फतवा दे देता है, जब कि स्वयं ज्ञान भी ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार इन विरोधी दो धर्मोंका आधार बना हुआ उसके सामने है। अतः ज्ञान जिस प्रकार अपनेमें सत्य पदार्थ है, उसी तरह संसारके अनन्त जड़ पदार्थ भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। ज्ञान

पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता किन्तु अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न अनन्त जड़ पदार्थोंको ज्ञान मात्र जानता है। पृथक् सिद्ध ज्ञान और पदार्थमें ज्ञेयज्ञायकभाव होता है। चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके पदार्थ स्वयं सिद्ध हैं और स्वयं अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं।

लोक और अलोक :

चेतन अचेतन द्रव्योंका समुदाय यह लोक शाश्वत और अनादि इसलिए है कि इसके घटक द्रव्य प्रतिक्षण परिवर्तन करते रहनेपर भी अपनी संख्यामें न तो एकको कमी करते हैं और न एककी बढ़ती ही। इसीलिए यह अवस्थित कहा जाता है। आकाश अनन्त है। पुद्‌गलद्रव्य परमाणु रूप हैं। काल द्रव्य कालाणुरूप हैं। धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशवाले हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्‌गलमें ही क्रिया होती है। आकाश के जितने हिस्से तक ये छहों द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक कहलाता है और उससे परे केवल आकाशमात्र अलोक। चूँकि जीव और पुद्‌गलोंकी गति और स्थितिमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य साधारण निमित्त होते हैं। अतः जहाँतक धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव है, वहीं तक जीव और पुद्‌गलका गमन और स्थान सम्भव है। इसीलिए आकाशके उस पुरुषाकार मध्य भागको लोक कहते हैं जो धर्मद्रव्यके बराबर है। यदि इन धर्म और अधर्म द्रव्यको स्वीकार न किया जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नहीं बन सकता। ये तो लोकके मापदण्डके समान हैं।

लोक स्वयं सिद्ध है :

यह लोक स्वयं सिद्ध है; क्योंकि इनके घटक सभी द्रव्य स्वयं सिद्ध हैं। उनकी कार्यकारणपरम्परा, परिवर्तन स्वभाव, परस्पर निमित्तता और अन्योन्य प्रभावकता, अनादि कालसे बराबर चली आ रही हैं। इसके लिए किसी विधाता, नियन्ता, अधिष्ठाता या व्यवस्थापककी आवश्यकता नहीं है। ऋतुओंका परिवर्तन, रात-दिनका विभाग, नदी-नाले, पहाड़ आदिका विवर्तन आदि सब पुद्‌गलद्रव्योंके परसपर संयोग, विभाग, संश्लेष और विश्लेष आदिके कारण स्वयं होते रहते हैं। सामान्यतः हर द्रव्य अपनी पर्यायोंका उपादान है, और सम्प्राप्त सामग्रीके अनुसार अपनेको बदलता रहता है। इसी तरह अनन्त कार्यकारणभावोंकी स्वयमेव सृष्टि होती रहती है। हमारी स्थूल दृष्टि जिन परिवर्तनोंको देखकर आश्चर्यचकित होती है, वे अचानक नहीं हो जाते। किन्तु उनके पीछे परिणमनोंकी सुनिश्चित परम्परा है। हमें तो असंख्य परिणमनोंका औसत और स्थूल रूप ही दिखाई देता है। प्रतिक्षणभावी सूक्ष्म परिणमन और उनके अनन्त कार्यकारणजालको समझना

साधारण बुद्धिका कार्य नहीं है। दूरकी बात जाने दीजिये, सर्वथा और सर्वदा अतिसमीप शरीरको ही ले लीजिए। उनके भीतर नसाजाल, रुधिरप्रवाह और पाकयंत्रमें कितने प्रकारके परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते हैं, जिनका स्पष्ट ज्ञान करना दुःशक्य है। जब वे परिवर्तन एक निश्चित धाराको पकड़कर किसी विस्फोटक रागके रूपमें हमारे सामने उपस्थित होते हैं, तब हमें चेत आता है।

जगत् पारमार्थिक और स्वतःसिद्ध है :

दृश्य जगत् परमाणुरूप स्वतंत्र द्रव्योंका मात्र दिखाव ही नहीं है, किन्तु अनन्त पुद्गलपरमाणुओंके बने हुए स्कन्धोंका बनाव है। हर स्कन्धके अन्तर्गत परमाणुओंमें परस्पर इतना प्रभावक रासायनिक सम्बन्ध है कि सबका अपना स्वतंत्र परिणमन होते हुए भी उनके परिणमनोंमें इतना सादृश्य होता है कि लगता है, जैसे इनकी पृथक् सत्ता ही न हो। एक आमके फलरूप स्कन्धमें सम्बद्ध परमाणु अमुक काल तक एक-जैसा परिणमन करते हुए भी परिपाक कालमें कहीं पीले, कहीं हरे, कहीं खट्टे, कहीं मीठे, कहीं पक्वगन्धी, कहीं आमगन्धी, कहीं कोमल और कहीं कठोर आदि विविध प्रकारके परिणमनोंको करते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी तरह पर्वत आदि महास्कन्ध सामान्यतया स्थूलदृष्टिसे एक दिखाई देते हैं, पर हैं वे असंख्य पुद्गलाणुओंके विशिष्ट सम्बन्धको प्राप्त पिण्ड ही।

जब परमाणु किसी स्कन्धमें शामिल होते हैं, तब भी उनका व्यक्तिशः परिणमन रुकता नहीं है, वह तो अविरामगतिसे चलता रहता है। उसके घटक सभी परमाणु अपने बलाबलके अनुसार मोर्चेबन्दी करके परिणमनयुद्ध आरम्भ करते हैं और विजयी परमाणुसमुदाय शेष परमाणुओंको अमुक प्रकारका परिणमन करनेके लिए बाध्य कर देते हैं। यह युद्ध अनादि कालसे चला है और अनन्तकाल तक बराबर चलता जायगा। प्रत्येक परमाणुमें भी अपनी उत्पादन और व्यय शक्तिका द्वन्द्व सदा चलता रहता है। यदि आप सीमेन्ट फैक्टरीके उस बायलरको ठण्डे शीशेसे देखें तो उसमें असंख्य परमाणुओंकी अतितीव्र गतिसे होनेवाली उथल-पुथल आपके माथेको चकरा देगी।

तात्पर्य यह कि मूलतः उत्पाद-व्ययशील और गतिशील परमाणुओंके विशिष्ट समुदायरूप विभिन्न स्कन्धोंका समुदाय यह दृश्य जगत् "प्रतिक्षणं गच्छतीति जगत्" अपनी इस गतिशील 'जगत्' संज्ञाको सार्थक कर रहा है। इस स्वाभाविक, सुनियंत्रित, सुव्यवस्थित, सुयोजित और सुसम्बद्ध विश्वका नियोजन स्वतः है उसे किसी सर्वान्तर्यामीकी बुद्धिकी कोई अपेक्षा नहीं है।

यह ठीक है कि मनुष्य प्रकृतिके स्वाभाविक कार्यकारणतत्त्वोंकी जानकारी करके उनमें तारतम्य, हेर-फेर और उनपर एक हद तक प्रभुत्व स्थापित कर

सकता है, और इस यांत्रिक युगमें मनुष्यने विशालकाय यन्त्रोंमें प्रकृतिके अणुपुञ्जोंको स्वेच्छित परिणमन करनेके लिए बाध्य भी किया है। और जब तक यंत्रका पंजा उनको दबोचे है तब तक वे बराबर अपनी द्रव्ययोग्यताके अनुसार उस रूपसे परिणमन कर भी रहे हैं और करते भी रहेंगे, किन्तु अनन्त महासमुद्रमें बुद्बुद्के समान इन यंत्रोंका कितना-सा प्रभुत्व ? इसी तरह अनन्त परमाणुओंके नियन्त्रक एक ईश्वरकी कल्पना मनुष्यके अपने कमजोर और आश्चर्यचकित दिमागकी उपज है। जब बुद्धिके उषाकालमें मानवने एकाएक भयंकर तूफान, गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ, विकराल समुद्र और फटती हुई ज्वालामुखीके शैलाव देखे तो वह सिर पकड़कर बैठ गया और अपनी समझमें न आनेवाली अदृश्य शक्तिके आगे उसने माथा टेका, और हर आश्चर्यकारी वस्तुमें उसे देवत्वकी कल्पना हुई। इन्हीं असंख्य देवोंमेंसे एक देवोंका देव महादेव भी बना, जिसकी बुनियाद भय, कौतूहल और आश्चर्यकी भूमिपर खड़ी हुई है और कायम भी उसी भूमिपर रह सकती है।

५. पदार्थका स्वरूप

हम पहले बता आये हैं कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूपसे त्रिलक्षण है। द्रव्यका सामान्यलक्षण परिणमनकी दृष्टिसे उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकत्व ही है। प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण और पर्यायोंका आधार है[1]। गुण द्रव्यमें रहते हैं, पर स्वयं निर्गुण होते हैं[2]। ये गुण द्रव्यके स्वभाव होते हैं। इन्हीं गुणोंके परिणमनसे द्रव्यका परिणमन लक्षित होता है। जैसे कि चेतन द्रव्यमें ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि अनेक सहभावी गुण हैं। ये गुण प्रतिक्षण द्रव्यके उत्पाद-व्यय स्वभावके अनुसार किसी-न-किसी अवस्थाको प्रतिक्षण धारण करते रहते हैं। ज्ञान गुण जिस समय जिस पदार्थको जानता है, उस समय तदाकार होकर 'घटज्ञान, पटज्ञान' आदि विशेष पर्यायोंको प्राप्त होता है। इसी तरह सुख आदि गुण भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार तरतमादि पर्यायोंको धारण करते हैं। पुद्गलका एक परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श इन विशेष गुणोंका युगपत् अविरोधी आधार है। परिवर्तनपर चढ़ा हुआ यह पुद्गल परमाणु अपने उत्पाद और व्ययको भी इन्हीं गुणोंके द्वारा प्रकट करता है, अर्थात् रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि गुणोंका परिवर्तन ही द्रव्यका परिवर्तन है। इन गुणोंकी वर्तमान-कालीन जो अवस्था होती है वह पर्याय कहलाती है। गुण किसी-न-किसी पर्यायको प्रतिक्षण धारण करता है। गुण और पर्यायका द्रव्य ही ठोस और मौलिक आधार है। यह द्रव्य गुणोंकी कोई-न-कोई पर्याय प्रतिक्षण धारण करता है और किसी-न-किसी पूर्व पर्यायको छोड़ता है।

गुण और धर्म :

वस्तुमें गुण परिगणित हैं, किन्तु परकी अपेक्षा व्यवहारमें आनेवाले धर्म अनन्त होते हैं। गुण स्वभावभूत हैं और इनकी प्रतीति परनिरपेक्ष होती है, जब कि धर्मोंकी प्रतीति परसापेक्ष होती है और व्यवहारके लिए इनकी अभिव्यक्ति वस्तुकी योग्यताके अनुसार होती रहती है। जीवके असाधारण गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि और साधारण गुण हैं वस्तुत्व, प्रमेयत्व, सत्त्व आदि। पुद्गलके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श असाधारण गुण हैं। धर्म द्रव्यका गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्यका स्थितिहेतुत्व, आकाशका अवगाहननिमित्तत्व और कालका वर्तना-

---

१. "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३८।

२. "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ४०।

हेतुत्व असाधारण गुण है। इनके साधारण गुण वस्तुत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व और अभिधेयत्व आदि हैं। जीवमें ज्ञानादि गुणोंकी सत्ता और प्रतीति परनिरपेक्ष अर्थात् स्वाभाविक है, किन्तु छोटापन-बड़ापन, पितृत्व-पुत्रत्व और गुरुत्व-शिष्यत्व आदि धर्म परसापेक्ष हैं। यद्यपि इनकी योग्यता जीवमें है, पर ज्ञानादिके समान ये स्वरसतः गुण नहीं हैं। इसी तरह पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो स्वाभाविक—परनिरपेक्ष गुण हैं, परन्तु छोटापन, बड़ापन, एक, दो, तीन आदि संख्याएँ और संकेतके अनुसार होनेवाली शब्दवाच्यता आदि ऐसे धर्म हैं जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहारार्थ होती है। एक ही पदार्थ अपनेसे भिन्न अनन्त दूर-दूरतर और दूरतम पदार्थोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारकी दूरी और समीपता रखता है। इसी तरह अपनेसे छोटे और बड़े अनन्त परपदार्थोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका छोटापन और बड़ापन रखता है। पर ये सब धर्म चूँकि परसापेक्ष प्रकट होनेवाले हैं, अतः इन्हें गुणोंकी श्रेणीमें नहीं रख सकते। गुणका लक्षण आचार्यने निम्न-लिखित प्रकारसे किया है—

[१]"गुण इति दव्वविहाणं दव्ववियारो य पज्जवो भणियो।"

अर्थात्—गुण द्रव्यका विधान, यानी निज प्रकार है, और पर्याय द्रव्यका विकार अर्थात् अवस्थाविशेष है। इस तरह द्रव्य परिणमनकी दृष्टिसे गुणपर्यायात्मक होकर भी व्यवहारमें अनन्त परद्रव्योंकी अपेक्षा अनन्तधर्मा रूपसे प्रतीतिका विषय होता है।

अर्थ सामान्यविशेषात्मक है :

बाह्य अर्थकी पृथक् सत्ता सिद्ध हो जानेके बाद विचारणीय प्रश्न यह है कि अर्थका वास्तविक स्वरूप क्या है? हम पहले बता आये हैं कि सामान्यतः प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशाली है। इसका संक्षेपमें हम सामान्यविशेषात्मकके[२] रूपमें भी विवेचन कर सकते हैं। प्रत्येक पदार्थमें दो प्रकारके अस्तित्व हैं—स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्यको अन्य सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असंकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्वका प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है। इसीके कारण प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें अपनेसे भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायोंसे असंकीर्ण बनी रहती हैं और अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ इतर द्रव्योंसे

---

१. उद्धृत–सर्वार्थसिद्धि ५। ३८।

२. "द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थवेदनम्।" —न्यायविनि० १।३।

विवक्षितद्रव्यकी व्यावृत्ति कराता है, वहाँ अपनी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें अनुगत भी रहता है। इस स्वरूपास्तित्वसे अपनी पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है, और इतर द्रव्योंसे व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। यही द्रव्य कहलाता है, क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायोंमें द्रवित होता है संततिपरंपरासे प्राप्त होता है। बौद्धोंकी संतति और इस स्वरूपास्तित्वमें निम्नलिखित भेद विचारणीय है।

स्वरूपा तित्व और सन्तान :

जिस तरह जैन एक स्वरूपास्तित्व अर्थात् ध्रौव्य या द्रव्य मानते हैं, उसी तरह बौद्ध सन्तान स्वीकार करते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणमन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षणमें पर्यायोंके रूपमें न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश बिलकुल अपरिवर्तनशील रहता है, और कुछ अंश परिवर्तनशील; तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षोंमें दिये जानेवाले दोष ऐसी वस्तुमें आयँगे। कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध माननेके कारण पर्यायोंके परिवर्तित होने पर द्रव्यमें कोई अपरिवर्तिष्णु अंश बच ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही सिद्ध होंगे। इस तरह कोई एक मार्ग ही पकड़ना होगा—या तो वस्तु नित्य मानी जाय, या बिलकुल परिवर्तनशील यानी चेतन वस्तु भी अचेतनरूपसे परिणमन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओंके मध्यका ही वह मार्ग है, जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला, जिससे एक द्रव्य अपने द्रव्यत्वकी सीमाको लाँघकर दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणत हो जाय।

सीधे शब्दोंमें ध्रौव्यकी यही परिभाषा हो सकती है कि 'किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षण परिणमन करते रहने पर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नहीं होना।' इस स्वरूपास्तित्वका नाम ही द्रव्य, ध्रौव्य, या गुण है। बौद्धोंके द्वारा मानी गई संतानका भी यही कार्य है। वह नियत पूर्वक्षणका नियत उत्तरक्षणके साथ ही समनन्तरप्रत्ययके रूपमें कार्यकारणभाव बनाता है, अन्य सजातीय या विजातीय क्षणान्तरसे नहीं। तात्पर्य यह है कि इस संतानके कारण एक पूर्वचेतनक्षण अपनी धाराके उत्तरचेतनक्षणके लिए ही समनन्तरप्रत्यय यानी उपादान होता है, अन्य चेतनान्तर या अचेतनक्षणका नहीं।

इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे द्रव्य या संतानके कार्य या उपयोगमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूपके निरूपणमें।

बौद्ध[1] इस संतानको पंक्ति और सेना व्यवहारकी तरह 'मृषा' कहते हैं। जैसे दस मनुष्य एक लाइनमें खड़े हैं और अमुक मनुष्य घोड़े आदि का एक समुदाय है, तो उनमें पंक्ति या सेना नामकी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, फिर भी उनमें पंक्ति और सेना व्यवहार हो जाता है, उसी तरह पूर्व और उत्तर क्षणोंमें व्यवहृत होनेवाली सन्तान भी 'मृषा' याने असत्य है। इस संतानकी स्थितिसे द्रव्यकी स्थिति विलक्षण प्रकारकी है। वह किसी मनुष्यके दिमागमें रहनेवाली केवल कल्पना नहीं है, किन्तु क्षणकी तरह सत्य है। जैसे पंक्तिके अन्तर्गत दस भिन्न सत्तावाले पुरुषोंमें एक पंक्ति नामका वास्तविक पदार्थ नहीं है, फिर भी इस प्रकारके संकेतसे पंक्ति व्यवहार हो जाता है, उसी तरह अपनी क्रमिक पर्यायोंमें पाया जानेवाला स्वरूपास्तित्व भी सांकेतिक नहीं है, किन्तु परमार्थसत् है। 'मृषा' से सत्यव्यवहार नहीं हो सकता। बिना एक तात्त्विक स्वरूपास्तित्वके क्रमिक पर्यायें एक धारामें असंकरभावसे नहीं चल सकतीं। पंक्तिके अन्तर्गत एक पुरुष अपनी इच्छानुसार उस पंक्तिसे विच्छिन्न हो सकता है, पर कोई भी पर्याय चाहनेपर भी न तो अपने द्रव्यसे विच्छिन्न हो सकती है, और न द्रव्यान्तरमें विलीन ही, और न अपना क्रम छोड़कर आगे जा सकती है और न पीछे।

संतानका खोखलापन :

बौद्धके संतानकी अवास्तविकता और खोखलापन तब समझमें आता है, जब वे निर्वाणमें चित्तसंततिका समूलोच्छेद स्वीकार कर लेते हैं, अर्थात् सर्वथा अभाववादी निर्वाणमें यदि चित्त दीपककी तरह बुझ जाता है, तो वह चित्त एक दीर्घकालिक धाराके रूपमें ही रहनेवाला अस्थायी पदार्थ रहा। उसका अपना मौलिकत्व भी सार्वकालिक नहीं हुआ, किन्तु इस तरह एक स्वतंत्र पदार्थका सर्वथा उच्छेद स्वीकार करना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। यद्यपि बुद्धने निर्वाणके स्वरूपके सम्बन्धमें अपना मौन रखकर इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें रखा था, किन्तु आगेके आचार्योंने उसकी प्रदीप-निर्वाणकी तरह जो व्याख्या की है, उससे निर्वाणका उच्छेदात्मक स्वरूप ही फलित होता है। यथा—

---

१. "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।"

—बोधिचर्या० पृ० ३३४।

"दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
आत्मा तथा निर्वृतिमभ्युपेतः
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥"
—सौन्दरनन्द १६।२८-२९ ।

अर्थात्—जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न किसी दिशाको जाता है, न विदिशाको, न आकाशको और न पातालको, किन्तु तेलके क्षय हो जाने पर केवल बुझ जाता है, उसी तरह निर्वाण अवस्थामें चित्त न दिशाको जाता है, न विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वीको । वह क्लेशके क्षयसे केवल शान्त हो जाता है ।

उच्छेदात्मक निर्वाण अप्रातीतिक है :

इस तरह जब उच्छेदात्मक निर्वाणमें चित्तकी सन्तान भी समाप्त हो जाती है, तो उस 'मृषा' सन्तानके बलपर संसार अवस्थामें कर्मफलसम्बन्ध, बन्ध, मोक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान आदिकी व्यवस्थाएँ बनाना कच्ची नींवपर मकान बनानेके समान हैं । झूठी संतानमें कर्मवासनाका संस्कार मानकर उसीमें कपासके बीजमें लाखके संस्कारसे रंगभेदकी[1] कल्पनाकी तरह फलकी संगति बैठाना भी नहीं जम सकता । कपासके बीजके जिन परमाणुओंको लाखके रंगसे सींचा था, वे ही स्वरूपसत् परमाणुपर्याय बदलकर रुईके पौधेकी शकलमें विकसित हुए हैं, और उन्हींमें उस संस्कारका फल विलक्षण लाल रंगके रूपमें आया है । यानी इस दृष्टान्तमें सभी चीजें वस्तुसत् हैं, 'मृषा' नहीं, किन्तु जिस सन्तानपर बौद्ध कर्मवासनाओंका संस्कार देना चाहते हैं और जिसे उसका फल भुगतवाना चाहते हैं, उस सन्तानको पंक्तिकी तरह बुद्धिकल्पित नहीं माना जा सकता, और न उसका निर्वाण अवस्थामें समूलोच्छेद ही स्वीकार किया जा सकता है । अतः निर्वाणका यदि कोई युक्तिसिद्ध और तात्त्विक स्वरूप बन सकता है तो वह निरास्रवचित्तोत्पाद

---

१. "यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा ॥"
—तत्त्वसं० पं० पृ० १८२ में उद्धृत ।

रूप ही, जैसा कि तत्त्वसंग्रहकी पञ्जिका (पृष्ठ १८४) में उद्धृत निम्नलिखित श्लोकसे फलित होता है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥"

अर्थात्—रागादि क्लेशसे दूषित चित्त ही संसार है और रागादिसे रहित वीतराग चित्त ही भवान्त अर्थात् मुक्ति है ।

जब वही चित्त संसार अवस्थासे बदलता-बदलता मुक्ति अवस्थामें निरास्रव हो जाता है, तब उसकी परंपरारूप संततिको सर्वथा अवास्तविक नहीं कहा जा सकता । इस तरह द्रव्यका प्रतिक्षण पर्यायरूपसे परिवर्तन होने पर भी जो उसकी अनाद्यनन्त स्वरूपस्थिति है और जिसके कारण उसका समूलोच्छेद नहीं हो पाता, वह स्वरूपास्तित्व या ध्रौव्य है । यह काल्पनिक न होकर परमार्थसत्य है । इसीको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं ।

दो सामान्य :

दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है, इसे तिर्यक्सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं । अनेक स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्योंमें 'गौः गौः' या 'मनुष्यः मनुष्यः' इस प्रकारके अनुगत व्यवहारके किसी नित्य, एक और अनेकानुगत गोत्व या मनुष्यत्व नामके सामान्यकी कल्पना करना उचित नहीं है; क्योंकि दो स्वतंत्र सत्तावाले द्रव्योंमें अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नहीं सकता । वह उन दोनों द्रव्योंकी संयुक्त पर्याय तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि एक पर्यायमें दो अतिभिन्नक्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नहीं होते । फिर अनुगत व्यवहार तो संकेत-ग्रहणके बाद होता है । जिस व्यक्तिने अनेक मनुष्योंमें बहुतसे अवयवोंकी समानता देखकर सादृश्यकी कल्पना की है, उसीको उस सादृश्यके संस्कारके कारण 'मनुष्यः मनुष्यः' ऐसी अनुगत प्रतीति होती है । अतः दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत प्रतीतिका कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना चाहिए, जो कि प्रत्येक द्रव्यमें परिसमाप्त होता है । ऊर्ध्वता सामान्य, जो स्वरूपास्तित्वरूप है, ऊपर कहा जा चुका है । इस तरह दो सामान्य हैं ।

दो विशेष :

इसी तरह एक द्रव्यकी पर्यायोंमें कालक्रमसे व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला पर्याय नामका विशेष है । दो द्रव्योंमें व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला व्यतिरेक नामका विशेष

है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वता[1] सामान्यसे होता है और व्यावृत्तप्रत्यय पर्याय[2] नामके विशेषसे। दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुवृत्त प्रत्यय तिर्यक् सामान्य[3] (सादृश्यास्तित्व) से तथा व्यावृत्त प्रत्यय व्यतिरेक[4] नामक विशेषसे होता है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक :

जगत्का प्रत्येक पदार्थ इस प्रकार सामान्य-विशेषात्मक है। पदार्थका सामान्य-विशेषात्मक विशेषण धर्मरूप है जो अनुगत प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्ययका विषय होता है। पदार्थकी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता परिणमनसे सम्बन्ध रखती है। ऊपर जो सामान्य और विशेषको धर्म बताया है, वह तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक विशेषसे ही सम्बन्ध रखता है। द्रव्यके ध्रौव्यांशको ही ऊर्ध्वता सामान्य और उत्पाद-व्ययको ही पर्याय नामक विशेष कहते हैं। वर्तमानके प्रति अतीतका और भविष्यके प्रति वर्तमानका उपादान कारण होना, यह सिद्ध करता है कि तीनों क्षणोंकी अविच्छिन्न कार्यकारणपरंपरा है। प्रत्येक पदार्थकी यह सामान्यविशेषात्मकता उसके अनन्तधर्मात्मकत्वका ही लघु स्वरूप है।

तिर्यक् सामान्यरूप सादृश्यकी अभिव्यक्ति यद्यपि परसापेक्ष है, किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य जुदा-जुदा है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येकमें परिसमाप्त है।

पदार्थ न तो केवल सामान्यात्मक ही है और न विशेषात्मक ही। यदि केवल ऊर्ध्वतासामान्यात्मक अर्थात् सर्वथा नित्य अविकारी पदार्थ स्वीकार किया जाता है तो वह त्रिकालमें सर्वथा एकरस, अपरिवर्तनशील और कूटस्थ बना रहेगा। ऐसे पदार्थमें कोई परिणमन न होनेसे जगत्के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। कोई भी क्रिया फलवती नहीं हो सकेगी। पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था नष्ट हो जायगी। अतः उस वस्तुमें परिवर्तन तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा। हम नित्यप्रति देखते हैं कि बालक दोजके चद्रमाके समान बढ़ता है, सीखता है और जीवन-विकासको प्राप्त कर रहा है। जड़ जगत्के विचित्र परिवर्तन तो हमारी आँखोंके सामने हैं। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हों तो उनमें क्रम या युगपत् किसी

---

१. "परापरविवर्तव्यापि द्रव्यम् ऊर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।"—परी० ४.५।

२. "एकस्मिद् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत्।"
—परी० ४।८।

३. "सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।"—परी० ४।४।

४. "अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।"—परीक्षामुख ४।९।

भी रूपसे कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी। और अर्थक्रियाके अभावमें उनकी सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाती है।

इसी तरह यदि पदार्थको पर्याय नामक विशेषके रूपमें ही स्वीकार किया जाय, अर्थात् सर्वथा क्षणिक माना जाय, याने पूर्वक्षणका उत्तरक्षणके साथ कोई सम्बन्ध स्वीकार न किया जाय; तो देन-लेन, गुरु-शिष्यादि व्यवहार तथा बन्ध-मोक्षादि व्यवस्थाएँ समाप्त हो जाँयगी। न कारण-कार्यभाव होगा और न अर्थक्रिया ही। अतः पदार्थको ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय नामक विशेषके रूपमें सामान्य-विशेषात्मक यह द्रव्यपर्यायात्मक ही स्वीकार करना चाहिये।

६. षट्द्रव्य विवेचन

छह द्रव्य :

द्रव्यका सामान्य लक्षण यह है—जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोंको क्रमशः प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त[1] होता है। इसका विशेष विवेचन पहले किया जा चुका है। उसके मूल छह भेद हैं—१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल। ये छहों द्रव्य प्रमेय होते हैं।

१. जीव द्रव्य :

जीव द्रव्यको, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जैनदर्शनमें एक स्वतंत्र मौलिक माना है। उसका सामान्यलक्षण उपयोग[2] है। उपयोग अर्थात् चैतन्यपरिणति। चैतन्य ही जीवका असाधारण गुण है जिससे वह समस्त जड़द्रव्योंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपसे दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है उस समय वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह 'दर्शन' कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। चूँकि उसका अनादिकालसे सूक्ष्म कार्मण शरीरसे सम्बन्ध है, अतः वह कर्मोदयसे प्राप्त शरीरके आकारके अनुसार छोटे-बड़े आकारको धारण करता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित गाथामें बहुत स्पष्ट बताया गया है—

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥"

—द्रव्यसंग्रह गाथा २।

अर्थात्—जीव उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

यद्यपि जीवमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नहीं पाये जाते,

---

१. "अपरिच्चत्तसहावेणुप्पायव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥३॥"—प्रवचनसार।
"दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं।"—पंचा० गा० ९।

२. "उपयोगो लक्षणम्"—तत्त्वार्थसूत्र २।८।

इसलिए वह स्वभावसे अमूर्तिक है। फिर भी प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार होनेसे वह अपने छोटे-बड़े शरीरके परिमाण हो जाता है। आत्माके आकारके विषयमें भारतीय दर्शनोंमें मुख्यतया तीन मत पाये जाते हैं।[1] उपनिषद्में आत्माके सर्वगत और व्यापक होनेका जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके [2]अंगुष्ठमात्र तथा अणुरूप होनेका भी कथन है।

व्यापक आत्मवाद :

वैदिक दर्शनोंमें प्रायः आत्माको अमूर्त और व्यापी स्वीकार किया है। व्यापक होने पर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न (शरीरके भीतरके) आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि विशेषगुणोंकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त्त होनेके कारण आत्मा निष्क्रिय भी है। उसमें गति नहीं होती। शरीर और मन चलता है, और अपनेसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादिकी अनुभूतिका साधन बनता जाता है।

इस व्यापक आत्मवादमें सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि—एक अखण्ड द्रव्य कुछ भागोंमें सगुण और कुछ भागोंमें निर्गुण कैसे रह सकता है? फिर जब सब आत्माओंका सम्बन्ध सबके शरीरोंके साथ है, तब अपने-अपने सुख, दुख और भोगका नियम बनना कठिन है। अदृष्ट भी नियामक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येकके अदृष्टका सम्बन्ध उसकी आत्माकी तरह अन्य शेष आत्माओंके साथ भी है। शरीरसे बाहर अपनी आत्माकी सत्ता सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यापकपक्षमें एकके भोजन करने पर दूसरेको तृप्ति होनी चाहिए, और इस तरह समस्त व्यवहारोंका सांकर्य हो जायगा। मन और शरीरके सम्बन्धकी विभिन्नतासे व्यवस्था बैठाना भी कठिन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें संसार और मोक्षकी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जाती हैं। यह सर्वसम्मत नियम है कि जहाँ गुण पाये जाते हैं, वहीं उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव माना जाता है। गुणोंके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न तो बड़ा होता है, और न छोटा ही। सर्वत्र आकृतिमें गुणीके बराबर ही गुण होते हैं। अब यदि हम विचार करते हैं तो जब ज्ञानदर्शनादि आत्माके गुण हमें शरीरके बाहर उपलब्ध नहीं होते तब गुणोंके बिना गुणीका सद्भाव शरीरके बाहर कैसे माना जा सकता है?

अणु आत्मवाद :

इसी तरह आत्माको अणुरूप मानने पर, अंगूठेमें काँटा चुभनेसे सारे शरीरके आत्मप्रदेशोंमें कम्पन और दुःखका अनुभव होना असम्भव हो जाता है। अणुरूप

---

१. "सर्वव्यापिनमात्मानम्।"–श्वे० १।१६।

२. "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" –श्वे० ३।१३। कठो० ४।१२।
"अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा..." –छान्दो० ३।१४।३।

आत्माकी सारे शरीरमें अतिशीघ्र गति मानने पर भी इस शंकाका उचित समाधान नहीं होता; क्योंकि क्रम अनुभवमें नहीं आता। जिस समय अणु आत्माका चक्षुके साथ सम्बन्ध होता है, उस समय भिन्नक्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असंभव है। किन्तु नीबूको आँखसे देखते ही जिह्वा इन्द्रियमें पानीका आना यह सिद्ध करता है कि दोनों इन्द्रियोंके प्रदेशोंसे आत्मा युगपत् सम्बन्ध रखता है। सिरसे लेकर पैर तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमें काल-भेद होना स्वाभाविक है जो कि सर्वांगीण रोमाञ्चादि कार्यसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध है। यही कारण है कि जैन दर्शनमें आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी शक्ति मानकर उसे शरीरपरिमाणवाला स्वीकार किया है। एक ही प्रश्न इस सम्बन्धमें उठता है कि—'अमूर्तिक आत्मा कैसे छोटे-बड़े शरीरमें भरा रह सकता है, उसे तो व्यापक ही होना चाहिए या फिर अणुरूप ?' किन्तु जब अनादिकालसे इस आत्मामें पौद्गलिक कर्मोंका सम्बन्ध है, तब उसके शुद्ध स्वभावका आश्रय लेकर किये जानेवाले तर्क कहाँ तक संगत हैं ? 'इस प्रकारका एक अमूर्तिक द्रव्य है जिसमें कि स्वभावसे संकोच और विस्तार होता है।' यह माननेमें युक्तिका बल अधिक है; क्योंकि हमें अपने ज्ञान और सुखादि गुणोंका अनुभव अपने शरीरके भीतर ही होता है।

भूत-चैतन्यवाद :

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे शरीरकी उत्पत्तिकी तरह आत्माकी भी उत्पत्ति मानते हैं। जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थोंके सड़ानेसे शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है उसी तरह भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य आत्माका धर्म न होकर शरीरका ही धर्म है और इसलिए जीवनकी धारा गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही चलती है। मरण-कालमें शरीरयंत्रमें विकृति आ जानेसे जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है। यह देहात्मवाद बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है और इसका उल्लेख उपनिषदोंमें भी देखा जाता है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योंके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वे इस जन्ममें अपना विकास करते हैं। जन्मान्तरस्मरणकी अनेकों घटनाएँ सुनी गई हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोड़कर आत्मा नये शरीर-को धारण करता है। यह ठीक है कि—इस कर्मपरतंत्र आत्माकी स्थिति बहुत

कुछ शरीर और शरीरके अवयवोंके आधीन हो रही है। मस्तिष्कके किसी रोगसे विकृत हो जाने पर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। रक्त-चापकी कमी-बेशी होने पर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक भूतवादियोंने भी थाइराइड और पिचुयेटरी (Thyroyd and Pituatury) ग्रन्थियोंमेंसे उत्पन्न होनेवाले हारमोन (Hormone) नामक द्रव्यके कम हो जाने पर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतंत्र आत्मतत्त्वके मानने पर ही संभव हो सकता है; क्योंकि संसारी दशामें आत्मा इतना परतन्त्र है कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी बिना इन्द्रियादिके सहारे नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखेसे देखनेवाले पुरुषको देखनेमें झरोखा सहारा देता है। [1]कहीं-कहीं जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय पुद्गल विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुतः वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन पर्याप्तियोंके सहारे होता है वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें 'पुद्गल' विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नहीं। आत्मवादके प्रसंगमें जैनदर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् द्रव्य स्वीकार करके भी शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

इच्छा आदि स्वतंत्र आत्माके धर्म हैं :

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि किसी भी भौतिक यंत्रमें स्वयं चलने, अपने आपको टूटनेपर सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नहीं हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिषविद्याका विकास, मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रंग-विरंगा करना आदि बातें, एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्यका ही कार्य हो सकती हैं। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम परिणामका

---

१. "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"

—उद्धृत, धवला टी० प्र० पु०, पृष्ठ ११८।

हमारे सामने है। अनुभव-सिद्ध कार्यकारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तार-स्वभाववाला स्वभावतः अमूर्तिक द्रव्य माननेको प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोंका विकास नियत प्रदेशोंमें नहीं हो सकता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार आत्माको शरीरपरिमाण माननेपर भी देखनेकी शक्ति आँखमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही मानी जाती है और सूँघनेकी शक्ति नाकमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें ही, उसी तरह आत्माको व्यापक मान करके शरीरान्तर्गत आत्मप्रदेशोंमें ज्ञानादि गुणोंका विकास माना जा सकता है ? परन्तु शरीरप्रमाण आत्मामें देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोंमें ही नहीं मानी गई है, अपितु सम्पूर्ण आत्मामें। वह आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है, अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोंसे रूप और गंध आदिका परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्म-संस्कारोंके कारण उसकी अनन्त शक्ति इसी प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है। जब कर्मवासनाओं और सूक्ष्म कर्मशरीरका संपर्क छूट जाता है, तब यह अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपमें लीन हो जाता है। उस समय इसके आत्म-प्रदेश अन्तिम समयके आकार रह जाते हैं; क्योंकि उनके फैलने और सिकुड़नेका कारण जो कर्म था, वह नष्ट हो चुका है; इसलिए उनका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक ही है।

संसार अवस्थामें उसकी इतनी परतंत्र दशा हो गई है कि वह अपनी किसी भी शक्तिका विकास बिना शरीर और इन्द्रियोंके सहारे नहीं कर सकता है। और तो जाने दीजिए, यदि उपकरण नष्ट हो जाता है, तो वह अपनी जाग्रत शक्तिको भी उपयोगमें नहीं ला सकता। देखना, सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना ये क्रियायें जैसे इन्द्रियोंके बिना नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार विचारना, संकल्प और इच्छा आदि भी बिना मनके नहीं हो पाते; और मनकी गति-विधि समग्र शरीर-यन्त्रके चालू रहनेपर निर्भर करती है। इसी अत्यन्त परनिर्भरताके कारण जगत्‌के अनेक विचारक इसकी स्वतंत्र सत्ता माननेको भी प्रस्तुत नहीं हैं। वर्तमान शरीरके नष्ट होते ही जीवनभारका उपार्जित ज्ञान, कला-कौशल और चिरभावित भावनाएँ सब अपने स्थूलरूपमें समाप्त हो जातीं हैं। इनके अतिसूक्ष्म संस्कार-बीज ही शेष रह जाते हैं। अतः प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजे-पर पहुँचा देती हैं, कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला, स्वतंत्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्वके खासे प्रमाण हैं। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा

आदिके आरम्भमें जुट जाना भौतिकयंत्रका काम नहीं हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़ने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं कर ले, स्वयं प्रेरणा ले, और समझ-बूझकर चले, यह असंभव है।

कर्त्ता और भोक्ता :

आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्त्ता है और उनके फलोंका भोक्ता है। सांख्यकी तरह वह अकर्त्ता और अपरिणामी नहीं है और न प्रकृतिके द्वारा किये गए कर्मोंका भोक्ता ही। इस सर्वदा परिणामी जगत्में प्रत्येक पदार्थका परिणमन-चक्र प्राप्त सामग्रीसे प्रभावित होकर और अन्यको प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है। आत्माकी कोई भी क्रिया, चाहे वह मनसे विचारात्मक हो, या वचनव्यवहाररूप हो, या शरीरकी प्रवृत्तिरूप हो, अपने कार्मण शरीरमें और आसपासके वातावरणमें निश्चित असर डालती है। आज यह वस्तु सूक्ष्म कैमरा यन्त्रसे प्रमाणित की जा चुकी है। जिस कुर्सीपर एक व्यक्ति बैठता है, उस व्यक्तिके उठ जानेके बाद अमुक समय तक वहाँके वातावरणमें उस व्यक्तिका प्रतिबिम्ब कैमरेसे लिया गया है। विभिन्न प्रकारके विचारों और भावनाओंकी प्रतिनिधिभूत रेखाएँ मस्तिष्कमें पड़ती हैं। यह भी प्रयोगोंसे सिद्ध किया जा चुका है।

चैतन्य इन्द्रियोंका धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियोंके बने रहनेपर चैतन्य नष्ट हो जाता है। यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म चैतन्य माना जाता है; तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे अनुसन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमलीको या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इद्रियोंका प्रयोक्ता कोई पृथक् सूत्र-संचालक है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं, अतः अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो; तो उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए, जैसे कि मिट्टीके रूपादिका अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घड़ेमें होता है।

तुरन्त उत्पन्न हुए बालकमें दूध पीने आदिकी चेष्टाएँ उसके पूर्वभवके संस्कारों को सूचित करती हैं। कहा भी है—

> "तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृतेः।
> भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥"
>
> —उद्धृत, प्रमेयरत्नमाला ४।८।

अर्थात्—तत्काल उत्पन्न हुए बालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत, राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोकके स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोंका चैतन्यमें

अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

रागादि वातपित्तादिके धर्म नहीं :

राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार भी चैतन्यके ही होते हैं। वे वात, पित्त और कफ आदि भौतिक द्रव्योंके धर्म नहीं हैं, क्योंकि[१] वातप्रकृतिवालेके भी पित्तजन्य द्वेष और पित्तप्रकृतिवालेके भी कफजन्य राग और कफ-प्रकृतिवालेके भी वातजन्य मोह आदि देखे जाते हैं। वातादिकी वृद्धिमें रागादिकी वृद्धि नहीं देखी जाती, अतः इन्हें वात, पित्त आदिका धर्म नहीं माना जा सकता। यदि ये रागादि वातादिजन्य हों, तो सभी वातादि-प्रकृतिवालोंके समान रागादि होने चाहिये। पर ऐसा नहीं देखा जाता। फिर वैराग्य, क्षमा और शान्ति आदि प्रतिपक्षी भावनाओं-से रागादिका क्षय नहीं होना चाहिये।

विचार वातावरण बनाते हैं :

इस तरह जब आत्मा और भौतिक पदार्थोंका स्वभाव ही प्रतिक्षण परिणमन करनेका है और वातावरणके अनुसार प्रभावित होनेका तथा वातावरणको भी प्रभावित करनेका है; तब इस बातके सिद्ध करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती कि हमारे अमूर्त व्यापारोंका भौतिक जगत्पर क्या असर पड़ता है? हमारा छोटे-से छोटा शब्द ईथरकी तरंगोंमें अपने वेगके अनुसार, गहरा या उथला कम्पन पैदा करता है। यह झनझनाहट रेडियो-यन्त्रोंके द्वारा कानोंसे सुनी जा सकती है। और जहाँ प्रेषक रेडियो-यन्त्र मौजूद हैं, वहाँसे तो यथेच्छ शब्दोंको निश्चित स्थानोंपर भेजा जा सकता है। ये संस्कार वातावरणपर सूक्ष्म और स्थूल रूपमें बहुत काल-तक बने रहते हैं। कालकी गति उन्हे धुँधला और नष्ट करती है। इसी तरह जब आत्मा कोई अच्छा या बुरा विचार करता है, तो उसकी इस क्रियासे आस-पासके वातावरणमें एक प्रकारकी खलबली मच जाती है, और उस विचारकी शक्तिके अनुसार वातावरणमें क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। जगत्के कल्याण और मंगल-कामनाके विचार चित्तको हलका और प्रसन्न रखते हैं। वे प्रकाशरूप होते हैं और उनके संस्कार वातावरणपर एक रोशनी डालते हैं, तथा अपने अनुरूप पुद्गल परमाणुओंको अपने शरीरके भीतरसे ही, या शरीरके बाहरसे खींच लेते हैं। उन विचारोंके संस्कारोंसे प्रभावित उन पुद्गल द्रव्योंका सम्बन्ध अमुक कालतक उस आत्माके साथ बना रहता है। इसीके परिपाकसे आत्मा कालान्तरमें अच्छे और बुरे अनुभव और प्रेरणाओंको पाता है। जो पुद्गल द्रव्य एक बार किन्हीं विचारों-

१. "व्यभिचारान्न वातादिधर्मः, प्रकृतिसंकरात्।"—प्रमाणवा० १। १५०।

से प्रभावित होकर खिचा या बँधा है, उसमें भी कालान्तरमें दूसरे-दूसरे विचारोंसे बराबर हेरफेर होता रहता है। अन्तमें जिस-जिस प्रकारके जितने संस्कार बचे रहते हैं; उस-उस प्रकारका वातावरण उस व्यक्तिको उपस्थित हो जाता है।

वातावरण और आत्मा इतने सूक्ष्म प्रतिबिम्बग्राही होते हैं कि ज्ञात या अज्ञात भावसे होनेवाले प्रत्येक स्पन्दनके संस्कारोंको वे प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इस परस्पर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी क्रियाको हम 'प्रभाव' शब्दसे कहते हैं। हमें अपने समान स्वभाववाले व्यक्तिको देखते ही क्यों प्रसन्नता होती है? और क्यों अचानक किसी व्यक्तिको देखकर जी घृणा और क्रोधके भावोंसे भर जाता है? इसका कारण चित्तकी वह प्रतिबिम्बग्राहिणी सूक्ष्म शक्ति है, जो आँखोंकी दूरवीन-से शरीरकी स्थूल दीवारको पार करके सामनेवालेके मनोभावोंका बहुत कुछ आभास पा लेती है। इसीलिए तो एक प्रेमीने अपने मित्रके इस प्रश्नके उत्तरमें कि "तुम मुझे कितना चाहते हो?" कहा था कि "अपने हृदयमें देख लो।" कविश्रेष्ठ कालिदास तथा विश्वकवि टैगोरने प्रेमकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है कि जिसको देखते ही हृदय किसी अनिर्वचनीय भावोंमें बहने लगे वही प्रेम है और सौंदर्य वह है जिसको देखते ही आँखें और हृदय कहने लगें कि 'न जाने तुम क्यों मुझे अच्छे लगते हो?" इसीलिए प्रेम और सौंदर्यकी भावनाओंके कम्पन एकाकार होकर भी उनके बाह्य आधार परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि स्थूल विचारसे उनका विश्लेषण कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रभावका परस्पर आदान-प्रदान प्रतिक्षण चालू है। इसमें देश, काल और आकारका भेद भी व्यवधान नहीं दे सकता। परदेशमें गये पतिके ऊपर आपत्ति आने पर पतिपरायणा नारीका सहसा अनमना हो जाना इसी प्रभावसूत्रके कारण होता है।

इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि 'अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप संजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।

जैसी करनी वैसी भरनी :

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंके द्वारा वातावरणसे उन पुद्गल परमाणुओंको खींच लेता है, या प्रभावित करके कर्मरूप

बना देता है, जिनके सम्पर्कमें आते ही वह फिर उसी प्रकारके भावोंको प्राप्त होता है। कल्पना कीजिए कि एक निर्जन स्थानमें किसी हत्यारेने दुष्टबुद्धिसे किसी निर्दोष व्यक्तिकी हत्या की। मरते समय उसने जो शब्द कहे और चेष्टाएँ कीं वे यद्यपि किसी दूसरेने नहीं देखीं, फिर भी हत्यारेके मन और उस स्थानके वातावरणमें उनके फोटो बराबर अंकित हुए हैं। जब कभी भी वह हत्यारा शान्तिके क्षणोंमें बैठता है, तो उसके चित्तपर पड़ा हुआ वह प्रतिबिम्ब उसकी आँखोंके सामने झूलता है, और वे शब्द उसके कानोंसे टकराते हैं। वह उस स्थानमें जानेसे घबड़ाता है और स्वयं अपनेमें परेशान होता है। इसीको कहते हैं कि 'पाप सिरपर चढ़कर बोलता है।' इससे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि हर पदार्थ एक कैमरा है, जो दूसरेके प्रभावको स्थूल या सूक्ष्म रूपसे ग्रहण करता रहता है; और उन्हीं प्रभावोंकी औसतसे चित्र-विचित्र वातावरण और अनेक प्रकारके अच्छे-बुरे मनोभावोंका सर्जन होता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि हर पदार्थ अपने सजातीयमें घुल-मिल जाता है, और विजातीयसे संघर्ष करता है। जहाँ हमारे विचारोंके अनुकूल वातावरण होता है, यानी दूसरे लोग भी करीब-करीब हमारी विचार-धाराके होते हैं वहाँ हमारा चित्त उनमें रच-पच जाता है, किन्तु प्रतिकूल वातावरणमें चित्तको आकुलता-व्याकुलता होती है। हर चित्त इतनी पहचान रखता है। उसे भुलावेमें नहीं डाला जा सकता। यदि तुम्हारे चित्तमें दूसरेके प्रति घृणा है, तो तुम्हारा चेहरा, तुम्हारे शब्द और तुम्हारी चेष्टाएँ सामनेवाले व्यक्तिमें सद्भावका संचार नहीं कर सकतीं और वातावरणको निर्मल नहीं बना सकतीं। इसके फलस्वरूप तुम्हें भी घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। इसे कहते हैं—'जैसी करनी तैसी भरनी।'

हृदयसे अहिंसा और सद्भावनाका समुद्र कोई महात्मा अहिंसाका अमृत लिए क्यों खूँखार और बर्बरोंके बीच छाती खोलकर चला जाता है? उसे इस सिद्धान्त-पर विश्वास रहता है कि जब हमारे मनमें इनके प्रति लेशमात्र दुर्भाव नहीं है और हम इन्हें प्रेमका अमृत पिलाना चाहते हैं तो ये कब तक हमारे सद्भावको ठुकरायँगे। उसका महात्मत्व यही है कि वह सामनेवाले व्यक्तिके लगातार अनादर करनेपर भी सच्चे हृदयसे सदा उसकी हित-चिन्तना ही करता है। हम सब ऐसी जगह खड़े हुए हैं जहाँ चारों ओर हमारे भीतर-बाहरके प्रभावको ग्रहण करनेवाले कैमरे लगे हैं, और हमारी प्रत्येक क्रियाका लेखा-जोखा प्रकृतिकी उस महाबहीमें अंकित होता जाता है, जिसका हिसाब-किताब हमें हर समय भुगतना पड़ता है। वह भुगतान कभी तत्काल हो जाता है और कभी कालान्तरमें। पापकर्मा व्यक्ति

स्वयं अपनेमें शंकित रहता है, और अपने ही मनोभावोंसे परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी ही बाहरी वातावरणसे उसकी इष्टसिद्धि नहीं करा पाती।

चार व्यक्ति एक ही प्रकारके व्यापारमें जुटते हैं, पर चारोंको अलग-अलग प्रकारका जो नफा-नुकसान होता है, वह अकारण ही नहीं है। कुछ पुराने और कुछ तत्कालीन भाव वातावरणोंका निचोड़ उन-उन व्यक्तियोंके सफल, असफल या अर्धसफल होनेमें कारण पड़ जाते हैं। पुरुषकी बुद्धिमानी और पुरुषार्थ यही है कि वह सद्भाव और प्रशस्त वातावरणका निर्माण करे। इसीके कारण वह जिनके सम्पर्कमें आता है उनकी सद्बुद्धि और हृदयकी रुझानको अपनी ओर खींच लेता है, जिसका परिणाम होता है—उसकी लौकिक कार्योंकी सिद्धिमें अनुकूलता मिलना। एक व्यक्तिके सदाचरण और सद्विचारोंकी शोहरत जब चारों ओर फैलती है, तो वह जहाँ जाता है, आदर पाता है, उसे सन्मान मिलता और ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है, जिससे उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती जाती है। इस वातावरणसे जो बाह्य विभूति या अन्य सामग्रीका लाभ हुआ है उसमें यद्यपि परम्परासे व्यक्तिके पुराने संस्कारोंने काम लिया है; पर सीधे उन संस्कारोंने उन पदार्थोंको नहीं खींचा है। हाँ, उन पदार्थोंके जुटने और जुटानेमें पुराने संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल द्रव्यके विपाकने वातावरण अवश्य बनाया है। उससे उन-उन पदार्थोंका संयोग और वियोग रहता है। यह तो बलाबलकी बात है। मनुष्य अपनी क्रियाओंसे जितने गहरे या उथले संस्कार और प्रभाव, वातावरण और अपनी आत्मापर डालता है उसीके तारतम्यसे मनुष्योंके इष्टानिष्टका चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्यका ठीक कार्यकारण-भाव हमारी समझमें न भी आये, पर कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरणके क्रममें भी कुछ हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कारप्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा इह लोकका जीवन-व्यापार सब मिलाकर कारण बनते हैं।

नूतन शरीर धारणकी प्रक्रिया :

जब कोई भी प्राणी अपने पूर्व शरीरको छोड़ता है, तो उसके जीवन भरके विचारों, वचन-व्यवहारों और शरीरकी क्रियाओंसे जिस-जिस प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मासे चिरसंयुक्त कार्मण-शरीरपर पड़े हैं, अर्थात् कार्मण-शरीरके साथ उन संस्कारोंके प्रतिनिधिभूत पुद्गल द्रव्योंका जिस प्रकारके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि परिणमनोंसे युक्त होकर सम्बन्ध हुआ है, कुछ उसी

करनेका अवसर खोज लेता है और वह पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाता है। इस क्रियामें प्राणीके शरीर छोड़नेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। इसीलिए जैन परम्परामें समाधिमरणको जीवनकी अन्तिम परीक्षाका समय कहा है; क्योंकि एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीरकी स्थिति तक लगभग एक जैसी परिस्थितियाँ बनी रहनेकी सम्भावना रहती है। मरणकालकी इस उत्क्रान्तिको सम्हाल लेनेपर प्राप्त परिस्थितियोंके अनुसार बहुत कुछ पुराने संस्कार और बँधे हुए कर्मोंमें हीनाधिकता होनेकी सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

जैन शास्त्रोंमें एक मारणान्तिक समुद्घात नामकी क्रियाका वर्णन आता है। इस क्रियामें मरणकालके पहले इस आत्माके कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीरको छोड़कर भी बाहर निकलते हैं और अपने अगले जन्मके योग्य क्षेत्रको स्पर्श कर वापिस आ जाते हैं। इन प्रदेशोंके साथ कार्मण शरीर भी जाता है और उसमें जिस प्रकारके रूप, रस, गंध और स्पर्श आदिके परिणमनोंका तारतम्य है, उस प्रकारके अनुकूल क्षेत्रकी ओर ही उसका झुकाव होता है। जिसके जीवनमें सदा धर्म और सदाचारकी परम्परा रही है, उसके कार्मण शरीरमें प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओंकी बहुलता होती है। इसलिए उसका गमन लघु होनेके कारण स्वभावतः प्रकाशमय लोककी ओर होता है। और जिसके जीवनमें हत्या, पाप, छल, प्रपञ्च, माया, मूर्छा आदिके काले, गुरु और मैले परमाणुओंका सम्बन्ध विशेषरूपसे हुआ है, वह स्वभावतः अन्धकारलोककी ओर नीचेकी तरफ जाता है। यही बात सांख्य शास्त्रोंमें—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।"

—सांख्यका० ४४।

इस वाक्यके द्वारा कही गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोंमें स्वयं परिणत होता जाता है, और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कार्मण शरीरमें कुछ नये कर्मपरमाणुओंका सम्बन्ध करा देते हैं, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामें अच्छे या बुरे भाव पैदा करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारोंका कर्त्ता है और स्वयं ही उनके फलोंका भोक्ता है। जब यह अपने मूल स्वरूपकी ओर दृष्टि फेरता है, तब इस स्वरूपदर्शनके द्वारा धीरे-धीरे पुराने कुसंस्कारोंको काटकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति पा लेता है। कभी-कभी किन्हीं विशेष आत्माओंमें

स्वरूपज्ञानकी इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है, कि उसके महाप्रकाशमें कुसंस्कारों-का पिण्ड क्षणभरमें ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा इस शरीरको धारण किये हुए भी पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है। इस अवस्थामें आत्मगुणोंके घातक संस्कारोंका समूल नाश हो जाता है। मात्र शरीरको धारण करनेमें कारणभूत कुछ अघातिया संस्कार शेष रहते हैं, जो शरीरके साथ समाप्त हो जाते हैं; तब यह आत्मा पूर्णरूपसे सिद्ध होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करके लोकके ऊपरी छोरमें जा पहुँचता है। इस तरह यह आत्मा स्वयं कर्त्ता और स्वयं भोक्ता है, स्वयं अपने संस्कारों और बद्धकर्मोंके अनुसार असंख्य जीव-योनियोंमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। यह सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है और वैभाविक या स्वाभाविक किसी भी अवस्थामें स्वयं बदलनेवाला है। यह निश्चित है कि एक बार स्वाभाविक अवस्थामें पहुँचनेपर फिर वैभाविक परिणमन नहीं होता, सदा शुद्ध परिणमन ही होता रहता है। ये सिद्ध कृतकृत्य होते हैं। उन्हें सृष्टि-कर्तृत्व आदिका कोई कार्य शेष नहीं रहता।

सृष्टिचक्र स्वयं चालित है :

संसारी जीव और पुद्‌गलोंके परस्पर प्रभावित करनेवाले संयोग-वियोगोंसे इस सृष्टिका महाचक्र स्वयं चल रहा है। इसके लिए किसी नियंत्रक, व्यवस्थापक, सुयोजक और निर्देशककी आवश्यकता नहीं है। भौतिक जगत्‌का चेतन जगत् स्वयं अपने बलाबलके अनुसार निर्देशक और प्रभावक बन जाता है। फिर यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रत्येक भौतिक परिणमनके लिए किसी चेतन अधिष्ठाता-की नितान्त आवश्यकता हो। चेतन अधिष्ठाताके बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारणसामग्रीके अनुसार होते रहते हैं। इस स्वभावतः परिणामी द्रव्योंके महासमुदायरूप जगत्‌को किसीने सर्वप्रथम किसी समय चलाया हो, ऐसे कालकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए इस जगत्‌को स्वयं-सिद्ध और अनादि कहा जाता है। अतः न तो सर्वप्रथम इस जगत्-यन्त्रको चलानेके लिए किसी चालककी आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवोंके पुण्य-पापका लेखा-जोखा रखनेवाले किसी महालेखककी, और अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देनेवाले और स्वर्ग या नरक भेजनेवाले किसी महाप्रभुकी ही। जो व्यक्ति शराब पियेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूपमें उस व्यक्तिको अपने आप आयगा ही।

एक ईश्वर संसारके प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका संचालक बने और प्रत्येक जीवके अच्छे-बुरे कार्योंका भी स्वयं वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवोंके अच्छे-बुरे कर्मोंका न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गतिमें भेजे, उन्हें सुख-दुख भोगनेको विवश करे यह कैसी क्रीड़ा है ! दुराचारके लिए प्रेरणा भी वही दे, और दण्ड भी वही। यदि सचमुच कोई एक ऐसा नियन्ता है तो जगत्की विषमस्थितिके लिए मूलतः वही जवाबदेह है। अतः इस भूल-भुलैयाके चक्रसे निकलकर हमें वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे ही जगत्का विवेचन करना होगा और उस आधारसे ही जब तक हम अपने ज्ञानको सच्चे दर्शनकी भूमिपर नहीं पहुँचायेंगे, तब तक तत्त्वज्ञानकी दिशामें नहीं बढ़ सकते। यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करनेवालेको भी प्रेरणा देता है, और जिसकी हत्या होती है उसे भी; और जब हत्या हो जाती है, तो वही एकको हत्यारा ठहराकर दण्ड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्यमें स्वतन्त्र ही नहीं है, तब वह हत्याका कर्त्ता कैसे ? अतः प्रत्येक जीव अपने कार्योंका स्वयं प्रभु है, स्वयं कर्त्ता है और स्वयं भोक्ता है।

अतः जगत्-कल्याणकी दृष्टिसे और वस्तुके स्वाभाविक परिणमनकी स्थितिपर गहरा विचार करनेसे यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि यह जगत् स्वयं अपने परिणामी स्वभावके कारण प्राप्त सामग्रीके अनुसार परिवर्तमान है। उसमें विभिन्न व्यक्तियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अच्छेपन और बुरेपनकी कल्पना होती रहती है। जगत् तो अपनी गतिसे चला जा रहा है। 'जो करेगा, वही भोगेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा।' यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्योंके परिणमन कहीं चेतनसे प्रभावित होते हैं, कहीं अचेतनसे प्रभावित और कहीं परस्पर प्रभावित। इनका कोई निश्चित नियम नहीं है, जब जैसी सामग्री प्रस्तुत हो जाती है, तब वैसा परिणमन बन जाता है।

जीवोंके भेद संसारी और मुक्त :

जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट होता है, कि यह जीव अपने संस्कारोंके कारण स्वयं बँधा है और अपने पुरुषार्थसे स्वयं छूटकर मुक्त हो सकता है, उसीके अनुसार जीव दो श्रेणियोंमें विभाजित हो जाते हैं। एक संसारी—जो अपने संस्कारोंके कारण नाना योनियोंमें शरीरोंको धारणकर जन्म-मरण रूपसे संसरण कर रहे हैं। (२) दूसरे मुक्त—जो समस्त कर्मसंस्कारोंसे छूटकर अपने शुद्ध चैतन्यमें सदा परिवर्तमान हैं। जब जीव मुक्त होता है, तब वह दीपशिखाकी तरह अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभावके कारण शरीरके बन्धनोंको तोड़कर लोकाग्रमें जा

पहुँचता है, और वहीं अनन्त काल तक शुद्धचैतन्यस्वरूपमें लीन रहता है। उसके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके आकारके समान बना रहता है; क्योंकि आगे उसके विस्तारका कारण नामकर्म नहीं रहता। जीवोंके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार दोनों ही कर्मनिमित्तसे होते हैं। निमित्तके हट जाने पर जो अन्तिम स्थिति है, वही रह जाती है। यद्यपि जीवका स्वभाव ऊपरको गति करनेका है, किन्तु गति करनेमें सहायक धर्मद्रव्य चूँकि लोकके अन्तिम भाग तक ही है, अतः मुक्त जीवकी गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नहीं। इसीलिए सिद्धोंको 'लोकाग्रनिवासी' कहते हैं।

सिद्धात्माएँ चूँकि शुद्ध हो गई हैं, अतः उनपर किसी दूसरे द्रव्यका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; और न वे परस्पर ही प्रभावित होती हैं। जिनका संसारचक्र एक बार रुक गया, फिर उन्हें संसारमें रुलनेका कोई कारण शेष नहीं रहता। इसलिए इन्हें अनन्तसिद्ध कहते हैं। जीवकी 'संसार-यात्रा कबसे शुरू' हुई, यह नहीं बताया जा सकता; पर 'कब समाप्त होगी' यह निश्चित बताया जा सकता है। असंख्य जीवोंने अपनी संसारयात्रा समाप्त करके मुक्ति पाई भी है। इन सिद्धोंके सभी गुणोंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है। ये कृतकृत्य हैं, निरंजन हैं और केवल अपने शुद्धचित्परिणमनके स्वामी हैं। इनकी यह सिद्धावस्था नित्य इस अर्थमें है कि वह स्वाभाविक परिणमन करते रहने पर भी कभी विकृत या नष्ट नहीं होती।

यह प्रश्न प्रायः उठता है कि 'यदि सिद्ध सदा एक-से रहते हैं, तो उनमें परिणमन माननेकी क्या आवश्यकता है ?' परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सहज है। और वह यह है कि जब द्रव्यकी मूलस्थिति ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, तब किसी भी द्रव्यको चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस मूलस्वभावका अपवाद कैसे माना जा सकता है ? उसे तो अपने मूल स्वभावके अनुसार परिणमन करना ही होगा। चूंकि उनके विभाव परिणमनका कोई हेतु नहीं है, अतः उनका सदा स्वभावरूपसे ही परिणमन होता रहता है। कोई भी द्रव्य कभी भी परिणमन-चक्रसे बाहर नहीं जा सकता। 'तब परिणमनका क्या प्रयोजन ?' इसका सीधा उत्तर है—'स्वभाव'। चूँकि प्रत्येक द्रव्यका यह निज स्वभाव है, अतः उसे अनन्त काल तक अपने स्वभावमें रहना ही होगा। द्रव्य अपने अगुरुलघुगुणके कारण न कम होता है और न बढ़ता है। वह परिणमनकी तीक्ष्ण धारपर चढ़ा रहनेपर भी अपना द्रव्यत्व नष्ट नहीं होने देता। यही अनादि अनन्त अविच्छिन्नता द्रव्यत्व है, और यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। अगुरुलघुगुणके कारण

उसके न तो प्रदेशोंमें ही न्यूनाधिकता होती है, और न गुणोंमें ही। उसके आकार और प्रकार भी सन्तुलित रहते हैं।

सिद्धका स्वरूप निम्नलिखित गाथामें बहुत स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

"णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥"

—नियमसार गा० ७२।

अर्थात्—सिद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणोंसे युक्त हैं। अपने पूर्व अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले हैं। नित्य हैं और उत्पाद-व्ययसे युक्त हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित हैं।

इस तरह जीवद्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारोंमें विभाजित होकर भी मूल स्वभावसे समान गुण और समानशक्तिवाला है।

पुद्गल द्रव्य :

'पुद्गल' द्रव्यका सामान्य लक्षण[1] है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त होना। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्थामें पूरण अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओंसे मिलना और गलन अर्थात् कुछ परमाणुओंका बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस 'पुद्गल'का ही विस्तार है। मूल दृष्टिसे पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्तद्रव्य (अनेकद्रव्य) है। स्कन्धपर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल-परमाणुओंकी संयुक्त पर्याय है। वे पुद्गल-परमाणु जब तक अपनी बंधशक्तिसे शिथिल या निबिड़रूपमें एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं। इन स्कन्धोंका बनाव और बिगाड़ परमाणुओंकी बंधशक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है।

प्रत्येक[2] परमाणुमें स्वभावसे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पाँच रूपोंमेंसे कोई एक रूप परमाणुमें होता है जो बदलता भी रहता है। तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस परमाणुओंमें होता है, जो परिवर्तित भी

---

१. "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"—तत्त्वार्थसू० ५।२३।

२. "एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।"

—पंचास्तिकाय गा० ८१।

होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध परमाणुमें अवश्य होती है। शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन दो युगलोंमेंसे कोई एक-एक स्पर्श अर्थात् शीत और उष्णमेंसे एक और स्निग्ध तथा रूक्षमेंसे एक, इस तरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणुमें अवश्य होते हैं। बाकी मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध-अवस्थाके हैं। परमाणु-अवस्थामें ये नहीं होते। यह एकप्रदेशी होता है। यह स्कन्धोंका कारण भी है और स्कन्धोंके भेदसे उत्पन्न होनेके कारण उनका कार्य भी है। पुद्गलकी परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय है, और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है।

स्कन्धोंके भेद :

स्कन्ध अपने परिणमनोंकी अपेक्षा छह प्रकारके होते है[1]:—

(१) अतिस्थूल-स्थूल (बादर-बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं न मिल सकें, वे लकड़ी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि अतिस्थूल-स्थूल है।

(२) स्थूल (बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं आपसमें मिल जाँय, वे स्थूल स्कन्ध हैं। जैसे कि दूध, घी, तेल, पानी आदि।

(३) स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म)—जो स्कन्ध दिखनेमें तो स्थूल हों, लेकिन छेदने-भेदने और ग्रहण करनेमें न आवें, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(४) सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर)—जो सूक्ष्म होकरके भी स्थूल रूपमें दिखें, वे पाँचों इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध हैं।

(५) सूक्ष्म—जो सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(६) अतिसूक्ष्म—कर्मवर्गणासे भी छोटे द्व्यणुक स्कन्ध तक सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।

परमाणु परमातिसूक्ष्म है। वह अविभागी है। शब्दका कारण होकर भी स्वयं अशब्द है, शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है—यानी त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

---

१. "अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च
सुहुमं अइसुहुमं इति धरादियं होइ छब्भेयं ॥"

—नियमसार गा० २१-२४

स्कन्ध आदि चार भेद :

[1]पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेशका आधा स्कन्धप्रदेश होता है। परमाणु सर्वतः अविभागी होता है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियोंके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्यके ही विविध परिणमन[2] हैं।

बन्धकी प्रक्रिया :

इन परमाणुओंमें स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध[3] होता है, जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके शक्त्यंशकी अपेक्षा असंख्य भेद होते हैं, और उनमें तारतम्य भी होता रहता है। एक शक्त्यंश (जघन्यगुण) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंका परस्पर बन्ध (रासायनिक मिश्रण) नहीं होता। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष, तथा रूक्ष और स्निग्ध परमाणुओंमें बन्ध तभी होगा, जब इनमें परस्पर गुणोंके शक्त्यंश दो अधिक हों, अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुसे होगा। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूपसे परिणमन करा लेता है। इस तरह दो परमाणुओंसे द्वयणुक, तीन परमाणुओंसे त्र्यणुक और चार, पाँच आदि परमाणुओंसे चतुरणुक, पञ्चाणुक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते हैं। महास्कन्धोंके भेदसे भी दो अल्पस्कन्ध हो सकते हैं। यानी स्कन्ध, संघात और भेद दोनोंसे बनते हैं। स्कन्ध अवस्थामें परमाणुओंका परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोड़ी-सी जगहमें असंख्य परमाणु समा जाते हैं। एक सेर रूई और एक सेर लोहेमें साधारणतया परमाणुओंकी संख्या बराबर होने पर भी उनके निविड और शिथिल बन्धके कारण रूई थुलथुली है और लोहा ठोस। रूई अधिक स्थानको रोकती है और लोहा कम स्थानको। इन पुद्गलोंके इसी सूक्ष्म परिणमनके कारण असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त परमाणु समाए

---

१. 'खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥'
—पञ्चास्तिकाय गा० ७४–७५।

२. "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।"
—तत्त्वार्थसूत्र ५।१९।

३. "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्वयधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।"
—तत्त्वार्थसूत्र ५।३३–३७।

हुए हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य परिणामी है। उसी तरह ये पुद्गल द्रव्य भी उस परिणमनके अपवाद नहीं हैं और प्रतिक्षण उपयुक्त स्थूल-बादरादि स्कन्धोंके रूपमें बनते बिगड़ते रहते हैं।

शब्द आदि पुद्गलकी पर्याय हैं :

[1]शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। शब्दको वैशेषिक आदि आकाशका गुण मानते हैं, किन्तु आजके विज्ञानने अपने रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रोंसे शब्दको पकड़कर और उसे इष्ट स्थानमें भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोगसे सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गलके द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलोंसे रुकता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गल कान आदिके पर्दोंको फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन पैदा करता है, अतः पौद्गलिक है। स्कन्धोंके परस्पर संयोग, संघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदि के संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्गलिक हैं,

जब दो स्कन्धोंके संघर्षसे कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस-पासके स्कन्धोंको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् उसके निमित्तसे उन स्कन्धोंमें भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। जैसे जलाशयमें एक कंकड़ डालने पर जो प्रथम लहर उत्पन्न होती है, वह अपनी गतिशक्तिसे पासके जलको क्रमशः तरंगित करती जाती है और यह 'वीचीतरंगन्याय' किसी-न-किसी रूपमें अपने वेगके अनुसार काफी दूर तक चालू रहता है।

शब्द शक्तिरूप नहीं है :

शब्द केवल शक्ति नहीं है, किन्तु शक्तिमान् पुद्गलद्रव्य-स्कन्ध है, जो वायु स्कन्धके द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आसपासके वातावरणको झनझला जाता है। यन्त्रोंसे उसकी गति बढ़ाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहरको सुदूर देशसे पकड़ा जा सकता है। वक्ताके तालु आदिके संयोगसे उत्पन्न हुआ एक शब्द मुखसे बाहर निकलते ही चारों तरफके वातावरणको उसी शब्दरूप कर देता है। वह स्वयं भी नियत दिशामें जाता है और जाते-जाते, शब्दसे शब्द और शब्दसे शब्द पैदा करता जाता है। शब्दके जानेका अर्थ पर्यायवाले स्कन्धका जाना है और

---

१. "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।"

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२४।

शब्दकी उत्पत्तिका भी अर्थ है आसपासके स्कन्धोंमें शब्दपर्यायका उत्पन्न होना। तात्पर्य यह कि शब्द स्वयं द्रव्यकी पर्याय है, और इस पर्यायके आधार हैं पुद्गल स्कन्ध। अमूर्तिक आकाशके गुणमें ये सब नाटक नहीं हो सकते। अमूर्त द्रव्यका गुण तो अमूर्त्त ही होगा, वह मूर्त्तके द्वारा गृहीत नहीं हो सकता।

विश्वका समस्त वातावरण गतिशील पुद्गलपरमाणु और स्कन्धोंसे निर्मित है। उसीमें परस्पर संयोग आदि निमित्तोंसे गर्मी, सर्दी, प्रकाश, अन्धकार, छाया आदि पर्यायें उत्पन्न होतीं और नष्ट होती रहती हैं। गर्मी, प्रकाश और शब्द ये केवल शक्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि शक्तियाँ निराश्रय नहीं रह सकतीं। वे तो किसी-न-किसी आधारमें रहेंगी और उनका आधार है—पुद्गल द्रव्य। परमाणुकी गति एक समयमें लोकान्त तक (चौदह राजु) हो सकती है, और वह गतिकालमें आसपासके वातावरणको प्रभावित करता है। प्रकाश और शब्दकी गतिका जो लेखा-जोखा आजके विज्ञानने लगाया है, वह परमाणुकी इस स्वाभाविक गतिका एक अल्प अंश है। प्रकाश और गर्मीके स्कन्ध एकदेशसे सुदूर देश तक जाते हुए अपने वेग (force) के अनुसार वातावरणको प्रकाशमय और गर्मी पर्यायसे युक्त बनाते हुए जाते हैं। यह भी संभव है कि जो प्रकाश आदि स्कन्ध बिजलीके टार्च आदिसे निकलते हैं, वे बहुत दूर तक स्वयं चले जाते हैं और अन्य गतिशील पुद्गल स्कन्धोंको प्रकाश, गर्मी या शब्दरूप पर्याय धारण कराके उन्हें आगे चला देते हैं। आजके वैज्ञानिकोंने बेतारका तार और बिना तारके टेलीफोनका भी आविष्कार कर लिया है। जिस तरह हम अमेरिकामें बोले गये शब्दोंको यहाँ सुन लेते हैं, उसी तरह अब बोलनेवालेके फोटोको भी सुनते समय देख सकेंगे।

पुद्गलके खेल :

यह सब शब्द, आकृति, प्रकाश, गर्मी, छाया, अन्धकार आदिका परिवहन तीव्र गतिशील पुद्गलस्कन्धोंके द्वारा ही हो रहा है। परमाणु-बमकी विनाशक शक्ति और हॉइड्रोजन बमकी महाप्रलय शक्तिसे हम पुद्गलपरमाणुकी अनन्त शक्तियोंका कुछ अन्दाज लगा सकते हैं।

एक दूसरेके साथ बँधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोण, षट्कोण आदि विविध आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषाकी लाली आदि सभी कुछ पुद्गल स्कन्धोंकी पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन-वाले अनन्तानन्त परमाणुओंके परस्पर संयोग और विभागसे कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्वके रंगमञ्चपर प्रतिक्षण हो रहे हैं। ये सब माया या अविद्या नहीं हैं, ठोस सत्य हैं। स्वप्नकी तरह काल्पनिक नहीं हैं, किन्तु अपनेमें

वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। विज्ञानने एटममें जिन इलेक्ट्रोन और प्रोटोनको अविराम गतिसे चक्कर लगाते हुए देखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमें बँधे हुए परमाणुओंका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारणसामग्री पा लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। पुरुषकी कितनी-सी शक्ति! वह कहाँ तक इन द्रव्योंके परिणमनोंको प्रभावित कर सकता है? हाँ, जहाँ तक अपनी सूझ-बूझ और शक्तिके अनुसार वह यन्त्रोंके द्वारा इन्हें प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्गलका नियन्त्रण पौद्गलिक साधनोंसे ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील हैं। अतः हमें द्रव्यकी मूल स्थितिके आधारसे ही तत्त्वविचार करना चाहिये और विश्वव्यवस्थाका आधार ढूँढ़ना चाहिए।

छाया पुद्गलकी ही पर्याय है :

सूर्य आदि प्रकाशयुक्त द्रव्यके निमित्तसे आस-पास पुद्गलस्कन्ध भासुररूपको धारणकर प्रकाशस्कन्ध बन जाते हैं। इसी प्रकाशको जितनी जगह कोई स्थूल स्कन्ध यदि रोक लेता है तो उतनी जगहके स्कन्ध काले रूपको धारण कर लेते हैं, यही छाया या अन्धकार है। ये सभी पुद्गल द्रव्यके खेल हैं। केवल मायाकी आंखमिचौनी नहीं हैं और न 'एकोऽहं बहु स्याम्'की लीला। ये तो ठोस वजनदार परमार्थसत् पुद्गल परमाणुओंकी अविराम गति और परिणतिके वास्तविक दृश्य हैं। यह आँख मूँदकर की जानेवाली भावना नहीं है, किन्तु प्रयोगशालामें रासायनिक प्रक्रियासे किये जानेवाले प्रयोगसिद्ध पदार्थ हैं। यद्यपि पुद्गलाणुओंमें समान अनन्त शक्ति है, फिर भी विभिन्न स्कन्धोंमें जाकर उनकी शक्तियोंके भी जुदे-जुदे अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणुमें सामान्यतः मादकशक्ति होने पर भी उसकी प्रकटताकी योग्यता महुवा, दाख और कोदों आदिके स्कन्धोंमें ही साक्षात् है, सो भी अमुक जलादिके रासायनिक मिश्रणसे। ये पर्याययोग्यताएँ कहलाती हैं, जो उन-उन स्थूल पर्यायोंमें प्रकट होती हैं। और इन स्थूल पर्यायोंके घटक सूक्ष्म स्कन्ध भी अपनी उस अवस्थामें विशिष्ट शक्तिको धारण करते हैं।

एक ही पुद्गल मौलिक है :

आधुनिक विज्ञानने पहले ९२ मौलिक तत्त्व (Elements) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्तिके अंश निश्चित किये थे। मौलिक तत्त्वका अर्थ होता है—'एक तत्त्वका दूसरे रूप न होना।' परन्तु अब एक एटम (Atom) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपनेमें चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रोन

और प्रोटोनकी संख्याके भेदसे ऑक्सीजन, हॉइड्रोजन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओंको धारण कर लेता है। ऑक्सीजनके अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोटोनको तोड़ने या मिलानेपर वही हॉइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हॉइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्वकी अवस्था-विशेष ही सिद्ध होते हैं। मूलतत्त्व केवल अणु (Atom) है।

पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं :

नैयायिक-वैशेषिक पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारों गुण, जलके परमाणुओंमें रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण, अग्निके परमाणुओंमें रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायुमें केवल स्पर्श, इस तरह गुणभेद मानकर चारोंको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। किन्तु जब प्रत्यक्षसे सीपमें पड़ा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है, पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती है, अग्नि भस्म बन जाती है, पार्थिव हिम पिघलकर जल हो जाता है और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों वायु मिलकर जल बन जाती हैं, तब इनमें परस्पर गुणभेदकृत जातिभेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? जैनदर्शनने पहलेसे ही समस्त पुद्गलपरमाणुओंका परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है कि अवस्थाविशेषमें कोई गुण प्रकट हों और कोई अप्रकट। अग्निमें रस अप्रकट रह सकता है, वायुमें रूप और जलमें गन्ध, किन्तु उक्त द्रव्योंमें उन गुणोंका अभाव नहीं माना जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि 'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप, रस और गन्ध अवश्य ही होंगे।' इसी तरह जिन दो पदार्थोंका एक-दूसरेके रूपसे परिणमन हो जाता है वे दोनों पृथक्-जातीय द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए आजके विज्ञानको अपने प्रयोगोंसे उसी एकजातिक अणुवादपर आना पड़ा है।

प्रकाश और गर्मी भी शक्तियाँ नहीं :

यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्दको अभी केवल (Energy) शक्ति मानता है। पर, वह शक्ति निराधार न होकर किसी-न-किसी ठोस आधारमें रहनेवाली ही सिद्ध होगी; क्योंकि शक्ति या गुण निराश्रय नहीं रह सकते। उन्हें किसी-न-किसी मौलिक द्रव्यके आश्रयमें रहना ही होगा। ये शक्तियाँ जिन माध्यमोंसे गति करती हैं, उन माध्यमोंको स्वयं उस रूपसे परिणत कराती हुई ही जाती हैं। अतः यह प्रश्न मनमें उठता है कि जिसे हम शक्तिकी गति कहते हैं वह आकाशमें निरन्तर प्रचित परमाणुओंमें अविराम गतिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिपरंपरा ही तो नहीं है ? हम पहले बता आये हैं कि शब्द, गर्मी और प्रकाश

किसी निश्चित दिशाको गति भी कर सकते हैं और समीपके वातावरणको शब्दायमान, प्रकाशमान और गरम भी कर देते हैं। यों तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद-व्ययस्वभावके कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायोंको धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मीको इन्हीं परमाणुओंकी पर्याय माननेमें ही वस्तुस्वरूपका संरक्षण रह पाता है।

जैन ग्रन्थोंमें पुद्‌गल द्रव्योंकी जिन—कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि रूपसे—२३ प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन मिलता है,[1] वे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। एक ही पुद्‌गलजातीय स्कन्धोंमें ये विभिन्न प्रकारके परिणमन, विभिन्न सामग्रीके अनुसार विभिन्न परिस्थितियोंमें बन जाते हैं। यह नहीं है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप हुए हैं; वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नहीं होंगे, या अन्यपरमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। ये भेद तो विभिन्न स्कन्ध-अवस्थामें विकसित शक्तिभेदके कारण हैं। प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी द्रव्यगत मूल योग्यताओंके अनुसार, जैसी-जैसी सामग्रीका जुटाव हो जाता है, वैसा-वैसा प्रत्येक परिणमन संभव है। जो परमाणु शरीर-अवस्थामें नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वही परमाणु मृत्युके बाद शरीरके खाक हो जानेपर अन्य विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्योंमें किसी भी द्रव्यव्यक्तिके परिणमनोंका बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

यह ठीक है कि कुछ परिणमन किसी स्थूलपर्यायको प्राप्त पुद्‌गलोंसे साक्षात् हो सकते हैं, किसीसे नहीं। जैसे मिट्टी-अवस्थाको प्राप्त पुद्‌गल परमाणु ही घट-अवस्थाको धारण कर सकते हैं, अग्नि-अवस्थाको प्राप्त पुद्‌गल परमाणु नहीं, यद्यपि अग्नि और घट दोनों ही पुद्‌गलकी ही पर्यायें हैं। यह तो सम्भव है कि अग्निके परमाणु कालान्तरमें मिट्टी बन जायँ और फिर घड़ा बनें; पर सीधे अग्निसे घड़ा नहीं बनाया जा सकता। मूलतः पुद्‌गलपरमाणुओंमें न तो किसी प्रकारका जातिभेद है, न शक्तिभेद है और न आकारभेद ही। ये सब भेद तो बीचकी स्कन्ध पर्यायोंमें होते हैं।

गतिशीलता :

पुद्‌गल परमाणु स्वभावतः क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकारकी होती है। उसमें वजन भी होता है, किन्तु उसकी प्रकटता स्कन्ध अवस्थामें होती है। इन स्कन्धोंमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्थाभेदके कारण सम्भव होते हैं। इस तरह यह

१. देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३–९४।

अणुजगत् अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्य अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वयमेव धारण करता रहता है। उसमें जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पड़ावमें पुरुषका प्रयत्न इनके परिणमनोंको कुछ कालतक किसी विशेष रूपमें प्रभावित और नियन्त्रित भी करता है। बीचमें होनेवाली अनेक अवस्थाओंका अध्ययन और दर्शन करके जो स्थूल कार्यकारणभाव नियत किये जाते हैं, वे भी इन द्रव्योंकी मूल-योग्यताओंके ही आधारसे किये जाते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य :

अनन्त आकाशमें लोकके अमुक आकारको निश्चित करनेके लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधारपर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलोंका गमन वहीं तक हो सके; बाहर नहीं। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अतः उसके अमुक प्रदेशों तक पुद्गल और जीवोंका गमन हो और आगे नहीं, यह नियन्त्रण स्वयं अखण्ड आकाशद्रव्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें प्रदेशभेद होकर भी स्वभावभेद नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गतिस्वभाववाले हैं, अतः यदि वे गति करते हैं तो स्वयं रुकनेका प्रश्न ही नहीं है; इसलिए जैन आचार्योंने लोक और अलोकके विभागके लिए लोकवर्ती आकाशके बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्यको प्रेरणा करके नहीं चलाता; किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है। इसका अस्तित्व लोकके भीतर तो साधारण है पर लोककी सीमाओंपर नियन्त्रकके रूपमें है। सीमाओंपर पता चलता है कि धर्म-द्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है; जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करनेको विवश हैं, उसके आगे नहीं जा सकते।

जिस प्रकार गतिके लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है; उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी स्थितिके लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिए और वह है—अधर्म द्रव्य। यह भी लोकाकाशके बराबर है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित—अमूर्तिक है; निष्क्रिय है और उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक सन्तुलन रखनेवाले अनन्त अगुरुलघुगुणोंसे उत्पाद-व्यय करता हुआ, ठहरनेवाले जीव-पुद्गलोंकी स्थितिमें

साधारण कारण होता है। इसके अस्तित्वका पता भी लोककी सीमाओंपर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होनेके कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नहीं कर सकते तब स्थितिके लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनों द्रव्य स्वयं गति नहीं करते; किन्तु गमन करनेवाले और ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें साधारण निमित्त होते हैं। लोक और अलोकका विभाग ही इनके सद्भावका अचूक प्रमाण है।

यदि आकाशको ही स्थितिका कारण मानते हैं, तो आकाश तो अलोकमें भी मौजूद है। वह चूँकि अखण्ड द्रव्य है, अतः यदि वह लोकके बाहरके पदार्थोंकी स्थितिमें कारण नहीं हो सकता; तो लोकके भीतर भी उसकी कारणता नहीं बन सकती। इसलिए स्थितिके साधारण कारणके रूपमें अधर्मद्रव्यका पृथक् अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पापके पर्यायवाची नहीं हैं—स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यात प्रदेश हैं, अतः बहुप्रदेशी होनेके कारण इन्हें 'अस्तिकाय' कहते हैं और इसलिए इनका 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के रूपमें भी निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्यके मूल परिणामीस्वभावके अनुसार पूर्व पर्यायको छोड़ने और उत्तर पर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

आकाश द्रव्य :

समस्त जीव-अजीवादि द्रव्योंको जो जगह देता है अर्थात् जिसमें ये समस्त जीव-पुद्गलादि द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्योंमें भी परस्पर हीनाधिक रूपमें एक दूसरेको अवकाश देना देखा जाता है, जैसे कि टेबिल पर किताब या बर्तनमें पानी आदिका, फिर भी समस्त द्रव्योंको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही हो सकता है। इसके अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य भागमें चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश लोकाकाश और अलोकाकाशके रूपमें विभाजित हो जाता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशोंमें है, शेष अनन्त अलोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। यह निष्क्रिय है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। 'अवकाश दान' ही इसका एक असाधारण गुण है, जिस प्रकार कि धर्मद्रव्यका गमनकारणत्व और अधर्मद्रव्यका स्थितिकारणत्व। यह सर्वव्यापक है और अखण्ड है।

दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं :

इसी आकाशके प्रदेशोंमें सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंकी कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तियाँ सब तरफ कपड़ेमें तन्तुकी तरह श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारोंसे 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुतसे स्वतन्त्र द्रव्योंकी कल्पना करनी पड़ेगी।

शब्द आकाशका गुण नहीं :

आकाशमें शब्द गुणकी कल्पना भी आजके वैज्ञानिक प्रयोगोंने असत्य सिद्ध कर दी है। हम पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें उसे पौद्गलिक सिद्ध कर आये हैं। यह तो मोटी-सी बात है कि जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियोंसे गृहीत होता है, पुद्गलोंसे टकराता है, पुद्गलोंसे रोका जाता है, पुद्गलोंको रोकता है, पुद्गलोंमें भरा जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। अतः शब्द गुणके आधारके रूपमें आकाशका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। न 'पुद्गल द्रव्य' का ही परिणमन आकाश हो सकता है; क्योंकि एक ही द्रव्यके मूर्त्त और अमूर्त्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकते।

आकाश प्रकृतिका विकार नहीं :

सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसीके पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनों परिणमन मानते हैं। परन्तु विचारणीय बात यह है कि—एक प्रकृतिका घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपी भौतिक कार्योंके आकारमें ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है, क्योंकि संसार-के अनन्त रूपी भौतिक कार्योंकी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समान-जातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नहीं। किञ्चित् समानता होनेके कारण कार्योंका एक कारणसे उत्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है। भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले सैकड़ों घट-पटादि कार्य कुछ-न-कुछ जडत्व आदिके रूपसे समानता रखते ही हैं। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक; रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि

और आकाशको एक प्रकृतिका परिणमन मानना ब्रह्मवादकी मायामें ही एक अंशसे समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढ़कर चेतन और अचेतन सभी पदार्थोंको एक ब्रह्मका विवर्त मानता है, और ये सांख्य समस्त जड़ोंको एक जड़ प्रकृतिकी पर्याय।

यदि त्रिगुणात्मकत्वका अन्वय होनेसे सब एक त्रिगुणात्मक कारणसे समुत्पन्न हैं, तो आत्मत्वका अन्वय सभी आत्माओंमें पाया जाता है, और सत्ताका अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थोंमें पाया जाता है; तो इन सबको भी एक 'अद्वैत-सत्' कारणसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनोंसे विरुद्ध है। अपने-अपने विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र जड़-चेतन और मूर्त्त-अमूर्त्त आदि विविध पदार्थोंमें अनेक प्रकारके पर-अपर सामान्योंका सादृश्य देखा जाता है, पर इतने मात्रसे सब एक नहीं हो सकते। अतः आकाश प्रकृतिकी पर्याय न होकर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अमूर्त्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपनेमें जो अन्य पुद्गलादि द्रव्योंको अवकाश या स्थान देते हैं, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्धके कारण बनता है। अन्ततः जलादिके भीतर रहनेवाला आकाश ही अवकाश देनेवाला सिद्ध होता है।

इस आकाशसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका गति और स्थितिरूप काम नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्योंकी गति और स्थितिमें निमित्त हो जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नहीं बन सकेगा, और मुक्त जीव, जो लोकान्तमें ठहरते हैं, वे सदा अनन्त आकाशमें ऊपरकी ओर उड़ते रहेंगे। अतः आकाशको गमन और स्थितिमें साधारण कारण नहीं माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्योंकी भाँति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्यलक्षणसे युक्त है, और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरु-लघु गुणके कारण पूर्व पर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः यह भी परिणामीनित्य है।

आजका विज्ञान प्रकाश और शब्दकी गतिके लिए जिस ईथररूप माध्यमकी कल्पना करता है, वह आकाश नहीं है। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करनेवाला लोकव्यापी पुद्गल-स्कन्ध ही है; क्योंकि मूर्त्त-द्रव्योंकी गतिका अन्तरंग आधार अमूर्त्त पदार्थ नहीं हो सकता। आकाशके अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते हैं कि

जो आकाशका भाग काशीमें है, वही पटना आदिमें नहीं हैं, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्रमें आ जायँगे।

बौद्ध-परम्परामें आकाशका स्वरूप :

बौद्ध परम्परामें आकाशको असंस्कृत धर्मोमें गिनाया है और उसका 'वर्णन'[1] 'अनावृति' (आवरणाभाव) रूपसे किया है। यह किसीको आवरण नहीं करता और न किसीसे आवृत होता है। संस्कृतका अर्थ है, जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जायँ। किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्धका, आकाशको असंस्कृत अर्थात् उत्पादादि धर्मसे रहित मानना कुछ समझमें नहीं आता। इसका वर्णन भले ही अनावृति रूपसे किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह वैभाषिकोंके[2] विवेचनसे सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्धके मतसे उत्पादादिशून्य कैसे हो सकता है ? यह तो हो सकता है कि उसमें होनेवाले उत्पादादिका हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादिसे इनकार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणाभावरूप ही माना जा सकता है। 'अभिधम्मत्थसंगह' में आकाशधातुको परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतोंकी तरह निष्पन्न नहीं होता; किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओंके परिच्छेद—दर्शन मात्रसे इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नहीं हो सकता; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। अतः वह उत्पादादि लक्षणोंसे युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

कालद्रव्य :

समस्त द्रव्योंके उत्पादादिरूप परिणमनमें सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्योंके परिवर्तनमें सहकारी होता है और समस्त लोकाकाशमें घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारोंमें निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्योंकी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक काल-द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह वह लोकाकाशव्यापी एकद्रव्य नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेशपर समयभेद इसे अनेकद्रव्य माने बिना नहीं बन सकता।

---

१. "तत्राकाशमनावृतिः"—अभिधर्मकोश १।५।

२. "छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल।"

—अभिधर्मकोश १।२८।

लंका और कुरुक्षेत्रमें दिन, रात आदिका पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत्स्थानोंके कालभेदके कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य माननेपर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्योंमें परत्व-अपरत्व (लहुरा-जेठा) आदि व्यवहार कालसे ही होते हैं। पुरानापन-नयापन भी कालकृत ही हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी कालकी क्रमिक पर्यायोंसे होते हैं। किसी भी पदार्थके परिणमनको अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना कालकी अपेक्षासे ही हो सकता है।

वैशेषिककी मान्यता :

वैशेषिक कालको एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं, परन्तु नित्य और एक द्रव्यमें जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं हैं, तब उसके निमित्तसे अन्य पदार्थोंमें अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते हैं ? किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी समयमें ही तो होता है। बिना समयके उस परिणमनको अतीत, अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेशपर विभिन्न द्रव्योंके जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणुरूप है और जिसकी समयपर्यायोंके समुदायमें हम घड़ी घंटा आदि स्थूल कालका नाप बनाते हैं। अलोकाकाशमें जो अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती कालके कारण ही। चूँकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अतः लोकाकाशमें होनेवाला कोई भी परिणमन समूचे आकाशमें ही होता है। काल एकप्रदेशी होनेके कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्योंकी ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परामें कुछ आचार्य कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

बौद्ध परम्परामें काल :

बौद्ध परम्परामें काल केवल व्यवहारके लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है। (अट्ठशालिनी १।३।१६)। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य कालके बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालकमें शेरका उपचार मुख्य शेरके सद्भावमें ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्यके बिना नहीं बन सकते।

इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य अनादि-सिद्ध मौलिक हैं। सबका एक ही सामान्य लक्षण है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता। इस लक्षणका अपवाद कोई भी द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हों या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षणसे हर समय संयुक्त रहते हैं।

वैशेषिककी द्रव्यमान्यताका विचार :

वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। इनमें पृथ्वी आदिक चार द्रव्य तो 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्व' इस सामान्य लक्षणसे युक्त होनेके कारण पुद्‌गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव होता है। मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, वह यथासम्भव जीव और पुद्‌गलकी ही पर्याय है। मन दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। द्रव्यमन आत्माको विचार करनेमें सहायता देनेवाले पुद्‌गल-परमाणुओंका स्कन्ध है। [1]शरीरके जिस जिस भागमें आत्माका उपयोग जाता है; वहाँ-वहाँके शरीरके परमाणु भी तत्काल मनरूपसे परिणत हो जाते हैं। अथवा, हृदय-प्रदेशमें अष्टदल कमलके आकारका द्रव्यमन होता है, जो हिताहितके विचारमें आत्माका उपकरण बनता है। विचार-शक्ति आत्माकी है। अतः भावमन आत्मरूप ही होता है। जिस प्रकार भावेन्द्रियाँ आत्माकी ही विशेष शक्तियाँ हैं, उसी तरह भावमन भी नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाली आत्माकी एक विशेष शक्ति है; अतिरिक्त द्रव्य नहीं।

बौद्ध परंपरामें हृदय-वस्तुको एक पृथक् धातु माना है[2], जो कि द्रव्यमनका स्थानीय हो सकता है। 'अभिधर्मकोश' में[3] छह ज्ञानोंके समनन्तर कारणभूत पूर्वज्ञानको मन कहा है। यह भावमनका स्थान ग्रहण कर सकता है, क्योंकि चेतनात्मक है। इन्द्रियाँ मनकी सहायताके बिना अपने विषयोंका ज्ञान नहीं कर सकतीं, परन्तु मन अकेला ही गुणदोषविचार आदि व्यापार कर सकता है। मनका कोई निश्चित विषय नहीं है; अतः वह सर्वविषयक होता है।

गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं :

वैशेषिकने द्रव्यके सिवाय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये छह पदार्थ और माने हैं। वैशेषिककी मान्यता प्रत्ययके आधारसे चलती है। चूँकि 'गुणः गुणः' इस प्रकारका प्रत्यय होता है, अतः गुण एक पदार्थ होना

---

१. "द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्‌गलाः वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्‌गलिकम्…मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्‌गलाः गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।"—तत्त्वार्थवा० ५। १९।

२. "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति।"

—स्फुटार्थ अभि० पृ० ४९।

३. "षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः।"—अभिधर्मकोश १। १७।

चाहिए। 'कर्म कर्म' इस प्रत्ययके कारण कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। 'अनुगताकार, प्रत्ययसे पर और अपर रूपसे अनेक प्रकारके सामान्य माने गये हैं। 'अपृथक्सिद्ध' पदार्थोंके सम्बन्ध स्थापनके लिए 'समवाय' की आवश्यकता हुई। नित्य परमाणुओंमें, शुद्ध आत्माओंमें, तथा मुक्त आत्माओंके मनोंमें परस्पर विलक्षणताका बोध करानेके लिए प्रत्येक नित्य द्रव्यपर एक एक विशेष पदार्थ माना गया है। कार्योत्पत्तिके पहले वस्तुके अभावका नाम प्रागभाव है। उत्पत्तिके बाद होनेवाला विनाश प्रध्वंसाभाव है। परस्पर पदार्थोंके स्वरूपका अभाव अन्योन्याभाव और त्रैकालिक संसर्गका निषेध करनेवाला अत्यन्ताभाव होता है। इस तरह जितने प्रकारके प्रत्यय पदार्थोंमें होते हैं, उतने प्रकारके पदार्थ वैशेषिकने माने हैं। वैशेषिकको 'सम्प्रत्ययोपाध्याय' कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वैशेषिक प्रत्ययके आधारसे पदार्थकी कल्पना करनेवाला उपाध्याय है।

परन्तु विचार कर देखा जाय तो गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सब द्रव्यकी पर्यायें ही हैं। द्रव्यके स्वरूपसे बाहर गुणादिकी कोई सत्ता नहीं है। द्रव्यका लक्षण है[1] गुणपर्यायवाला होना। ज्ञानादिगुणोंका आत्मासे तथा रूपादि गुणोंका पुद्गलसे पृथक् अस्तित्व न तो देखा ही जाता है, और न युक्तिसिद्ध ही है। गुण और गुणीको, क्रिया और क्रियावान्को, सामान्य और सामान्यवान्को, विशेष और नित्य द्रव्योंको स्वयं वैशेषिक अयुतसिद्ध मानते हैं, अर्थात् उक्त पदार्थ परस्पर पृथक् नहीं किये जा सकते। गुण आदिको छोड़कर द्रव्यकी अपनी पृथक् सत्ता क्या है? इसी तरह द्रव्यके बिना गुणादि निराधार कहाँ रहेंगे? इनका द्रव्यके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए कहीं "गुणसन्द्रावो द्रव्यम्" यह भी द्रव्यका लक्षण मिलता है[2]।

एक ही द्रव्य जिस प्रकार अनेक गुणोंका अखण्ड पिण्ड है, उसी तरह जो द्रव्य सक्रिय हैं उनमें होनेवाली क्रिया भी उसी द्रव्यकी पर्याय है, स्वतंत्र नहीं है। क्रिया या कर्म क्रियावान्से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखते।

इसी तरह पृथ्वीत्वादि भिन्न द्रव्यवर्ती सामान्य सदृशपरिणामरूप ही हैं। कोई एक, नित्य और व्यापक सामान्य अनेक द्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया हुआ नहीं है। जिन द्रव्योंमें जिस रूपसे सादृश्य प्रतीत होता है, उन द्रव्योंका वह सामान्य मान लिया जाता है। वह केवल बुद्धिकल्पित भी नहीं

---

१. "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३८।

२. "अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।"

—पात० महाभाष्य ५। १। ११९।

है, किन्तु सादृश्य रूपसे वस्तुनिष्ठ है; और वस्तुकी तरह ही उत्पादविनाश-ध्रौव्यशाली है।

समवाय सम्बन्ध है। यह जिनमें होता है उन दोनों पदार्थोंकी ही पर्याय है। ज्ञानका सम्बन्ध आत्मामें माननेका यही अर्थ है कि ज्ञान और उसका सम्बन्ध आत्माकी ही सम्पत्ति है, आत्मासे भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंकी अवस्थारूप ही हो सकता है। दो स्वतन्त्र पदार्थोंमें होनेवाला संयोग भी दोमें न रहकर प्रत्येकमें रहता है, इसका संयोग उसमें और उसका संयोग इसमें। याने संयोग प्रत्येकनिष्ठ होकर भी दोके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

विशेष पदार्थको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जब सभी द्रव्योंका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उनमें विलक्षणप्रत्यय भी अपने निजी व्यक्तित्वके कारण ही हो सकता है। जिस प्रकार विशेष पदार्थोंमें विलक्षण प्रत्यय उत्पन्न करनेके लिए अन्य विशेष पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं उनके स्वरूपसे ही हो जाता है, उसी तरह द्रव्योंके निजरूपसे ही विलक्षणप्रत्यय माननेमें कोई बाधा नहीं है।

इसी तरह प्रत्येक द्रव्यकी पूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है, उत्तरपर्याय प्रध्वंसाभाव है, प्रतिनियत निजस्वरूप अन्योन्याभाव है और असंसर्गीयरूप अत्यन्ताभाव है। अभाव भावान्तररूप होता है, वह अपनेमें कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। एक द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थिर होना ही उसमें पररूपका अभाव है। एक ही द्रव्यकी दो भिन्न पर्यायोंमें परस्पर अभाव-व्यवहार कराना इतरेतराभावका कार्य है और दो द्रव्योंमें परस्पर अभाव अत्यन्ताभावसे होता है। अतः गुणादि पृथक् सत्ता रखनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, किन्तु द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। भिन्न प्रत्ययके आधारसे ही यदि पदार्थोंकी व्यवस्था की जाय; तो पदार्थोंकी गिनती करना ही कठिन है।

इसी तरह अवयवी द्रव्यको अवयवोंसे जुदा मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। तन्तु आदि अवयव ही अमुक आकारमें परिणत होकर पटसंज्ञा पा लेते हैं। कोई अलग पट नामका अवयवी तन्तु नामक अवयवोंमें समवाय-सम्बन्धसे रहता हो, यह अनुभवगम्य नहीं है; क्योंकि पट नामके अवयवीकी सत्ता तन्तुरूप अवयवोंसे भिन्न कहीं भी और कभी भी नहीं मालूम होती। स्कन्ध अवस्था पर्याय है, द्रव्य नहीं। जिन मिट्टीके परमाणुओंसे घड़ा बनता है, वे परमाणु स्वयं घड़ेके आकारको ग्रहण कर लेते हैं। घड़ा उन परमाणुओंकी सामुदायिक अभिव्यक्ति है। ऐसा

नहीं है कि घड़ा पृथक् अवयवी बनकर कहींसे आ जाता हो, किन्तु मिट्टीके परमाणुओंका अमुक आकार, अमुक पर्याय और अमुक प्रकारमें क्रमबद्ध परिणमनों-की औसतसे ही घटके रूपमें हो जाता है और घटव्यवहारकी संगति बैठ जाती है। घट-अवस्थाको प्राप्त परमाणुद्रव्योंका अपना निजी स्वतन्त्र परिणमन भी उस अवस्थामें बराबर चालू रहता है। यही कारण है कि घटके अमुक-अमुक हिस्सोंमें रूप, स्पर्श और टिकाऊपन आदिका अन्तर देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र परिणमन रखनेपर भी सामुदायिक समान परिणमनकी धारामें अपने व्यक्तिगत परिणमनको विलीन-सा कर देता है और जब तक यह समान परिणमनकी धारा अवयवभूत परमाणुओंमें चालू रहती है, तब तक उस पदार्थकी एक-जैसी स्थिति बनी रहती है। जैसे-जैसे उन पर-माणुओंमें सामुदायिक धारासे असहयोग प्रारम्भ होता है, वैसे-वैसे उस सामुदायिक अभिव्यक्तिमें न्यूनता, शिथिलता और जीर्णता आदि रूपसे विविधता आ चलती है। तात्पर्य यह कि मूलतः गुण और पर्यायोंका आधार जो होता है वही द्रव्य कहलाता और उसीकी सत्ता द्रव्यरूपमें गिनी जाती है। अनेक द्रव्योंके समान या असमान परिणमनोंकी औसतसे जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्यकी संज्ञा नहीं पा सकते।

जिन परमाणुओंसे घट बनता है उन परमाणुओंमें घट नामके निरंश अवयवी-को स्वीकार करनेमें अनेकों दूषण आते हैं। यथा—निरंश अवयवी अपने अव-यवोंमें एकदेशसे रहता है, या सर्वात्मना ? यदि एकदेशसे रहता है; तो जितने अवयव हैं, उतने ही देश अवयवीके मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायँगे। यदि अवयवी निरंश है; तो वस्त्रादिके एक हिस्सेको ढँकनेपर सम्पूर्ण वस्त्र ढँका जाना चाहिये और एक अवयवमें क्रिया होनेपर पूरे अवयवीमें क्रिया होनी चाहिए, क्योंकि अवयवी निरंश है। यदि अवयवी अतिरिक्त है; तो चार छटाँक सूतसे तैयार हुए वस्त्रका वजन बढ़ जाना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। वस्त्रके एक अंशके फट जानेपर फिर उतने परमाणुओंसे नये अवयवीकी उत्पत्ति माननेमें कल्पनागौरव और प्रतीतिबाधा है; क्योंकि जब प्रतिसमय कपड़ेका उपचय और अपचय होता है तब प्रतिक्षण नये अवयवीकी उत्पत्ति मानना पड़ेगी।

वैशेषिकका आठ, नव, दस आदि क्षणोंमें परमाणुकी क्रिया, संयोग आदि क्रमसे अवयवीकी उत्पत्ति और विनाशका वर्णन एक प्रक्रियामात्र है। वस्तुतः जैसे-जैसे कारणकलाप मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे उन परमाणुओंके संयोग और

वियोगसे उस-उस प्रकारके आकार और प्रकार बनते और बिगड़ते रहते हैं। परमाणुओंसे लेकर घट तक अनेक स्वतंत्र अवयवियोंकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रक्रियासे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो द्रव्य पहले नहीं हैं, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि किसी नये द्रव्यका उत्पाद और उसका सदाके लिए विनाश वस्तुसिद्धान्तके प्रतिकूल है। यह तो संभव है और प्रतीतिसिद्ध है कि उन-उन परमाणुओंकी विभिन्न अवस्थाओंमें पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि व्यवहार होते हुए पूर्ण कलश-अवस्थामें घटव्यवहार हो। इसमें किसी नये द्रव्यके उत्पादकी बात नहीं है, और न वजन बढ़नेकी बात है।

यह ठीक है कि प्रत्येक परमाणु जलधारण नहीं कर सकता और घटमें जल भरा जा सकता है, पर इतने मात्रासे उसे पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। ये तो परमाणुओंके विशिष्ट संगठनके कार्य हैं; जो उस प्रकारके संगठन होनेपर स्वतः होते हैं। एक परमाणु आँखसे नहीं दिखाई देता, पर अमुक परमाणुओंका समुदाय जब विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वह दिखाई देने लगता है। स्निग्धता और रूक्षताके कारण परमाणुओंके अनेक प्रकारके सम्बन्ध होते रहते हैं, जो अपनी दृढ़ता और शिथिलताके अनुसार अधिक टिकाऊ या कम टिकाऊ होते हैं। स्कन्ध-अवस्थामें चूँकि परमाणुओंका स्वतंत्र द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता, अतः उन-उन हिस्सोंके परमाणुओंमें पृथक् रूप और रसादिका परिणमन भी होता जाता है। यही कारण है कि एक कपड़ा किसी हिस्सेमें अधिक मैला, किसीमें कम मैला और किसीमें उजला बना रहता है।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जो परमाणु किसी स्थूल घट आदि कार्य रूपसे परिणत हुए हैं, वे अपनी परमाणु-अवस्थाको छोड़कर स्कन्ध-अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। यह स्कन्ध-अवस्था किसी नये द्रव्यकी नहीं, किन्तु उन सभी परमाणुओंकी अवस्थाओंका योग है। यदि परमाणुओंको सर्वथा पृथक् और सदा परमाणुरूप ही स्वीकार किया जाता है, तो जिस प्रकार एक परमाणु आँखोंसे नहीं दिखाई देता उसी तरह सैकड़ों परमाणुओंके अति-समीप रखे रहने पर भी, वे इन्द्रियोंके गोचर नहीं हो सकेंगे। अमुक स्कन्ध-अवस्थामें आने पर उन्हें अपनी अदृश्यताको त्यागकर दृश्यता स्वीकार करनी ही चाहिए। किसी भी वस्तुकी मजबूती या कमजोरी उसके घटक अवयवोंके दृढ़ और शिथिल बंधके ऊपर निर्भर करती है। वे ही परमाणु लोहेके स्कन्धकी अवस्थाको प्राप्त कर कठोर और चिरस्थायी बनते हैं, जब कि रूई अवस्थामें मृदु और अचिरस्थायी रहते हैं। यह सब तो उनके बन्धके प्रकारोंसे होता रहता है। यह तो समझमें आता है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु-

द्रव्यमें पुद्गलकी सभी शक्तियाँ हों, और विभिन्न स्कन्धोंमें उनका न्यूनाधिकरूपमें अनेक तरहका विकास हो। घटमें ही जल भरा जाता है कपड़ेमें नहीं, यद्यपि परमाणु दोनोंमें ही हैं और परमाणुओंसे दोनों ही बने हैं। वही परमाणु चन्दन-अवस्थामें शीतल होते हैं और वे ही जब अग्निका निमित्त पाकर आग बन जाते हैं, तब अन्य लकड़ियोंकी आगकी तरह दाहक होते हैं। पुद्गलद्रव्योंके परस्पर न्यूनाधिक सम्बन्धसे होनेवाले परिणमनोंकी न कोई गिनती निर्धारित है और न आकार और प्रकार ही। किसी भी पर्यायकी एकरूपता और चिरस्थायिता उसके प्रतिसमयभावी समानपरिणमनों पर निर्भर करती है। जब तक उसके घटक परमाणुओंमें समानपर्याय होती रहेगी, तब तक वह वस्तु एक-सी रहेगी और ज्यों ही कुछ परमाणुओंमें परिस्थितिके अनुसार असमान परिणमन शुरू होगा; तैसे ही वस्तुके आकार-प्रकारमें विलक्षणता आती जायगी। आजके विज्ञानसे जल्दी सड़नेवाले आलूको बरफमें या बद्धवायु (Airtite) में रखकर जल्दी सड़नेसे बचा लिया है।

तात्पर्य यह कि सतत गतिशील पुद्गल-परमाणुओंके आकार और प्रकारकी स्थिरता या अस्थिरताकी कोई निश्चित जवाबदारी नहीं ली जा सकती। यह तो परिस्थिति और वातावरण पर निर्भर है कि वे कब, कहाँ और कैसे रहें। किसी लम्बे चौड़े स्कन्धके अमुक भागके कुछ परमाणु यदि विद्रोह करके स्कन्धत्वको कायम रखनेवाली परिणतिको स्वीकार नहीं करते हैं तो उस भागमें तुरन्त विलक्षणता आ जाती है। इसीलिए स्थायी स्कन्ध तैयार करनेके समय इस बातका विशेष ध्यान रखा जाता है कि उन परमाणुओंका परस्पर एकरस मिलाव हुआ है या नहीं। जैसा मावा तैयार होगा वैसा ही तो कागज बनेगा। अतः न तो परमाणुओंको सर्वथा नित्य यानी अपरिवर्तनशील माना जा सकता है और न इतना स्वतन्त्र परिणमन करनेवाले कि जिससे एक समान पर्यायका विकास ही न हो सके।

अवयवीका स्वरूप :

यदि बौद्धोंकी तरह अत्यन्त समीप रखे हुए किन्तु परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंका पुञ्ज ही स्थूल घटादि रूपसे प्रतिभासित होता है, यह माना जाय; तो बिना सम्बन्धके तथा स्थूल आकारकी प्राप्तिके बिना ही वह अणुपुञ्ज स्कन्ध रूपसे कैसे प्रतिभासित हो सकता है? यह केवल भ्रम नहीं है, किन्तु प्रकृतिकी प्रयोगशालामें होनेवाला वास्तविक रासायनिक मिश्रण है, जिसमें सभी परमाणु बदलकर एक नई ही अवस्थाको धारण कर रहे हैं। यद्यपि 'तत्त्वसंग्रह' (पृ० १९५) में यह स्वीकार किया है कि परमाणुओंमें विशिष्ट अवस्थाकी प्राप्ति

हो जानेसे वे स्थूलरूपमें इन्द्रियग्राह्य होते हैं, तो भी जब सम्बन्धका निषेध किया जाता है, तब इस 'विशिष्ट अवस्थाप्राप्ति' का क्या अर्थ हो सकता है ? अन्ततः उसका यही अर्थ सम्भव है कि जो परमाणु परस्पर विलग और अतीन्द्रिय थे वे ही परस्परबद्ध और इन्द्रियग्राह्य बन जाते हैं । इस प्रकारकी परिणतिके माने बिना बालूके पुञ्जसे घटके परमाणुओंके सम्बन्धमें कोई विशेषता नहीं बताई जा सकती । परमाणुओंमें जब स्निग्धता और रूक्षताके कारण अमुक प्रकारके रासायनिक बन्धके रूपमें सम्बन्ध होता है, तभी वे परमाणु स्कन्ध-अवस्थाको धारण कर सकते हैं; केवल परस्पर निरन्तर अवस्थित होनेके कारण ही नहीं । यह ठीक है कि उस प्रकारका बन्ध होने पर भी कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, पर नई अवस्था तो उत्पन्न होती ही है, और वह ऐसी अवस्था है, जो केवल साधारण संयोगसे जन्य नहीं है, किन्तु विशेष प्रकारके उभयपारिणामिक रासायनिक बन्धसे उत्पन्न होती है । परमाणुओंके संयोग-सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते हैं—कहीं मात्र प्रदेशसंयोग होता है, कहीं निविड, कही शिथिल और कहीं रासायनिक बन्धरूप ।

बन्ध-अवस्थामें ही स्कन्धकी उत्पत्ति होती है और अचाक्षुष स्कन्धको चाक्षुष बननेके लिए दूसरे स्कन्धके विशिष्ट संयोगकी उस रूपमें आवश्यकता है, जिस रूपसे वह उसकी सूक्ष्मताका विनाश कर स्थूलता ला सके; यानी जो स्कन्ध या परमाणु अपनी सूक्ष्म अवस्थाका त्याग कर स्थूल अवस्थाको धारण करता है, वह इन्द्रियगम्य हो सकता है । प्रत्येक परमाणुमें अखण्डता और अविभागिता होनेपर भी यह खुशी तो अवश्य है कि अपनी स्वाभाविक लचकके कारण वे एक दूसरेको स्थान दे देते हैं, और असंख्य परमाणु मिलाकर अपने सूक्ष्म परिणमनरूप स्वभावके कारण थोड़ी-सी जगहमें समा जाते हैं । परमाणुओंकी संख्याका अधिक होना ही स्थूलताका कारण नहीं । बहुतसे कमसंख्यावाले परमाणु भी अपने स्थूल परिणमनके द्वारा स्थूल स्कन्ध बन जाते हैं, जब कि उनसे कई गुने परमाणु कार्मण शरीर आदिमें सूक्ष्म परिणमनके द्वारा इन्द्रिय-अग्राह्य स्कन्धके रूपमें ही रह जाते हैं । तात्पर्य यह कि इन्द्रियग्राह्यताके लिए परमाणुओंकी संख्या अपेक्षित नहीं है, किन्तु उनका अमुक रूपमें स्थूल परिणमन ही विशेषरूपसे अपेक्षणीय होता है । ये अनेक प्रकारके बन्ध परमाणुओंके अपने स्निग्ध और रूक्ष स्वभावके कारण प्रतिक्षण होते रहते हैं, और परमाणुओंके अपने निजी परिणमनोंके योगसे उस स्कन्धसे रूपादिका तारतम्य घटित हो जाता है ।

एक स्थूल स्कन्धमें सैकड़ों प्रकारके बन्धवाले छोटे-छोटे अवयव-स्कन्ध शामिल रहते हैं; और उनमें प्रतिसमय किसी अवयवका टूटना, नयेका जुड़ना तथा अनेक

प्रकारके उपचय-अपचयरूप परिवर्तन होते हैं। यह निश्चित है कि स्कन्ध-अवस्था बिना रासायनिक बन्धके नहीं होती। यों साधारण संयोगके आधारसे भी एक स्थूल प्रतीति होती है और उसमें व्यवहारके लिए नई संज्ञा भी कर ली जाती है, पर इतने मात्रसे स्कन्ध अवस्था नहीं बनती। इस रासायनिक बन्धके लिए पुरुषका प्रयत्न भी क्वचित् काम करता है और विना प्रयत्नके भी अनेकों बन्ध प्राप्त सामग्रीके अनुसार होते हैं। पुरुषका प्रयत्न उनमें स्थायिता और सुन्दरता तथा विशेष आकार उत्पन्न करता है। सैकड़ों प्रकारके भौतिक आविष्कार इसी प्रकारकी प्रक्रियाके फल हैं।

असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्त पुद्गल परमाणुओंका समा जाना आकाशकी अवगाहशक्ति और पुद्गलाणुओंके सूक्ष्मपरिणमनके कारण सम्भव हो जाता है। कितनी भी सुसम्बद्ध लकड़ीमें कील ठोकी जा सकती है। पानीमें हाथीका डूब जाना हमारी प्रतीतिका विषय होता ही है। परमाणुओंकी अनन्त शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। आजके एटम बमने उसकी भीषण संहारक शक्तिका कुछ अनुभव तो हमलोगोंको करा ही दिया है।

गुण आदि द्रव्यरूप ही हैं :

प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणोंका अभिन्न आधार होता है। अतः उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गलपरमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणोंका आधार होता है। प्रत्येक गुणका भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्यका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यसे गुण पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न है; और संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदिके भेदसे उसका विभिन्नरूपसे निरूपण किया जाता है; अतः वह भिन्न है। इस दृष्टिसे द्रव्यमें जितने गुण हैं, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक्सत्ताक ही, उनकी द्रव्यसत्ता एक है। बारीकीसे देखा जाय तो पर्याय और गुणको छोड़कर द्रव्यका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है और पर्यायोंमें परिवर्तन होनेपर भी जो एक अविच्छिन्नताका नियामक अंश है, वही तो गुण है। हाँ, गुण अपनी पर्यायोंमें सामान्य एकरूपताके प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्गलाणुमें रूप अपनी किसी नई पर्यायको लेता है, उसी समय रस, गन्ध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुणकी सम्पत्ति (Property) या स्वरूप हैं।

रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं हैं :

एक पक्ष यह भी है कि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंकी सत्ता नहीं है। वह तो एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो आँखोंसे रूप, जीभसे रस, नाकसे गन्ध और हाथ आदिसे स्पर्शके रूपमें जाना जाता है, यानी विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा उसमें रूपादि गुणोंकी प्रतीति होती है, वस्तुतः उसमें इन गुणोंकी सत्ता नहीं है। किन्तु यह एक मोटा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ जाननेवाली हैं, गुणोंकी उत्पादक नहीं। जिस समय हम किसी आमको देख रहे हैं, उस समय उसमें रस, गन्ध या स्पर्श है ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हमारे न सूँघनेपर भी उसमें गन्ध है और न चखने और न छूनेपर भी उसमें रस और स्पर्श है, यह बात प्रतिदिनके अनुभवकी है, इसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है। इसी तरह चेतन आत्मामें एक साथ ज्ञान, सुख, शक्ति, विश्वास, धैर्य और साहस आदि अनेकों गुणोंका युगपत् सद्भाव पाया जाता है, और इनका प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक अविच्छिन्नता बनी रहती है। चैतन्य इन्हीं अनेक रूपोंमें विकसित होता है। इसीलिये गुणोंको सहभावी और अन्वयी बताया है, पर्यायें व्यतिरेकी और क्रमभावी होती हैं। वे इन्हीं गुणोंके विकार या परिणाम होती हैं। एक चेतन द्रव्यमें जिस क्षण ज्ञानकी अमुक पर्याय हो रही है, उसी क्षण दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनेक गुण अपनी-अपनी पर्यायोंके रूपसे बराबर परिणत हो रहे हैं। यद्यपि इन समस्त गुणोंमें एक चैतन्य अनुस्यूत है; फिर भी यह नहीं है कि एक ही चैतन्य स्वयं निर्गुण होकर विविध गुणोंके रूपमें केवल प्रतिभासित हो जाता हो। गुणोंकी अपनी स्थिति स्वयं है और यही एकसत्ताक गुण और पर्याय द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनसे जुदा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु इन्हीं सबका तादात्म्य है।

गुण केवल दृष्टि-सृष्टि नहीं हैं कि अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उस द्रव्यमें जब कभी प्रतिभासित हो जाते हों और प्रतिभासके बाद या पहले अस्तित्व-विहीन हों। इस तरह प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यमें अपने सहभावी गुणोंके परिणमनके रूपमें अनेकों उत्पाद और व्यय स्वभावसे होते हैं और द्रव्य उन्हींमें अपनी अखण्ड अनुस्यूत सत्ता रखता है, यानी अखण्ड-सत्तावाले गुण-पर्याय ही द्रव्य हैं। गुण प्रतिसमय किसी-न-किसी पर्याय रूपसे परिणत होगा ही और ऐसे अनेक गुण अनन्तकाल तक जिस एक अखण्ड सत्तासे अनुस्यूत रहते हैं, वह द्रव्य है। द्रव्यका अर्थ है, उन-उन क्रमभावी पर्यायोंको प्राप्त होना। और इस तरह प्रत्येक गुण भी द्रव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपनी क्रमभावी पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता ही

है, किन्तु इस प्रकार गुणमें औपचारिक द्रव्यता ही बनती है, मुख्य नहीं। एक द्रव्यसे तादात्म्य रखनेके कारण सभी गुण एक तरहसे द्रव्य ही हैं, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक गुण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सत् होनेके कारण स्वयं एक परिपूर्ण द्रव्य होता है। अर्थात् गुण वस्तुतः द्रव्यांश कहे जा सकते हैं, द्रव्य नहीं। यह अंशकल्पना भी वस्तुस्थितिपर प्रतिष्ठित है, केवल समझानेके लिए ही नहीं है। इस तरह द्रव्य गुण-पर्यायोंका एक अखण्ड, तादात्म्य रखनेवाला और अपने हरएक प्रदेशमें सम्पूर्ण गुणोंकी सत्ताका आधार होता है।

इस विवेचनका यह फलितार्थ है कि एक द्रव्य अनेक उत्पाद और व्ययोंका और गुणरूपसे ध्रौव्यका युगपत् आधार होता है। यह अपने विभिन्न गुण और पर्यायोंमें जिस प्रकारका वास्तविक तादात्म्य रखता है, उस प्रकारका तादात्म्य दो द्रव्योंमें नहीं हो सकता। अतः अनेक विभिन्न सत्ताके परमाणुओंके बन्ध-कालमें जो स्कन्ध-अवस्था होती है, वह उन्हीं परमाणुओंके सदृश परिणमनका योग है, उनमें कोई एक नया द्रव्य नहीं आता, अपितु विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त वे परमाणु ही विभिन्न स्कन्धोंके रूपमें व्यवहृत होते हैं। यह विशिष्ट अवस्था उनकी कथञ्चित् एकत्व-परिणतिरूप है।

कार्योत्पत्ति विचार

सांख्यका सत्कार्यवाद :

कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन वाद हैं। पहला सत्कार्यवाद, दूसरा असत्कार्यवाद और तीसरा सत्-असत्कार्यवाद। सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उनका यह आशय है[1] कि प्रत्येक कारणमें उससे उत्पन्न होनेवाले कार्योंकी सत्ता है, क्योंकि सर्वथा असत् कार्यकी खरविषाणकी तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती। गेहूँके अंकुरके लिए गेहूँके बीजको ही ग्रहण किया जाता है, यवादिके बीजको नहीं। अतः ज्ञात होता है कि उपादानमें कार्यका सद्भाव है। जगत्में सब कारणोंसे सब कार्य पैदा नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारणोंसे प्रतिनियत कार्य होते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि जिन कारणोंमें जिन कार्योंका सद्भाव है, वे ही उनसे पैदा होते हैं, अन्य नहीं। इसी तरह समर्थ भी कारण शक्य ही कार्यको पैदा करता है, अशक्यको नहीं। यह शक्यता कारणमें कार्यके सद्भावके सिवाय और क्या हो

१. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य॥"
—सांख्यका० ९।

सकती है ? और यदि कारणमें कार्यका तादात्म्य स्वीकार न किया जाय तो संसारमें कोई किसीका कारण नहीं हो सकता। कार्यकारणभाव स्वयं ही कारणमें किसी रूपसे कार्यका सद्भाव सिद्ध कर देता है। सभी कार्य प्रलयकालमें किसी एक कारणमें लीन हो जाते हैं। वे जिसमें लीन होते हैं, उसमें उनका सद्भाव किसी रूपसे रहा आता है। ये कारणोंमें कार्यकी सत्ता शक्तिरूपसे मानते हैं, अभिव्यक्ति-रूपसे नहीं। इनका कारणतत्त्व एक प्रधान—प्रकृति है, उसीसे संसारके समस्त कार्यभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

नैयायिकका असत्कार्यवाद :

नैयायिकादि असत्कार्यवादी हैं। इनका यह मतलब है कि जो स्कन्ध पर-माणुओंके संयोगसे उत्पन्न होता है वह एक नया ही अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओंके संयोगके बिखर जाने पर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके पहले उस अवयवी द्रव्यकी कोई सत्ता नहीं थी। यदि कार्यकी सत्ता कारणमें स्वीकृत हो तो कार्यको अपने आकार-प्रकारमें उसी समय मिलना चाहिए था, पर ऐसा देखा नहीं जाता। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक् नहीं है, वे अयुतसिद्ध हैं। कहीं भी अवयवीकी उपलब्धि यदि होती है, तो वह केवल अवयवोंमें ही। अवयवोंसे भिन्न अर्थात् अवयवोंसे पृथक् अवयवीको जुदा निकालकर नहीं दिखाया जा सकता।

बौद्धोंका असत्कार्यवाद :

बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टिमें पूर्व और उत्तरके साथ वर्तमानका कोई सम्बन्ध नहीं। जिस कालमें जहाँ जो है, वह वहीं और उसी कालमें नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य-कारणभाव आदि व्यवहारोंकी नियामिका है। वस्तुतः दो क्षणोंका परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

जैनदर्शनका सदसत्कार्यवाद :

जैनदर्शन 'सदसत्कार्यवादी' है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थमें मूलभूत द्रव्ययोग्यताएँ होनेपर भी कुछ तत्पर्याययोग्यताएँ भी होती हैं। ये पर्याययोग्यताएँ मूल द्रव्ययोग्यताओंसे बाहरकी नहीं हैं, किन्तु उन्हींमेंसे विशेष अवस्थाओंमें साक्षात् विकासको प्राप्त होनेवाली हैं। जैसे मिट्टीरूप पुद्गलके परमाणुओंमें पुद्गलकी घट-पट आदिरूपसे परिणमन करनेकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ हैं, पर मिट्टीकी तत्पर्याययोग्यता घटको ही साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदिको नहीं। तात्पर्य यह है कि कार्य अपने कारणद्रव्यमें द्रव्ययोग्यताके साथ ही तत्पर्याय-

योग्यता या शक्तिके रूपमें रहता ही है। यानी उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्यरूपसे ही है, पर्यायरूपसे नहीं है।

सांख्यके यहाँ कारणद्रव्य तो केवल एक 'प्रधान' हो है, जिसमें जगत्के समस्त कार्योंके उत्पादनकी शक्ति है। ऐसी दशामें जबकि उसमें शक्तिरूपसे सब कार्य मौजूद हैं, तब अमुक समयमें अमुक ही कार्य उत्पन्न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती। कारणके एक होनेपर परस्परविरोधी अनेक कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अतः सांख्यके यह कहनेका कोई विशेष अर्थ नहीं रहता कि 'कारणमें कार्य शक्तिरूपसे है, व्यक्तिरूपसे नहीं', क्योंकि शक्तिरूपसे तो सब सब जगह मौजूद है। 'प्रधान' चूँकि व्यापक और निरंश है, अतः उससे एक साथ विभिन्न देशोंमें परस्पर विरोधी अनेक कार्योंका आविर्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। सीधा प्रश्न तो यह है कि जब सर्वशक्तिमान् 'प्रधान' नामका कारण सर्वत्र मौजूद है, तो मिट्टीके पिण्डसे घटकी तरह कपड़ा और पुस्तक क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

जैन दर्शनका उत्तर तो स्पष्ट है कि मिट्टीके परमाणुओंमें यद्यपि पुस्तक और पटरूपसे परिणमन करनेकी मूल द्रव्ययोग्यता है, किन्तु मिट्टीकी पिण्डरूप पर्यायमें साक्षात् कपड़ा और पुस्तक बननेकी तत्पर्याययोग्यता नहीं है, इसलिए मिट्टीका पिण्ड पुस्तक या कपड़ा नहीं बन पाता। फिर कारण द्रव्य भी एक नहीं, अनेक हैं; अतः सामग्रीके अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंका युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्ता तत्पर्याययोग्यताकी है। जिस क्षणमें कारणद्रव्योंमें जितनी तत्पर्याययोग्यताएँ होंगीं उनमेंसे किसी एकका विकास प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार हो जाता है। पुरुषका प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकारमें परिणत करानेके लिए विशेष साधक होता है। उपादानव्यवस्था इसी तत्पर्याययोग्यताके आधारपर होती है, मात्र द्रव्ययोग्यताके आधारसे नहीं; क्योंकि द्रव्ययोग्यता तो गेहूँ और कोदों दोनों बीजोंके परमाणुओंमें सभी अंकुरोंको पैदा करनेकी समानरूपसे है परन्तु तत्पर्याययोग्यता कोदोंके बीजमें कोदोंके अंकुरको ही उत्पन्न करनेकी है। तथा गेहूँके बीजमें गेहूँके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। इसीलिए भिन्न-भिन्न कार्यों-की उत्पत्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपादानोंका ग्रहण होता है।

धर्मकीर्तिके आक्षेपका समाधान :

अतः बौद्धका[1] यह दूषण कि "दहीको खाओ, यह कहने पर व्यक्ति ऊँटको क्यों नहीं खाने दौड़ता ? जब कि दही और ऊँटके पुद्गलोंमें पुद्गलद्रव्यरूपसे कोई

---

१. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"
—प्रमाणवा० ३।१८१।

भेद नहीं है।" उचित मालूम नहीं होता; क्योंकि जगत्का व्यवहार मात्र द्रव्य-योग्यतासे ही नहीं चलता, किन्तु तत्पर्याययोग्यतासे चलता है। ऊँटके शरीरके पुद्गल और दहीके पुद्गल, द्रव्यरूपसे समान होनेपर भी 'एक' नहीं हैं और चूँकि वे स्थूल पर्यायरूपसे भी अपना परस्पर भेद रखते हैं तथा उनकी तत्पर्याययोग्यताएँ भी जुदी-जुदी हैं, अतः दही ही खाया जाता है, ऊँटका शरीर नहीं। सांख्यके मतसे यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि जब एक ही प्रधान दही और ऊँट दोनों रूपसे विकसित हुआ है, तब उनमें भेदका नियामक क्या है? एक तत्त्वमें एक ही समय विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके परिणमन नहीं हो सकते। इसी तरह यदि घट अवयवी और उसके उत्पादक मिट्टीके परमाणु परस्पर सर्वथा विभिन्न हैं; तो क्या नियामक है जो घड़ा वहीं उत्पन्न हो अन्यत्र नहीं? प्रतिनियत कार्य-कारणकी व्यवस्थाके लिए कारणमें योग्यता या शक्तिरूपसे कार्यका सद्भाव मानना आवश्यक है। यानी कारणमें कार्योत्पादनकी योग्यता या शक्ति रहनी ही चाहिए। योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य आदि एकजातीय मूलद्रव्योंमें समान होनेपर भी विभिन्न अवस्थाओंमें उनकी सीमा नियत हो जाती है और इसी नियतताके कारण जगत्में अनेक प्रकारके कार्यकारणभाव बनते हैं। यह तो हुई अनेक पुद्गल-द्रव्योंके संयुक्त स्कन्धकी बात।

एक द्रव्यकी अपनी क्रमिक अवस्थाओंमें अमुक उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना केवल द्रव्ययोग्यतापर ही निर्भर नहीं करता, किन्तु कारणभूत पर्यायकी तत्पर्याय-योग्यतापर भी। प्रत्येक द्रव्यके प्रतिसमय स्वभावतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे परिणामी होनेके कारण सारी व्यवस्थाएँ सदसत्कार्यवादके आधारसे जम जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारणमें कार्याकारसे असत् होकर भी योग्यता या शक्तिके रूपमें सत् है। यदि कारणद्रव्यमें वह शक्ति न होती तो उससे वह कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाहमें चलनेवाली धाराबद्ध पर्यायोंका परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, जिसके कारण अपनी पूर्व पर्याय ही अपनी उत्तर पर्यायमें उपादान कारण हो सके, दूसरेकी उत्तर पर्यायमें नहीं। यह अनुभवसिद्ध व्यवस्था न तो सांख्यके सत्कार्यवादमें सम्भव है, और न बौद्ध तथा नैयायिक आदिके असत्कार्यवादमें ही। सांख्यके पक्षमें कारणके एक होनेसे इतनी अभिन्नता है कि कार्यभेदको सिद्ध करना असम्भव है, और बौद्धोंके यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षणके साथ अमुक क्षणका उपादान-उपादेयभाव बनना कठिन है।

इसी तरह नैयायिकोंके अवयवी द्रव्यका अमुक अवयवोंके ही साथ समवाय-

सम्बन्ध सिद्ध करना इसलिए कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

इस तरह जैन दर्शनमें ये जीवादि छह द्रव्य प्रमाणके प्रमेय माने गये हैं। ये सामान्य-विशेषात्मक और गुणपर्यायात्मक हैं। गुण और पर्याय द्रव्यसे कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध रखनेके कारण सत् तो हैं, पर वे द्रव्यकी तरह मौलिक नहीं हैं, किन्तु द्रव्यांश हैं। ये ही अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमेय हैं और इन्हींके एक-एक धर्मोंमें नयोंकी प्रवृत्ति होती है। जैनदर्शनकी दृष्टिमें द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ है, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्यकी पर्यायें हैं, स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं।

●

७. तत्त्व-निरूपण

तत्त्वव्यवस्थाका प्रयोजन :

पदार्थव्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है, परन्तु मुमुक्षुको जिनके तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता मुक्तिके लिए है, वे तत्त्व सात हैं। जिस प्रकार रोगीको रोग-मुक्तिके लिए रोग, रोगके कारण, रोगमुक्ति और रोगमुक्तिका उपाय इन चार बातोंका जानना चिकित्साशास्त्रमें आवश्यक बताया है, उसी तरह मोक्षकी प्राप्तिके लिए संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूहका जानना नितान्त आवश्यक है। विश्वव्यवस्था और तत्त्वनिरूपणके जुदे-जुदे प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है, पर तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्वव्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी निरर्थक और अनर्थक हो सकता है।

रोगीके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपनेको रोगी समझे। जब तक उसे अपने रोगका भान नहीं होता, तब तक वह चिकित्साके लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। रोगके ज्ञानके बाद रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि उसका रोग नष्ट हो सकता है। रोगकी साध्यताका ज्ञान ही उसे चिकित्सामें प्रवृत्ति कराता है। रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, जिससे वह भविष्यमें उन अपथ्य आहार-विहारोंसे बचा रहकर अपनेको नीरोग रख सके। रोगको नष्ट करनेके उपायभूत औषधोपचारका ज्ञान तो आवश्यक है ही; तभी तो मौजूदा रोगका औषधोपचारसे समूल नाश करके वह स्थिर आरोग्यको पा सकता है। इसी तरह 'आत्मा बँधा है, इन कारणोंसे बँधा है, वह बन्धन टूट सकता है और इन उपायोंसे टूट सकता है।' इन मूल-भूत चार मुद्दोंमें तत्त्वज्ञानकी परिसमाप्ति भारतीय दर्शनोंने की है।

बौद्धोंके चार आर्यसत्य :

म० बुद्धने भी निर्वाणके लिए चिकित्साशास्त्रकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका[1] उपदेश दिया है। वे कभी भी 'आत्मा क्या है, परलोक क्या है' आदिके दार्शनिक विवादोंमें न तो स्वयं गये और न शिष्योंको ही जाने दिया। इस सम्बन्धका बहुत उपयुक्त उदाहरण मिलिन्द प्रश्नमें दिया गया

---

१. "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः॥"—अभिध० को० ६।२।

है कि 'जैसे किसी व्यक्तिको विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो और जब बन्धुजन उस तीरको निकालनेके लिए विषवैद्यको बुलाते हैं, तो उस समय उसकी यह मीमांसा करना जिस प्रकार निरर्थक है कि 'यह तीर किस लोहेसे बना है ? किसने इसे बनाया ? कब बनाया ? यह कबतक स्थिर रहेगा ? यह विषवैद्य किस गोत्रका है ?' उसी तरह आत्माकी नित्यता और परलोक आदिका विचार निरर्थक है, वह न तो बोधिके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।

इन आर्यसत्योंका वर्णन इस प्रकार है। **दुःख-सत्य**—जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिवेदन, विकलता, इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग, इष्टाप्राप्ति आदि सभी दुःख हैं। संक्षेपमें पाँचों उपादान स्कन्ध ही दुःखरूप हैं। **समुदय-सत्य**—कामकी तृष्णा, भवकी तृष्णा और विभवकी तृष्णा दुःखको उत्पन्न करनेके कारण समुदय कही जाती है। जितने इन्द्रियोंके प्रिय विषय हैं, इष्ट रूपादि हैं, इनका वियोग न हो, वे सदा बने रहें, इस तरह उनसे संयोगके लिए चित्तकी अभिनन्दिनी वृत्तिको तृष्णा कहते हैं। यही तृष्णा समस्त दुःखोंका कारण है। **निरोध-सत्य**—तृष्णाके अत्यन्त निरोध या विनाशको निरोध-आर्यसत्य कहते हैं। दुःख-निरोधका मार्ग है—आष्टांगिक मार्ग। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्य-भावना ही मुख्यरूपसे मार्ग हैं। बुद्धने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना[1] है कि एक आत्माको शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति स्नेहवश उसके सुखमें तृष्णा करता है। तृष्णाके कारण उसे दोष नहीं दिखाई देते और गुणदर्शन कर पुनः तृष्णावश सुखसाधनोंमें ममत्व करता है, उन्हें ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्माभिनिवेश' है तब तक वह संसारमें रुलता है। इस एक आत्माके माननेसे वह अपनेको स्व और अन्यको पर समझता है। स्व-परविभागसे राग और

---

१. "यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"

—प्र० वा० १।२१९–२१।

द्वेष होते हैं, और ये राग-द्वेष ही समस्त संसार परम्पराके मूल स्रोत हैं। अतः इस सर्वानिर्थमूल[1] आत्मदृष्टिका नाश कर नैरात्म्य-भावनासे दुःख-निरोध होता है।

बुद्धका दृष्टिकोण :

उपनिषद्का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शनपर जोर देता है और आत्मदर्शनको ही मोक्षका परम साधन मानता है और मुमुक्षके लिए आत्मज्ञानको ही जीवनका सर्वोच्च साध्य समझता है, वहाँ बुद्धने इस आत्मदर्शनको ही संसारका मूल कारण माना है। आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, सत्कायदृष्टि, ये सब मिथ्या दृष्टियाँ है। औपनिषद तत्त्वज्ञानकी ओटमें, याज्ञिक क्रियाकाण्डको जो प्रश्रय मिल रहा था उसीकी यह प्रतिक्रिया थी कि बुद्धको 'आत्मा' शब्दसे ही घृणा हो गई थी। आत्माको स्थिर मानकर उसे स्वर्गप्राप्ति आदिके प्रलोभनसे अनेक क्रूर यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाके लिए उकसाया जाता था। इस शाश्वत आत्मवादसे ही राग और द्वेषकी अमरवेलें फैलती हैं। मजा तो यह है कि बुद्ध और उपनिषद्वादी दोनों ही राग, द्वेष और मोहका अभाव कर वीतरागता और वासनानिर्मुक्तिको अपना चरम लक्ष्य मानते थे, पर साधन दोनोंके इतने जुदे थे कि एक जिस आत्मदर्शनको मोक्षका कारण मानता था, दूसरा उसे संसारका मूलबीज। इसका एक कारण और भी था कि बुद्धका मानस दार्शनिककी अपेक्षा सन्त ही अधिक था। वे ऐसे गोलगोल शब्दोंको बिलकुल हटा देना चाहते थे, जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओटमें मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासोंकी सृष्टि होती हो। 'आत्मा' शब्द उन्हें ऐसा ही लगा। बुद्धकी नैरात्म्य-भावनाका उद्देश्य 'बोधिचर्य्यावतार' (पृ० ४४९) में इस प्रकार बताया है—

> "यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।
> अहमेव न किञ्चिच्चेत् कस्य भीतिर्भविष्यति ॥"

अर्थात्—यदि 'मैं' नामका कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था, परन्तु जब 'मैं' ही नहीं है, तब भय किसे होगा ?

बुद्ध जिस प्रकार इस 'शश्वत आत्मवाद' रूपी एक अन्तको खतरा मानते थे, उसी तरह वे भौतिकवादको भी दूसरा अन्त समझकर उसे खतरा ही मानते थे। उन्होंने न तो भौतिकवादियोंके उच्छेदवादको ही माना और न उपनिषद्वादियोंके

---

१. "तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥"

—प्रमाणवा० १।२५८।

शाश्वतवादको ही । इसीलिए उनका मत 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के रूपमें व्यवहृत होता है । उन्होंने आत्मासम्बन्धी प्रश्नोंको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था और भिक्षुओंको स्पष्ट रूपसे कह दिया था कि 'आत्माके सम्बन्धमें कुछ भी कहना या सुनना न बोधिके लिए, न ब्रह्मचर्यके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है ।' इस तरह बुद्धने उस आत्माके ही सम्बन्धमें कोई भी निश्चित बात नहीं कही, जिसे दुःख होता है और जो दुःख-निवृत्तिकी साधना करना चाहता है ।

१ आत्मतत्त्व :

जैनोंके सात तत्त्वोंका मूल आत्मा :

निग्गंठ नाथपुत्त महाश्रमण महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्डको निरर्थक और श्रेयःप्रतिरोधी मानते थे, जितना कि बुद्ध । वे आचार अर्थात् चारित्रको ही मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे । परन्तु उनने यह साक्षात्कार किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके विषयमें शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेते, जिस आत्माको दुःख होता है और जिसे निर्वाण पाना है, तब तक वे मानस-संशयसे मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकते । जब मगध और विदेहके कोनेमें ये प्रश्न गूंज रहे हों कि—'आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न ? परलोक क्या है ? निर्वाण क्या है ?' और अन्य तीर्थिक इन सबके सम्बन्धमें अपने मतोंका प्रचार कर रहे हों, और इन्हीं प्रश्नोंपर वाद रोपे जाते हों तब शिष्योंको यह कहकर तत्काल भले ही चुप कर दिया जाय कि "क्या रखा है इस विवादमें कि आत्मा क्या है और कैसी है ? हमें तो दुःखनिवृत्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिये ।" परन्तु इससे उनके मनकी शल्य और बुद्धिकी विचिकित्सा नहीं निकल सकती थी, और वे इस बौद्धिक हीनता और विचार-दीनताके हीनतर भावोंसे अपने चित्तकी रक्षा नहीं कर सकते थे । संघमें तो विभिन्न मतवादियोंके शिष्य, विशेषकर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी दीक्षित होते थे । जब तक इन सब पँचमेल व्यक्तियोंके, जो आत्माके विषयमें विभिन्न मत रखते थे और उसकी चर्चा भी करते थे; संशयका वस्तुस्थितिमूलक समाधान न हो जाता, तब तक वे परस्पर समता और मानस अहिंसाका वातावरण नहीं बना सकते थे । कोई भी धर्म अपने सुस्थिर और सुदृढ़ दर्शनके विना परीक्षक-शिष्योंको अपना अनुयायी नहीं बना सकता । श्रद्धामूलक भावना तत्काल कितना ही समर्पण क्यों न करा ले पर उसका स्थायित्व विचार-शुद्धिके बिना कथमपि संभव नहीं है ।

यही कारण है कि भगवान् महावीरने उस मूलभूत आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें मौन नहीं रखा और अपने शिष्योंको यह बताया कि धर्म वस्तुके यथार्थ

स्वरूपकी प्राप्ति ही है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसका उस पूर्ण स्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि जब तक अपनी उष्णताको कायम रखती है, तब-तक वह धर्मस्थित है। यदि दीपशिखा वायुके झोंकोंसे स्पन्दित हो रही है और चंचल होनेके कारण अपने निश्चल स्वरूपसे च्युत हो रही है, तो कहना होगा कि वह उतने अंशमें धर्मस्थित नहीं है। जल जब तक स्वाभाविक शीतल है, तभी तक धर्म-स्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूपच्युत होकर गर्म हो जाता है, तो वह धर्म-स्थित नहीं है। इस परसंयोगजन्य विकार-परिणतिको हटा देना ही जलकी धर्म-प्राप्ति है। उसी तरह आत्माका वीतरागत्व, अनन्तचैतन्य, अनन्तसुख आदि स्वरूप परसंयोगसे राग, द्वेष, तृष्णा, दुःख आदि विकाररूपसे परिणत होकर अधर्म बन रहा है। जबतक आत्माके यथार्थ स्वरूपका निश्चय और वर्णन न किया जाय तब तक यह विकारी आत्मा कैसे अपने स्वतन्त्र स्वरूपको पानेके लिए उच्छ्वास भी ले सकता है? रोगीको जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो तब तक उसे यही निश्चय नहीं हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। वह उस रोगको विकार तो तभी मानेगा जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका यथार्थ दर्शन हो, और जब तक वह रोगको विकार नहीं मानता तब तक वह रोग-निवृत्तिके लिए चिकित्सामें क्यों प्रवृत्ति करेगा? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा स्वरूप तो आरोग्य है, अपथ्यसेवन आदि कारणोंसे मेरा मूल स्वरूप विकृत हो गया है, तभी वह उस स्वरूपभूत आरोग्य-की प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। रोगनिवृत्ति स्वयं साध्य नहीं है, साध्य है स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्ति। उसी तरह जब तक उस मूल-भूत आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होगा और परसंयोगसे होनेवाले विकारोंको आगन्तुक होनेसे विनाशी न माना जायगा, तब तक दुःखनिवृत्तिके लिए प्रयत्न ही नहीं बन सकता।

यह ठीक है कि जिसे बाण लगा है, उसे तत्काल प्राथमिक सहायता (First aid) के रूपमें आवश्यक है कि वह पहले तीरको निकलवा ले; किन्तु इतनेमें ही उसके कर्त्तव्यकी समाप्ति नहीं हो जाती। वैद्यको यह अवश्य देखना होगा कि वह तीर किस विषसे बुझा हुआ है और किस वस्तुका बना हुआ है। यह इसलिए कि शरीरमें उसने कितना विकार पैदा किया होगा और उस घावको भरनेके लिए कौन-सी मलहम आवश्यक होगी। फिर यह जानना भी आवश्यक है कि वह तीर अचानक लग गया या किसीने दुश्मनीसे मारा है और ऐसे कौन उपाय हो सकते हैं, जिनसे आगे तीर लगनेका अवसर न आवे। यही कारण है

कि तीरकी भी परीक्षा की जाती है, तीर मारनेवालेकी भी तलाश की जाती है और घावकी गहराई आदि भी देखी जाती है। इसीलिये यह जानना और समझना मुमुक्षुके लिए नितान्त आवश्यक है कि आखिर मोक्ष है क्या वस्तु ? जिसकी प्राप्तिके लिए मैं प्राप्त सुखका परित्याग करके स्वेच्छासे साधनाके कष्ट झेलनेके लिए तैयार होऊँ ? अपने स्वातन्त्र्य स्वरूपका भान किये बिना और उसके सुखद रूपकी झाँकी पाये बिना केवल परतन्त्रता तोड़नेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती, जिसके बलपर मुमुक्षु तपस्या और साधनाके घोर कष्टोंको स्वेच्छासे झेलता है। अतः उस आधारभूत आत्माके मूल स्वरूपका ज्ञान मुमुक्षुको सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि बँधा है और जिसे छूटना है। इसीलिए भगवान् महावीरने बंध (दुःख), आस्रव (दुःखके कारण), मोक्ष (निरोध), संवर और निर्जरा (निरोध-मार्ग) इन पाँच तत्त्वोंके साथ ही साथ उस जीव तत्त्वका ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीवको यह संसार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बंध दो वस्तुओंका होता है। अतः जिस अजीवके सम्पर्कसे इसकी विभावपरिणति हो रही है और जिसमें राग-द्वेष करनेके कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्मपुद्गलोंसे बद्ध होनेके कारण यह जीव स्वस्वरूपसे च्युत है उस अजीवतत्त्वका ज्ञान भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षुके लिए सर्व-प्रथम ज्ञातव्य हैं।

तत्त्वोंके दो रूप :

आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व दो दो प्रकारके होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरे भावरूप। जिन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मपरिणामोंसे कर्मपुद्गलोंका आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते हैं और पुद्गलोंमें कर्मत्वका आ जाना द्रव्यास्रव है; अर्थात् भावास्रव जीवगत पर्याय है और द्रव्यास्रव पुद्गलगत। जिन कषायोंसे कर्म बँधते हैं वे जीवगत कषायादि भाव भावबंध हैं और पुद्गलकर्मका आत्मासे सम्बन्ध हो जाना द्रव्य-बन्ध है। भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप। जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्रोंसे नये कर्मोंका आना रुकता है वे भाव भावसंवर हैं और कर्मोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है। इसी तरह पूर्वसंचित कर्मोंका निर्जरण जिन तप आदि भावोंसे होता है वे भाव भावनिर्जरा हैं और कर्मोंका झड़ना द्रव्यनिर्जरा

है। जिन ध्यान आदि साधनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष हैं और कर्मपुद्गलोंका आत्मासे सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

तात्पर्य यह कि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय हैं और द्रव्यरूपमें पुद्गलकी। जिस भेदविज्ञानसे—आत्मा और परके विवेकज्ञानसे—कैवल्यकी प्राप्ति होती है उस आत्मा और परमें ये सातों तत्त्व समा जाते हैं। वस्तुतः जिस परकी परतन्त्रताको हटाना है और जिस स्वको स्वतन्त्र होना है उन स्व और परके ज्ञानमें ही तत्त्वज्ञानकी पूर्णता हो जाती है। इसीलिए संक्षेपमें मुक्तिका मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' को बताया गया है।

तत्त्वोंकी अनादिता :

भारतीय दर्शनोंमें सबने कोई-न-कोई पदार्थ अनादि माने ही हैं। नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके पहले कोई अन्य क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारम्भ हुआ और कब तक रहेगा, यह बतलाना सम्भव नहीं हैं। जिस प्रकार काल अनादि और अनन्त है और उसकी पूर्वावधि निश्चित नहीं की जा सकती, उसी तरह आकाशकी भी कोई क्षेत्रगत मर्य्यादा नहीं बताई जा सकती—"सर्वतो हि अनन्तं तत्" आदि अन्त सभी ओरसे आकाश अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सत्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा।

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।"

—पंचास्तिकाय गा० १५।

"नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

—भगवद्गीता २।१६।

अर्थात्—किसी असत्का सत् रूपसे उत्पाद नहीं होता और न किसी सत्का अत्यन्त विनाश ही होता है। जितने गिने हुए सत् हैं, उनकी संख्यामें न एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि। हाँ, रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है और पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र सत्। अनादिकालसे यह आत्मा पुद्गलसे उसी तरह सम्बद्ध मिलता है जैसे कि खानिसे निकाला गया सोना मैलसे संयुक्त मिलता है।

आत्माको अनादिबद्ध माननेका कारण :

आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दुःख और यहाँ तक कि जीवन-शक्ति भी शरीराधीन है। शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतंतुओंमें क्षीणता आ जाती है और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते हैं। संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई कारण नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण हैं—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मामें ये विभाव परिणाम हो ही नहीं सकते। चूँकि आज ये विभाव और उनका फल—शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्षसे अनुभवमें आ रहा है, अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यही एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्या कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ? इन सब प्रश्नोंका एक मात्र उत्तर है—'अनादि' से। किसी भी दर्शनने ऐसे समयकी कल्पना नहीं की है जिस समय समग्र भावसे ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिशः अमुक आत्माओंसे पुद्‌गलसंसर्ग या प्रकृतिसंसर्गका वह रूप समाप्त हो जाता है, जिसके कारण उसे संसरण करना पड़ता है। इस प्रश्नका दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नहीं हो सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्‌गलसम्बन्ध या अविद्योत्पत्ति होने दे। इसीके अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या शरीरसम्बन्धका नहीं था। जब ये दो स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे वह जितना ही पुराना क्यों न हो; नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खदानसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट आदि मैल कितना ही पुराना या असंख्य कालसे लगा हुआ क्यों न हो, शोधक प्रयोगोंसे अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूपमें लाया जा सकता है। तब यह निश्चय हो जाता है कि सोनेका शुद्ध रूप यह है तथा मैल यह है। सारांश यह कि जीव और पुद्‌गलका बंध अनादिसे है और वह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदि भावोंके कारण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब वह बंध आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और धीरे-धीरे या एक झटकेमें ही समाप्त हो सकता है। चूँकि यह बन्ध दो स्वतन्त्र द्रव्योंका है, अतः टूट सकता है या उस

अवस्थामें तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहनेपर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो सुनने और देखने आदिकी शक्ति रहनेपर भी वह शक्ति जैसी-की-तैसी रह जाती है और देखना और सुनना नहीं होता। विचारशक्ति होनेपर भी यदि मस्तिष्क ठीक नहीं है तो विचार और चिन्तन नहीं किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्‌गलके अधीन हो रहा है। और तो जाने दीजिए, जीभके अमुक-अमुक हिस्सोंमें अमुक-अमुक रसोंके चखनेकी निमित्तता देखी जाती है। यदि जीभके आधे हिस्सेमें लकवा मार जाय तो शेष हिस्सेसे कुछ रसोंका ज्ञान हो पाता है, कुछका नहीं। इस जीवनके ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कलाविज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवनपर्यायके अधीन हैं।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है, जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रामें थे, तो उसके तन्तु चैतन्यको जगाये रखते थे। बुढ़ापा आनेपर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है तो विचारशक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड़ जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गए लेखको यदि बुढ़ापेमें पड़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी-कभी तो उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पुरजा कस गया, ढीला हो गया तो उन्माद, सन्देह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकारकी धाराएँ जीवनको ही बदल देती हैं। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें विभिन्न प्रकारके चेतनभावोंको जागृत करनेके विशेष उपादान रहते हैं।

मुझे एक ऐसे योगीका अनुभव है जिसे शरीरके नशोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण किसी अन्य नसके दबाते ही दया और करुणाके भाव जागृत होते थे और वह व्यक्ति रोने लगता था, तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। इन सब घटनाओंसे हम एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी पर्यायशक्तियाँ, जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय

आदि शामिल हैं, इस शरीरपर्यायके निमित्तसे विकसित होती हैं। शरीरके नष्ट होते ही समस्त जीवन भरमें उपार्जित ज्ञानादि पर्यायशक्तियाँ प्रायः बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार हो जाते हैं।

व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है :

जैनदर्शनमें व्यवहारसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोड़नेपर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाकका देहात्मवाद देहके साथ ही आत्माकी समाप्ति मानता है जब कि जैनके देहपरिमाण-आत्मवादमें आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशामें देहाश्रित यानी देहनिमित्तिक माना गया है।

आत्माकी दशा :

आजका विज्ञान हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढ़ी-सीधी; और उथली-गहरी रेखायें मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिचती जाती हैं, और उन्हींके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैसे अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीमें छोड़नेपर वह गोला जलके बहुतसे परमाणुओंको अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओं-को बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओंको लेता है, कुछको निकालता है, कुछको भाफ बनाता, यानी एक अजीब ही परिस्थिति आस-पासके वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा राग-द्वेष आदिसे उत्तप्त होता है; तब शरीरमें एक अद्भुत हलन-चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ़ जाती है, मुँह सूखने लगता है, और नथने फड़कने लगते हैं। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीरमें एक विशेष प्रकारका मन्थन शुरू होता है, और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नहीं हो लेती; तब तक यह चहल-पहल और मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गलद्रव्योंमें भी परिणमन होता है और उन विचारोंके उत्तेजक पुद्गल आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पड़ता है तब-तब वे फिर रागादि भावोंको जगाते हैं। फिर नये कर्मपुद्गल आते हैं और उन कर्मपुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्मपुद्गलोंके सम्बन्धका चक्र तबतक

बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्रसे रागादि भावोंको नष्ट नहीं कर दिया जाता।

सारांश यह कि जीवकी ये राग-द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व संचित कर्मके उदयसे इस समय राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और तत्कालमें जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्मसे रागादि और रागादिसे नये कर्मका बन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नहीं है; कारण यह है कि केवल पूर्वकर्मके फलका भोगना ही नये कर्मका बन्धक नहीं होता, किन्तु उस भोगकालमें जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके पूर्वकर्मके भोग नूतन रागादिभावोंको नहीं करनेकी वजहसे निर्जराके कारण होते हैं जब कि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादिसे बंध ही बंध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले रागादिभावोंको अपने विवेकसे शान्त करता है और उनमें नई आसक्ति नहीं होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं और किसी नये कर्मका उनकी जगह बन्ध नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि तो हर तरफसे हलका हो चलता है; जब कि मिथ्यादृष्टि नित नयी वासना और आसक्तिके कारण तेजीसे कर्मबन्धनोंमें जकड़ता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवोंकी सीधी, टेढ़ी, गहरी, उथली आदि असंख्य रेखाएँ पड़ती रहती हैं, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहलेकी निर्बल रेखाको साफकर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है। यानी यदि वह रेखा सजातीय संस्कारकी है तो उसे और गहरा कर देती है और यदि विजातीय संस्कारकी है तो उसे पोंछ देती है। अन्तमें कुछ ही अनुभव-रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती हैं। इसी तरह आज जो रागद्वेषादिजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्धन करते हैं; वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और संयम आदिकी पवित्र भावनाओंसे धुल जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावोंका निमित्त मिलता है, तो प्रथमबद्ध पुद्गलोंमें और भी काले पुद्गलोंका संयोग तीव्रतासे होता जाता है। इस तरह जीवनके अन्तमें कर्मोंका बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण (घटती), उत्कर्षण (बढ़ती), संक्रमण (एक दूसरेके रूपमें बदलना) आदि होते-होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्म-शरीरके रूपमें परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्निपर उबलती हुई बटलोईमें दाल, चावल, शाक आदिजो भी डाला जाता है उसकी ऊपर-नीचे

अगल-बगलमें उफान लेकर अन्तमें एक खिचड़ी-सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें, शुभभावोंसे शुभकर्मोंमें रस-प्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभ कर्मोंमें रसहीनता और स्थितिच्छेद हो जाता है। अन्तमें एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदयसे रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते हैं।

अथवा जैसे पेटमें जठराग्निसे आहारका मल, मूत्र, स्वेद आदिके रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है। बीचमें चूरण-चटनी आदिके संयोगसे उसकी लघुपाक, दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं, पर अन्तमें होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनको सुपच या दुष्पच कहा जाता है, उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले अच्छे और बुरे भावोंके अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्तमें जो स्थिति होती है, उसके अनुसार उन कर्मोंको शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्गल और आत्मा दोनोंसे प्रभावित होता है। जब कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका स्रोत है, आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्रशक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं और प्राप्तसामग्रीके अनुसार उस संचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चालू रहेगा जब तक कि बन्धकारक मूलरागादिवासनाओंका नाश नहीं कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थोंके—नोकर्मोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावोंके अनुसार आगे उदयमें आनेवाले कर्मोंके रसदानमें भी अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल देना, अन्य रूपमें देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होनेके बाद फिर अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार भी कर्मके निमित्तसे ही होता है। अतः कर्मनिमित्तिके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमें रह जाता है और ऊर्ध्व लोकके अग्र भागमें स्थिर हो अपने चैतन्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

अतः भ० महावीरने बन्ध-मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है और जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूप-प्रच्युतिरूप है। चूँकि यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें ममकार और अहङ्कार करनेके कारण हुई है, अतः इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकता है। इस आत्माको यह तत्त्वज्ञान होता है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्य, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त और ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भुलाकर परपदार्थोंमें ममकार और शरीरको अपना माननेके कारण, राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद और मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरी दशा हो गयी है। इन कषायोंकी ज्वालासे मेरा स्वरूप समल और योगके कारण चञ्चल हो गया है। यदि परपदार्थोंसे ममकार और रागादि भावोंसे अहङ्कार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा और ये रागादि वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जाँयगी। इस तत्त्वज्ञानसे आत्मा विकारोंको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप हो जाता है। इसी शुद्धिको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो, तब तक कैसे हो सकता है?

आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि :

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति होती है दुःखनिवृत्तिमें। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोंका नित्य आत्मा और नित्य आत्मामें स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्वपर विभागसे राग-द्वेष और राग-द्वेषसे यह संसार बन जाता है। अतः समस्त अनर्थोंकी जड़ आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि आत्माकी नित्यता और अनित्यता राग और विरागका कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूपके अज्ञान और स्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे होते हैं। रागका कारण है परपदार्थोंमें ममकार करना। जब इस आत्माको समझाया जाता है कि मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री-पुत्रादि तथा शरीरमें ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नहीं, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभावकी ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शनसे परपदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर स्वरूपमें लीन होने लगता है। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ, मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गलद्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ। मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गलपरमाणुओंका

एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब पर द्रव्य हैं। परपदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। आजतक मैंने परपदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसारके अधिक-से-अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ, वैसा वे परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमनपर अर्थात् अपने विचारों और क्रियापर ही अधिकार रख सकता है। परपदार्थोंपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें। संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्यको अपने इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए हैं और दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीना-झपटीमें संघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग-द्वेष होते हैं और होता है अन्ततः दुःख ही दुःख।

सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।' मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे और अनिष्टका संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल परिणति करते रहें, शरीर नीरोग हो, मृत्यु न हो, धनधान्य हों, प्रकृति अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकारकी चाह इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती है। बुद्धने जिस दुःखको सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया है 'स्वरूपकी मर्यादाका अज्ञान', यदि मनुष्यको यह पता हो कि—'जिनकी मैं चाह करता हूँ, और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ' तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। सारांश यह कि दुःखका कारण तृष्णा है, और तृष्णाकी उद्भूति स्वाधिकार एवं स्वरूपके अज्ञान या मिथ्याज्ञानके कारण होती है, परपदार्थोंको अपना माननेके कारण होती है। अतः उसका उच्छेद भी स्वस्वरूपके सम्यग्ज्ञान यानी स्वपर-विवेकसे ही हो सकता है। इस मानवने अपने स्वरूप और अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और परपदार्थोंके निमित्तसे जगत्में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोंकी सृष्टि कर मिथ्या अहंकारका पोषण किया है। शरीरा-

श्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खड़ी कर, मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मांसपिण्ड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोंके संग्रही और परिग्रहीको महत्त्व देकर इसने तृष्णाकी पूजा की। जगत्में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब परपदार्थोंकी छीना-झपटीके कारण हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परमें आत्मबुद्धि'को नहीं समझ लेता तब तक दुःख-निवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती।

बुद्धने संक्षेपमें पाँच स्कन्धोंको दुःख कहा है। पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको भी बताया। चूँकि ये स्कन्ध आत्मस्वरूप नहीं हैं, अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावोंका सर्जक है और दुःखस्वरूप है। निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और परपदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्माकी यथार्थ दृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका यह रूप परपदार्थोंमें द्वेष करना नहीं सिखाता, किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी यह तृष्णा फैल रही है, वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा मात्र अपने विचार अपने व्यवहारपर ही है। अतः आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःख-निवृत्ति या मुक्तिकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

नैरात्म्यवादकी असारता :

अतः आ० धर्मकीर्तिकी यह आशंका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"

—प्रमाणवा० १।२२१।

अर्थात्—आत्माको 'स्व' माननेसे दूसरोंको 'पर' मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा। परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकड़ों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व माननेसे आत्मेतरको पर मानेगा। पर स्वपरविभागसे परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर आदि परपदार्थोंका और उसके सुखसाधनोंका होता है, जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही, ग्रहण नहीं करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुख-साधन 'पर' हैं वैसे शरीर भी। राग और द्वेष भी शरीरादिके सुख-साधनों

और असाधनोंमें होते हैं, सो आत्मदर्शीको क्यों होंगे ? उलटे आत्मद्रष्टा शरीरादि-निमित्तक रागद्वेष आदि द्वन्द्वोंके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हाँ, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमें परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी 'पर' ही मान रहा है तथा दुःखका कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमें रागद्वेष करेगा ? अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है। अतः धर्मकीतिका आत्मदर्शनकी बुराइयोंका यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

"यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषाँस्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥"

—प्रमाणवार्तिक १।२१९–२०।

अर्थात्—जो आत्माको देखता है, उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है। स्नेहसे आत्मसुखमें तृष्णा होती है। तृष्णासे आत्माके अन्य दोषोंपर दृष्टि नहीं जाती, गुण-ही-गुण दिखाई देते हैं। आत्मसुखमें गुण देखनेसे उसके साधनोंमें ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है। इस तरह जब तक आत्माका अभिनिवेश है तब तक संसार ही है।

क्योंकि आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी समझता है कि शरीरादि परपदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं। इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बंधमें डालनेवाला है। आत्माके स्वरूपभूत सुखके लिए किसी अन्य साधनके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थोंमें मिथ्याबुद्धिकर रखी है उस मिथ्याबुद्धिका ही छोड़ना और आत्मगुणका दर्शन, आत्ममात्रमें लीनताका कारण होगा न कि बन्धनकारक परपदार्थोंके ग्रहणका। शरीरादि परपदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका सर्जक होता है, किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्म- तत्त्वका दर्शन शरीरादिमें रागादि क्यों उत्पन्न करेगा ?

पञ्चस्कन्ध रूप आत्मा नहीं :

यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेका कारण दृष्टिव्यामोह ही है; जो वे उसका मात्र शरीरस्कन्ध ही स्वरूप मान रहे हैं

और आत्मदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कह रहे हैं । एक ओर वे पृथिव्यादि महाभूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते । इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर, रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता है । जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृत कोटिमें डाल गए हैं तो उनके शिष्योंका दार्शनिक क्षेत्रमें भी आत्माके विषयमें परस्परविरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आज महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिक अनात्मवाद जैसे उभय प्रतिषेधक' नामसे पुकारते हैं । वे यह नहीं बता सकते कि आखिर आत्माका स्वरूप है क्या ? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत् हैं ? क्या आत्माकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत्ता है ? और यदि निर्वाणमें चित्तसंतति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एक जन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित पर निर्वाणमें विनष्ट होनेवाले अभौतिक अनात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रह जाती है ? अन्तमें तो उसका निरोध हो ही जाता है ।

महावीर इस असंगतिके जालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला । यही कारण है जो उन्होंने आत्माका समग्रभावसे निरूपण किया है और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है ।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि धर्मका लक्षण है स्वभावमें स्थिर होना । आत्माका अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना ही धर्म है और इसकी निर्मल और निश्चल शुद्ध परिणति ही मोक्ष है । यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता । परतंत्रताके बन्धनको तोड़ना स्वातंत्र्य सुखके लिए होता है । कोई वैद्य रोगीसे यह कहे कि 'तुम्हें इससे क्या मतलब कि आगे क्या होगा, दवा खाये जाओ; तो रोगी तत्काल वैद्य पर विश्वास करके दवा भले ही खाता जाय, परन्तु आयुर्वेदकी कक्षामें विद्यार्थियोंकी जिज्ञासाका समाधान इतने मात्रसे नहीं किया जा सकता । रोगकी पहचान भी स्वास्थ्यके स्वरूपको जाने बिना नहीं हो सकती । जिन जन्मरोगियोंको स्वास्थ्यके स्वरूपकी झाँकी ही नहीं मिली वे तो उस रोगको रोग ही नहीं मानते और न उसकी निवृत्तिकी चेष्टा ही करते हैं । अतः हर तरह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वका समग्र ज्ञान आवश्यक है ।

आत्माके तीन प्रकार :

आत्मा तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जो शरीर आदि परपदार्थोंको अपना रूप मानकर उनकी ही प्रियभोगसामग्रीमें आसक्त हैं वे

बहिर्मुख जीव बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपरविवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्यपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल-कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। यही संसारी आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्ति या बन्धन-मुक्तिके लिये आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

चारित्रका आधार :

चारित्र अर्थात् अहिंसाकी साधनाका मुख्य आधार जीवतत्त्वके स्वरूप और उसके समान अधिकारकी मर्यादाका तत्त्वज्ञान ही बन सकता है। जब हम यह जानते और मानते हैं कि जगत्में वर्तमान सभी आत्माएँ अखंड और मूलतः एक-एक स्वतन्त्र समानशक्तिवाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नहीं है, हम उससे विकल होते हैं और अपने जीवनको प्रिय समझते हैं, सुख चाहते हैं, दुःखसे घबड़ाते हैं उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोद, वृक्ष, वनस्पति, कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरोंको धारण करती रही है और न जाने इसे कौन-कौन शरीर धारण करना पड़ेंगे। मनुष्योंमें जिन्हें हम नीच, अछूत आदि कहकर दुरदुराते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और बन्धनों-से उन समानाधिकारी मनुष्योंके अधिकारोंका निर्दलन करके उनके विकासको रोकते हैं, उन नीच और अछूतोंमें भी हम उत्पन्न हुए होंगे। आज मनमें दूसरोंके प्रति उन्हीं कुत्सित भावोंको जाग्रत करके उस परिस्थितिका निर्माण अवश्य ही कर रहे हैं जिससे हमारी उन्हींमें उत्पन्न होनेकी अधिक सम्भावना है। उन सूक्ष्म निगोदसे लेकर मणुष्योंतकके हमारे सीधे सम्पर्कमें आनेवाले प्राणियोंके मूलभूत स्वरूप और अधिकारको समझे बिना हम उनपर करुणा, दया आदिके भाव ही नहीं ला सकते, और न समानाधिकारमूलक परम अहिंसाके भाव ही जाग्रत कर सकते हैं। चित्तमें जब उन समस्त प्राणियोंमें आत्मौपम्यकी पुण्य भावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगलकामनासे भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्मको नहीं समझनेवाले संघर्षशील हिंसकोंके शोषण और निर्दलनसे पिसती हुई आत्माके उद्धारकी छटपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञानकी सुवाससे ही हमारी परिणति परपदार्थोंके संग्रह और परिग्रहकी दुष्प्रवृत्तिसे हटकर लोककल्याण और जीवसेवाकी ओर झुकती है। अतः अहिंसाकी सर्वभूतमैत्रीकी उत्कृष्ट साधनाके लिए सर्वभूतोंके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान तो पहले चाहिये ही। न केवल ज्ञान ही, किन्तु चाहिये उसके प्रति दृढ़ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्वकी मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रियराजकुमार वर्धमानके मनमें जगी थी और तभी वे प्राप्तराजविभूतिको बन्धन मानकर बाहर-भीतरकी सभी गाँठे खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत्में मानवताको वर्णभेदकी चक्कीमें पीसनेवाले तथोक्त उच्चाभिमानियोंको झकझोरकर एक बार रुककर सोचनेका शीतल वातावरण उपस्थित कर सकें। उनने अपने त्याग और तपस्याके साधक जीवनसे महत्ताका मापदण्ड ही बदल दिया और उन समस्त त्रासित शोषित अभिद्रावित और पीड़ित मनुष्यतनधारियोंको आत्मवत् समझ धर्मके क्षेत्रमें समानरूपसे अवसर देनेवाले समवसरणकी रचना की। तात्पर्य यह कि अहिंसाकी विविध प्रकारकी साधनाओंके लिए आत्माके स्वरूप और उसके मूल अधिकार-मर्यादाका ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि परपदार्थोंसे विवेक प्राप्त करनेके लिए 'पर' पुद्गलका ज्ञान। बिना इन दोनोंका वास्तविक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शनकी वह अमरज्योति नहीं जल सकती, जिसके प्रकाशमें मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमताका उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकारका ज्ञान और उसको जीवनमें उतारनेकी दृढ़निष्ठा ही सर्वोदयकी भूमिका हो सकती है। अतः वैयक्तिक दुःखकी निवृत्ति तथा जगत्में शान्ति स्थापित करनेके लिए जिन व्यक्तियोंसे यह जगत् बना है उन व्यक्तियोंके स्वरूप और अधिकारकी सीमाको हमें समझना ही होगा। हम उसकी तरफसे आँख मूँदकर तात्कालिक करुणा या दयाके आँसू बहा भी लें, पर उसका स्थायी इलाज नहीं कर सकते। अतः भगवान् महावीरने बन्धनमुक्तिके लिये जो 'बंधा है तथा जिससे बंधा है' इन दोनों तत्त्वोंका परिज्ञान आवश्यक बताया। बिना इसके बन्धपरम्पराके समूलोच्छेद करनेका सङ्कल्प ही नहीं हो सकता और न चारित्रके प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्रकी प्रेरणा तो विचारोंसे ही मिलती है।

२. अजीवतत्त्व :

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक हम इस अजीवतत्त्वको नहीं जानेंगे तब तक 'किन दोमें बन्ध हुआ है' यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अजीवतत्त्वमें धर्म, अधर्म, आकाश और कालका भले ही सामान्यज्ञान हो; क्योंकि इनसे आत्माका कोई भला बुरा नहीं होता, परन्तु पुद्गल द्रव्यका किंचित् विशेषज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि सब पुद्गलका ही है। जिसमें शरीर तो चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्में रूप,

रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमें कोई गुण प्रकट रहता है और कोई अनुद्भूत। यद्यपि अग्निमें रस, वायुमें रूप और जलमें गन्ध अनुद्भूत हैं फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही पदार्थ हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धोंकी अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है कि उसके जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है, शरीरके पुर्जोंके बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञान-विकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्माका अपना स्वतंत्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिकी तरह है ही। शरीरका अणु-अणु जिसकी शक्तिसे संचालित और चेतनायमान हो रहा है वह अन्तःज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मणशरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर दूसरे स्थूल शरीरको धारणा करता है। आज तो आत्माके सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकारके विचार और संस्कार कार्मणशरीर और प्राप्त स्थूल शरीरके अनुसार ही विकसित हो रहे हैं। अतः मुमुक्षुके लिए इस शरीर—पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्माके विकासमें कर सके, ह्रासमें नहीं। यदि आहार-विहार उत्तेजक होता है तो कितना ही पवित्र विचार करनेका प्रयास किया जाय, पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिये बुरे संस्कार और विचारोंका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन परपदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है और उनके परिग्रह और संग्रहमें ही जीवनका बहुभाग नहीं नष्ट करना है तो उस परको 'पर' समझना ही होगा।

३. बन्धतत्त्व :

दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावोंसे कर्मका बन्धन होता है उन भावोंको भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलोंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्योंका संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नहीं। दो मिलकर एक दिखें, पर एककी सत्ता मिटकर एक शेष

नहीं रह सकता। जब पुद्गलाणु परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो भी वे एक विशेष प्रकारके संयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है, जिसमें उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओंकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमें आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपनेमें कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है किन्तु वह अमुक परमाणुओंकी विशेष अवस्था ही है और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोंके बन्धमें यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामें उनका स्वतंत्र विलक्षण परिणमन नहीं होकर प्रायः एक जैसा परिणमन होता है परन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्माके परिणमनमें विलक्षणता आ जाती है और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाती है; पर इतने मात्रसे इन दोनोंके सम्बन्धको रासायनिकमिश्रण संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि जीव और कर्मके बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतनरूप होती है और पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूपसे होता है और जीवका चैतन्यके विकासरूपसे।

चार बन्ध :

यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बंधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो जाय और वह नूतन कर्म उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय और होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु खिरते हैं और उसमें कुछ दूसरे नये शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक हर्गिज नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। यही प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र (८।२४) में इस प्रकारकी है—"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोंपर सभी ओरसे सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं—जिस क्षेत्रमें आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्रमें वे पुद्गल ठहर जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है और द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं हो सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है तो प्राचीन कर्मपुद्गलोंसे ही नवीन कर्मपुद्गलोंका, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उससे कर्मके योग्य पुद्गल खिंचते हैं। वे स्थूल शरीरके भीतरसे भी खिंचते हैं और बाहरसे भी। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालनेवाली क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानके आवरण करनेका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायोंसे खिंचे हैं, तो चरित्रके नष्ट करनेका। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्मपुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है, यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होती, अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं। उनका स्थितिबन्ध और अनुभायबन्ध नहीं होता। यह बन्धचक्र, जबतक राग, द्वेष, मोह और वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं, तब तक बराबर चलता रहता है।

३. आस्रव-तत्त्व :

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्वपर्यायका विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्व आदि भावोंको भावबन्ध कहा है, परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मोंको खींचनेकी साक्षात् कारणभूत योगक्रियामें निमित्त होते हैं अतः भावास्रव कहे जाते हैं और अग्रिमक्षणभावी भाव भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्म-प्रदेशोंका परिस्पन्द अर्थात् योग क्रियासे कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्मप्रदेशों-से बंधते हैं।

मिथ्यात्व :

इन आस्रवोंमें मुख्य अनन्तकर्मबन्धक है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि परद्रव्यमें आत्मबुद्धि करता है। इसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित व्यवहारोंमें उलझी रहती हैं। लौकिक यश, लाभ आदिकी दृष्टिसे यह धर्मका आचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नहीं रहता।

पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि कल्याणमार्गमें इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनों मिथ्यादृष्टियोंसे इसे तत्त्वरुचि जागृत नहीं होती। यह अनेक प्रकारकी देव, गुरु तथा लोकमूढताओंको धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदों-की सृष्टि करके मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। जिस किसी देवको, जिस किसी भी वेषधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय, आशा, स्नेह और लोभ-से माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सभी अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होता है और दूसरों-को तुच्छ समझ उनका तिरस्कार करता है। भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियोंके मूलमें एक ही कुटेव रहती है और वह है स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नहीं होता, अतः वह बाह्यपदार्थोंमें लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि समस्त दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका बन्ध होता है।

अविरति :

सदाचार या चारित्र धारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी, पर कषायोंका ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र ही।

क्रोधादि कषायोंके चार भेद चारित्रको रोकनेकी शक्तिकी अपेक्षासे भी होते हैं—

१. अनन्तानुबन्धी—अनन्त संसारका बन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरण चारित्र न होने देनेवाली, पत्थरकी रेखाके समान कषाय। यह मिथ्यात्वके साथ रहती है।
२. अप्रत्याख्यानावरण—देशचारित्र अर्थात् श्रावकके अणुव्रतोंको रोकनेवाली, मिट्टीकी रेखाके समान कषाय।
३. प्रत्याख्यानावरण—सकलचारित्रको न होने देनेवाली, धूलिकी रेखाके समान कषाय।
४. संज्वलन कषाय—पूर्ण चारित्रमें किंचित् दोष उत्पन्न करनेवाली, जलरेखाके समान कषाय। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता।

इस तरह इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा प्राणिविषयक असंयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है।

प्रमाद :

असावधानीको प्रमाद कहते हैं । कुशल कर्मोंमें अनादर होना प्रमाद है । पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें लीन होनेके कारण; राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजन-कथा आदि विकथाओंमें रस लेनेके कारण; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेके कारण; तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेके कारण कुशल कर्त्तव्य मार्गमें अनादरका भाव उत्पन्न होता है । इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती ही है साथ-ही-साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है । हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका प्रमुख स्थान है । दूसरे प्राणीका घात हो या न हो, प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है । प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधनके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही है । अतः प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है । इसीलिए भगवान् महावीरने बार-बार गौतम गणधरको चेताया था कि "समयं गोयम मा पमायए" अर्थात् गौतम, क्षणभर भी प्रमाद कर ।

कषाय :

आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है । पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें उसे कस देती हैं और स्वरूपसे च्युत कर देती हैं । ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं । क्रोध कषाय द्वेषरूप है । यह द्वेषका कारण और द्वेषका कार्य है । मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेषरूप है । लोभ रागरूप है । माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है । तात्पर्य यह कि राग, द्वेष और मोहकी दोष-त्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है । मोहरूपी मिथ्यात्वके दूर हो जानेपर सम्यग्दृष्टिको राग और द्वेष बने रहते हैं । इनमें लोभ कषाय तो पद, प्रतिष्ठा, यशकी लिप्सा और संघवृद्धि आदिके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती । यह राग-द्वेषरूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल है । यही प्रमुख आस्रव है । न्यायसूत्र, गीता और पाली पिटकोंमें भी इस द्वन्द्वको पापका मूल बताया है । जैनागमोंका प्रत्येक वाक्य कषाय-शमनका ही उपदेश देता है । जैन उपासनाका आदर्श परम निर्ग्रन्थ दशा है । यही कारण है कि जैन मूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं । न उनमें द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही । वे सर्वथा निर्विकार होकर परमवीतरागता और अकिञ्चनताका पावन संदेश देती हैं ।

इन कषायोंके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायें हैं । इनके कारण भी आत्मामें विकार-परिणति उत्पन्न होती है । अतः ये भी आस्रव हैं ।

योग :

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे 'योग' कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि योगभाष्य आदिमें यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधरूप ध्यानके अर्थमें है, परन्तु जैन परम्परामें चूँकि मन, वचन और कायसे होनेवाली आत्माकी क्रिया कर्मपरमाणुओंसे आत्माका योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, इसलिए इसे ही योग कहते हैं और इसके निरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है, उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तके बराबर होती है। परममुक्तिसे कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन और कायकी क्रियाका निरोध होता है, और तब आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्ध रूपका आविर्भाव होता है। न तो उसमें कर्मजन्य मलिनता ही रहती है और न योगकी चंचलता ही। सच पूछा जाय तो योग ही आस्रव है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्मका। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभकाय योग है। और इनसे विपरीत चिन्तन, वचन तथा काय-प्रवृत्ति अशुभ मन-वचन-काययोग है।

दो आस्रव :

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है। एक तो कषायानुरंजित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव—जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है। दूसरा मात्र योगसे होनेवाला ईर्यापथ आस्रव—जो कषायका चेंप न होनेके कारण आगे बन्धन नहीं कराता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके जब तक शरीरका सम्बन्ध है, तब तक होता है। इस तरह योग और कषाय, दूसरेके ज्ञानमें बाधा पहुँचाना, दूसरेको कष्ट पहुँचाना, दूसरेकी निन्दा करना आदि जिस-जिस प्रकारके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियायोंमें संलग्न होते हैं, उस-उस प्रकारसे उन-उन कर्मोंका आस्रव और बन्ध कराते हैं। जो क्रिया प्रधान होती है उससे उस कर्मका बन्ध विशेषरूपसे होता है, शेष कर्मोंका गौण। परभवमें शरीरादिकी प्राप्तिके लिए आयु कर्मका आस्रव वर्तमान आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सात कर्मोंका आस्रव प्रतिसमय होता रहता है।

४. मोक्षतत्त्व :

बन्धन-मुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेसे समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन होता है। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्ष दशामें उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान बन जाता है और अचारित्र चारित्र। इस दशामें आत्माका सारा नकशा ही बदल जाता है। जो आत्मा अनादि कालसे मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कलुषताओंका पुञ्ज बना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प, निश्चिल और निर्मल हो जाता है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है, तब उसके अभावकी या उसके गुणोंके उच्छेदकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रतिक्षण कितने ही परिवर्तन होते जाँय, पर विश्वके रंगमञ्चसे उसका समूल उच्छेद नहीं हो सकता।

दीपनिर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाण नहीं होता :

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि 'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं ?' तो उन्होंने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ कीं। एक निर्वाण वह, जिसमें चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है, यानी चित्तका मैल धुल जाता है। इसे 'सोपधिशेष' निर्वाण कहते हैं। दूसरा निर्वाण वह, जिसमें दीपकके समान चित्तसंतति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंच स्कन्धरूप आत्मा माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताये बिना ही मात्र दुःखनिवृत्तिके सर्वाङ्गीण औचित्यका समर्थन करते रहे।

यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी लौकी तरह बुझ जाती है, तो बुद्ध उच्छेदवादके दोषसे कैसे बच सके? आत्माके

नास्तित्वसे इनकार तो वे इसी भयसे करते थे कि आत्माको नास्ति माना जाता है तो चार्वाककी तरह उच्छेदवादका प्रसंग आता है। निर्वाण अवस्थामें उच्छेद माननें और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अनायाससाध्य होनेसे सुग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास और ध्यान आदिके कष्टसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। जब चित्तसन्तति भौतिक नहीं है और उसकी संसार-कालमें प्रतिसंधि (परलोकगमन) होती है, तब निर्वाण अवस्थामें उसके समूलोच्छेदका कोई औचित्य समझमें नहीं आता। अतः मोक्ष अवस्थामें उस चित्तसंततिकी सत्ता मानना ही चाहिए, जो कि अनादिकालसे आस्रवमलोंसे मलिन हो रही थी और जिसे साधनाके द्वारा निरास्रव अवस्थामें पहुँचाया गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृष्ठ १०४) में आचार्य कमलशीलने संसार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—रागादि क्लेश और वासनामय चित्तको संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश और वासनाओंसे मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। इस श्लोकमें प्रतिपादित संसार और मोक्षका स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्तकी रागादि अवस्था संसार है और उसीकी रागादिरहितता मोक्ष[१] है। अतः समस्त कर्मोंके क्षयसे होनेवाला स्वरूप-लाभ ही मोक्ष[२] है। आत्माके अभाव या चैतन्यके उच्छेदको मोक्ष नहीं कह सकते। रोगकी निवृत्तिका नाम आरोग्य है, न कि रोगीकी निवृत्ति या समाप्ति। दूसरे शब्दोंमें स्वास्थ्यलाभको आरोग्य कहते हैं, न कि रोगके साथ-साथ रोगीकी मृत्यु या समाप्तिको।

निर्वाणमें ज्ञानादि गुणोंका सर्वथा उच्छेद नहीं होता :

वैशेषिक बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेषगुणोंके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। इनका मानना है कि इन विशेष-

---

१. "मुक्तिर्निर्मलता धियः।"—तत्त्वसंग्रह पृष्ठ १८४।

२. "आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्॥"

—सिद्धिवि० पृ० ३८४।

गुणोंकी उत्पत्ति आत्मा और मनके संयोगसे होती है। मनके संयोगके हट जानेसे ये गुण मोक्ष अवस्थामें उत्पन्न नहीं होते और आत्मा उस दशामें निर्गुण हो जाता है। जहाँ तक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और सांसारिक दुःख-सुखका प्रश्न है, ये सब कर्मजन्य अवस्थायें हैं, अतः मुक्तिमें इनकी सत्ता नहीं रहती। पर बुद्धिका अर्थात् ज्ञानका, जो कि आत्माका निज गुण है, उच्छेद सर्वथा नहीं माना जा सकता। हाँ, संसार अवस्थामें जो खंडज्ञान मन और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होता था, वह अवश्य ही मोक्ष अवस्थामें नहीं रहता, पर जो इसका स्वरूपभूत चैतन्य है, जो इन्द्रिय और मनसे परे है, उसका उच्छेद किसी भी तरह नहीं हो सकता। आखिर निर्वाण अवस्थामें जब आत्माकी स्वरूप-स्थिति वैशेषिकको स्वीकृत ही है तब यह स्वरूप यदि कोई हो सकता है तो वह उसका इन्द्रियातीत चैतन्य ही हो सकता है। संसार अवस्थामें यही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदिके निमित्तसे नानाविध विषयाकार बुद्धियोंके रूपमें परिणति करता था। इन उपाधियोंके हट जानेपर उसका स्वस्वरूपमग्न होना स्वाभाविक ही है। कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मजन्य सुखदुःखादिका विनाश तो जैन भी मोक्ष अवस्थामें मानते हैं, पर उसके निज चैतन्यका विनाश तो स्वरूपोच्छेदक होनेसे कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मिलिन्द-प्रश्नके निर्वाण वर्णनका तात्पर्य :

मिलिन्द-प्रश्नमें निर्वाणका जो वर्णन है उसके निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। "तृष्णाके निरोध हो जानेसे उपादानका निरोध हो जाता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध हो जाता है, भवका निरोध होनेसे जन्म लेना बन्द हो जाता है, पुनर्जन्मके बन्द होनेसे बूढ़ा होना, मरना, शोक, रोना, पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी सभी दुःख रुक जाते हैं। महाराज, इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।" (पृ० ८५)

"निर्वाण न कर्मके कारण, न हेतुके कारण और न ऋतुके कारण उत्पन्न होता है।" (पृ० ३२९)

"हाँ महाराज, निर्वाण निर्गुण है, किसीने इसे बनाया नहीं है। निर्वाणके साथ उत्पन्न होने और न उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पन्न किया जा सकता है अथवा नहीं, इसका भी प्रश्न नहीं आता। निर्वाण वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालोंके परे है। निर्वाण न आँखसे देखा जा सकता है, न कानसे सुना जा सकता है, न नाकसे सूँघा जा सकता है, न जीभसे चखा जा सकता है और न शरीरसे छुआ जा सकता है। निर्वाण मनसे जाना जा सकता है। अर्हत्

पदको पाकर भिक्षु विशुद्ध, प्रणीत, ऋजु तथा आवरणों और सांसारिक कामोंसे रहित मनसे निर्वाणको देखता है।" (पृ० ३३२)

"निर्वाणमें सुख ही सुख है, दुःखका लेश भी नहीं रहता" (पृ० ३८६)

"महाराज, निर्वाणमें ऐसी कोई भी बात नहीं है, उपमाएँ दिखा, व्याख्या कर, तर्क और कारणके साथ निर्वाणके रूप, स्थान, काल या डीलडौल नहीं दिखाये जा सकते।" (पृ० ३८८)

"महाराज, जिस तरह कमल पानीसे सर्वथा अलिप्त रहता है उसी तरह निर्वाण सभी क्लेशोंसे अलिप्त रहता है। निर्वाण भी लोगोंकी कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णाकी प्यासको दूर कर देता है।" (पृ० ३९१)

"निर्वाण दवाकी तरह क्लेशरूपी विषको शान्त करता है, दुःखरूपी रोगोंका अन्त करता है और अमृतरूप है। वह महासमुद्रकी तरह अपरम्पार है। वह आकाशकी तरह न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है, न आवागमन करता है, दुर्ज्ञेय है, चोरोंसे नहीं चुराया जा सकता, किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता, स्वच्छन्द खुला और अनन्त है। वह मणिरत्नकी तरह सारी इच्छाओंको पूरा कर देता है, मनोहर है, प्रकाशमान है और बड़े कामका होता है। वह लाल चन्दनकी तरह दुर्लभ, निराली गंधवाला और सज्जनों द्वारा प्रशंसित है। वह पहाड़की चोटीकी तरह अत्यन्त ही ऊँचा, अचल, अगम्य, राग-द्वेषरहित और क्लेश बीजोंके उपजनेके अयोग्य है। वह जगह न तो पूर्व दिशाकी ओर है, न पश्चिम दिशाकी ओर, न उत्तर दिशाकी ओर, और न दक्षिण दिशाकी ओर, न ऊपर, न नीचे और न टेढ़े। जहाँ कि निर्वाण छिपा है। निर्वाणके पाये जानेकी कोई जगह नहीं है, फिर भी निर्वाण है। सच्ची राह पर चल, मनको ठीक ओर लगा निर्वाणका साक्षात्कार किया जा सकता है।" (पृ० ३९२-४०३ तक हिन्दी अनुवादका सार)

इन अवतरणोंसे यह मालूम होता है कि बुद्ध निर्वाणका कोई स्थानविशेष नहीं मानते थे और न किसी कालविशेषमें उत्पन्न या अनुत्पन्नकी चर्चा इसके सम्बन्धमें की जा सकती है। वैसे उसका जो स्वरूप "इन्द्रियातीत सुखमय, जन्म, जरा, मृत्यु आदिके क्लेशोंसे शून्य" इत्यादि शब्दोंके द्वारा वर्णित होता है, वह शून्य या अभावात्मक निर्वाणका न होकर सुखरूप निर्वाणका है।

निर्वाणको बुद्धने आकाशकी तरह असंस्कृत कहा है। असंस्कृतका अर्थ है जिसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न हों। जिसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति आदिका कोई विवेचन नहीं हो सकता हो, वह असंस्कृत पदार्थ है। माध्यमिक कारिकाकी

संस्कृत-परीक्षामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको संस्कृतका लक्षण बताया है। सो यदि यह असंस्कृतता निर्वाणके स्थानके सम्बन्धमें है तो उचित ही है; क्योंकि यदि निर्वाण किसी स्थानविशेषपर है, तो वह जगत्की तरह सन्ततिकी दृष्टिसे अनादि अनन्त ही होगा; उसके उत्पाद-अनुत्पादकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु उसका स्वरूप जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त क्लेशोंसे रहित सुखमय ही हो सकता है।

अश्वघोषने सौन्दरनन्दमें (१६। २८, २९) निर्वाण प्राप्त आत्माके सम्बन्धमें जो यह लिखा है[१] कि तेलके चुक जाने पर दीपक जिस तरह न किसी दिशाको, न किसी विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वीको जाता है किन्तु केवल बुझ जाता है, उसी तरह कृती क्लेशोंका क्षय होने पर किसी दिशा-विदिशा, आकाश या पातालको नहीं जाकर शान्त हो जाता है। यह वर्णन निर्वाणके स्थानविशेषकी तरफ ही लगता है, न कि स्वरूपकी तरफ। जिस तरह संसारी आत्माका नाम, रूप और आकारादि बताया जा सकता है, उस तरह निर्वाण अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

वस्तुतः बुद्धने आत्माके स्वरूपके प्रश्नको ही जब अव्याकृत करार दिया, तब उसकी अवस्थाविशेष—निर्वाणके सम्बन्धमें विवाद होना स्वाभाविक ही था। भगवान् महावीरने मोक्षके स्वरूप और स्थान दोनोंके सम्बन्धमें सयुक्तिक विवेचन किया है। समस्त कर्मोंके विनाशके बाद आत्माके निर्मल और निश्चल चैतन्य-स्वरूपकी प्राप्ति ही मोक्ष है और मोक्ष अवस्थामें यह जीव समस्त स्थूल और सूक्ष्म शारीरिक बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर लोकके अग्रभागमें अन्तिम शरीरके आकार होकर ठहरता है। आगे गतिके सहायक धर्मद्रव्यके न होनेसे गति नहीं होती।

मोक्ष न कि निर्वाण :

जैन परम्परामें मोक्ष शब्द विशेष रूपसे व्यवहृत होता है और उसका सीधा अर्थ है छूटना अर्थात् अनादिकालसे जिन कर्मबन्धनोंसे यह आत्मा जकड़ा हुआ था, उन बन्धनोंकी परतन्त्रताको काट देना। बन्धन कट जाने पर जो बंधा था, वह स्वतन्त्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है। किन्तु बौद्ध परम्परामें 'निर्वाण' अर्थात् दीपककी तरह बुझ जाना, इस शब्दका प्रयोग होनेसे उसके स्वरूपमें ही घुटाला हो गया है। क्लेशोंके बुझनेकी जगह आत्माका बुझना ही निर्वाण समझ लिया गया है। कर्मोंके नाश करनेका अर्थ भी इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे

---

१. श्लोक पृ० १३९ पर देखो।

भिन्न हो जाते हैं, उनका अत्यन्त विनाश नहीं होता[२]। किसी भी सत्‌का अत्यन्त विनाश न कभी हुआ है और न होगा। पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा जाता है। जो कर्मपुद्‌गल अमुक आत्माके साथ संयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोंका घात करनेकी वजहसे उसके लिए कर्मत्व पर्यायको धारण किये थे, मोक्षमें उनकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। यानी जिस प्रकार आत्मा कर्मबन्धनसे छूट कर शुद्ध सिद्ध हो जाता है उसी तरह कर्मपुद्‌गल भी अपनी कर्मत्व पर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते हैं। यों तो सिद्ध स्थानपर रहनेवाली आत्माओंके साथ पुद्‌गलों या स्कन्धोंका संयोग सम्बन्ध होता रहता है, पर उन पुद्‌गलोंकी उनके प्रति कर्मत्व पर्याय नहीं होती, अतः वह बन्ध नहीं कहा जा सकता। अतः जैन परम्परामें आत्मा और कर्मपुद्‌गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। इस मोक्षमें दोनों द्रव्य अपने निज स्वरूपमें बने रहते हैं, न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाता है और न कर्मपुद्‌गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनोंकी पर्यायान्तर हो जाती है। जीवकी शुद्ध दशा और पुद्‌गलकी यथासंभव शुद्ध या अशुद्ध कोई भी अवस्था हो जाती है।

५ संवर-तत्त्व :

संवर रोकनेको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था, उन द्वारोंका निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रव योगसे होता है, अतः योगकी निवृत्ति ही मूलतः संवरके पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करना ही पड़ती हैं। अतः जितने अंशोंमें मन, वचन और कायकी क्रियाओंका निरोध है, उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरणका साक्षात् कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिसे भी संवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका अंश है उतना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अंश शुभ बन्धका हेतु होता है।

समिति :

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। समिति पाँच प्रकारकी है। ईर्या समिति—चार हाथ आगे देखकर चलना। भाषा समिति—हित-मित-प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना।

---

२. जीवाद् विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः।" आप्तप० श्लो० ११५।

आदान-निक्षेपण समिति—देख-शोधकर किसी वस्तुका रखना, उठाना। उत्सर्ग समिति—देख-शोधकर निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रादिका विसर्जन करना।

धर्म :

आत्मस्वरूपकी ओर ले जानेवाले और समाजको संधारण करनेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। धर्म दश हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर वस्तुस्वरूपका विचारकर विवेकजलसे उसे शान्त करना। जो क्षमा कायरताके कारण हो और आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं है, वह क्षमाभास है, दूषण है। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका मद न चढ़ने देना। अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण। अहंकारमें दूसरेका तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमानमें दूसरेके मानका सम्मान है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मायाचारका त्याग। मन वचन और कायकी कुटिलताको छोड़ना। जो मनमें हो, वही वचनमें और तदनुसार ही कायकी चेष्टा हो, जीवन-व्यवहारमें एकरूपता हो। सरलता गुण है और भोंदूपन दोष। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है, परन्तु बाह्य सोला और चौकापंथ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोंसे घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास-परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है, परन्तु परनिन्दाके अभिप्रायसे दूसरोंके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। परको बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी कभी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय-विजय और प्राणि-रक्षा। पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, उनकी निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, इन्द्रियोंको वशमें करना। प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए, खान-पान और जीवन-व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है, पर भावशून्य बाह्य क्रियाकाण्डका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा और तृष्णाओंको रोककर प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (सेवा), स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) की ओर चित्तवृत्तिका मोड़ना। ध्यान करना भी तप है। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तवास, मौन, कायक्लेश, शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्य तप हैं। इच्छानिवृत्ति करके अकिंचन बननारूप तप गुण है और मात्र कायक्लेश करना, पंचाग्नि तपना, हठयोगकी कठिन क्रियाएँ आदि बालतप हैं। उत्तम त्याग—दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्य-

नुसार भूखोंको भोजन, रोगीको औषध, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और प्राणिमात्रको अभय देना। देश और समाजके निर्माणके लिये, तन, धन आदिका त्याग। लाभ, पूजा और ख्याति आदिके उद्देश्यसे किया जानेवाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य—अकिञ्चनभाव, बाह्य-पदार्थोंमें ममत्वका त्याग। धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीरमें यह मेरा नहीं है, आत्माका धन तो उसके चैतन्य आदि गुण हैं, 'नास्ति मे किंचन'—मेरा कुछ नहीं, आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। भौतिकतासे हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्री-सुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको आत्मविकासोन्मुख करना। मनकी शुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन तथा आत्मामें ही पवित्रता लाता है।

अनुपेक्षा :

सद्विचार, उत्तम भावनाएँ और आत्मचिन्तन अनुप्रेक्षा है। जगत्की अनित्यता, अशरणता, संसारका स्वरूप, आत्माका अकेला ही फल भोगना, देहकी भिन्नता और उसकी अपवित्रता, रागादिभावोंकी हेयता, सदाचारकी उपादेयता, लोकस्वरूपका चिन्तन और बोधिकी दुर्लभता आदिका बार-बार विचार करके चित्तको सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशामें समताभाव रख सके। ये भावनाएँ चित्तको आस्रवकी ओरसे हटाकर संवरकी तरफ झुकाती हैं।

परीषहजय :

साधकको भूख, प्यास, ठंडी, गरमी, डाँस-मच्छर, चलने-फिरने-सोने आदिमें कंकड़, काँटे आदिकी बाधाएँ, बध, आक्रोश और मल आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहकर भी स्त्री आदिको देखकर प्रकृतिस्थ बने रहना, चिरतपस्या करनेपर भी यदि ऋद्धि-सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना और यदि कोई ऋद्धि प्राप्त हो जाय तो उसका गर्व नहीं करना, किसीके सत्कार-पुरस्कारमें हर्ष और अपमानमें खेद नहीं करना, भिक्षा-भोजन करते हुए भी आत्मामें दीनता नहीं आने देना इत्यादि परीषहोंके जयसे चारित्रमें दृढ़निष्ठा होती है और कर्मोंका आस्रव रुक कर संवर होता है।

चारित्र :

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका संपूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र है। चारित्रके सामायिक आदि अनेक भेद हैं। सामायिक—समस्त

पापक्रियाओंका त्याग और समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना—व्रतोंमें दूषण लग जानेपर दोषका परिहार कर पुनः व्रतोंमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रके धारक व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करनेपर भी उसके शरीरसे जीवोंकी विराधना—हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय—समस्त क्रोधादिकषायोंका नाश होनेपर बचे हुए सूक्ष्म लोभके नाशकी भी तैयारी करना। यथाख्यात—समस्त कषायोंके क्षय होनेपर जीवन्मुक्त व्यक्तिका पूर्ण आत्मस्वरूपमें विचरण करना। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे कर्मशत्रुके आनेके द्वार बन्द हो जाते हैं। यही संवर है।

६. निर्जरा तत्त्व :

गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत—सुरक्षित व्यक्ति आगे आनेवाले कर्मोंको तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकार की है—एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मोंकी जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निसे कर्मोंको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। 'कर्मोंकी गति टल ही नहीं सकती' यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म हैं क्या? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुतः कर्म हैं। यदि आत्मामें पुरुषार्थ है, और वह साधना करे; तो क्षणमात्रमें पुरानी वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।"

अर्थात् 'सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका नाश नहीं हो सकता।' यह मत प्रवाहपतित साधारण प्राणियोंको लागू होता है। पर जो आत्मपुरुषार्थी साधक हैं उनकी ध्यानरूपी अग्नि तो क्षणमात्रमें समस्त कर्मोंको भस्म कर सकती है—

"ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।"

ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधु-दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्यकी प्राप्ति हो गई थी। पुरानी

वासनाओं और राग, द्वेष तथा मोहके कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एक मात्र मुख्य साधन है—'ध्यान'—अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध (दुःख), बन्धके कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्षके कारण (संवर और निर्जरा) इन पाँच तत्त्वोंके साथ-ही-साथ उस आत्मतत्त्वके ज्ञानकी खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होता है। इसी तरह उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है जिससे बँधकर यह जीव अनादि कालसे स्वरूपच्युत हो रहा है।

मोक्षके साधन :

वैदिक संस्कृतिमें विचार या तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन माना है जब कि श्रमणसंस्कृति चारित्र अर्थात् आचारको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिने तत्त्वज्ञानके साथ-ही-साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अङ्ग माना है, पर वैराग्यका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें किया है, अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है और फिर उससे मुक्ति मिलती है। पर जैन तीर्थंकरोंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" (त० सू० १।१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग बताया है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्धक नहीं है, मोक्षका साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्षका साधन है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र-शुद्धि ही है। ज्ञान थोड़ा भी हो, पर यदि वह जीवनशुद्धिमें प्रेरणा देता है तो सार्थक है। अहिंसा, संयम और तप साधनाएँ हैं, मात्र ज्ञानरूप नहीं हैं। कोरा ज्ञान भार ही है यदि वह आत्मशोधन नहीं करता। तत्त्वोंकी दृढ़ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी पहिली सीढ़ी है। भय, आशा, स्नेह और लोभसे जो श्रद्धा चल और मलिन हो जाती है वह श्रद्धा अन्धविश्वासकी सीमामें ही है। जीवन्त श्रद्धा वह है जिसमें प्राणों तककी बाजी लगाकर तत्त्वको कायम रखा जाता है। उस परम अवगाढ़ दृढ़ निष्ठाको दुनियाका कोई भी प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता, उसे हिला नहीं सकता। इस ज्योतिके जगते ही साधकको अपने लक्ष्यका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे प्रतिक्षण भेदविज्ञान और स्वानुभूति होती है। वह समझता है कि धर्म आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें है, न कि शुष्क बाह्य क्रियाकाण्डमें। इसलिये उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकारकी हो जाती है। आत्मकल्याण, समाजहित, देशनिर्माण और मानवताके उद्धारका स्पष्ट मार्ग उसकी आँखोंमें झूलता है और वह उसके लिये प्राणोंकी बाजी तक लगा देता है। स्वरूपज्ञान और स्वाधिकारकी मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और

अपने अधिकार और स्वरूपकी सुरक्षाके अनुकूल जीवनव्यवहार बनाना सम्यक्-चारित्र है। तात्पर्य यह कि आत्माकी वह परिणति सम्यक्चारित्र है जिसमें केवल अपने गुण और पर्यायों तक ही अपना अधिकार माना जाता है और जीवन-व्यवहारमें तदनुकूल ही प्रवृत्ति होती है, दूसरेके अधिकारोंको हड़पनेकी भावना भी नहीं होती। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वावलम्बी चर्या ही परम सम्यक्चारित्र है। अतः श्रमणसंस्कृतिने जीवनसाधना अहिंसाके मौलिक समत्वपर प्रतिष्ठित की है, और प्राणिमात्रके अभय और जीवित रहनेका सतत विचार किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परिपुष्ट सम्यक्चारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन होता है।

८. प्रमाणमीमांसा

ज्ञान और दर्शन :

जड़ पदार्थोंसे आत्माको भिन्न करनेवाला आत्माका गुण और स्वरूप चैतन्य है, यह बात सिद्ध है। यही चैतन्य अवस्थाविशेषमें निराकार रहकर 'दर्शन' कहलाता है और साकार होकर 'ज्ञान'। आत्माके अनन्त गुणोंमें यह चैतन्यात्मक उपयोग ही ऐसा असाधारण गुण है, जिससे आत्मा लक्षित होता है। जब यह उपयोग आत्मेतर पदार्थोंको जाननेके समय ज्ञेयाकार या साकार होता है; तब उसकी ज्ञान-पर्याय विकसित होती है और जब वह बाह्य पदार्थोंमें उपयुक्त न होकर मात्र चैतन्यरूप रहता है, तब निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाता है। यद्यपि दार्शनिक कालमें 'दर्शन' की व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकारकी परिधिको लाँघकर पदार्थोंके सामान्यावलोकन तक पहुँची। परन्तु सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें [1]दर्शनका वर्णन अन्तरंगार्थविषयक और निराकार रूपसे मिलता है। दर्शनका काल विषय और विषयी (इन्द्रियाँ) के सन्निपातके पहले है। जब[2] आत्मा अमुक पदार्थ-विषयक ज्ञानोपयोगसे हटकर अन्यपदार्थविषयक ज्ञानमें प्रवृत्त होता है तब बीचकी वह चैतन्याकार या निराकार अवस्था दर्शन कहलाती है, जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास नहीं होता। दार्शनिक ग्रन्थोंमें दर्शनका काल[3] विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर है। यही कारण है कि पदार्थके सामान्यावलोकनके रूपमें दर्शनकी प्रसिद्धि हुई। बौद्धका निर्विकल्पक ज्ञान और नैयायिकादिसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्ष यही है।

---

१. "ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्।··· भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद् दर्शनम्···(पृ० १४७) प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका—प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिः तद्दर्शनम्, विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थः। (पृ० १४९) नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते, तस्य अन्तरङ्गार्थविषयत्वात्।" —धवला टीका, सत्प्ररू० प्रथम पुस्तक।

२. "उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत्प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद्बहिर्विषयविकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्त्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्त्य यत् स्वरूपे प्रथममवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तज्ज्ञानं भण्यते।" —बृहद्द्रव्यसं० टी० गा० ४३।

३. "विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति।"—सर्वार्थसि० १।१५।

प्रमाणादिव्यवस्थाका आधार :

ज्ञान, प्रमाण और प्रमाणाभास इनकी व्यवस्था बाह्य अर्थके प्रतिभास करने, और प्रतिभासके अनुसार बाह्य पदार्थके प्राप्त होने और न होने पर निर्भर करती है। जिस ज्ञानका प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूपमें मिल जाय, जिस रूपमें कि उसका बोध हुआ है, तो वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है, अन्य प्रमाणाभास। यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि प्रमाणाभासोंमें जो 'दर्शन' गिनाया गया[1] है वह क्या यही निराकार चैतन्यरूप दर्शन है? जिस चैतन्यमें पदार्थका स्पर्श ही नहीं हुआ उस चैतन्यको ज्ञानकी विशेषकक्षा—प्रमाण और प्रमाणाभासमें दाखिल करना किसी तरह उचित नहीं है। ये व्यवहार तो ज्ञानमें होते हैं। दर्शन तो प्रमाण और प्रमाणाभाससे परेकी वस्तु है। विषय और विषयीके सन्निपातके बाद जो सामान्यावलोकनरूप दर्शन है वह तो बौद्ध और नैयायिकोंके निर्विकल्प ज्ञानकी तरह वस्तुस्पर्शी होनेसे प्रमाण और प्रमाणाभासकी विवेचनाके क्षेत्रमें आ जाता है। उस सामान्यवस्तुग्राही दर्शनको प्रमाणाभास इसलिए कहा है कि वह किसी वस्तुका व्यवसाय अर्थात् निर्णय नहीं करता। वह सामान्य अंशका भी मात्र आलोचन ही करता है; निश्चय नहीं। यही कारण है कि बौद्ध, नैयायिकादि-सम्मत निर्विकल्पको प्रमाणसे बहिर्भूत अर्थात् प्रमाणाभास माना गया है।

[2]आगमिक क्षेत्रमें ज्ञानको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व माननेके आधार जुदे हैं। वहाँ तो जो ज्ञान मिथ्यादर्शनका सहचारी है वह मिथ्या और जो सम्यग्दर्शनका सहभावी है वह सम्यक् कहलाता है। यानी मिथ्यादर्शनवालेका व्यवहारसत्य प्रमाणज्ञान भी मिथ्या है और सम्यग्दर्शनवालेका व्यवहारमें असत्य अप्रमाण ज्ञान भी सम्यक् है। तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टिका प्रत्येक ज्ञान मोक्षमार्गोपयोगी होनेके कारण सम्यक् है और मिथ्यादृष्टिका प्रत्येक ज्ञान संसारमें भटकानेवाला होनेसे मिथ्या है। परन्तु दार्शनिक क्षेत्रमें ज्ञानके मोक्षोपयोगी या संसारवर्धक होनेके आधारसे प्रमाणता-अप्रमाणताका विचार प्रस्तुत नहीं है। यहाँ तो प्रतिभासित विषयका अव्यभिचारी होना ही प्रमाणताकी कुञ्जी है। जिस ज्ञानका प्रतिभासित पदार्थ जैसा-का-तैसा मिल जाता है वह अविसंवादी ज्ञान सत्य है और प्रमाण है;[3] शेष अप्रमाण हैं, भले ही उनका उपयोग संसारमें हो या मोक्षमें।

---

१. देखो, परीक्षामुख ६।१।

२. "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"—त० सू० १।३१।

३. "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।"—सिद्धिवि० १।२०।

आगमोंमें जो पाँच ज्ञानोंका वर्णन आता है वह ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे या क्षयसे प्रकट होनेवाली ज्ञानकी अवस्थाओंका निरूपण है। आत्माके 'ज्ञान' गुणको एक ज्ञानावरणकर्म रोकता है और इसीके क्षयोपशमके तारतम्यसे मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान प्रकट होते हैं और सम्पूर्ण ज्ञानावरणका क्षय हो जाने पर निरावरण केवलज्ञानका आविर्भाव होता है। इसी तरह मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आदि मतिज्ञानकी अवस्थाओंका अनेक रूपसे विवेचन मिलता है।[1] जो मतिज्ञानके विविध आकार और प्रकारोंका निर्देश मात्र है। वह निर्देश भी तत्त्वाधिगम के उपयोगोंके रूपमें है। जिन तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान करके मोक्षमार्गमें जुटा जा सकता है उन तत्त्वोंका अधिगम ज्ञानसे ही तो संभव है। यही ज्ञान प्रमाण और नयके रूपसे अधिगमके उपायोंको दो रूपमें विभाजित कर देता है। यानी तत्त्वाधिगमके दो मूल भेद होते हैं—प्रमाण और नय। इन्हीं पाँच ज्ञानोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणोंके रूपमें विभाजन भी आगमिक परम्परामें पहलेसे ही रहा है; किन्तु यहाँ प्रत्यक्षता और परोक्षताका आधार बिलकुल भिन्न है। जो ज्ञान स्वावलम्बी है—इन्द्रिय और मनकी सहायताकी भी अपेक्षा नहीं करता, वह आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष है और इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परोक्ष। इस तरह आगमिक क्षेत्रके सम्यक्-मिथ्या विभाग और प्रत्यक्ष-परोक्ष विभागके आधार दार्शनिक क्षेत्रसे बिलकुल ही जुदे प्रकारके हैं। जैन दार्शनिकोंके सामने उपर्युक्त आगमिक परम्पराको दार्शनिक ढाँचेमें ढालनेका महान् कार्यक्रम था, जिसे सुव्यवस्थित रूपमें निभानेका प्रयत्न किया गया है।

प्रमाणका स्वरूप :

प्रमाणका सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—"प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्" अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो उस द्वारका नाम प्रमाण है। दूसरे शब्दोंमें जो प्रमाका साधकतम करण हो वह प्रमाण है। इस सामान्यनिर्वचनमें कोई विवाद न होने पर भी उस द्वारमें विवाद हैं। नैयायिकादि प्रमामें साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्षको मानते हैं जब कि जैन और बौद्ध ज्ञानको ही प्रमामें साधकतम कहते हैं। जैनदर्शनकी दृष्टि है कि जानना या प्रमारूप क्रिया चूँकि चेतन है, अतः उसमें साधकतम उसीका गुण—ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं, क्योंकि सन्निकर्षादिके रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्नि-

---

१. त० सू० १।१३। नन्दी प्र० मति० गा० ८०।

कर्षादिके अभावमें भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः जाननेरूप क्रियाका साक्षात्-अव्यवहित करण ज्ञान ही है, सन्निकर्षादि नहीं। प्रमिति या प्रमा अज्ञाननिवृत्ति-रूप होती है। इस अज्ञाननिवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है, जैसे कि अंधकारकी निवृत्तिमें अंधकारका विरोधी प्रकाश। इन्द्रिय[1], सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन हैं, अत एवं अज्ञानरूप होनेके कारण प्रमितिमें साक्षात् करण नहीं हो सकते। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्रिय-सन्निकर्षादि ज्ञानकी उत्पादक सामग्रीमें शामिल हैं, पर सार्वत्रिक और सार्वकालिक अन्वय-व्यतिरेक न मिलनेके कारण उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। अन्ततः इन्द्रियादि ज्ञानके उत्पादक भी हों; फिर भी जानने रूप क्रियामें साधकतमता—अव्यवहितकारणता ज्ञानकी ही है, न कि ज्ञानसे व्यवहित इन्द्रियादिकी। जैसे कि अन्धकारकी निवृत्तिमें दीपक ही साधकतम हो सकता है, न कि तेल, बत्ती और दिया आदि। सामान्यतया जो क्रिया जिस गुणकी पर्याय होती है उसमें वही गुण साधकतम हो सकता है। चूंकि 'जानाति क्रिया'—जाननेरूप क्रिया ज्ञानगुणकी पर्याय है, अतः उसमें अव्यवहित करण ज्ञान ही हो सकता है। प्रमाण[2] चूंकि हितप्राप्ति और अहितपरिहार करनेमें समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है।

ज्ञानका सामान्य धर्म है अपने स्वरूपको जानते हुए परपदार्थको जानना। वह अवस्थाविशेषमें परको जाने या न जाने। पर अपने स्वरूपको तो हर हालतमें जानता ही है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो, संशय हो, विपर्यय हो या अनध्यवसाय आदि किसी भी रूपमें क्यों न हो, वह बाह्यार्थमें विसंवादी होनेपर भी अपने स्वरूपको अवश्य जानेगा और स्वरूपमें अविसंवादी ही होगा। यह नहीं हो सकता कि ज्ञान घटपटादि पदार्थोंकी तरह अज्ञात रूपमें उत्पन्न हो जाय और पीछे मन आदिके द्वारा उसका ग्रहण हो। वह तो दीपककी तरह जगमगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। स्वसंवेदी होना ज्ञानसामान्यका धर्म है। अतः संशयादिज्ञानोंमें ज्ञानांशका अनुभव अपने आप उसी ज्ञानके द्वारा होता है। यदि ज्ञान अपने स्वरूपको न जाने, यानी वह स्वयंके प्रत्यक्ष न हो; तो उसके द्वारा पदार्थका बोध भी नहीं हो सकता। जैसे कि देवदत्तको यज्ञदत्तका ज्ञान अप्रत्यक्ष है अर्थात् स्वसंविदित नहीं है तो उसके द्वारा उसे अर्थका बोध नहीं होता। उसी तरह यदि यज्ञदत्तको स्वयं अपना ज्ञान उसी तरह अप्रत्यक्ष हो जिस प्रकार कि देवदत्तको है तो देवदत्तकी तरह यज्ञदत्तको

१. "सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्।"
—लघी० स्ववृ० १।३।

२. "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।"
—परीक्षामुख १।२।

अपने ज्ञानके द्वारा भी पदार्थका बोध नहीं हो सकेगा। जो ज्ञान अपने स्वरूपका ही प्रतिभास करनेमें असमर्थ है वह परका अवबोधक कैसे हो सकता है?[1] स्वरूप-की दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणताका विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बन्ध रखता है। स्वरूपकी दृष्टिसे तो न कोई ज्ञान प्रमाण है और न प्रमाणाभास।

प्रमाण और नय :

तत्त्वार्थसूत्र (१।६) म जिन अधिगमके उपायोंका निर्देश किया है उनमें प्रमाण और नयके निर्देश करनेका एक दूसरा कारण भी है। प्रमाण समग्र वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करता है। वह भले ही किसी एक गुणके द्वारा पदार्थको जानने-का उपक्रम करे, परन्तु उस गुणके द्वारा वह सम्पूर्ण वस्तुको ही ग्रहण करता है। आँखके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु यद्यपि रूपमुखेन देखी जाती है, पर प्रमाणज्ञान रूपके द्वारा पूरी वस्तुको ही समग्रभावसे जानता है। इसीलिए प्रमाणको सकला-देशी कहते हैं[2]। वह हर हालतमें सकल वस्तुका ही ग्राहक होता है। उसमें गौणमुख्यभाव इतना ही है कि वह भिन्न-भिन्न समयोमें अमुक-अमुक इन्द्रियोंके ग्राह्य विभिन्न गुणोंके द्वारा पूरी वस्तुको जाननेका प्रयास करता है। जो गुण जिस समय इन्द्रियज्ञानका विषय होता है उस गुणकी मुख्यता इतनी ही है कि उसके द्वारा पूरी वस्तु गृहीत हो रही है। यह नहीं कि उसमें रूप मुख्य हो और रसादि गौण, किन्तु रूपके छोरसे समस्त वस्तुपट देखा जा रहा है। जब कि नयमें रूप मुख्य होता है और रसादि गौण। नयमें वही धर्म प्रधान बनकर अनुभवका विषय होता है, जिसकी विवक्षा या अपेक्षा होती है। नय प्रमाणके द्वारा गृहीत समस्त और अखण्ड वस्तुको खण्ड-खण्ड करके उसके एक-एक देशको मुख्यरूपसे ग्रहण करता है। प्रमाण घटको "घटोऽयम्"के रूपमें समग्र-का-समग्र जानता है जब कि नय "रूपवान् घटः" करके घड़ेको केवल रूपकी दृष्टिसे देखता है। 'रूपवान् घटः' इस प्रयोगमें यद्यपि एक रूपगुणकी प्रधानता दिखती है, परन्तु यदि इस वाक्यमें रूपके द्वारा पूरे घटको जाननेका अभिप्राय है तो यह वाक्य सकलादेशी है और यदि केवल घटके रूपको ही जाननेका अभिप्राय है तो वह मात्र रूपग्राही होनेसे विकलादेशी हो जाता है।

---

१. "भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥"
—आप्तमी० श्लो० ८३।

२. "तथा चोक्तं सकलादेशः प्रमाणाधीनः"—सर्वार्थसि० १।६।

विभिन्न लक्षण :

इस तरह सामान्यतया जैन परम्परामें ज्ञानको ही प्रमाका करण माना है। वह प्रमाणज्ञान सम्पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है। उसमें ज्ञानसामान्यका स्वसंवेदित्व धर्म भी रहता है। प्रमाण होनेसे उसे अविसंवादी भी अवश्य ही होना चाहिए। विसंवाद अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। इन तीनों विसंवादोंसे रहित अविसंवादी सम्यग्ज्ञान प्रमाण होता है। आचार्य[1] समन्तभद्र और सिद्धसेनके प्रमाणलक्षणमें[2] 'स्वपरावभासक' पद प्रयुक्त हुआ है।[3] समन्तभद्रने उस तत्त्व-ज्ञानको भी प्रमाण कहा है जो एक साथ सबका अवभासक होता है। इस लक्षणमें केवल स्वरूपका निर्देश है। अकलंक[4] और माणिक्यनन्दिने प्रमाणको अनधिगतार्थ-ग्राही और अपूर्वार्थव्यवसायी कहा है। परन्तु[5] विद्यानन्दका स्पष्ट मत है कि ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थको जाने या गृहीत अर्थको, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होनेसे प्रमाण ही है। गृहीतग्राहिता कोई दूषण नहीं है।

अविसंवादकी प्रायिक स्थिति :

अकलंकदेवने अविसंवादको प्रमाणताका आधार मान करके एक विशेष बात यह कही है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी संकीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान एकान्तसे प्रमाण या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियदोषसे होनेवाला द्विचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांशमें अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण है, पर द्वित्व-अंशमें विसंवादी होनेके कारण अप्रमाण। पर्वतपर चन्द्रमाका दिखना चन्द्रांशमें ही प्रमाण है, पर्वतस्थितरूपमें नहीं। इस तरह हमारे ज्ञानोंमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय नहीं किया जा सकता। 'तब व्यवहारमें किसी

---

१. "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।"

—बृहत्स्व० श्लो० ६३।

२. "प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।"

—न्यायावता० श्लो० १।

३. "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासकम्।" —आप्तमी० श्लो० १०१।

४. "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।"

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५।

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" —परीक्षामुख १।१।

५. "गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥"

—तत्त्वार्थश्लो० १।१०।७८।

ज्ञानको प्रमाण या अप्रमाण कहनेका क्या आधार माना जाय ?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि ज्ञानोंकी प्रायः साधारण स्थिति होनेपर भी जिस ज्ञानमें अविसंवादकी बहुलता हो उसे प्रमाण माना जाय तथा विसंवादकी बहुलतामें अप्रमाण। जैसे कि इत्र आदिके पुद्गलोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रहने पर भी गन्ध गुणकी उत्कटताके कारण उन्हें 'गन्ध द्रव्य' कहते हैं, उसी तरह अविसंवादकी बहुलतासे प्रमाणव्यवहार हो जायगा। अकलंकदेवके इस विचारका एक ही कारण मालूम होता है कि उनके मतसे इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति पूर्ण विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। स्वल्पशक्तिक इन्द्रियोंकी विचित्र रचनाके कारण इन्द्रियोंके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ अन्यथा भी होता है। यही कारण है कि आगमिक परम्परामें इन्द्रिय और मनोजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष न कहकर परोक्ष ही कहा गया है। अकलंकदेवके इस विचारको उत्तरकालीन दार्शनिकोंने अपनाया हो, यह नहीं मालूम होता, पर स्वयं अकलंक इस विचारको आप्तमीमांसाकी टीका अष्टशती[1], लघीयस्त्रयस्ववृत्ति[2] और [3]सिद्धिविनिश्चयमें दृढ़ विश्वासके साथ उपस्थित करते हैं।

तदाकारता प्रमाण नहीं :

बौद्ध परंपरामें ज्ञानको स्वसंवेदी स्वीकार तो किया है परन्तु प्रमाके कारणके रूपमें सारूप्य तदाकारता या योग्यताका निर्देश[4] मिलता है। ज्ञानगत योग्यता या ज्ञानगत सारूप्य अन्ततः ज्ञानस्वरूप ही है, अतः परिणमनमें कोई विशेष अन्तर न होने पर भी ज्ञानका पदार्थाकार होना एक पहेली ही है। 'अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक

---

१. "येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७।

२. "तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं तथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात्।"

—लघी० स्व० श्लो० २३।

३. "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।' —सिद्धिवि० १।२०।

४. "स्वसंवित्तिः फलं चात्र ताद्रूप्यादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।"—प्रमाणसमु० पृ० २४।
"प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा।"—तत्त्वसं० श्लो० १३४४।

पदार्थोंके आकार कैसे होता है ?' इस प्रश्नका पुष्ट समाधान तो नहीं मिलता। ज्ञानके ज्ञेयाकार होनेका अर्थ इतना ही हो सकता है कि वह उस ज्ञेयको जाननेके लिए अपना व्यापार कर रहा है। फिर, किसी भी ज्ञानकी वह अवस्था, जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास हो रहा है, प्रमाण ही होगी, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। सीपमें चाँदीका प्रतिभास करनेवाला ज्ञान यद्यपि उपयोगकी दृष्टिसे पदार्थाकार हो रहा है, पर प्रतिभासके अनुसार बाह्यार्थकी प्राप्ति न होनेके कारण उसे प्रमाण-कोटिमें नहीं डाला जा सकता। संशयादिज्ञान भी तो आखिर पदार्थाकार होते ही हैं।

इस तरह जैनाचार्योंके द्वारा किये गये प्रमाणके विभिन्न लक्षणोंसे यह फलित होता है कि ज्ञानको स्वसंवेदी होना चाहिए। वह गृहीतग्राही हो या अपूर्वार्थग्राही, पर अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण है। उत्तरकालीन जैन[१] आचार्योंने प्रमाणका असाधारण लक्षण करते समय केवल 'सम्यग्ज्ञान' और 'सम्यगर्थनिर्णय' यही पद पसन्द किये हैं। प्रमाणके अन्य लक्षणोंमें पाये जानेवाले निश्चित, बाधवर्जित, अदुष्टकारणजन्यत्व, लोकसम्मतत्व, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक आदि विशेषण 'सम्यक्' इस एक ही सर्वावगाही विशेषणपदसे गृहीत हो जाते हैं। अनिश्चित, बाधित, दुष्टकरणजन्य, लोकबाधित, व्यभिचारी, अनिर्णयात्मक, सन्दिग्ध, विपर्यय और अव्युत्पन्न आदि ज्ञान 'सम्यक्' की सीमाको नहीं छू सकते। सम्यग्ज्ञान तो स्वरूप और उत्पत्ति आदि सभी दृष्टियोंसे सम्यक् ही होगा। उसे अविसंवादी या व्यवसायात्मक आदि किसी शब्दसे व्यवहारमें ला सकते हैं।

प्रमाणशब्द चूँकि करणसाधन है, अतः कर्त्ता—प्रमाता, कर्म—प्रमेय और क्रिया—प्रमिति ये प्रमाण नहीं होते। प्रमेयका प्रमाण न होना तो स्पष्ट है। प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता द्रव्यदृष्टिसे यद्यपि अभिन्न मालूम होते हैं, परन्तु पर्यायकी दृष्टिसे इन तीनोंका परस्परमें भेद स्पष्ट है। यद्यपि वही आत्मा प्रमिति—क्रियामें व्यापृत होनेके कारण प्रमाता कहलाता है और वह क्रिया प्रमिति; फिर भी प्रमाण आत्माका वह स्वरूप है जो प्रमितिक्रियामें साधकतम करण होता है। अतः प्रमाणविचारमें वही करणभूत पर्याय ग्रहण की जाती है। और इस तरह प्रमाणशब्दका करणार्थक ज्ञानपदके साथ सामानाधिकरण्य भी सिद्ध हो जाता है।

---

१. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।"—प्रमाणमी० १।१।२।

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।"—न्यायदी० पृ० ३।

सामग्री प्रमाण नहीं :

[1]वृद्ध नैयायिकोंने ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक दोनों प्रकारकी सामग्रीको प्रमाके करणरूपमें स्वीकार किया है। उनका कहना है कि अर्थोपलब्धिरूप कार्य सामग्रीसे उत्पन्न होता है और इस सामग्रीमें इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि अज्ञानात्मक वस्तुएँ भी ज्ञानके साथ काम करती हैं। अन्वय और व्यतिरेक भी इसी सामग्रीके साथ ही मिलता है। सामग्रीका एक छोटा भी पुरजा यदि न हो तो सारी मशीन बेकार हो जाती है। किसी भी छोटे-से कारणके हटनेपर कार्य रुक जाता है और सबके मिलने पर ही उत्पन्न होता है तब किसे साधकतम कहा जाय ? सभी अपनी-अपनी जगह उसके घटक हैं और सभी साकल्यरूपसे प्रमाके करण हैं। इस सामग्रीमें वे ही कारण सम्मिलित हैं जिनका कार्यके साथ व्यतिरेक मिलता है। घटज्ञानमें प्रमेयकी जगह घट ही शामिल हो सकता है, पट आदि नहीं। इसी तरह जो परम्परासे कारण हैं वे भी इस सामग्रीमें शामिल नहीं किये जाते।

जैन दार्शनिकोंने सामान्यतया सामग्रीकी कारणता स्वीकार करके भी वृद्ध नैयायिकोंके सामग्रीप्रामाण्यवाद या कारकसाकल्यकी प्रमाणताका खण्डन करते हुए स्पष्ट लिखा[2] है कि ज्ञानको साधकतम करण कहकर हम सामग्रीकी अनुपयोगिता या व्यर्थता सिद्ध नहीं कर रहे हैं, किन्तु हमारा यह अभिप्राय है कि इन्द्रियादि-सामग्री ज्ञानकी उत्पत्तिमें तो साक्षात् कारण होती है, पर प्रमा अर्थात् अर्थोपलब्धिमें साधकतम करण तो उत्पन्न हुआ ज्ञान ही हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें शेष सामग्री ज्ञानको उत्पन्न करके ही कृतार्थ हो जाती है, ज्ञानको उत्पन्न किये बिना वह सीधे अर्थोपलब्धि नहीं करा सकती। वह ज्ञानके द्वारा ही अर्थात् ज्ञानसे व्यवहित होकर ही अर्थोपलब्धिमें कारण कही जा सकती है, साक्षात् नहीं। इस तरह परम्परा कारणोंको यदि साधकतम कोटिमें लेने लगें, तो जिस आहार या गायके दूधसे इन्द्रियोंको पुष्टि मिलती है उस आहार और दूध देनेवाली गायको भी अर्थोपलब्धिमें साधकतम कहना होगा, और इस तरह कारणोंका कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जायगा।

यद्यपि अर्थोपलब्धि और ज्ञान दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं फिर भी साधनकी दृष्टिसे उनमें पर्याय और पर्यायीका भेद है ही। प्रमा भावसाधन है और वह

---

१. "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। न्यायमं० पृ० १२।

२. 'तस्याज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावतः प्रमाणत्वायोगात्। तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्य अज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्।'—प्रमेयक० पृ० ८।

प्रमाणका फल है, जब कि ज्ञान करणसाधन है और स्वयं करणभूत-प्रमाण है। अवशिष्ट सारी सामग्रीका उपयोग इस प्रमाणभूत ज्ञानको उत्पन्न करनेमें होता है। यानी सामग्री ज्ञानको उत्पन्न करती है और ज्ञान जानता है। यदि ज्ञानकी तरह शेष सामग्री भी स्वभावतः जाननेवाली होती तो उसे भी ज्ञानके साथ 'साधकतम' पदपर बैठाया जा सकता था और प्रमाणसंज्ञा दी जा सकती थी। वह सामग्री-युद्धवीरकी जननी हो सकती है, स्वयं योद्धा नहीं। सीधी-सी बात है कि प्रमिति चूँकि चेतनात्मक है और चेतनका धर्म है, अतः उस चेतन क्रियाका साधकतम चेतनधर्म ही हो सकता है। वह अज्ञानको हटानेवाली है, अतः उसका साधकतम अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नहीं।

इन्द्रियव्यापार भी प्रमाण नहीं :

इसी तरह[1] सांख्यसम्मत इन्द्रियोंका व्यापार भी प्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि व्यापार भी इन्द्रियोंकी तरह अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा, ज्ञानात्मक नहीं। और अज्ञानरूप व्यापार प्रमामें साधकतम न होनेसे प्रमाण नहीं हो सकता, अतः सम्यग्ज्ञान ही एकान्तरूपसे प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं।

प्रामाण्य-विचार :

प्रमाण जिस पदार्थको जिस रूपमें जानता है उसका उसी रूपमें प्राप्त होना यानी प्रतिभात विषयका अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता है। यह प्रमाणका धर्म है। इसकी उत्पत्ति उन्हीं कारणोंसे होती है जिन कारणोंसे प्रमाण उत्पन्न होता है। अप्रामाण्य भी इसी तरह अप्रमाणके कारणोंसे ही पैदा होता है। प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य, उसकी उत्पत्ति परसे ही होती है। [2]ज्ञप्ति अभ्यास-दशामें स्वतः और अनभ्यासदशामें किसी स्वतः प्रमाणभूत ज्ञानान्तरसे यानी परतः हुआ करती है। जैसे जिन स्थानोंका हमें परिचय है उन जलाशयादिमें होनेवाला जलज्ञान या मरीचिज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता बता देता है, किन्तु अपरिचित स्थानोंमें होनेवाले ज्ञानकी प्रमाणताका ज्ञान पनहारियोंका पानी भरकर लाना, मेंढकोंका टर्राना या कमलकी गन्धका आना आदि जलके अविना-भावी स्वतः प्रमाणभूत ज्ञानोंसे ही होता है। इसी तरह जिस वक्ताके गुण-दोषोंका हमें परिचय है उसके वचनोंकी प्रमाणता और अप्रमाणता तो हम स्वतः जान लेते हैं, पर अन्यके वचनोंकी प्रमाणताके लिए हमें दूसरे संवाद आदि कारणोंकी अपेक्षा होती है।

---

१. देखो, योगद० व्यासभा० पृ० २७।

२. 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।'—परीक्षामुख १।१३।

मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानकर उसे स्वतः प्रमाण कहते हैं। उसका प्रधान कारण यह है कि वेद, धर्म और उसके नियम उपनियमोंका प्रतिपादन करनेवाला है। धर्मादि अतीन्द्रिय हैं। किसी पुरुषमें ज्ञानका इतना विकास नहीं हो सकता, जो वह अतीन्द्रियदर्शी हो सके। यदि पुरुषोंमें ज्ञानका प्रकर्ष या उनके अनुभवोंको अतीन्द्रिय साक्षात्कारका अधिकारी माना जाता है तो परिस्थितिविशेष-में धर्मादिके स्वरूपका विविध प्रकारसे विवेचन ही नहीं, निर्माण भी संभव हो सकता है, और इस तरह वेदके निर्बाध एकाधिकारमें बाधा आ सकती है। वक्ताके गुणोंसे वचनोंमें प्रमाणता आती है और दोषोंसे अप्रमाणता, इस सर्वमान्य सिद्धान्तको स्वीकार करके भी मीमांसकने वेदको दोषोंसे मुक्त अर्थात् निर्दोष कहनेका एक नया तरीका निकाला। उसने कहा कि 'शब्दके दोष वक्ताके अधीन होते हैं और उनका अभाव यद्यपि साधारणतया वक्ताके गुणोंसे ही होता है किन्तु यदि वक्ता ही न माना जाय तो निराश्रय दोषोंकी सम्भावना शब्दमें नहीं रह जाती।' इस तरह जब शब्दमें वक्ताका अभाव मानकर दोषोंकी निवृत्ति कर दी गई और उन्हें स्वतः प्रमाण मान लिया गया, तब इसी पद्धतिको अन्य प्रमाणोंमें भी लगाना पड़ा और यहाँ तक कल्पना करना पड़ी कि गुण अपनेमें स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं हैं किन्तु वे दोषाभावरूप हैं। अतः अप्रमाणता तो दोषोंसे आती है पर प्रमाणता दोषोंका अभाव होनेसे स्वतः आ जाती है। ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले जो भी कारण हैं उनसे प्रमाणता तो उत्पन्न होती है पर अप्रमाणतामें उन कारणों-से अतिरिक्त 'दोष' भी अपेक्षित होते हैं। यानी निर्मलता चक्षु आदिका स्वरूप है, स्वरूपसे अतिरिक्त कोई गुण नहीं है। जहाँ अतिरिक्त दोष मिल जाता है, वहाँ अप्रमाणता दोषकृत होनेसे परतः होती है और जहाँ दोषकी सम्भावना नहीं है वहाँ प्रमाणता स्वतः ही आती है। शब्दमें भी इसी तरह स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करके जहाँ वक्ताके दोष आ जाते हैं वहाँ अप्रमाणता दोषप्रयुक्त होनेसे परतः मानी जाती है।

मीमांसक ईश्वरवादी नहीं हैं, अतः वेदकी प्रमाणता ईश्वरमूलक तो वे मान ही नहीं सकते थे। अतः उनके सामने एक ही मार्ग रह जाता है वेदको स्वतः-प्रमाण माननेका।

नैयायिकादि[1] वेदकी प्रमाणता उसके ईश्वरकर्तृक होनेसे परतः ही मानते हैं।

---

१. 'प्रमायाः परतन्त्रत्वात्।' —न्यायकुसुमाञ्जलि २।१।

आचार्य शान्तरक्षित[1] ने बौद्धोंका पक्ष 'अनियमवाद' के रूपमें रखा है। वे कहते हैं—'प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः, दोनों परतः, प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः' इन चार नियम पक्षोंसे अतिरिक्त पाँचवाँ 'अनियम पक्ष' भी है जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको अवस्थाविशेषमें स्वतः और अवस्थाविशेषमें परतः माननेका है। यही पक्ष बौद्धोंको इष्ट है। दोनोंको स्वतः माननेका पक्ष 'सर्वदर्शनसंग्रह'[2] में सांख्यके नामसे तथा अप्रामाण्यको स्वतः और प्रामाण्यको परतः माननेका पक्ष [3]बौद्धके नामसे उल्लिखित है, पर उनके मूल ग्रंथोंमें इन पक्षोंका उल्लेख नहीं मिलता।

नैयायिक दोनोंको परतः[4] मानते हैं—संवादसे प्रामाण्य और बाधकप्रत्ययसे अप्रामाण्य आता है। जैन जिस वक्ताके गुणोंका प्रत्यय है उसके वचनोंको तत्काल स्वतःप्रमाण कह भी दें, पर शब्दकी प्रमाणता गुणोंसे ही आती है, यह सिद्धान्त निरपवाद है। अन्य प्रमाणोंमें अभ्यास और अनभ्याससे प्रामाण्य और अप्रामाण्यके स्वतः और परतःका निश्चय होता है।

मीमांसक यद्यपि प्रमाणकी उत्पत्ति कारणोंसे मानता है पर उसका अभिप्राय यह है कि जिन कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अतिरिक्त किसी अन्य कारणकी, प्रमाणताकी उत्पत्तिमें अपेक्षा नहीं होती। जैनका कहना है कि इन्द्रियादि कारण या तो गुणवाले होते हैं या दोषवाले; क्योंकि कोई भी सामान्य अपने विशेषोंमें ही प्राप्त हो सकता है। कारण-सामान्य भी या तो गुणवान् कारणोंमें मिलेगा या दोषवान् कारणोंमें। अतः यदि दोषवान् कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण अप्रामाण्य परतः माना जाता है तो गुणवान् कारणोंसे उत्पन्न होनेसे प्रामाण्यको भी परतः ही मानना चाहिये। यानी उत्पत्ति चाहे प्रामाण्यकी हो या अप्रामाण्यकी, हर हालतमें वह परतः ही होगी। जिन कारणोंसे प्रमाण या अप्रमाण पैदा होगा, उन्हीं कारणोंसे उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी उत्पन्न हो ही जाती है। प्रमाण और प्रमाणताकी उत्पत्तिमें समयभेद नहीं है। ज्ञप्ति और प्रवृत्तिके सम्बन्धमें कहा जा चुका है कि वे अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः होती हैं।

---

१. 'न हि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि—उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्य अनियमपक्षस्य संभवात्।' —तत्त्वसं० प० का० ३१२३।

२. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।' —सर्वद० पृ० २७९।

३. 'सौगताश्चरमं स्वतः।' —सर्व० पृ० २७९।

४. 'द्वयमपि परतः इत्येष एव पक्षः श्रेयान्।' —न्यायमं० पृ० १७४।

वेदको स्वतः प्रामाण्य माननेके सिद्धान्तने मीमांसकको शब्दमात्रके नित्य माननेकी ओर प्रेरित किया; क्योंकि यदि शब्दको अनित्य माना जाता है तो शब्दात्मक वेदको भी कभी न कभी किसी वक्ताके मुखसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि उसकी स्वतः प्रमाणताका विघातक सिद्ध हो सकता है। वक्ताके मुखसे एकान्ततः जन्म लेनेवाले सार्थक भाषात्मक शब्दोंको भी नित्य और अपौरुषेय कहना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। परम्परा और सन्ततिकी दृष्टिसे भले ही भाषात्मक शब्द अनादि हो जाँय, पर तत्तत्समयोंमें उत्पन्न होनेवाले शब्द तो उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। शब्द तो जलकी लहरके समान पौद्गलिक वातावरणमें उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, अतः उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। फिर उस वेदको, जिसमें अनेक राजा, ऋषि, नगर, नदी और देश आदि अनित्य और सादि पदार्थोंके नाम आते हैं, नित्य, अनादि और अपौरुषेय कहकर स्वतः प्रमाण कैसे माना जा सकता है ?

प्रमाणता या अप्रमाणता सर्वप्रथम तो परतः ही गृहीत होती है, आगे परिचय और अभ्यासके कारण भले ही वे अवस्थाविशेषमें स्वतः हो जायँ। गुण और दोष दोनों वस्तुके ही धर्म हैं। वस्तु या तो गुणात्मक होती है या दोषात्मक। अतः गुणको 'स्वरूप' कहकर उसका अस्तित्व नहीं उड़ाया जा सकता। दोनोंकी स्थिति बराबर होती है। यदि काचकामलादि दोष हैं तो निर्मलता चक्षुका गुण है। अतः गुण और दोष रूप कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों ही परतः मानी जानी चाहिए।

प्रमाणसंप्लव-विचार :

एक ही प्रमेयमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिको 'प्रमाणसम्प्लव' कहते हैं। बौद्ध पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं। उनका यह भी सिद्धान्त है कि ज्ञान अर्थजन्य होता है। जिस विवक्षित पदार्थसे कोई एक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह पदार्थ दूसरे क्षणमें नियमसे नष्ट हो जाता है, इसलिए किसी भी अर्थमें दो ज्ञानोंकी प्रवृत्तिका अवसर ही नहीं है। बौद्धोंने प्रमेयके दो भेद किये हैं—एक विशेष (स्वलक्षण) और दूसरा सामान्य (अन्यापोह)। विशेषपदार्थको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है और सामान्यको जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह प्रमेयद्वैविध्यसे प्रमाण[1]द्वैविध्यकी नियत व्यवस्था होनेसे कोई भी प्रमाण जब अपनी विषयमर्यादाको नहीं लाँघ सकता, तब विजातीय प्रमाणकी तो स्वनियत विषयसे भिन्न प्रमेयमें

---

१. 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्।'—प्रमाणवा० २।१।

प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती । रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तरके संप्लवकी बात, सो द्वितीय क्षणमें जब वह पदार्थ ही नहीं रहता, तब संप्लवकी चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है ।

जैन पदार्थको एकान्त क्षणिक न मानकर उसे कथञ्चित् अनित्य और सामान्य-विशेषात्मक मानते हैं । यही पदार्थ सभी प्रमाणोंका विषय होता है । वस्तु अनन्त-धर्मवाली है । अमुक ज्ञानके द्वारा वस्तुके अमुक अंशोंका निश्चय होने पर भी अगृहीत अंशोंको जाननेके लिये प्रमाणान्तरको अवकाश है ही । इसी तरह जिन ज्ञात अंशोंका संवाद हो जानेसे निश्चय हो चुका है उन अंशोंमें भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करें । पर जिन अंशोंमें असंवाद होनेके कारण अनिश्चय या विपरीत निश्चय है, उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेद होनेसे प्रमाण ही होता है । अकलंकदेवने प्रमाणके लक्षणमें 'अनधिगतार्थग्राही' पद दिया है, अतः अनिश्चित अंशके निश्चयमें या निश्चितांशमें उपयोगविशेष होनेपर ही प्रमाणसंप्लव स्वीकार किया जाता है,[1] जब कि नैयायिकने प्रमाणके लक्षणमें ऐसा कोई पद नहीं रखा है, अतः उसकी दृष्टिसे वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिलते हैं तो प्रमाणकी प्रवृत्ति अवश्य ही होगी । उपयोग-विशेष हो या न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं हो सकता कि उसने गृहीतको ग्रहण किया है । तात्पर्य यह कि नैयायिकको प्रत्येक अवस्थामें प्रमाण-संप्लव स्वीकृत है ।

जैन परम्परामें अवग्रहादि ज्ञानोंके ध्रुव और अध्रुव भेद भी किये हैं । ध्रुवका अर्थ है जैसा ज्ञान पहले होता है वैसा ही बादमें होना । ये ध्रुवावग्रहादि प्रमाण भी हैं । अतः सिद्धान्तदृष्टिसे जैन अपने नित्यानित्य पदार्थमें सजातीय या विजातीय प्रमाणोंकी प्रवृत्ति और संवादके आधारसे उनकी प्रमाणताको स्वीकार करते ही हैं । जहाँ विशेषपरिच्छेद होता है वहाँ तो प्रमाणता है ही, पर जहाँ विशेषपरिच्छेद नहीं भी हो, पर यदि संवाद है तो प्रमाणताको कोई नहीं रोक सकता । यद्यपि[2] कहीं गृहीतग्राही ज्ञानको प्रमाणाभासमें गिनाया है, पर ऐसा प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्वार्थ' पद या 'अनधिगत' विशेषण देनेके कारण हुआ है । वस्तुतः ज्ञानकी प्रमाणताका आधार अविसंवाद या सम्यग्ज्ञानत्व ही है; अपूर्वार्थग्राहित्व नहीं । पदार्थके नित्यानित्य होनेके कारण उसमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका पूरा-पूरा अवसर है ।

---

१. 'उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवानभ्युपगमात् ॥'

—अष्टसह० पृ० ४ ।

२. परीक्षामुख ६।१ ।

प्रमाणके भेद :

प्राचीन कालसे प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूपसे स्वीकृत चले आ रहे हैं। आगमिक परिभाषामें आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, और जिन ज्ञानोंमें इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि परसाधनोंकी अपेक्षा होती है वे परोक्ष हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षकी यह [1]परिभाषा जैन परम्पराकी अपनी है। उसमें प्रत्येक वस्तु अपने परिणमनमें स्वयं उपादान होती है। जितने परनिमित्तक परिणमन हैं, वे सब व्यवहारमूलक हैं। जो मात्र स्वजन्य हैं, वे ही परमार्थ हैं और निश्चयनयके विषय हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण और विभाजनमें भी यही दृष्टि काम कर रही है और उसके निर्वाहके लिए 'अक्ष' शब्दका अर्थ[2] आत्मा किया गया है। प्रत्यक्ष शब्दका प्रयोग जो लोकमें इन्द्रिय-प्रत्यक्षके अर्थमें देखा जाता है उसे सांव्यवहारिक संज्ञा दी गई है, यद्यपि आगमिक परमार्थ व्याख्याके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान परसापेक्ष होनेसे परोक्ष है; किन्तु लोकव्यवहारकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। जैन दृष्टिमें उपादान-योग्यतापर ही विशेष भार दिया गया है। निमित्तसे यद्यपि उपादान-योग्यता विकसित होती है, परन्तु निमित्तसापेक्ष परिणमन उत्कृष्ट और शुद्ध नहीं माने जाते। इसीलिए प्रत्यक्ष जैसे उत्कृष्ट ज्ञानमें उपादान आत्माकी ही अपेक्षा मानी है, इन्द्रिय और मन जैसे निकटतम साधनोंकी नहीं। आत्ममात्र-सापेक्षता प्रत्यक्षव्यवहारका कारण है और इन्द्रियमनोजन्यता परोक्षव्यवहारकी नियामिका है। यह जैन दृष्टिका अपना आध्यात्मिक निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान सर्वथा स्वावलम्बी है, जिसमें बाह्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं है वही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलानेके योग्य है, और जिसमें इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि साधनोंकी आवश्यकता होती है, वे ज्ञान परोक्ष हैं। इस तरह मूलमें प्रमाणके दो भेद होते हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण :

सिद्धसेन दिवाकर[3]ने प्रत्यक्षका लक्षण 'अपरोक्षरूपसे अर्थका ग्रहण करना प्रत्यक्ष है' यह किया है। इस लक्षणमें प्रत्यक्षका स्वरूप तब तक समझमें नहीं आता, जब तक कि परोक्षका स्वरूप न समझ लिया जाय। अकलंकदेवने 'न्याय-

---

१. 'जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं ॥'—प्रवचनसार गा० ५८।

२. 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा'—सर्वार्थसि० पृ० ५९।

३. 'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥'—न्यायावतार श्लो० ४।

विनिश्चय'में स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[1]। उनके लक्षणमें 'साकार' और 'अञ्जसा' पद भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं; अर्थात् साकारज्ञान जब अञ्जसा स्पष्ट अर्थात् परमार्थरूपसे विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वैशद्यका लक्षण अकलंकदेवने स्वयं लघीयस्त्रयमें इस तरह किया है—

"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥४॥"

अर्थात् अनुमानादिसे अधिक नियत देश, काल और आकाररूपसे प्रचुरतर विशेषोंके प्रतिभासनको वैशद्य कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें जिस ज्ञानमें किसी अन्य ज्ञानकी सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान, व्याप्तिस्मरण आदिकी अपेक्षा रखते हैं, उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता। यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक—अधिकता है।

यद्यपि बौद्ध[2] भी विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं; पर वे केवल निर्विकल्पक ज्ञानको ही प्रत्यक्षकी सीमामें रखते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि स्वलक्षणवस्तु परमार्थतः शब्दशून्य है। अतः उससे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष भी शब्दशून्य ही होना चाहिये। शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्दके अभावमें भी पदार्थ अपने स्वरूपमें रहता है और पदार्थके न होने पर भी यथेच्छ शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। शब्दका प्रयोग संकेत और विवक्षाके अधीन है। अतः परमार्थसत् वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे शब्दकी सम्भावना नहीं है। शब्दका प्रयोग तो विकल्पवासनाके कारण पूर्वोक्त निर्विकल्पक ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले सविकल्पक ज्ञानमें ही होता है। शब्द-संसृष्टज्ञान नियमसे पदार्थका ग्राहक नहीं होता। अनेक विकल्पकज्ञान ऐसे होते हैं, जिनके विषयभूत पदार्थ विद्यमान नहीं होते, जैसे शेखचिल्लीकी 'मैं राजा हूँ' इत्यादि कल्पनाओंके। जो विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे उत्पन्न होता है, मात्र विकल्पवासनासे नहीं, उस सविकल्पकमें जो विशदता और अर्थनियतता देखी जाती है, वह उस विकल्पका अपना धर्म नहीं है, किन्तु निर्विकल्पकसे उधार लिया हुआ है। निर्विकल्पकके अनन्तर क्षणमें ही सविकल्पक उत्पन्न होता है, अतः निर्विकल्पककी विशदता सविकल्पकमें प्रतिभासित होने लगती है और इस तरह सविकल्पक भी निर्विकल्पककी विशदताका स्वामी बनकर व्यवहारमें प्रत्यक्ष कहा जाता है।

---

१. 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा'—न्यायवि० श्लो० ३।

२. 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्।'—तत्त्वसं० का० १२३४।

परन्तु जैन दार्शनिक परम्परामें निराकार निर्विकल्पक दर्शनको प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत ही रखा है और निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञानको ही प्रमाण मानकर विशदज्ञानको प्रत्यक्षकोटिमें लिया है। बौद्धका निर्विकल्पकज्ञान विषय-विषयी-सन्निपातके अनन्तर होनेवाले सामान्यावभासी अनाकार दर्शनके समान है। यह अनाकार दर्शन इतना निर्बल होता है कि इससे व्यवहार तो दूर रहा किन्तु पदार्थ-का निश्चय भी नहीं हो पाता। अतः उसको स्पष्ट या प्रमाण मानना किसी भी तरह उचित नहीं है। विशदता और निश्चयपना विकल्पका अपना धर्म है और वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार इसमें पाया जाता है। इसी अभिप्रायका सूचन करनेके लिए अकलंकदेवने 'अञ्जसा' और 'साकार' पद प्रत्यक्षके लक्षणमें दिये हैं। जिन विकल्पज्ञानोंका विषयभूत पदार्थ बाह्यमें नहीं मिलता वे विकल्पाभास हैं, प्रत्यक्ष नहीं। जैसे शब्दशून्य निर्विकल्पकसे शब्दसंसृष्ट विकल्प उत्पन्न हो जाता है वैसे यदि शब्दशून्य अर्थसे भी सीधा विकल्प उत्पन्न हो तो क्या बाधा है ? यद्यपि ज्ञानकी उत्पत्तिमें पदार्थकी असाधारण कारणता नहीं है।

ज्ञात होता है कि वेदकी प्रमाणताका खण्डन करनेके विचारसे बौद्धोंने शब्दका अर्थके साथ वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं माना और उन यावत् शब्दसंसृष्ट ज्ञानोंका, जिनका समर्थन निर्विकल्पकसे नहीं होता, अप्रामाण्य घोषित कर दिया है, और उन्हीं ज्ञानोंको प्रमाण माना है, जो साक्षात् या परम्परासे अर्थसामर्थ्यजन्य हैं। परन्तु शब्दमात्रको अप्रमाण कहना उचित नहीं है। वे शब्द भले ही अप्रमाण हों, जिनका विषयभूत अर्थ उपलब्ध नहीं होता।

जब आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष माना और अक्ष शब्दका अर्थ आत्मा किया गया, तब लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानस-प्रत्यक्षकी समस्याका समन्वय जैन दार्शनिकोंने एक 'संव्यवहारप्रत्यक्ष' मानकर किया। विशेषावश्यकभाष्य[1] और लघीयस्त्रय[2] ग्रन्थोंमें इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको संव्यवहार प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। इसके कारण भी ये हैं कि एक तो लोकव्यवहारमें तथा सभी इतर दर्शनोंमें यह प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध है और प्रत्यक्षता-के प्रयोजक वैशद्य (निर्मलता) का अंश इसमें पाया जाता है। इस तरह उपचारका कारण मिलनेसे इन्द्रियप्रत्यक्षमें प्रत्यक्षताका उपचार कर लिया गया है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टिमें ये ज्ञान परोक्ष ही हैं। तत्त्वार्थसूत्र (१।१३) में मतिज्ञानकी

---

१. 'इन्दियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।'—विशेषा० गा० ९५।

२. 'तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।'

—लघी० स्ववृ० श्लोक० ४।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन पर्यायोंका निर्देश मिलता है। इनमें मति, इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इसकी उत्पत्तिमें ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नहीं होती। आगेके स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि ज्ञानोंमें क्रमशः पूर्वानुभव, स्मरण और प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान, लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरण आदि ज्ञानान्तरोंकी अपेक्षा रहती है, जब कि इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षमें कोई भी अन्य ज्ञान अपेक्षित नहीं होता। इसी विशेषताके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षरूपी मतिको संव्यवहारप्रत्यक्षका पद मिला है।

१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष :

पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छह कारणोंसे संव्यवहारप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इसके मूल दो भेद हैं (१) इन्द्रियसंव्यवहारप्रत्यक्ष, (२) अनिन्द्रियसंव्यवहारप्रत्यक्ष। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मनसे उत्पन्न होता है, जब कि इन्द्रियप्रत्यक्षमें इन्द्रियोंके साथ मन भी कारण होता है।

इन्द्रियोंकी प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता :

[1]इन्द्रियोंमें चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये पदार्थको प्राप्त किये बिना ही दूरसे ही उसका ज्ञान कर लेते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर उन्हें जानती हैं। कान शब्दको स्पृष्ट होनेपर सुनता है। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ पदार्थोंके सम्बन्धकालमें उनसे स्पृष्ट भी होती हैं और बद्ध भी। बद्धका अर्थ है—इन्द्रियोंमें अल्पकालिक विकारपरिणति। जैसे अत्यन्त ठण्डे पानी में हाथ डुबानेपर कुछ कालतक हाथ ऐसा ठिठुर जाता है कि उससे दूसरा स्पर्श शीघ्र गृहीत नहीं होता। किसी तेज गरम पदार्थको खा लेनेपर रसना भी विकृत होती हुई देखी जाती है। परन्तु कानसे किसी भी प्रकारके शब्द सुननेपर ऐसा कोई विकार अनुभवमें नहीं आता।

सन्निकर्ष-विचार :

नैयायिकादि चक्षुका भी पदार्थके साथ सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि चक्षु तैजस पदार्थ है। उसकी किरणें निकलकर पदार्थोंसे सम्बन्ध करती हैं और तब चक्षुके द्वारा पदार्थका ज्ञान होता है। चक्षु चूँकि पदार्थके रूप, रस आदि गुणोंमेंसे केवल रूपको ही प्रकाशित करती है, अतः वह दीपककी तरह तैजस है। मन व्यापक आत्मासे संयुक्त होता है और आत्मा जगत्के समस्त पदार्थोंसे संयुक्त

---

१. 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं।
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं विजाणादि ॥'—आ० नि० गा० ५।

है, अतः मन किसी भी बाह्य पदार्थको संयुक्तसंयोग आदि सम्बन्धोंसे जानता है। मन अपने सुखका साक्षात्कार संयुक्तसमवायसम्बन्धसे करता है। मन आत्मासे संयुक्त है और आत्मामें सुखका समवाय है, इस तरह चक्षु और मन दोनों प्राप्यकारी हैं।

परन्तु निम्नलिखित कारणोंसे चक्षुका पदार्थके साथ सन्निकर्ष सिद्ध नहीं होता—

(१) [1]यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसे स्वयंमें लगे हुए अंजनको देख लेना चाहिए। (२) यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो वह स्पर्शन इन्द्रियकी तरह समीपवर्ती वृक्षकी शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमाको एक साथ नहीं देख सकती। (३) यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो कारण हो वह पदार्थसे संयुक्त होकर ही अपना काम करे। चुम्बक दूरसे ही लोहेको खींच लेता है। (४) चक्षु अभ्रक, काँच और स्फटिक आदिसे व्यवहित पदार्थोंके रूपको भी देख लेती है, जब कि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियाँ उनके स्पर्श आदिको नहीं जान सकतीं। चक्षुको तेजोद्रव्य कहना भी प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि एक तो तेजोद्रव्य स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, दूसरे उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप इसमें नहीं पाया जाता।

चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमें दूर और निकट व्यवहार नहीं हो सकता। इसी तरह संशय और विपर्यय ज्ञान भी नहीं हो सकेंगे।

आजका विज्ञान मानता है कि आँख एक प्रकारका केमरा है। उसमें पदार्थों-की किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं। किरणोंके प्रतिबिम्ब पड़नेसे ज्ञानतन्तु उद्बुद्ध होते हैं और फिर चक्षु उन पदार्थोंको देखती है। चक्षुमें आये हुए प्रतिबिम्बका कार्य केवल चेतनाको उद्बुद्ध कर देना है। वह स्वयं दिखाई नहीं देता। इस प्रणालीमें यह बात तो स्पष्ट है कि चक्षुने योग्य देशमें स्थित पदार्थको ही जाना है, अपनेमें पड़े हुए प्रतिबिम्बको नहीं। पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़नेकी क्रिया तो केवल स्विचको दबानेकी क्रियाके समान है, जो विद्युत् शक्तिको प्रवाहित कर देता है। अतः इस प्रक्रियासे जैनोंके चक्षुको अप्राप्यकारी माननेके विचारमें कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती।

श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं :

[2]बौद्ध श्रोत्रको भी अप्राप्यकारी मानते हैं। उनका विचार है कि—शब्द भी दूरसे ही सुना जाता है। वे चक्षु और मनके साथ श्रोत्रके भी अप्राप्यकारी होनेका

१. देखो, तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६८।

२. 'अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि।' —अभिधर्मकोश १।४३। तत्त्वसंग्रह० पं० पृ० ६०३।

स्पष्ट निर्देश करते हैं। यदि श्रोत्र प्राप्यकारी होता तो शब्दमें दूर और निकट व्यवहार नहीं होना चाहिए था। किन्तु [1]जब श्रोत्र कानमें घुसे हुए मच्छरके शब्दको सुन लेता है, तो अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। प्राप्यकारी घ्राण इन्द्रियके विषयभूत गन्धमें भी 'कमलकी गन्ध दूर है, मालतीकी गन्ध पास है' इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। यदि चक्षुकी तरह श्रोत्र भी अप्राप्यकारी है तो जैसे रूपमें दिशा और देशका संशय नहीं होता उसी तरह शब्दमें भी नहीं होना चाहिए था, किन्तु शब्दमें 'यह किस दिशासे शब्द आया है ?' इस प्रकारका संशय देखा जाता है। अतः श्रोत्रको भी स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी तरह प्राप्यकारी ही मानना चाहिए। जब शब्द वातावरणमें उत्पन्न होता हुआ क्रमशः कानके भीतर पहुँचता है, तभी सुनाई देता है। श्रोत्रका शब्दोत्पत्तिके स्थानमें पहुँचना तो नितान्त बाधित है।

ज्ञानका उत्पत्ति-क्रम, अवग्रहादिभेद :

सांव्यवहारिक इन्द्रियप्रत्यक्ष चार भागोंमें विभाजित है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सर्वप्रथम विषय और विषयीके सन्निपात (योग्यदेशावस्थितिमें) होनेपर दर्शन होता है। यह दर्शन सामान्य-सत्ताका आलोचक होता है। इसके आकारको हम मात्र 'है' के रूपमें निर्दिष्ट कर सकते हैं। यह अस्तित्वरूप महासत्ता या सामान्य-सत्ताका प्रतिभास करता है। इसके बाद उस विषयकी अवान्तरसत्ता (मनुष्यत्व आदि) से युक्त वस्तुका ग्रहण करनेवाला 'यह पुरुष है' ऐसा अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह ज्ञानमें पुरुषत्वविशिष्ट पुरुषका स्पष्ट बोध होता है। जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उनके द्वारा दर्शनके बाद सर्वप्रथम व्यंजनावग्रह होता है। जिस प्रकार कोरे घड़ेमें जब दो, तीन, चार जलबिन्दुएँ तुरन्त सूख जाती हैं, तब कहीं घड़ा धीरे-धीरे गीला होता है, उसी तरह व्यंजनावग्रहमें पदार्थका अव्यक्त बोध होता है। इसका कारण यह है कि प्राप्यकारी स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियाँ अनेक प्रकारकी उपकरण-त्वचाओंसे आवृत रहती हैं, अतः उन्हें भेदकर इन्द्रिय तक विषय-सम्बन्ध होनेमें एक क्षण तो लग ही जाता है। अप्राप्यकारी चक्षुकी उपकरणभूत पलकें आँखके तारेके ऊपर हैं और पलकें खुलनेके बाद ही देखना प्रारम्भ होता है। आँख खुलनेके बाद पदार्थके देखनेमें अस्पृष्टताकी गुंजाइश नहीं रहती। जितनी शक्ति होगी, उतना स्पष्ट ही दिखेगा। अतः चक्षु-इन्द्रियसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। व्यञ्जनावग्रह शेष चार इन्द्रियोंसे ही होता है।

अवग्रहके बाद उसके द्वारा ज्ञात विषयमें 'यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी ?' इस प्रकारका विशेषविषयक संशय होता है। संशयके अनन्तर भाषा और वेशको

---

१. देखो, तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६८-३९।

देखकर निर्णयकी ओर झुकनेवाला 'यह दक्षिणी होना चाहिए' ऐसा भवितव्यता-रूप 'ईहा' ज्ञान होता है।

ईहाके बाद विशेष चिह्नोंसे 'यह दक्षिणी ही है' ऐसा निर्णयात्मक 'अवाय' ज्ञान होता है। कहीं इसका अपायके रूपमें भी उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है 'अनिष्ट अंशकी निवृत्ति करना'। अपाय अर्थात् 'निवृत्ति'। अवायमें इष्ट अंशका निश्चय विवक्षित है जब कि अपायमें अनिष्ट अंशकी निवृत्ति मुख्यरूपसे लक्षित होती है।

यही अवाय उत्तरकालमें दृढ़ होकर 'धारणा' बन जाता है। इसी धारणाके कारण कालान्तरमें उस वस्तुका स्मरण होता है। धारणाको संस्कार भी कहते हैं। जब तक इन्द्रियव्यापार चालू है तब तक धारणा इन्द्रियप्रत्यक्षके रूपमें रहती है। इन्द्रियव्यापारके निवृत्त हो जानेपर यही धारणा शक्तिरूपमें संस्कार बन जाती है।

इनमें संशय ज्ञानको छोड़कर बाकी व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यदि अर्थका यथार्थ निश्चय कराते हैं तो प्रमाण हैं, अन्यथा अप्रमाण। प्रमाणका अर्थ है जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसका उसी रूपमें मिलना।

सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं :

ये सभी ज्ञान स्वसंवेदी होते हैं। ये अपने स्वरूपका बोध स्वयं करते हैं। अतः स्वसंवेदनप्रत्यक्षको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जो जिस ज्ञानका संवेदन है, वह उसीमें अन्तर्भूत हो जाता है; इन्द्रियप्रत्यक्षका स्वसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्षमें और मानसप्रत्यक्षका स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्षमें। किन्तु स्वसंवेदनकी दृष्टिसे अप्रमाणव्यवहार या प्रमाणाभासकी कल्पना कथमपि नहीं होती। ज्ञान प्रमाण हो या अप्रमाण, उसका स्वसंवेदन तो ज्ञानके रूपमें यथार्थ ही होता है। 'यह स्थाणु है या पुरुष ?' इस प्रकारके संशय ज्ञानका स्वसंवेदन भी अपनेमें निश्चयात्मक ही होता है। उक्त प्रकारके ज्ञानके होनेमें संशय नहीं है। संशय तो उसके विषयभूत पदार्थमें है। इसी प्रकार विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानोंका स्वरूप संवेदन अपनेमें निश्चयात्मक और यथार्थ ही होता है।

मानसप्रत्यक्षमें केवल मनसे सुखादिका संवेदन होता ही है। इसमें इन्द्रिय-व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती।

अवग्रहादि बहु आदि अर्थोंके होते हैं :

ये [1]अवग्रहादि ज्ञान एक, बहु, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इस तरह बारह प्रकारके अर्थोंके होते हैं। चक्षु

---

१. देखो, तत्त्वार्थसूत्र १।१६।

आदि इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले अवग्रहादि मात्र रूपादि गुणोंको ही नहीं जानते, किन्तु उन गुणोंके द्वारा [1]द्रव्यको ग्रहण करते हैं; क्योंकि गुण और गुणीमें कथञ्चित् अभेद होनेसे गुणका ग्रहण होने पर गुणीका भी ग्रहण उस रूपमें हो ही जाता है। किसी ऐसे इन्द्रियज्ञानकी कल्पना नहीं की जा सकती, जो द्रव्यको छोड़कर मात्र गुणको, या गुणको छोड़कर मात्र द्रव्यको ग्रहण करता हो।

विपर्यय आदि मिथ्याज्ञान—

विपर्यय ज्ञान का स्वरूप :

इन्द्रियदोष तथा सादृश्य आदिके कारण जो विपर्यय ज्ञान होता है, वह जैन दर्शनमें विपरीत-ख्यातिके रूपसे स्वीकार किया गया है। किसी पदार्थमें उससे विपरीत पदार्थका प्रतिभास होना विपरीत-ख्याति कहलाती है। 'यह पदार्थ विपरीत है' इस प्रकारका प्रतिभास विपर्ययकालमें नहीं होता है। यदि प्रमाताको यह मालूम हो जाय कि 'यह पदार्थ विपरीत है' तब तो वह ज्ञान यथार्थ ही हो जायगा। अतः पुरुषसे विपरीत स्थाणुमें 'पुरुष' इस प्रकारकी ख्याति अर्थात् प्रतिभास विपरीतख्याति कहलाता है। यद्यपि विपर्ययकालमें पुरुष वहाँ नहीं है, परन्तु सादृश्य आदिके कारण पूर्वदृष्ट पुरुषका स्मरण होकर उसमें पुरुषका भान होता है और यह सब होता है इन्द्रियदोष आदिके कारण। इसमें अलौकिक, अनिर्वचनीय, असत्, सत् या आत्माका प्रतिभास मानना या इस ज्ञानको निरालम्बन ही मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

विपर्ययज्ञानका आलम्बन तो वह पदार्थ है ही जिसमें सादृश्य आदिके कारण विपरीत भान हो रहा है और जो विपरीत पदार्थ उसमें प्रतिभासित हो रहा है। वह यद्यपि वहाँ विद्यमान नहीं है, किन्तु सादृश्य आदिके कारण स्मरणका विषय बनकर झलक तो जाता ही है। अन्ततः विपर्ययज्ञानका विषयभूत पदार्थ विपर्यय-कालमें आलम्बनभूत पदार्थमें आरोपित किया जाता है और इसीलिए वह विपर्यय है।

असत्ख्याति और आत्मख्याति नहीं :

विपर्ययकालमें सीपमें चाँदी आ जाती है, यह निरी कल्पना है; क्योंकि यदि उस कालमें चाँदी आती हो, तो वहाँ बैठे हुए पुरुषको दिख जानी चाहिये। रेतमें जलज्ञानके समय यदि जल वहाँ आ जाता है, तो पीछे जमीन तो गीली मिलनी चाहिये। मानसभ्रान्ति अपने मिथ्या संस्कार और विचारोंके अनुसार अनेक प्रकारकी

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १।१७।

हुआ करती है। आत्माकी तरह बाह्य पदार्थका अस्तित्व भी स्वतःसिद्ध और परमार्थसत् ही है। अतः बाह्यार्थका निषेध करके नित्य ब्रह्म या क्षणिक ज्ञानका प्रतिभास कहना भी सयुक्तिक नहीं है।

विपर्यय ज्ञानके कारण :

विपर्यय ज्ञानके अनेक कारण होते हैं; वात-पित्तादिका क्षोभ, विषयकी चंचलता, किसी क्रियाका अतिशीघ्र होना, सादृश्य और इन्द्रियविकार आदि। इन दोषोंके कारण मन और इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न होता है और इन्द्रियमें विकार होनेसे विपर्ययादि ज्ञान होते हैं। अन्ततः इन्द्रियविकार ही विपर्ययका मुख्य हेतु सिद्ध होता है।

अनिर्वचनीयार्थख्याति नहीं :

विपर्यय ज्ञानको सत्, असत् आदिरूपसे अनिर्वचनीय कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि उसका विपरीतरूपमें निर्वचन किया जा सकता है। 'इदं रजतम्' यह शब्दप्रयोग स्वयं अपनी निर्वचनीयता बता रहा है। पहले देखा गया रजत ही सादृश्यादिके कारण सामने रखी हुई सीपमें झलकने लगता है।

अख्याति नहीं :

यदि विपर्यय ज्ञानमें कुछ भी प्रतिभासित न हो, वह अख्याति अर्थात् निर्विषय हो; तो भ्रान्ति और सुषुप्तावस्थामें कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा। सुषुप्तावस्थासे भ्रान्तिदशाके भेदका एक ही कारण है कि भ्रान्ति अवस्थामें कुछ तो प्रतिभासित होता है, जबकि सुषुप्तावस्थामें कुछ भी नहीं।

असत्ख्याति नहीं :

यदि विपर्ययमें असत् पदार्थका प्रतिभास माना जाता है, तो विचित्र प्रकारकी भ्रान्तियाँ नहीं हो सकेंगी, क्योंकि असत्ख्यातिवादीके मतमें विचित्रताका कारण ज्ञानगत या अर्थगत कुछ भी नहीं है। सामने रखी हुई वस्तुभूत शुक्तिका ही इस ज्ञानका आलम्बन है, अन्यथा अंगुलिके द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता था। यद्यपि यहाँ रजत अविद्यमान है, फिर भी इसे असत्ख्याति नहीं कह सकते; क्योंकि इसमें सादृश्य कारण पड़ रहा है, जबकि असत्ख्यातिमें सादृश्य कारण नहीं होता।

विपर्ययज्ञान स्मृति-प्रमोष :

विपर्ययज्ञानको इस रूपसे स्मृतिप्रमोषरूप कहना भी ठीक नहीं है कि 'इदं

रजतम्' यहाँ 'इदम्' शब्द सामने रखे हुए पदार्थका निर्देश करता है और 'रजतम्' पूर्वदृष्ट रजतका स्मरण है। सादृश्यादि दोषोंके कारण वह स्मरण अपने 'तत्' आकारको छोड़कर उत्पन्न होता है। यही उसकी विपर्ययरूपता है। यदि यहाँ 'तद्रजतम्' ऐसा प्रतिभास होता; तो वह सम्यग्ज्ञान ही हो जाता। अतः 'इदम्' यह एक स्वतंत्र ज्ञान है और 'रजतम्' यह अधूरा स्मरण। चूँकि दोनोंका भेद ज्ञात नहीं होता, अतः 'इदं' के साथ 'रजतम्' जुटकर 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान मालूम होने लगता है। किन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ दो ज्ञान प्रतिभासित ही नहीं होते। एक ही ज्ञान सामने रखे हुए चमकदार पदार्थको विषय करता है। विशेष बात यह है कि वस्तुदर्शनके अनन्तर तद्वाचक शब्दकी स्मृतिके समय विपरीतविशेषका स्मरण होकर वही प्रतिभासित होने लगता है। उस समय चमचमाहटके कारण शुक्तिकाके विशेष धर्म प्रतिभासित न होकर उनका स्थान रजतके धर्म ले लेते हैं। इस तरह विपर्ययज्ञानके बननेमें सामान्यका प्रतिभास, विशेषका अप्रतिभास और विपरीत विशेषका स्मरण ये कारण भले ही हों, पर विपर्ययकालमें 'इदं रजतम्' यह एक ही ज्ञान रहता है। और वह विपरीत आकारको विषय करनेके कारण विपरीतख्यातिरूप ही है।

संशयका स्वरूप :

संशय ज्ञानमें जिन दो कोटियोंमें ज्ञान चलित या दोलित रहता है, वे दोनों कोटियाँ भी बुद्धिनिष्ठ ही हैं। उभय साधारण पदार्थके दर्शनसे परस्पर विरोधी दो विशेषोंका स्मरण हो जानेके कारण ज्ञान दोनों कोटियोंमें झूलने लगता है। यह निश्चित है कि संशय और विपर्ययज्ञान पूर्वानुभूत विशेषके ही होते हैं। अननुभूतके नहीं।

संशय ज्ञानमें प्रथम ही सामने विद्यमान स्थाणुके उच्चत्व आदि सामान्यधर्म प्रतिभासित होते हैं, फिर उसके पुरुष और स्थाणु इन दो विशेषोंका युगपत् स्मरण आ जानेसे ज्ञान दोनों कोटियोंमें दोलित हो जाता है।

२. पारमार्थिक प्रत्यक्ष :

पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण रूपसे विशद होता है। वह मात्र आत्मासे उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मनके व्यापारकी उसमें आवश्यकता नहीं होती। वह दो प्रकारका है—एक सकलप्रत्यक्ष और दूसरा विकलप्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष हैं।

अवधिज्ञान :

[1]अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह रूपिद्रव्यको ही विषय करता है, आत्मादि अरूपी द्रव्यको नहीं। चूँकि इसकी अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा निश्चित है और यह नीचेकी तरफ अधिक विषयको जानता है, अतएव अवधिज्ञान कहा जाता है। इसके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद होते हैं। मनुष्य और तिर्यंचोंके गुणप्रत्यय देशावधि होता है और देव तथा नारकियोंके भवप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिमें कर्मका क्षयोपशम उस पर्यायके ही निमित्तसे हो जाता है, जबकि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होनेवाले देशावधिका क्षयोपशम गुणनिमित्तक होता है। परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनिके ही होते हैं। देशावधि प्रतिपाती होता है, परन्तु सर्वावधि और परमावधि प्रतिपाती नहीं होते। संयमसे च्युत होकर अविरत और मिथ्यात्व-भूमिपर आ जाना प्रतिपात कहा जाता है। अथवा, मोक्ष होनेके पहले जो अवधिज्ञान छूट जाता है, वह प्रतिपाती होता है। अवधिज्ञान सूक्ष्मरूपसे एक परमाणुको जान सकता है।

मनःपर्ययज्ञान :

[2]मनःपर्ययज्ञान दूसरेके मनकी बातको जानता है। इसके दो भेद हैं—एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। ऋजुमति सरल मन, वचन, और कायसे विचारे गये पदार्थको जानता है, जब कि विपुलमति सरल और कुटिल दोनों तरहसे विचारे गये पदार्थोंको जानता है। मनःपर्ययज्ञान भी इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना ही होता है। दूसरेका मन तो इसमें केवल आलम्बन पड़ता है। 'मनःपर्ययज्ञानी दूसरेके मनमें आनेवाले विचारोंको अर्थात् विचार करनेवाले मनकी पर्यायोंको साक्षात् जानता है और उसके अनुसार बाह्य पदार्थोंको अनुमानसे जानता है' यह एक आचार्यका मत[3] है। दूसरे आचार्य मनःपर्ययज्ञानके द्वारा बाह्य पदार्थका साक्षात् ज्ञान भी मानते हैं। मनःपर्ययज्ञान प्रकृष्ट चारित्रवाले साधुके ही होता है। इसका विषय अवधिज्ञानसे अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म होता है। इसका क्षेत्र मनुष्यलोक बराबर है।

---

१. देखो, तत्त्वार्थवार्तिक १।२१–२२।

२. देखो, तत्त्वार्थवार्तिक १।२६।

३. "जाणइ बज्झेऽणुमाणेण–विशेषा० गा० ८१४।

केवलज्ञान :

समस्त ज्ञानावरणके समूल नाश होनेपर प्रकट होनेवाला निरावरण ज्ञान केवलज्ञान है। यह आत्ममात्रसापेक्ष होता है और केवल अर्थात् अकेला होता है। इस ज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह समस्त द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती सभी पर्यायोंको जानता है तथा अतीन्द्रिय होता है। यह सम्पूर्ण रूपसे निर्मल होता है। इसके सिद्ध करनेकी मूल[1] युक्ति यह है कि आत्मा जब ज्ञानस्वभाव है और आवरणके कारण इसका यह ज्ञानस्वभाव खंड-खंड करके प्रकट होता है तब सम्पूर्ण आवरणके हट जानेपर ज्ञानको अपने पूर्णरूपमें प्रकाशमान होना ही चाहिए। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है। यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो अग्नि ईंधनको जलायगी ही। उसी तरह ज्ञानस्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकोंके हट जाने पर जगतके समस्त पदार्थोंको जानेगा ही। 'जो पदार्थ किसी ज्ञानके ज्ञेय हैं, किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं। जैसे पर्वतीय अग्नि' इत्यादि अनेक अनुमान उस निरावरण ज्ञानकी सिद्धिके लिए दिये जाते हैं।

सर्वज्ञताका इतिहास :

प्राचीनकालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके ही साथ था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि मोक्षके मार्गका किसने साक्षात्कार किया? यही मोक्षमार्ग धर्म शब्दसे निर्दिष्ट होता है। अतः विवादका विषय यह रहा कि धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं? एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुओंको हमलोग प्रत्यक्षसे नहीं जान सकते। धर्मके सम्बन्धमें वेदका ही अन्तिम और निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा "चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः" करके धर्ममें वेदको ही प्रमाण कहा है। इस धर्मज्ञानमें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हें पुरुषमें अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषमें राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषोंकी शंका होनेसे अतीन्द्रियधर्मप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर अपौरुषेय माना। इस अपौरुषेयत्वकी मान्यतासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ।

---

१. "ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ?" —न्यायवि० श्लो० ४६५।
"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके ॥"
—उद्धृत अष्टसह० पृ० ५०।

आ० कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं[1] कि सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। यदि कोई पुरुष धर्मके सिवाय संसारके अन्य समस्त अर्थोंको जानना चाहता है, तो भले ही जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं, पर धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे नहीं। इस तरह धर्मको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त शेष पदार्थोंको यथासम्भव अनुमानादि प्रमाणोंसे जानकर यदि कोई पुरुष टोटलमें सर्वज्ञ बनता है तब भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धका है। ये बुद्धको धर्म—चतुरार्यसत्यका साक्षात्कारकर्त्ता मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्धने अपने भास्वर ज्ञानके द्वारा दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध—निर्वाण, मार्ग—निर्वाणके उपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्मका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। अतः धर्मके विषयमें धर्मद्रष्टा सुगत ही अन्तिम प्रमाण हैं। वे करुणा करके कषायज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोंके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते हैं। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है[2] कि 'संसारके समस्त पदार्थोंका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है या नहीं, हम इस निरर्थक बातके झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि उसने इष्ट तत्त्व—धर्मको जाना है कि नहीं? मोक्षमार्गमें अनुपयोगी दुनियाँ भरके कीड़े-मकोड़ों आदि की संख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञताके समर्थकोंसे कहते हैं कि मीमांसकोंके सामने सर्वज्ञता—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्षसे ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात्कर्त्ताको प्रमाण माना जाय या वेदको? उस धर्ममार्गके साक्षात्कारके लिये धर्मकीर्तिने आत्मा (ज्ञानप्रवाह) से दोषोंका अत्यन्तोच्छेद माना और नैरात्म्यभावना आदि उसके साधन बताये।

---

१. धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥

—तत्त्वसं० का० ३१२८ (कुमारिलके नामसे उद्धृत)

२. 'तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥ ३३॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेतान् गृद्ध्रानुपास्महे॥ ३५॥

—प्रमाणवा० १।३३,३५।

तात्पर्य यह कि जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अव्याहत अधिकार स्वीकार किया है, वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म—मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्तने[1] सुगतको धर्मज्ञके साथ-ही-साथ सर्वज्ञ—त्रिकालवर्ती यावत्पदार्थोंका ज्ञाता—भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादि-निर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है, वे चाहें तो थोड़ेसे प्रयत्नसे ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। आ० शान्तरक्षित[2] भी इसी तरह धर्मज्ञतासाधनके साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और सर्वज्ञताको वे शक्तिरूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। कोई भी वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कर सकता है।

योगदर्शन और वैशेषिक दर्शनमें यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति है, जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य ही प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन[3] दार्शनिकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत्ज्ञेयोंके प्रत्यक्ष-दर्शनके अर्थमें सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्क-युगसे पहले "जे एगे जाणइ से सव्वे जाणइ" [आचा० सू० १।२३]—जो

---

१. 'ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम् ॥
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते ?
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्तनात् ॥
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धिरवारिता ॥
—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३२९।

२. 'यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ।'
—तत्त्वसं० का० ३३२८।

३. 'सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी⋯सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणादि पस्सदि विहरदित्ति।' —षट्खं० पयडि० सू० ७८।
'से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी⋯सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।' —आचा० २।३। पृ० ४२५।

एक आत्माको जानता है वह सब पदार्थोंको जानता है, इत्यादि वाक्य, जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नहीं हैं, पाये जाते हैं, पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारके शुद्धोपयोगाधिकार ([1]गाथा १५८) में लिखा है कि 'केवली भगवान् समस्त पदार्थोंको जानते और देखते हैं' यह कथन व्यवहारनयसे है। परन्तु निश्चयसे वे अपने आत्मस्वरूपको ही देखते और जानते हैं। इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवलीकी परपदार्थज्ञता व्यावहारिक है, नैश्चयिक नहीं। व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ—परमार्थ स्वीकार करनेकी मान्यतासे सर्वज्ञताका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञतामें ही होता है। यद्यपि उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वज्ञताके व्यावहारिक अर्थका भी वर्णन और समर्थन देखा जाता है, पर उनकी निश्चयदृष्टि आत्मज्ञताकी सीमाको नहीं लाँघती।

इन्हीं आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसार[2] में सर्वप्रथम केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त अर्थोंका जाननेवाला लिखकर आगे लिखा है कि जो अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जानता है? और जो सबको नहीं जानता वह अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरह कैसे जान सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य घटज्ञानके द्वारा घटको जानता है वह घटके साथ-ही-साथ घटज्ञानके स्वरूपका भी संवेदन कर ही लेता है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान स्वप्रकाशी होता है। इसी तरह जो व्यक्ति घटको जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानका यथावत् स्वरूपपरिच्छेद करता है वह घटको तो अर्थात् ही जान लेता है, क्योंकि उस शक्तिका यथावत् विश्लेषणपूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने बिना हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति है। अतः जो संसारके अनन्तज्ञेयोंको जानता है वह अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति रखनेवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको जान ही लेता है और जो अनन्तज्ञेयोंके जाननेकी शक्ति-

१. 'जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥'

२. 'जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥
दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणादि जदि जुगवं कधं सो सव्वाणि जाणादि॥'

—प्रवचनसार १।४७–४९।

वाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको यथावत् विश्लेषण करके जानता है वह उन शक्तियोंके उपयोगस्थानभूत अनन्तपदार्थोंको भी जान ही लेता है; क्योंकि अनन्तज्ञेय तो उस ज्ञानके विशेषण हैं और विशेष्यका ज्ञान होनेपर विशेषणका ज्ञान अवश्य हो ही जाता है। जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बवाले दर्पणको जानता है वह घटको भी जानता है और जो घटको जानता है वही दर्पणमें आये हुए घटके प्रतिबिम्बका वास्तविक विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है। 'जो एकको जानता है वह सबको जानता है' इसका यही रहस्य है।

समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व[1] अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया है। बौद्धोंकी तरह किसी भी जैनग्रन्थमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञताका विभाजन कर उनमें गौण-मुख्यभाव नहीं बताया है। सभी जैन तार्किकोंने एक स्वरसे त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्ण परिज्ञानके अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण सर्वज्ञताके गर्भमें ही निहित मान ली गई है। [2]अकलंकदेवने सर्वज्ञताका समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मामें समस्त पदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें उसके ज्ञानका ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मोंका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि[3] अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके, तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यत दशाओंका उपदेश कैसे हो सकेगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतः यह मानना ही चाहिये कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थदर्शनके बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यलाभ आदिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भावी पदार्थोंमें संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे प्रश्नविद्या या ईक्षणिकादिविद्या[4]

---

१. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥'
—आप्तमी० श्लो० ५।

२. देखो, न्यायवि० श्लो० ४६५।

३. 'धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम्॥'
—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ४१३। न्यायवि० श्लोक ४१४।

४. देखो, न्यायविनिश्चय श्लोक ४०७।

अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है; उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है।

आचार्य वीरसेन स्वामीने जयधवला टीकामें केवलज्ञानकी सिद्धिके लिए एक नवीन ही युक्ति दी है। वे लिखते हैं कि केवलज्ञान ही आत्माका स्वभाव है। यही केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्मसे आवृत होता है और आवरणके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान आदिके रूपमें प्रकट होता है। तो जब हम मतिज्ञान आदिका स्वसंवेदन करते हैं तब उस रूपसे अंशी केवलज्ञानका भी अंशतः स्वसंवेदन हो जाता है। जैसे पर्वतके एक अंशको देखने पर भी पूर्ण पर्वतका व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना जाता है उसी तरह मतिज्ञानादि अवयवोंको देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान यानी ज्ञानसामान्यका प्रत्यक्ष भी स्वसंवेदनसे हो जाता है। यहाँ आचार्यने केवलज्ञानको ज्ञानसामान्यरूप माना है और उसकी सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे की है।

अकलंकदेवने अनेक साधक प्रमाणोंको बताकर जिस एक महत्त्वपूर्ण हेतुका प्रयोग किया है वह है[1]—'सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् बाधक प्रमाणोंकी असंभवताका पूर्ण निश्चय होना। किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये यही 'बाधकाऽभाव' स्वयं एक बलवान् साधक प्रमाण हो सकता है। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें भी कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिये।

इस हेतुके समर्थनमें उन्होंने प्रतिवादियोंके द्वारा कल्पित बाधाओंका निराकरण इस प्रकार किया है—

प्रश्न—अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि वे वक्ता हैं और पुरुष हैं। जैसे कोई गलीमें घूमनेवाला आवारा आदमी।

उत्तर—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है। वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। यदि ज्ञानके विकासमें वचनोंका ह्रास देखा जाता तो उसके अत्यन्त विकासमें वचनोंका अत्यन्त ह्रास होता, पर देखा तो उससे उलटा ही जाता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानकी वृद्धि होती है त्यों-त्यों वचनोंमें प्रकर्षता ही आती है।

प्रश्न—वक्तृत्वका सम्बन्ध विवक्षासे है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञमें वचनोंकी संभावना कैसे है?

---

१. "अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।"
—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ४२१।

उत्तर—विवक्षाका वक्तृत्वसे कोई अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्रकी विवक्षा होनेपर भी शास्त्रका व्याख्यान नहीं कर पाता। सुषुप्त और मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें विवक्षा न रहनेपर भी वचनोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः विवक्षा और वचनोंमें कोई अविनाभाव नहीं बैठाया जा सकता। चैतन्य और इन्द्रियोंकी पटुता ही वचनप्रवृत्तिमें कारण है और इनका सर्वज्ञत्वसे कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचनोंमें विवक्षाको कारण मान भी लिया जाय पर सत्य और हितकारक वचनोंको उत्पन्न करनेवाली विवक्षा सदोष कैसे हो सकती है? फिर, तीर्थंकरके तो पूर्व पुण्यानुभावसे बँधी हुई तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे वचनोंकी प्रवृत्ति होती है। जगत्के कल्याणके लिए उनकी पुण्यदेशना होती है।

इसी तरह निर्दोष वीतरागी पुरुषत्वका सर्वज्ञतासे कोई विरोध नहीं है। पुरुष भी हो जाय और सर्वज्ञ भी। यदि इस प्रकारके व्यभिचारी अर्थात् अविनाभावशून्य हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि की जाती है; तो इन्हीं हेतुओंसे जैमिनिमें वेदज्ञताका भी अभाव सिद्ध किया जा सकेगा।

प्रश्न—हमें किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होनेसे उसका अभाव ही मानना चाहिये?

उत्तर—पूर्वोक्त अनुमानोंसे जब सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब अनुपलम्भ कैसे कहा जा सकता है? यह अनुपलम्भ आपको है या सबको? 'हमारे चित्तमें जो विचार है' उनका अनुपलम्भ आपको है, पर इससे हमारे चित्तके विचारोंका अभाव तो नहीं हो जायगा। अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। दुनियाँमें हमारे द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थोंका अस्तित्व है ही। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानोंको जाननेवाला सर्वज्ञ ही कह सकता है, असर्वज्ञ नहीं। अतः सर्वानुपलम्भ असिद्ध ही है।

प्रश्न—ज्ञानमें तारतम्य देखकर कहीं उसके अत्यन्त प्रकर्षकी सम्भावना करके जो सर्वज्ञ सिद्ध किया जाता है उसमें प्रकर्षताकी एक सीमा होती है। कोई ऊँचा कूँदनेवाला व्यक्ति अभ्याससे तो दस हाथ ही ऊँचा कूँद सकता है, वह चिर अभ्यासके बाद भी एक मील ऊँचा तो नहीं कूँद सकता?

उत्तर—कूँदनेका सम्बन्ध शरीरकी शक्तिसे है, अतः उसका जितना प्रकर्ष सम्भव है, उतना ही होगा। परन्तु ज्ञानकी शक्ति तो अनन्त है। वह ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण अपने पूर्णरूपमें विकसित नहीं हो पा रही है। ध्यानादि साधनाओंसे उस आगन्तुक आवरणका जैसे-जैसे क्षय किया जाता है वैसे-वैसे ज्ञानकी स्वरूपज्योति उसी तरह प्रकाशमान होने लगती है जैसा कि मेघोंके हटने

पर सूर्यका प्रकाश। अपने अनन्तशक्तिवाले ज्ञान गुणके विकासकी परमप्रकर्ष अवस्था ही सर्वज्ञता है। आत्माके गुण जो कर्मवासनाओंसे आवृत हैं, वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप साधनाओंसे प्रकट होते हैं। जैसे कि किसी इष्टजनकी भावना करनेसे उसका साक्षात् स्पष्ट दर्शन होता है।

प्रश्न—यदि सर्वज्ञके ज्ञानमें अनादि और अनन्त झलकते हैं तो उनकी अनादिता और अनन्तता नहीं रह सकती ?

उत्तर—जो पदार्थ जैसे हैं वे वैसे ही ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं। यदि आकाशकी क्षेत्रकृत और कालकी समयकृत अनन्तता है तो वह उसी रूपमें ज्ञानका विषय होती है। यदि द्रव्य अनन्त हैं तो वे भी उसी रूपमें ही ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं। मौलिक द्रव्यका द्रव्यत्व यही है जो वह अनादि और अनन्त हो। उसके इस निज स्वभावको अन्यथा नहीं किया जा सकता और न अन्य रूपमें वह केवलज्ञानका विषय ही होता है। अतः जगत्के स्वरूपभूत अनादि अनन्तत्वका उसी रूपमें ज्ञान होता है।

प्रश्न—आगममें कहे गये साधनोंका अनुष्ठान करके सर्वज्ञता प्राप्त होती है और सर्वज्ञके द्वारा आगम कहा जाता है, अतः दोनों परस्पराश्रित होनेसे असिद्ध हैं ?

उत्तर—सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका ज्ञान पूर्वसर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थके आचरणसे उत्पन्न होता है और पूर्वसर्वज्ञका ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थके आचरणसे। इस तरह पूर्व-पूर्व सर्वज्ञ और आगमोंकी शृंखला बीजांकुर सन्ततिकी तरह अनादि है। और अनादि सन्ततिमें अन्योन्याश्रय दोषका विचार नहीं होता। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आगम सर्वज्ञके बिना हो सकता है ? और पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ? दोनोंका उत्तर यह है कि पुरुष अपना विकास करके सर्वज्ञ बन सकता है, और उसीके गुणोंसे वचनोंमें प्रमाणता आकर वे वचन आगम नाम पाते हैं।

प्रश्न—जब आजकल प्रायः पुरुष रागी, द्वेषी और अज्ञानी ही देखे जाते हैं तब अतीत या भविष्यमें कभी किसी पूर्ण वीतरागी या सर्वज्ञकी सम्भावना कैसे की जा सकती है ? क्योंकि पुरुषकी शक्तियोंकी सीमाका उल्लंघन नहीं हो सकता ?

उत्तर—यदि हम पुरुषातिशयको नहीं जान सकते, तो इससे उसका अभाव नहीं किया जा सकता। अन्यथा आजकल कोई वेदका पूर्ण जानकार नहीं देखा जाता, तो अतीतकालमें 'जैमिनिको भी वेदज्ञान नहीं था', यह प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

हमें तो यह विचारना है कि आत्माके पूर्णज्ञानका विकास हो सकता है या नहीं ? और जब आत्माका स्वरूप अनन्तज्ञानमय है तब उसके विकासमें क्या बाधा है जो आवरणकी बाधा है, वह साधनासे उसी तरह हट सकती है, जैसे अग्निमें तपाने-से सोनेका मैल।

प्रश्न—सर्वज्ञ जब रागी आत्माके रागका या दुःखका साक्षात्कार करता है तब वह स्वयं रागी और दुःखी हो जायगा ?

उत्तर—दुःख या रागको जान लेने मात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता। रागी तो, आत्मा जब स्वयं राग रूपसे परिणमन करे, तभी होता है। क्या कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण मदिराके रसका ज्ञान रखने मात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? रागके कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञसे अत्यन्त उच्छिन्न हो गये हैं, वह पूर्ण वीतराग है, अतः परके राग या दुःख के जान लेने मात्रसे उसमें राग या दुःखरूप परिणति नहीं हो सकती।

प्रश्न—सर्वज्ञ अशुचि पदार्थोंको जानता है तो उसे उसके रसास्वादनका दोष लगना चाहिए ?

उत्तर—ज्ञान दूसरी वस्तु है और रसका आस्वादन दूसरी वस्तु है। आस्वा-दन रसना इन्द्रियके द्वारा आनेवाला स्वाद है जो इन्द्रियातीत ज्ञानवाले सर्वज्ञके होता ही नहीं है। उसका ज्ञान तो अतीन्द्रिय है। फिर जान लेने मात्रसे रसास्वा-दनका दोष नहीं हो सकता; क्योंकि दोष तो तब लगता है जब स्वयं उसमें लिप्त हुआ जाय और तद्रूप परिणति की जाय, जो सर्वज्ञ वीतरागीमें होती नहीं।

प्रश्न—सर्वज्ञको धर्मी बनाकर दिये जानेवाले कोई भी हेतु यदि भावधर्म यानी भावात्मक सर्वज्ञके धर्म हैं; तो असिद्ध हो जाते हैं ? यदि अभावात्मक सर्वज्ञ-के धर्म हैं; तो विरुद्ध हो जाँयगे और यदि उभयात्मक सर्वज्ञके धर्म हैं; तो अनै-कान्तिक हो जायँगे ?

उत्तर—'सर्वज्ञ' को धर्मी नहीं बनाते हैं, किन्तु धर्मी 'कश्चिदात्मा' 'कोई आत्मा' है, जो प्रसिद्ध है। 'किसी आत्मामें सर्वज्ञता होनी चाहिए, क्योंकि पूर्णज्ञान आत्माका स्वभाव है और प्रतिबन्धक कारण हट सकते हैं, इत्यादि अनुमानप्रयोगों-में 'आत्मा' को ही धर्मी बनाया जाता है, अतः उक्त दोष नहीं आते।

प्रश्न—सर्वज्ञके साधक और बाधक दोनों प्रकारके प्रमाण नहीं मिलते, अतः संशय हो जाना चाहिए ?

उत्तर—सर्वज्ञके साधक प्रमाण ऊपर बताये जा चुके हैं और बाधक प्रमाणों-का निराकरण भी किया जा चुका है, अतः सन्देहकी बात बेबुनियाद है। त्रिकाल

और त्रिलोकमें सर्वज्ञका अभाव सर्वज्ञ बने बिना किया ही नहीं जा सकता। जब तक हम त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पुरुषोंकी असर्वज्ञके रूपमें जानकारी नहीं कर लेते तब तक संसारको सदा सर्वज्ञ सर्वज्ञ शून्य कैसे कह सकते हैं ? और यदि ऐसी जानकारी किसीको संभव है; तो वही व्यक्ति सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है।

भगवान् महावीरके समयमें स्वयं उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञके रूपमें थी। उनके शिष्य उन्हें सोते, जागते, हर हालतमें ज्ञान-दर्शनवाला सर्वज्ञ कहते थे। पाली पिटकोंमें उनकी सर्वज्ञताकी परीक्षाके एक दो प्रकरण हैं, जिनमें सर्वज्ञताका एक प्रकारसे उपहास ही किया है। [1]न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थमें धर्मकीर्तिने दृष्टान्ताभासोंके उदाहरणमें ऋषभ और वर्धमानकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया है। इस तरह प्रसिद्धि और युक्ति दोनों क्षेत्रोंमें बौद्ध ग्रन्थ वर्धमानकी सर्वज्ञताके एक तरहसे विरोधी ही रहे हैं। इसका कारण यही मालूम होता है कि बुद्धने स्वयं अपनेको केवल चार आर्यसत्योंका ज्ञाता ही बताया था, और स्वयं अपनेको सर्वज्ञ कहनेसे इनकार किया था। वे केवल अपनेको धर्मज्ञ या मार्गज्ञ मानते थे और इसीलिए उन्होंने आत्मा, मरणोत्तर जीवन और लोककी सान्तता और अनन्तता आदिके प्रश्नोंको अव्याकृत—न कहने लायक कहा था। उन्होंने इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंमें मौन ही रखा, जब कि महावीरने इन सभी प्रश्नोंके उत्तर अनेकान्तदृष्टिसे दिये और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधान किया। तात्पर्य यह है कि बुद्ध केवल धर्मज्ञ थे और महावीर सर्वज्ञ। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थोंमें मुख्य सर्वज्ञता सिद्ध करनेका जोरदार प्रयत्न नहीं देखा जाता, जब कि जैन ग्रन्थोंमें प्रारम्भसे ही इसका प्रबल समर्थन मिलता है। आत्माको ज्ञानस्वभाव माननेके बाद निरावरण दशामें अनन्तज्ञान या सर्वज्ञताका प्रकट होना स्वाभाविक ही है। सर्वज्ञताका व्यावहारिक रूप कुछ भी हो, पर ज्ञानकी शुद्धता और परिपूर्णता असम्भव नहीं है।

परोक्ष प्रमाण :

आगमोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष[2] और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको मतिज्ञानका पर्याय कहा ही था[3], अतः आगममें सामान्यरूपसे स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) और श्रुत (आगम) इन्हें परोक्ष माननेका स्पष्ट मार्ग निर्दिष्ट था ही, केवल मति

१. 'यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः।' —न्यायबि० ३।१३१।

२. 'आद्ये परोक्षम्।' —त० सू० १।१०।

३. 'तत्त्वार्थसूत्र' १।१३।

(इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष) को परोक्ष माननेपर लोकविरोधका प्रसंग था, जिसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानकर हल कर लिया गया था। अकलंक-देवके इस सम्बन्धमें दो मत उपलब्ध होते हैं। वे राजवार्तिकमें अनुमान आदि ज्ञानोंको स्वप्रतिपत्तिके समय अनक्षरश्रुत और परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहते हैं। उनने लघीयस्त्रय (कारिका ६७) में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोधको मनोमति बताया है और [1]कारिका १० में मति, स्मृति आदि ज्ञानोंको शब्दयोजनाके पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और शब्दयोजना होनेपर उन्हीं ज्ञानोंको श्रुत कहा है। इस तरह सामान्यरूपसे मतिज्ञानको परोक्षकी सीमामें आनेपर भी उसके एक अंश—मतिको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहनेकी और शेष—स्मृति आदिक ज्ञानोंको परोक्ष कहनेकी भेदक रेखा क्या हो सकती है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका समाधान परोक्षके लक्षणसे ही हो जाता है। अविशद अर्थात् अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। विशदताका अर्थ है, ज्ञानान्तरनिरपेक्षता। जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा रखता हो अर्थात् जिसमें ज्ञानान्तरका व्यवधान हो, वह ज्ञान अविशद है। पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष चूँकि केवल इन्द्रिय-व्यापारसे उत्पन्न होते हैं, अन्य किसी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं रखते, इसलिए अंशतः विशद होनेसे प्रत्यक्ष हैं, जब कि स्मरण अपनी उत्पत्तिमें पूर्वानुभवकी, प्रत्यभिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें स्मरण और प्रत्यक्षकी, तर्क अपनी उत्पत्तिमें स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञानकी, अनुमान अपनी उत्पत्तिमें लिङ्गदर्शन और व्याप्ति-स्मरणकी तथा श्रुत अपनी उत्पत्तिमें शब्दश्रवण और संकेतस्मरणकी अपेक्षा रखते हैं, अतः ये सब ज्ञानान्तरसापेक्ष होनेके कारण अविशद हैं और परोक्ष हैं।

यद्यपि ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें पूर्व-पूर्व प्रतीतिकी अपेक्षा रखते हैं तथापि ये ज्ञान नवीन-नवीन इन्द्रियव्यापारसे उत्पन्न होते हैं और एक ही पदार्थकी विशेष अवस्थाओंको विषय करनेवाले हैं, अतः किसी भिन्नविषयक ज्ञानसे व्यवहित नहीं होनेके कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं। एक ही ज्ञान दूसरे-दूसरे इन्द्रियव्यापारोंसे अवग्रह आदि अतिशयोंको प्राप्त करता हुआ अनुभवमें आता है; अतः ज्ञानान्तरका अव्यवधान यहाँ सिद्ध हो जाता है।

परोक्षज्ञान पाँच प्रकारका होता है—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और

---

१. 'ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधकम्।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥ १०॥'

आगम। परोक्ष प्रमाणकी इस तरह सुनिश्चित सीमा अकलंकदेवने ही सर्वप्रथम बाँधी है और यह आगेके समस्त जैनाचार्यों द्वारा स्वीकृत रही।

चार्वाकके परोक्षप्रमाण न माननेकी आलोचना :

चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणसे भिन्न किसी अन्य परोक्ष प्रमाणकी सत्ता नहीं मानता। प्रमाणका लक्षण अविसंवाद करके उसने यह बताया है कि इन्द्रियप्रत्यक्षके सिवाय अन्य ज्ञान सर्वथा अविसंवादी नहीं होते। अनुमानादि प्रमाण बहुत कुछ संभावनापर चलते हैं और ऐसा कहनेका कारण यह है कि देश, काल और आकारके भेदसे प्रत्येक पदार्थकी अनन्त शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनमें अव्यभिचारी अविनाभावका ढूँढ़ लेना अत्यन्त कठिन है। जो आँवले यहाँ कषायरसवाले देखे जाते हैं, वे देशान्तर और कालान्तरमें द्रव्यान्तरका सम्बन्ध होनेपर मीठे रसवाले भी हो सकते हैं। कहीं-कहीं धूम साँपकी वामीसे निकलता हुआ देखा जाता है। अतः अनुमानका शत-प्रतिशत अविसंवादी होना असम्भव बात है। यही बात स्मरणादि प्रमाणोंके सम्बन्धमें है।

[1]परन्तु अनुमान प्रमाणके माने बिना प्रमाण और प्रमाणाभासका विवेक भी नहीं किया जा सकता। अविसंवादके आधारपर अमुक ज्ञानोंमें प्रमाणताकी व्यवस्था करना और अमुक ज्ञानोंको अविसंवादके अभावमें अप्रमाण कहना अनुमान ही तो है। दूसरेकी बुद्धिका ज्ञान अनुमानके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिका इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष असम्भव है। वह तो व्यापार, वचनप्रयोग आदि कार्योंको देखकर ही अनुमित होती है। जिन कार्यकारणभावों या अविनाभावोंका हम निर्णय न कर सकें अथवा जिनमें व्यभिचार देखा जाय उनसे होनेवाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाय, पर अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव आदिके आधारसे होनेवाला अनुमान अपनी सीमामें विसंवादी नहीं हो सकता। परलोक आदिके निषेधके लिए भी चार्वाकको अनुमानकी ही शरण लेनी पड़ती है। वामीसे निकलनेवाली भाफ और अग्निसे उत्पन्न होनेवाले धुआँमें विवेक नहीं कर सकना तो प्रमाताका अपराध है, अनुमानका नहीं। यदि सीमित क्षेत्रमें पदार्थोंके सुनिश्चित कार्य-कारण-भाव न बैठाये जा सकें, तो जगत्का समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। यह ठीक है कि जो अनुमान आदि विसंवादी निकल जाँय उन्हें अनुमानाभास कहा जा सकता है, पर इससे निर्दुष्ट अविनाभावके आधारसे होनेवाला अनुमान कभी मिथ्या नहीं

१. प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥
—धर्मकीर्तिः (प्रमाणमी० पृ० ८)।

हो सकता। यह तो प्रमाताकी कुशलतापर निर्भर करता है कि वह पदार्थोंके कितने और कैसे सूक्ष्म या स्थूल कार्य-कारणभावको जानता है। आप्तके वाक्यकी प्रमाणता हमें व्यवहारके लिए मानना ही पड़ती है, अन्यथा समस्त सांसारिक व्यवहार छिन्न-विच्छिन्न हो जायँगे। मनुष्यके ज्ञानकी कोई सीमा नहीं है, अतः अपनी मर्यादामें परोक्षज्ञान भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण ही है। यह खुला रास्ता है कि जो ज्ञान जिस अंशमें विसंवादी हों उन्हें उस अंशमें प्रमाण माना जाय।

१. स्मरण

[1]संस्कारका उद्बोध होनेपर स्मरण उत्पन्न होता है। यह अतीतकालीन पदार्थको विषय करता है। और इसमें 'तत्' शब्दका उल्लेख अवश्य होता है। यद्यपि स्मरणका विषयभूत पदार्थ सामने नहीं है, फिर भी वह हमारे पूर्व अनुभवका विषय तो था ही, और उस अनुभवका दृढ़ संस्कार हमें सादृश्य आदि अनेक निमित्तोंसे उस पदार्थको मनमें झलका देता है। इस स्मरणकी बदौलत ही जगत्के समस्त लेन-देन आदि व्यवहार चल रहे हैं। व्याप्तिस्मरणके बिना अनुमान और संकेतस्मरणके बिना किसी प्रकारके शब्दका प्रयोग ही नहीं हो सकता। गुरु-शिष्यादि-सम्बन्ध, पिता-पुत्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकारके प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवन-व्यवहार स्मरणके ही आभारी हैं। संस्कृति, सभ्यता और इतिहासकी परम्परा स्मरणके सूत्रसे ही हम तक आयी है।

स्मृतिको अप्रमाण कहनेका मूल कारण उसका 'गृहीतग्राही होना' बताया जाता है। उसकी अनुभवपरतन्त्रता प्रमाणव्यवहारमें बाधक बनती है। अनुभव जिस पदार्थको जिस रूपमें जानता है, स्मृति उससे अधिकको नहीं जानती और न उसके किसी नये अंशका ही बोध करती है। वह पूर्वानुभवकी मर्यादामें ही सीमित है, बल्कि कभी-कभी तो अनुभवसे कमकी ही स्मृति होती है।

वैदिक परम्परामें स्मृतिको स्वतन्त्र प्रमाण न माननेका एक ही कारण है कि मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ पुरुषविशेषके द्वारा रची गई हैं। यदि एक भी जगह उनका प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाता है, तो वेदकी अपौरुषेयता और उसका धर्मविषयक निर्बाध अन्तिम प्रामाण्य समाप्त हो जाता है। अतः स्मृतियाँ वहीं तक प्रमाण हैं जहाँतक वे श्रुतिका अनुगमन करती हैं, यानी श्रुति स्वतः प्रमाण है और स्मृतियोंमें प्रमाणताकी छाया श्रुतिमूलक होनेसे ही पड़ रही है। इस तरह जब एक बार स्मृतियोंमें श्रुतिपरतन्त्रताके कारण स्वतःप्रामाण्य

१. 'संस्कारोद्बोधनियन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।'—परीक्षामुख ३।३।

निषिद्ध हुआ, तब अन्य व्यावहारिक स्मृतियोंमें उस परतन्त्रताकी छाप अनुभवाधीन होनेके कारण बराबर चालू रही और यह व्यवस्था हुई कि जो स्मृतियाँ पूर्वानुभवका अनुगमन करती हैं वे ही प्रमाण हैं, अनुभवके बाहरकी स्मृतियाँ प्रमाण नहीं हो सकतीं, अर्थात् स्मृतियाँ सत्य होकर भी अनुभवकी प्रमाणताके बलपर ही अविसंवादिनी सिद्ध हो पाती हैं; अपने बलपर नहीं।

भट्ट जयन्त[1] ने स्मृतिकी अप्रमाणताका कारण गृहीत-ग्राहित्व न बताकर उसका 'अर्थसे उत्पन्न न होना' बताया है; परन्तु जब अर्थको ज्ञानमात्रके प्रति कारणता ही सिद्ध नहीं है, तब अर्थजन्यत्वको प्रमाणताका आधार नहीं बनाया जा सकता; प्रमाणताका आधार तो अविसंवाद ही हो सकता है। गृहीतग्राही भी ज्ञान यदि अपने विषयमें अविसंवादी है तो उसकी प्रमाणता सुरक्षित है। यदि अर्थजन्यत्वके अभावमें स्मृति अप्रमाण होती है तो अतीत और अनागतको विषय करनेवाले अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे। जैनोंके सिवाय अन्य किसी भी वादीने स्मृतिको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। जब कि जगत्के समस्त व्यवहार स्मृतिकी प्रमाणता और अविसंवादपर ही चल रहे हैं तब वे उसे प्रमाण कहनेका साहस तो नहीं कर सकते, पर प्रमाका व्यवहार स्मृति-भिन्न ज्ञानमें करना चाहते हैं। धारणा नामक अनुभव पदार्थको 'इदम्' रूपसे जानता है, जब कि संस्कारसे होनेवाली स्मृति उसी पदार्थको 'तत्' रूपसे जानती है। अतः उसे एकान्त रूपसे गृहीतग्राहिणी भी नहीं कह सकते हैं। प्रमाणताके दो ही आधार हैं—अविसंवादी होना तथा समारोपका व्यवच्छेद करना। स्मृतिकी अविसंवादिता स्वतः सिद्ध है, अन्यथा अनुमानकी प्रवृत्ति, शब्दव्यवहार और जगत्के समस्त व्यवहार निर्मूल हो जायँगे। हाँ, जिस-जिस स्मृतिमें विसंवाद हो उसे अप्रमाण या स्मृत्याभास कहनेका मार्ग खुला हुआ है। विस्मरण, संशय और विपर्यासरूपी समारोपका निराकरण स्मृतिके द्वारा होता ही है। अतः इस अविसंवादी ज्ञानको परोक्षरूपसे प्रमाणता देनी ही होगी। अनुभवपरतन्त्र होनेके कारण वह परोक्ष तो कही जा सकती है, पर अप्रमाण नहीं; क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणताका आधार अनुभवस्वातन्त्र्य नहीं है। अनुभूत अर्थको विषय करनेके कारण भी उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अनुभूत अग्निको विषय करनेवाला अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। अतः स्मृति प्रमाण है; क्योंकि वह स्वविषयमें अविसंवादिनी है।

---

१. 'न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।
किन्त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्॥'—न्यायमं० पृ० २३।

२. प्रत्यभिज्ञान :

वर्तमान प्रत्यक्ष और अतीत स्मरणसे उत्पन्न होनेवाला संकलनज्ञान प्रत्यभिज्ञान[1] कहलाता है। यह संकलन एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक आदि अनेक प्रकारका होता है। वर्तमानका प्रत्यक्ष करके उसीके अतीतका स्मरण होनेपर 'यह वही है' इस प्रकारका जो मानसिक एकत्वसंकलन होता है, वह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। इसी तरह 'गाय सरीखा गवय होता है' इस वाक्यको सुनकर कोई व्यक्ति वनमें जाता है और सामने गाय सरीखे पशुको देखकर उस वाक्यका स्मरण करता है, और फिर मनमें निश्चय करता है कि यह गवय है। इस प्रकारका सादृश्यविषयक संकलन सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। 'गायसे विलक्षण भैंस होती है' इस प्रकारके वाक्यको सुनकर जिस बाड़ेमें गाय और भैंस दोनों मौजूद हैं, वहाँ जानेवाला मनुष्य गायसे विलक्षण पशुको देखकर उक्त वाक्यको स्मरण करता है और निश्चय करता है कि यह भैंस है। यह वैलक्षण्यविषयक संकलन वैसदृश्यप्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार अपने समीपवर्ती मकानके प्रत्यक्षके बाद दूरवर्ती पर्वतको देखनेपर पूर्वका स्मरण करके जो 'यह इससे दूर है' इस प्रकार आपेक्षिक ज्ञान होता है वह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है। 'शाखादिवाला वृक्ष होता है', 'एक सींगवाला गेंड़ा होता है', 'छह पैरवाला भ्रमर होता है' इत्यादि परिचायक-शब्दोंको सुनकर व्यक्तिको उन-उन पदार्थोंके देखनेपर और पूर्वोक्त परिचयवाक्योंको स्मरणकर जो 'यह वृक्ष है, यह गेंड़ा है' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे सब भी प्रत्यभिज्ञान ही हैं। तात्पर्य यह कि दर्शन और स्मरणको निमित्त बनाकर जितने भी एकत्वादि विषयक मानसिक संकलन होते हैं, वे सभी प्रत्यभिज्ञान हैं। ये सब अपने विषयमें अविसंवादी और समारोपके व्यवच्छेद होनेसे प्रमाण हैं।

सः और अयम्‌को दो ज्ञान माननेवाले बौद्धका खंडन :

[2]बौद्ध पदार्थको क्षणिक मानते हैं। उनके मतमें वास्तविक एकत्व नहीं है। अतः 'स एवायम्' 'यह वही है' इस प्रकारकी प्रतीतिको वे भ्रान्त ही मानते हैं,

---

१. 'दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।'—परीक्षामुख ३।५।

२. '...तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेतत्।'

—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५१।

'स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते, अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी। अनयोश्च भेदो न कथञ्चिदभेदः...'

—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७८।

और इस एकत्व-प्रतीतिका कारण सदृश अपरापरके उत्पादको कहते हैं। वे 'स एवायम्' में 'सः' अंशको स्मरण और 'अयम्' अंशको प्रत्यक्ष इस तरह दो स्वतन्त्र ज्ञान मानकर प्रत्यभिज्ञानके अस्तित्वको ही स्वीकार नहीं करना चाहते। किन्तु यह बात जब निश्चित है कि प्रत्यक्ष केवल वर्तमानको विषय करता है और स्मरण केवल अतीतको; तब इन दोनों सीमित और नियत विषयवाले ज्ञानोंके द्वारा अतीत और वर्तमान दो पर्यायोंमें रहनेवाला एकत्व कैसे जाना जा सकता है ? 'यह वही है' इस प्रकारके एकत्वका अपलाप करनेपर बद्धको ही मोक्ष, हत्यारेको ही सजा, कर्ज देने वालेको ही उसकी दी हुई रकमकी वसूली आदि सभी जगत्के व्यवहार उच्छिन्न हो जाँयगे। प्रत्यक्ष और स्मरणके बाद होनेवाले 'यह वही है' इस ज्ञान-को यदि विकल्प कोटिमें डाला जाता है तो उसे ही प्रत्यभिमान माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु यह विकल्प अविसंवादी होनेसे स्वतन्त्र प्रमाण होगा। प्रत्यभिज्ञानका लोप करनेपर अनुमानकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जिस व्यक्तिने पहले अग्नि और धूमके कार्यकारणभावका ग्रहण किया है, वही व्यक्ति जब पूर्वधूमके सदृश अन्य धुआँको देखता है, तभी गृहीत कार्यकारणभावका स्मरण होनेपर अनुमान कर पाता है। यहाँ एकत्व और सादृश्य दोनों प्रत्यभिज्ञानोंकी आवश्यकता है, क्योंकि भिन्न व्यक्तिको विलक्षण पदार्थके देखने पर अनुमान नहीं हो सकता।

बौद्ध जिस एकत्वप्रतीतिके निराकरणके लिए अनुमान करते हैं और जिस एकात्माकी प्रतीतिके हटानेको नैरात्म्यभावना भाते हैं, यदि उस प्रतीतिका अस्तित्व ही नहीं है, तो क्षणिकत्वका अनुमान किस लिए किया जाता है ? और नैरात्म्य भावनाका उपयोग ही क्या है ? 'जिस पदार्थको देखा है, उसी पदार्थको मैं प्राप्त कर रहा हूँ' इस प्रकारके एकत्वरूप अविसंवादके बिना प्रत्यक्षमें प्रमाणताका सम-र्थन कैसे किया जा सकता है ? यदि आत्मैकत्वकी प्रतीति होती ही नहीं है, तो तन्निमित्तक रागादिरूप संस्कार कहाँसे उत्पन्न होगा ? कटकर फिर ऊँगे हुए नख और केशोंमें 'ये वही नख केशादि हैं' इस प्रकारकी एकत्वप्रतीति सादृश्यमूलक होनेसे भले ही भ्रान्त हो, परन्तु 'यह वही घड़ा है' इत्यादि द्रव्यमूलक एकत्व-प्रतीतिको भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

प्रत्यभिज्ञानका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव :

मीमांसक[1] एकत्वप्रतीतिकी सत्ता मानकर भी उसे इन्द्रियोंके साथ अन्वय-

---

१. 'तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः।
विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्॥'

—मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २२७।

व्यतिरेक रखनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणमें ही अन्तर्भूत करते हैं। उनका कहना है कि स्मरणके बाद या स्मरणके पहले, जो भी ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, वह सब प्रत्यक्ष है। स्मृति अतीत अस्तित्वको जानती है, प्रत्यक्ष वर्तमान अस्तित्वको और स्मृतिसहकृत प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओंमें रहनेवाले एकत्व को जानता है। किन्तु जब यह निश्चित है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थको ही विषय करती हैं, तब स्मृतिकी सहायता लेकर भी वे अपने अविषयमें प्रवृत्ति कैसे कर सकती हैं ? पूर्व और वर्तमान दशामें रहनेवाला एकत्व इन्द्रियोंका अविषय है, अन्यथा गन्धस्मरणकी सहायतासे चक्षुको गन्ध भी सूँघ लेनी चाहिये। 'सैकड़ों सहकारी मिलनेपर भी अविषयमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यदि इन्द्रियोंसे ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है तो प्रथम प्रत्यक्ष कालमें ही उसे उत्पन्न होना चाहिये था। फिर इन्द्रियाँ अपने व्यापारमें स्मृतिकी अपेक्षा भी नहीं रखतीं।

नैयायिक[१] भी मीमांसकोंकी तरह 'स एवाऽयम्' इस प्रतीतिको एक ज्ञान मानकर भी उसे इन्द्रियजन्य ही कहते हैं और युक्ति भी वही देते हैं। किन्तु जब इन्द्रियप्रत्यक्ष अविचारक है तब स्मरणकी सहायता लेकर भी वह कैसे 'यह वही है, यह उसके समान है' इत्यादि विचार कर सकता है ? जयन्त[२] भट्टने इसीलिये यह कल्पना की है कि स्मरण और प्रत्यक्षके बाद एक स्वतन्त्र मानसज्ञान उत्पन्न होता है, जो एकत्वादिका संकलन करता है। यह उचित है, परन्तु इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही होगा। जैन इसी मानस संकलनको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह अबाधित है, अविसंवादी है और समारोपका व्यवच्छेदक है, अतएव प्रमाण है। जो प्रत्यभिज्ञान बाधित तथा विसंवादी हो, उसे प्रमाणाभास या अप्रमाण कहनेका मार्ग खुला हुआ है।

उपमान सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है :

मीमांसक सादृश्य प्रत्यभिज्ञानको उपमान नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका कहना[३] है कि जिस पुरुषने गौको देखा है, वह जब जङ्गलमें गवयको देखता है, और उसे जब पूर्वदृष्ट गौका स्मरण आता है, तब 'इसके समान है' इस प्रकारका उपमान ज्ञान पैदा होता है। यद्यपि गवयनिष्ठ सादृश्य प्रत्यक्षका विषय हो

१. देखो, न्यायवा० ता० टी० पृ० १३९। २. न्यायमञ्जरी पृ० ४६१।

३. 'प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतः सिद्धेरुपमानप्रमाणता॥'

—मी० श्लो० उपमान० श्लोक० ३८।

रहा है, और गोनिष्ठ सादृश्यका स्मरण आ रहा है, फिर भी 'इसके समान वह है' इस प्रकारका विशिष्ट ज्ञान करनेके लिये स्वतन्त्र उपमान नामक प्रमाणकी आवश्यकता है। परन्तु यदि इस प्रकारसे साधारण विषयभेदके कारण प्रमाणोंकी संख्या बढ़ाई जाती है, तो 'गौसे विलक्षण भैंस है' इस वैलक्षण्य विषयक प्रत्यभिज्ञानको तथा 'यह इससे दूर है, यह इससे पास है, यह इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है' इत्यादि आपेक्षिक ज्ञानोंको भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा। वैलक्षण्यको सादृश्याभाव कहकर अभावप्रमाणका विषय नहीं बनाया जा सकता; अन्यथा सादृश्यको भी वैलक्षण्याभावरूप होनेका तथा अभावप्रमाणके विषय होनेका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अतः एकत्व, सादृश्य, प्रातियोगिक, आपेक्षिक आदि सभी संकलनज्ञानोंको एक प्रत्यभिज्ञानकी सीमामें ही रखना चाहिए।

नैयायिकका उपमान भी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है :

इसी तरह नैयायिक[1] 'गौकी तरह गवय होता है' इस उपमान वाक्यको सुनकर जङ्गलमें गवयको देखनेवाले पुरुषको होनेवाली 'यह गवय शब्दका वाच्य है' इस प्रकारकी संज्ञा-संज्ञीसम्बन्धप्रतिपत्तिको उपमान प्रमाण मानते हैं। उन्हें भी मीमांसकोंकी तरह वैलक्षण्य, प्रातियोगिक तथा आपेक्षिक संकलनोंको तथा एतन्निमित्तक संज्ञासंज्ञीसम्बन्धप्रतिपत्तिको पृथक्-पृथक् प्रमाण मानना होगा[2]। अतः इन सब विभिन्नविषयक संकलन ज्ञानोंको एक प्रत्यभिज्ञान रूपसे प्रमाण माननेमें ही लाघव और व्यवहार्यता है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको अनुमान रूपसे प्रमाण कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अनुमान करते समय लिङ्गका सादृश्य अपेक्षित होता है। उस सादृश्यज्ञानको भी अनुमान माननेपर उस अनुमानके लिङ्गसादृश्य ज्ञानको भी फिर अनुमानत्वकी कल्पना होनेपर अनवस्था नामका दूषण आ जाता है। यदि अर्थमें सादृश्यव्यवहारको सदृशाकारमूलक माना जाता है, तो सदृशाकारोंमें सदृश व्यवहार कैसे होगा ? अन्य तद्गतसदृशाकारसे सदृशव्यवहारकी कल्पना करनेपर अनवस्था नामक दूषण आता है। अतः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको अनुमान नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष ज्ञान विशद होता है और वर्तमान अर्थको विषय करनेवाला होता है। 'स एवाऽयम्' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान चूँकि अतीतका भी संकलन करते हैं, अतः वे

---

१. 'प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।'—न्यायसू० १।१।६।

२. 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादकम्॥'—लघी० श्लो० १९।

न तो विशद हैं और न प्रत्यक्षकी सीमामें आने लायक ही। पर प्रमाण अवश्य हैं, क्योंकि अविसंवादी हैं और सम्यग्ज्ञान हैं।

३. तर्क :

व्याप्तिके ज्ञानको तर्क[1] कहते हैं। साध्य और साधनके सार्वकालिक सार्वदेशिक और सार्वव्यक्तिक अविनाभावसम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव अर्थात् साध्यके बिना साधनका न होना, साधनका साध्यके होनेपर ही होना, अभावमें बिलकुल नहीं होना, इस नियमको सर्वोपसंहार रूपसे ग्रहण करना तर्क है,। सर्वप्रथम व्यक्ति कार्य और कारणका प्रत्यक्ष करता है, और अनेक बार प्रत्यक्ष होनेपर वह उसके अन्वयसम्बन्धकी भूमिकाकी ओर झुकता है। फिर साध्यके अभावमें साधनका अभाव देखकर व्यतिरेकके निश्चयके द्वारा उस अन्वयज्ञानको निश्चयात्मकरूप देता है। जैसे किसी व्यक्तिने सर्वप्रथम रसोईघरमें अग्नि देखी तथा अग्निसे उत्पन्न होता हुआ धुआँ भी देखा, फिर किसी तालाबमें अग्निके अभावमें, धुएँका अभाव देखा, फिर रसोईघरमें अग्निसे धुआँ निकलता हुआ देखकर वह निश्चय करता है कि अग्नि कारण है और धुआँ कार्य है। यह उपलम्भ-अनुपलम्भनिमित्तक सर्वोपसंहार करनेवाला विचार तर्ककी मर्यादामें है। इसमें प्रत्यक्ष, स्मरण और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कारण होते हैं। इन सबकी पृष्ठभूमिपर 'जहाँ-जहाँ, जब-जब धूम होता है, वहाँ-वहाँ, तब-तब अग्नि अवश्य होती है', इस प्रकारका एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है, जिसे ऊह या तर्क कहते हैं। इस तर्कका क्षेत्र केवल प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य और साधन ही नहीं हैं, किन्तु अनुमान और आगमके विषयभूत प्रमेयोंमें भी अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा अविनाभावका निश्चय करना तर्कका कार्य है। इसीलिए उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्दसे साध्य और साधनका सद्भावप्रत्यक्ष और अभावप्रत्यक्ष ही नहीं लिया जाता, किन्तु साध्य और साधनका दृढ़तर सद्भावनिश्चय और अभावनिश्चय लिया जाता है। वह निश्चय चाहे प्रत्यक्षसे हो या प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणोंसे।

अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रह[2] में प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे होने वाले सम्भावनाप्रत्ययको तर्क कहा है। किन्तु प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्दसे उन्हें उक्त अभिप्राय ही इष्ट है। और सर्वप्रथम जैनदार्शनिक परम्परामें तर्कके स्वरूप और विषयको स्थिर करनेका श्रेय भी अकलंकदेव[3] को ही है।

---

१. 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।'—परीक्षामुख ३।११।

२. 'संभवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।'—प्रमाणसं० श्लो० १२।

३. लघीय० स्ववृत्ति का १०, ११।

मीमांसक तर्कको एक विचारात्मक ज्ञानव्यापार मानते हैं और उसके लिए जैमिनिसूत्र और शबर भाष्य आदिमें 'ऊह' शब्दका प्रयोग करते हैं[1]। पर उसे परिगणित प्रमाणसंख्यामें शामिल न करनेसे यह स्पष्ट है कि तर्क (ऊह) स्वयं प्रमाण न होकर किसी प्रमाणका मात्र सहायक हो सकता है। जैन परम्परामें अवग्रहके बाद होनेवाले संशयका निराकरण करके उसके एक पक्षकी प्रबल सम्भावना करानेवाला ज्ञानव्यापार 'ईहा' कहा गया है। इस ईहामें अवाय जैसा पूर्ण निश्चय तो नहीं है, पर निश्चयोन्मुखता अवश्य है। इस ईहाके पर्यायरूपमें ऊह और तर्क दोनों शब्दोंका प्रयोग तत्त्वार्थभाष्य[2]में देखा जाता है, जो कि करीब-करीब नैयायिकोंकी परम्पराके समीप है।

न्यायदर्शनमें तर्कको १६ पदार्थोंमें गिनाकर भी उसे प्रमाण नहीं कहा है। वह तत्त्वज्ञानके लिये उपयोगी है और प्रमाणोंका अनुग्राहक है। जैसा कि न्यायभाष्य[3]में स्पष्ट लिखा है कि तर्क न तो प्रमाणोंमें संगृहीत है न प्रमाणान्तर है, किन्तु प्रमाणोंका अनुग्राहक है और तत्त्वज्ञानके लिये उसका उपयोग है। वह प्रमाणके विषयका विवेचन करता है, और तत्त्वज्ञानकी भूमिका तैयार कर देता है। [4]जयन्त भट्ट तो और स्पष्ट रूपसे इसके सम्बन्धमें लिखते हैं कि सामान्यरूपसे ज्ञात पदार्थमें उत्पन्न परस्पर विरोधी दो पक्षोंमें एक पक्षको शिथिल बनाकर दूसरे पक्षकी अनुकूल कारणोंके बलपर दृढ़ सम्भावना करना तर्कका कार्य है। यह एक पक्षकी भवितव्यताको सकारण दिखाकर उस पक्षका निश्चय करनेवाले प्रमाणका अनुग्राहक होता है। तात्पर्य यह कि न्यायपरम्परामें तर्क प्रमाणोंमें संगृहीत न होकर भी अप्रमाण नहीं है। उसका उपयोग व्याप्तिनिर्णयमें होनेवाली व्यभिचार-शंकाओंको हटाकर उसके मार्गको निष्कंटक कर देना है। वह व्याप्तिज्ञानमें बाधक और अप्रयोजकत्वशंकाको भी हटाता है। इस तरह तर्कके उपयोग और कार्यक्षेत्रमें प्रायः किसीको विवाद नहीं है, पर उसे प्रमाणपद देनेमें न्यायपरंपराको संकोच है।

---

१. देखो, शाबरभा० ६।१।१।

२. 'ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।'
—तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५।

३. 'तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते।'
—न्यायभा० १।१।१।

४. 'एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् संभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्ष-शैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तान् सुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।'
—न्यायमं० पृ० ५८६।

बौद्ध[1] तर्करूप विकल्पज्ञानको व्याप्तिका ग्राहक मानते हैं, किन्तु चूँकि वह प्रत्यक्षपृष्ठभावी है और प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत अर्थको विषय करनेवाला एक विकल्प है, अतः प्रमाण नहीं है। इस तरह वे इसे स्पष्ट रूपसे अप्रमाण कहते हैं।

[2]अकलंकदेवने अपने विषयमें अविसंवादी होनेके कारण इसे स्वयं प्रमाण माना है। जो स्वयं प्रमाण नहीं है। वह प्रमाणोंका अनुग्रह कैसे कर सकता है? अप्रमाणसेन तो प्रमाणके विषयका विवेचन हो सकता है और न परिशोधन ही। जिस तर्कमें विसंवाद देखा जाय उस तर्काभासको हम अप्रमाण कह सकते हैं, पर इतने मात्रसे अविसंवादी तर्कको भी प्रमाणसे बहिर्भूत नहीं रखा जा सकता। 'संसारमें जितने भी धुआँ हैं वे सब अग्निजन्य हैं, अनग्निजन्य कभी नहीं हो सकते।' इतना लम्बा व्यापार न तो अविचारक इन्द्रियप्रत्यक्ष ही कर सकता है और न सुखादिसंवेदक मानसप्रत्यक्ष ही। इन्द्रियप्रत्यक्षका क्षेत्र नियत और वर्तमान है। चूँकि मानसप्रत्यक्ष विशद है, और उपयुक्त सर्वोपसंहारी व्याप्तिज्ञान अविशद है, अतः वह मानसप्रत्यक्षमें अन्तर्भूत नहीं हो सकता। अनुमानसे व्याप्तिका ग्रहण तो इसलिए नहीं हो सकता कि स्वयं अनुमानकी उत्पत्ति ही व्याप्तिके अधीन है। इसे सम्बन्धग्राही प्रत्यक्षका फल कहकर भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक तो प्रत्यक्ष कार्य और कारणभूत वस्तुको ही जानता है, उनके कार्यकारणसम्बन्धको नहीं। दूसरे, किसी ज्ञानका फल होना प्रमाणतामें बाधक भी नहीं है। जिस तरह विशेषणज्ञान सन्निकर्षका फल होकर भी विशेष्यज्ञानरूपी अन्य फलका जनक होनेसे प्रमाण है, उसी तरह तर्क भी अनुमानज्ञानका कारण होनेसे या हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि रूपी फलका जनक होनेसे प्रमाण माना जाना चाहिये। प्रत्येक ज्ञान अपने पूर्व ज्ञानका फल होकर भी उत्तरज्ञानकी अपेक्षा प्रमाण हो सकता है। तर्ककी प्रमाणतामें सन्देह करनेपर निस्सन्देह अनुमान कैसे उत्पन्न हो सकेगा? जिस प्रकार अनुमान एक विकल्प होकर भी प्रमाण है, उसी तरह तर्कके भी विकल्पात्मक होनेसे प्रमाण होनेमें बाधा नहीं आनी चाहिये। जिस व्याप्तिज्ञानके बलपर सुदृढ़ अनुमानकी इमारत खड़ी की जा रही है, उस व्याप्तिज्ञानको अप्रमाण कहना या प्रमाणसे बहिर्भूत रखना बुद्धिमानीकी बात नहीं है।

---

१. 'देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसाविष्यते।' —प्र० वा० मनोरथ० पृ० ७।

२. लघी० स्व० श्लो० ११, १२।

योगिप्रत्यक्षके द्वारा व्याप्तिग्रहण करनेकी बात तो इसलिए निरर्थक है कि जो योगी है, उसे व्याप्तिग्रहण करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं है। वह तो प्रत्यक्षसे ही समस्त साध्य-साधन पदार्थोंको जान लेता है। फिर योगिप्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक होनेसे अविचारक है। अतः हम सब अल्पज्ञानियोंको अविशद पर अविसंवादी व्याप्तिज्ञान करानेवाला तर्क प्रमाण ही है।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे अग्नित्वेन समस्त अग्नियोंका और धूमत्वेन समस्त धूमोंका ज्ञान तो हो सकता है, पर वह ज्ञान सामने दिखनेवाले अग्नि और धूमकी तरह स्पष्ट और प्रत्यक्ष नहीं है, और केवल समस्त अग्नियों और समस्त धूमोंका ज्ञान कर लेना ही तो व्याप्तिज्ञान नहीं है, किन्तु व्याप्तिज्ञानमें 'धुआँ अग्निसे ही उत्पन्न होता है, अग्निके अभावमें कभी नहीं होता' इस प्रकारका अविनाभावी कार्यकारणभाव गृहीत किया जाता है, जिसका ग्रहण प्रत्यक्षसे असम्भव है। अतः साध्य-साधनव्यक्तियोंका प्रत्यक्ष या किसी भी प्रमाणसे ज्ञान, स्मरण, सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान आदि सामग्रीके बाद तो सर्वोपसंहारी व्याप्तिज्ञान होता है, वह अपने विषयमें संवादक है और संशय, विपर्यय आदि समारोपोंका व्यवच्छेदक होनेसे प्रमाण है।

व्याप्तिका स्वरूप :

अविनाभावसम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं। यद्यपि सम्बन्ध द्वयनिष्ठ होता है, पर वस्तुतः वह सम्बन्धियोंकी अवस्थाविशेष ही है। सम्बन्धियोंको छोड़कर सम्बन्ध कोई पृथक् वस्तु नहीं है। उसका वर्णन या व्यवहार अवश्य दोके बिना नहीं हो सकता, पर स्वरूप प्रत्येक पदार्थकी पर्यायसे भिन्न नहीं पाया जाता। इसी तरह अविनाभाव या व्याप्ति उन-उन पदार्थोंका स्वरूप ही है, जिनमें यह बतलाया जाता है। साध्य और साधनभूत पदार्थोंका वह धर्म व्याप्ति कहलाता है, जिसके ज्ञान और स्मरणसे अनुमानकी भूमिका तैयार होती है। 'साध्यके बिना साधनका न होना और साध्यके होनेपर ही होना' ये दोनों धर्म एक प्रकारसे साधननिष्ठ ही हैं। इसी तरह 'साधनके होनेपर साध्यका होना ही' यह साध्यका धर्म है। साधनके होनेपर साध्यका होना ही अन्वय कहलाता है और साध्यके अभावमें साधनका न होना ही व्यतिरेक कहलाता है। व्याप्ति या अविनाभाव इन दोनों रूप होता है। यद्यपि अविनाभाव (बिना—साध्यके अभावमें, अ—नहीं, भाव—होना) का शब्दार्थ व्यतिरेकव्याप्ति तक ही सीमित लगता है, परन्तु साध्यके बिना नहीं होनेका अर्थ है, साध्यके होनेपर ही होना। यह अविनाभाव रूपादि गुणोंकी तरह इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। किन्तु साध्य और साधनभूत पदार्थोंके ज्ञान करनेके

बाद स्मरण, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदिकी सहायतासे जो एक मानस विकल्प होता है, वही इस अविनाभावको ग्रहण करता है । इसीका नाम तर्क है ।

४. अनुमान :

[1]साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं । लिङ्गग्रहण और व्याप्तिस्मरणके अनु—पीछे होनेवाला, मान—ज्ञान अनुमान कहलाता है । यह ज्ञान अविशद होनेसे परोक्ष है, पर अपने विषयमें अविसंवादी है और संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपोंका निराकरण करनेके कारण प्रमाण है । साधनसे साध्यका नियत ज्ञान अविनाभावके बलसे ही होता है । सर्वप्रथम साधनको देखकर पूर्व-गृहीत अविनाभावका स्मरण होता है, फिर जिस साधनसे साध्यकी व्याप्ति ग्रहण की है, उस साधनके साथ वर्तमान साधनका सादृश्यप्रत्यभिज्ञान किया जाता है; तब साध्यका अनुमान होता है । यह मानस ज्ञान है ।

लिंगपरामर्श अनुमितिका कारण नहीं :

साध्यका ज्ञान ही साध्यसम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति करनेके कारण अनुमितिमें कारण हो सकता है और वही अनुमान कहा जा सकता है, नैयायिक आदिके द्वारा माना गया लिंगपरामर्श नहीं; क्योंकि लिंगपरामर्शमें व्याप्तिका स्मरण और पक्ष-धर्मताज्ञान होता है अर्थात् 'धूम साधन अग्नि साध्यसे व्याप्त है और वह पर्वतमें है' इतना ज्ञान होता है । यह ज्ञान केवल साधन-सम्बन्धी अज्ञानको हटाता है, साध्यके अज्ञानको नहीं । अतः यह अनुमानकी सामग्री तो हो सकता है, स्वयं अनुमान नहीं । अनुमितिका अर्थ है अनुमेय-सम्बन्धी अज्ञानको हटाकर अनुमेयार्थका ज्ञान । सो इसमें साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता हैं ।

जिस प्रकार अज्ञात भी चक्षु अपनी योग्यतासे रूपज्ञान उत्पन्न कर देती है उस प्रकार साधन अज्ञात रहकर साध्यज्ञान नहीं करा सकता किन्तु उसका साधनरूपसे ज्ञान होना आवश्यक है । साधनरूपसे ज्ञानका अर्थ है—साध्यके साथ उसके अविना-भावका निश्चय ! अनिश्चित साधन मात्र अपने स्वरूप या योग्यतासे साध्यज्ञान नहीं करा सकता, अतः उसका अविनाभाव निश्चित ही होना चाहिए । यह निश्चय अनुमितिके समय अपेक्षित होता है । अज्ञायमान धूम तो अग्निका ज्ञान करा ही नहीं सकता, अन्यथा सुप्त और मूर्च्छित आदिको या जिनने आजतक धूमका ज्ञान ही नहीं किया है, उन्हें भी अग्निज्ञान हो जाना चाहिए ।

---

१. "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं···"—न्यायवि० श्लो० १६७ ।

अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे नियन्त्रित नहीं :

[1]अविनाभाव ही अनुमानकी मूल धुरा है। सहभावनियम और क्रमभाव-नियमको अविनाभाव कहते हैं। सहभावी रूप, रस आदि तथा वृक्ष और शिंशपा आदि व्याप्यव्यापकभूत पदार्थोंमें सहभावनियम होता है। नियत पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती कृत्तिकोदय और शकटोदयमें तथा कार्यकारणभूत अग्नि और धूम आदिमें क्रमभावनियम होता है। अविनाभावको केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्य-कारणभाव) से ही नियन्त्रित नहीं कर सकते। जिनमें परस्पर तादाम्य नहीं है ऐसे रूपसे रसका अनुमान होता है तथा जिनमें परस्पर कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है ऐसे कृत्तिकोदयको देखकर एक मुहूर्त बाद होने वाले शकटोदयका अनुमान किया जाता है। तात्पर्य यह कि जिनमें परस्पर तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं भी है, उन पदार्थोंमें नियत पूर्वोत्तरभाव यानी क्रमभाव होनेपर तथा नियत सहभाव होनेपर अनुमान हो सकता है। अतः अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति तक ही सीमित नहीं है।

साधन :

जिसका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित है, उसे साधन[2] कहते हैं। अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति, व्याप्ति ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं और 'अन्यथा-नुपपत्तिरूपसे निश्चित होना' यही एकमात्र साधनका लक्षण हो सकता है।

साध्य :

शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य[3] कहते हैं। जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाधित होनेके कारण सिद्ध करनेके योग्य है, वह शक्य है। वादीको इष्ट होनेसे अभिप्रेत है और संदेहादियुक्त होनेके कारण असिद्ध है, वही वस्तु साध्य होती है। बौद्ध परम्परामें[4] भी ईप्सित और इष्ट, प्रत्यक्षादि अविरुद्ध और प्रत्यक्षादि अनि-राकृत ये विशेषण अभिप्रेत और शक्यके स्थानमें प्रयुक्त हुए हैं। अप्रसिद्ध या

---

१. "सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।"—परीक्षामुख ३।१६।

२. 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।'—न्यायावतार श्लो० २२।

'साधनं प्रकृताभावोऽनुपपन्नं'—प्रमाणसं० पृ० १०२।

३. 'साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्।'—न्यायवि० श्लो० १७२।

४. 'स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।'—न्यायवि० पृ० ७९।

'न्यायमुखप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्षोऽविरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्।' —प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ५१०।

असिद्ध विशेषण तो साध्य शब्दके अर्थसे ही फलित होता है। साध्यका अर्थ है— सिद्ध करने योग्य अर्थात् असिद्ध। सिद्ध पदार्थका अनुमान व्यर्थ है। अनिष्ट तथा प्रत्यक्षादिबाधित पदार्थ साध्य नहीं हो सकते। केवल सिसाधयिषित (जिसके सिद्ध करनेकी इच्छा है) अर्थको भी साध्य नहीं कह सकते; क्योंकि भ्रमवश अनिष्ट और बाधित पदार्थ भी सिसाधयिषा (साधनेकी इच्छा) के विषय बनाये जा सकते हैं, ऐसे पदार्थ साध्याभास हैं, साध्य नहीं। असिद्ध विशेषण प्रतिवादीकी अपेक्षासे है और इष्ट विशेषण वादीकी दृष्टिसे।

[1]अनुमान प्रयोगके समय कहीं धर्म और कहीं धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। परन्तु व्याप्तिनिश्चयकालमें केवल धर्म ही साध्य होता है।

अनुमानके भेद :

इसके दो भेद हैं—एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान। स्वयं निश्चित साधनके द्वारा होनेवाले साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं, और अविनाभावी साध्यसाधनके वचनोंसे श्रोताको उत्पन्न होनेवाला साध्यज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। यह परार्थानुमान उसी श्रोताको होता है, जिसने पहले व्याप्ति ग्रहण कर ली है। [2] वचनोंको परार्थानुमान तो इसलिए कह दिया जाता है कि वे वचन पर-बोधनको तैयार हुए वक्ताके ज्ञानके कार्य हैं और श्रोताके ज्ञानके कारण हैं, अतः कारणमें कार्यका और कार्यमें कारणका उपचार कर लिया जाता है। इसी उप-चारसे वचन भी परार्थानुमानरूपसे व्यवहारमें आते हैं। वस्तुतः परार्थानुमान ज्ञानरूप ही है। वक्ताका ज्ञान भी जब श्रोताको समझानेके उन्मुख होता है तो उस कालमें वह परार्थानुमान हो जाता है।

स्वार्थानुमानके अंग :

अनुमानका यह स्वार्थ और परार्थ विभाग वैदिक, जैन और बौद्ध सभी परम्प-राओंमें पाया जाता है। किन्तु प्रत्यक्षका भी स्वार्थ और परार्थरूपमें विभाजन केवल आ० सिद्धसेनके न्यायावतार (श्लो० ११, १२) में ही है।

स्वार्थानुमानके तीन अंग है—धर्मी, साध्य और साधन। साधन गमक होनेसे, साध्य गम्य होनेसे और धर्मी साध्य और साधनभूत धर्मोंका आधार होनेसे अंग है। विशेष आधारमें साध्यकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। केवल साध्य धर्मका निश्चय तो व्याप्तिके ग्रहणके समय ही हो जाता है। इसके पक्ष और हेतु ये दो

१. देखो, परीक्षामुख ३।२०–२७।

२. 'तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।' –परीक्षामुख ३।५१।

अंग भी माने जाते हैं । यहाँ 'पक्ष' शब्दसे साध्यधर्म और धर्मीका समुदाय विवक्षित है, क्योंकि साध्यधर्मविशिष्ट धर्मीको ही पक्ष कहते हैं । यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है, और ज्ञानमें ये सब विभाग नहीं किये जा सकते; फिर भी उसका शब्दसे उल्लेख तो करना ही पड़ता है । जैसे कि घटप्रत्यक्षका 'यह घड़ा है' इस शब्दके द्वारा उल्लेख होता है, उसी तरह 'यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे' इन शब्दोंके द्वारा स्वार्थानुमानका प्रतिपादन होता है ।

धर्मीका स्वरूप :

धर्मी[1] प्रसिद्ध होता है । उसकी प्रसिद्धि कहीं प्रमाणसे; कहीं विकल्पसे और कहीं प्रमाण और विकल्प दोनोंसे होती है । प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे जो धर्मी सिद्ध होता है, वह प्रमाणसिद्ध है, जैसे पर्वतादि । जिसकी प्रमाणता या अप्रमाणता निश्चित न हो ऐसी प्रतीतिमात्रसे जो धर्मी सिद्ध हो उसे विकल्पसिद्ध कहते हैं, जैसे 'सर्वज्ञ है, या खरविषाण नहीं हैं ।' यहाँ अस्तित्व और नास्तित्वकी सिद्धिके पहले सर्वज्ञ और खरविषाणको प्रमाणसिद्ध नहीं कह सकते । वे तो मात्र प्रतीति या विकल्पसे ही सिद्ध होकर धर्मी बने हैं । इस[2] विकल्पसिद्ध धर्मीमें केवल सत्ता और असत्ता ही साध्य हो सकती हैं, क्योंकि जिनकी सत्ता और असत्तामें विवाद है, अर्थात् अभी तक जिनकी सत्ता या असत्ता प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकी है, वे ही धर्मी विकल्पसिद्ध होते हैं । प्रमाण और विकल्प दोनोंसे प्रसिद्ध धर्मी उभयसिद्ध-धर्मी कहलाता है, जैसे 'शब्द अनित्य है', यहाँ वर्तमान शब्द तो प्रत्यक्षगम्य होनेसे प्रमाणसिद्ध है, किन्तु भूत और भविष्यत तथा देशान्तरवर्ती शब्द विकल्प या प्रतीतिसे सिद्ध हैं और संपूर्ण शब्दमात्रको धर्मी बनाया है, अतः यह उभयसिद्ध है ।

[3]प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीमें इच्छानुसार कोई भी धर्म साध्य बनाया जा सकता है । विकल्पसिद्ध धर्मीको प्रतीतिसिद्ध, बुद्धिसिद्ध और प्रत्ययसिद्ध भी कहते हैं ।

परार्थानुमान :

परोपदेशसे होनेवाला साधनसे साध्यका ज्ञान[4]परार्थानुमान है । जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे या धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता' इस

---

१. 'प्रसिद्धो धर्मी ।'—परीक्षामुख ३।२२ ।

२. देखो, परीक्षामुख ३।२३ ।

३. परीक्षामुख ३।२५ ।

४. 'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।'—परीक्षामुख ३।५० ।

वाक्यको सुनकर जिस श्रोताने अग्नि और धूमकी व्याप्ति ग्रहण की है, उसे व्याप्तिका स्मरण होनेपर जो अग्निज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है। परोपदेशरूप वचनोंको तो परार्थानुमान उपचारसे ही कहते हैं, क्योंकि वचन अचेतन हैं, वे ज्ञानरूप मुख्य प्रमाण नहीं हो सकते।

परार्थानुमानके दो अवयव :

इस परार्थानुमानके प्रयोजक वाक्यके दो अवयव होते हैं—एक प्रतिज्ञा और दूसरा हेतु। धर्म और धर्मीके समुदायरूप पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहते हैं, जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है।' साध्यसे अविनाभाव रखनेवाले साधनके वचनको हेतु कहते हैं, जैसे 'धूमवाला होनेसे, या धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता'। हेतुके इन दो [1]प्रयोगोंमें कोई अन्तर नहीं है। पहला कथन विधिरूपसे है और दूसरा निषेध रूपसे। 'अग्निके होनेपर ही धूम होता है' इसका ही अर्थ है कि 'अग्निके अभावमें नहीं होता।' दोनों प्रयोगोंमें अविनाभावी साधनका कथन है। अतः इनमेंसे किसी एकका ही प्रयोग करना चाहिये।

पक्ष और प्रतिज्ञा तथा साधन और हेतुमें वाच्य और वाचकका भेद है। पक्ष और साधन वाच्य हैं तथा प्रतिज्ञा और हेतु उनके वाचक शब्द। व्युत्पन्न श्रोताको प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशसे परार्थानुमान उत्पन्न होता है।

अवयवोंकी अन्य मान्यताएँ :

परार्थानुमानके प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव हैं। परार्थानुमानके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद हैं। नैयायिक [2]प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव मानते हैं। न्यायभाष्यमें (१।१।३२) जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास इन पाँच अवयवोंका और भी अतिरिक्त कथन मिलता है। दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा० १३७) में प्रकरणविभक्ति, हेतुविभक्ति आदि अन्य ही दस अवयवोंका उल्लेख है। पाँच अवयववाले वाक्यका प्रयोग इस प्रकार होता है—'पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे, जो-जो धूमवाला है वह-वह अग्निवाला होता है जैसे कि महानस, उसी तरह पर्वत भी धूमवाला है, इसलिये अग्निवाला है।' सांख्य उपनय और निगमनके प्रयोगको आवश्यक नहीं मानते[3]।

---

१. 'हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति॥'

—न्यायावतार श्लो० १७।

२. 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।' —न्यायसू० १।१।३२।

३. देखो सांख्यका० माठर वृ० पृ० ५।

मीमांसकोंका भी यही अभिप्राय है। मीमांसकोंकी उपनय पर्यन्त चार अवयव माननेकी परम्पराका उल्लेख भी जैनग्रन्थोंमें पूर्वपक्षरूपसे मिलता है[1]। न्यायप्रवेश (पृ० १, २) में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीनका अवयव रूपसे उल्लेख मिलता है।

पक्षप्रयोगकी आवश्यकता :

पक्षके प्रयोगको धर्मकीर्तिने असाधनाङ्गवचन कहकर निग्रहस्थानमें शामिल किया हैं।[2] इनका कहना है कि हेतुके पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये तीन रूप हैं। अनुमानके प्रयोगके लिये हमें हेतुके इस त्रैरूप्यका कथन करना ही पर्याप्त है और त्रिरूप हेतु ही साध्यसिद्धिके लिये आवश्यक है। 'जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे घड़ा, चूँकि सभी पदार्थ सत् हैं' यह हेतुका प्रयोग बौद्धके मतसे होता है। इसमें हेतुके साथ साध्यकी व्याप्ति दिखाकर पीछे उसकी पक्षधर्मता (पक्षमें रहना) बताई गई है। दूसरा प्रकार यह भी है कि 'सभी पदार्थ सत् हैं, जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे घड़ा' इस प्रयोगमें पहले पक्षधर्मत्व दिखाकर पीछे व्याप्ति दिखाई गई है। तात्पर्य यह कि बौद्ध अपने हेतुके प्रयोगमें ही दृष्टान्त और उपनयको शामिल कर लेते हैं। वे हेतु, दृष्टान्त और उपनय इन तीन अवयवोंको प्रकारान्तरसे मान लेते हैं। [3]जहाँ वे केवल हेतुके प्रयोगकी बात करते हैं वहाँ हेतुप्रयोगके पेटमें दृष्टान्त और उपनय पड़े ही हुए हैं। पक्षप्रयोग और निगमनको वे किसी भी तरह नहीं मानते; क्योंकि पक्षप्रयोग निरर्थक है और निगमन पिष्टपेषण है।

जैन तार्किकों[4]का कहना है कि शिष्योंको समझानेके लिये शास्त्रपद्धतिमें आप योग्यताभेदसे दो, तीन, चार और पाँच या इससे भी अधिक अवयव मान सकते हैं, पर वादकथामें, जहाँ विद्वानोंका ही अधिकार है, प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कार्यकारी हैं। प्रतिज्ञाका प्रयोग किये बिना साध्यधर्मके आधारमें सन्देह बना रह सकता है। बिना प्रतिज्ञाके किसकी सिद्धिके लिये हेतु दिया जाता है? फिर पक्षधर्मत्वप्रदर्शनके द्वारा प्रतिज्ञाको मान करके भी बौद्धका उससे इनकार करना अतिबुद्धिमत्ता है।

---

१. प्रमेयरत्नमाला ३।३७।

२. वादन्याय पृ० ६१।

३. 'विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।'—प्रमाणवा० १-२८।

४. 'बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात्।'

—परीक्षामुख ३-४१।

जब बौद्धका यह कहना है कि 'समर्थनके बिना हेतु निरर्थक है'; तब अच्छा तो यही है कि समर्थनको ही अनुमानका अवयव माना जाय, हेतु तो समर्थनके कहनेसे स्वतः गम्य हो जायेगा। 'हेतुके बिना कहे किसका समर्थन ?' यह समाधान पक्षप्रयोगमें भी लागू होता है, 'पक्षके बिना किसकी सिद्धिके लिये हेतु ?' या 'पक्षके बिना हेतु रहेगा कहाँ ?' अतः प्रस्ताव आदिके द्वारा पक्ष भले ही गम्यमान हो, पर वादीको वादकथामें अपना पक्ष-स्थापन करना ही होगा, अन्यथा पक्ष-प्रतिपक्षका विभाग कैसे किया जायेगा ? यदि हेतुको कहकर आप समर्थनकी सार्थकता मानते हैं; तो पक्षको कहकर ही हेतुप्रयोगको न्याय्य मानना चाहिये। अतः जब [1]साधनवचनरूप हेतु और पक्षवचनरूप प्रतिज्ञा इन दो अवयवोंसे ही परिपूर्ण अर्थका बोध हो जाता है तब अन्य दृष्टान्त, उपनय और निगमन वादकथामें व्यर्थ हैं।

उदाहरणकी व्यर्थता :

[2]उदाहरण साध्यप्रतिपत्तिमें कारण तो इसलिये नहीं है कि अविनाभावी साधनसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। विपक्षमें बाधक प्रमाण मिल जानेसे व्याप्तिका निश्चय भी हो जाता है; अतः व्याप्तिनिश्चयके लिये भी उसकी उपयोगिता नहीं है। फिर दृष्टान्त किसी खास व्यक्तिका होता है और व्याप्ति होती है सामान्य-रूप। अतः यदि उस दृष्टान्तमें विवाद उत्पन्न हो जाय तो अन्य दृष्टान्त उपस्थित करना होगा, और इस तरह अनवस्था दूषण आता है। यदि केवल दृष्टान्तका कथन कर दिया जाय तो साध्यधर्मीमें साध्य और साधन दोनोंके सद्भावमें शंका उत्पन्न हो जाती है। अन्यथा उपनय और निगमनका प्रयोग क्यों किया जाता है ? व्याप्तिस्मरणके लिए भी उदाहरणकी सार्थकता नहीं है; क्योंकि अविनाभावी हेतुके प्रयोगमात्रसे ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है। सबसे खास बात तो यह है कि विभिन्न मतवादी तत्त्वका स्वरूप विभिन्नरूपसे स्वीकार करते हैं। बौद्ध घड़ेको क्षणिक कहते हैं, जैन कथञ्चित् क्षणिक और नैयायिक अवयवीको अनित्य और परमाणुओंको नित्य। ऐसी दशामें किसी सर्वसम्मत दृष्टान्तका मिलना कठिन है। अतः जैन तार्किकोंने इसके झगड़ेको ही हटा दिया है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण करना अनिवार्य भी नहीं है; क्योंकि जब समस्त वस्तुओंको पक्ष बना लिया जाता है तब किसी दृष्टान्तका मिलना असम्भव हो जाता है। अन्ततः पक्षमें ही साध्य और साधनकी व्याप्ति विपक्षमें बाधक प्रमाण देखकर सिद्ध कर ली जाती है। इसलिए भी दृष्टान्त निरर्थक हो जाता है और वादकथामें

---

१. परीक्षामुख ३।३२।

२. परीक्षामुख ३।३३–४०।

अव्यवहार्य भी। हाँ, बालकोंकी व्युत्पत्तिके लिए उसकी उपयोगितासे कोई इनकार नहीं कर सकता।

उपनय और निगमन तो केवल उपसंहार-वाक्य हैं, जिनकी अपनेमें कोई उपयोगिता नहीं है। धर्मीमें हेतु और साध्यके कथन मात्रसे ही उनकी सत्ता सिद्ध है। उनमें कोई संशय नहीं रहता।

वादिदेवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ५४८) ने विशिष्ट अधिकारीके लिये बौद्धोंकी तरह केवल एक हेतुके प्रयोग करनेकी भी सम्मति प्रकट की है। परन्तु बौद्ध तो त्रिरूप हेतुके समर्थनमें पक्षधर्मत्वके बहाने प्रतिज्ञाके प्रतिपाद्य अर्थको कह जाते हैं, पर जैन तो त्रैरूप्य नहीं मानते, वे तो केवल अविनाभावको ही हेतुका स्वरूप मानते हैं, तब वे केवल हेतुका प्रयोग करके कैसे प्रतिज्ञाको गम्य बता सकेंगे? अतः अनुमानप्रयोगकी समग्रताके लिए अविनाभावी हेतुवादी जैनको प्रतिज्ञा अपने शब्दोंसे कहनी ही चाहिए, अन्यथा साध्यधर्मके आधारका सन्देह कैसे हटेगा? अतः जैनके मतसे सीधा अनुमानवाक्य इस प्रकारका होता है—'पर्वत अग्नि वाला है, धूमवाला होनेसे' 'सब अनेकान्तात्मक हैं, क्योंकि सत् हैं।'

पक्षमें हेतुका उपसंहार उपनय है और हेतुपूर्वक पक्षका वचन निगमन है। ये दोनों अवयव स्वतन्त्रभावसे किसीकी सिद्धि नहीं करते। अतः लाघव, आवश्यकता और उपयोगिता सभी प्रकारसे प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनों अवयवोंकी ही परार्थानुमानमें सार्थकता है। वादाधिकारी विद्वान् इनके प्रयोगसे ही उदाहरण आदिसे समझाये जानेवाले अर्थको स्वतः ही समझ सकते हैं।

हेतुके स्वरूपकी मीमांसा :

हेतुका स्वरूप भी विभिन्न वादियोंने अनेक प्रकारसे माना है। नैयायिक[1] पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इस प्रकार पंचरूपवाला हेतु मानते हैं। हेतुका पक्षमें रहना, समस्त सपक्षोंमें या किसी एक सपक्षमें रहना, किसी भी विपक्षमें नहीं पाया जाना, प्रत्यक्षादिसे साध्यका बाधित नहीं होना और तुल्यबलवाले किसी प्रतिपक्षी हेतुका नहीं होना ये पाँच बातें प्रत्येक सद्धेतुके लिए नितान्त आवश्यक हैं। इसका समर्थन उद्योतकरके न्यायवार्तिक (१।१।५) में देखा जाता है। प्रशस्तपादभाष्य[2]में हेतुके त्रैरूप्यका ही निर्देश है।

---

१. न्यायवा० ता० टी० १।१।५।

२. प्रश० कन्दली पृ० २००।

त्रैरूप्यवादी बौद्ध त्रैरूप्यको स्वीकार करके अबाधितविषयत्वको पक्षके लक्षणसे ही अनुगत कर लेते हैं; क्योंकि पक्षके लक्षणमें 'प्रत्यक्षाद्यनिराकृत' पद दिया गया है। अपने साध्यके साथ निश्चित त्रैरूप्यवाले हेतुमें समबलवाले किसी प्रतिपक्षी हेतुकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती, अतः असत्प्रतिपक्षत्व अनावश्यक हो जाता है। इस तरह वे तीन रूपोंको हेतुका अत्यन्त आवश्यक स्वरूप मानते हैं और इसी त्रिरूप हेतुको साधनाङ्ग कहते हैं और इनकी न्यूनताको असाधनाङ्ग वचन कहकर निग्रहस्थानमें शामिल करते हैं। पक्षधर्मत्व असिद्धत्व दोषका परिहार करनेके लिये है, अपक्षसत्त्व विरुद्धत्वका निराकरण करनेके लिए तथा विपक्षव्यावृत्ति अनैकान्तिक दोषकी व्यावृत्तिके लिए है[1]।

जैन दार्शनिकोंने प्रथमसे ही अन्यथानुपपत्ति या अविनाभावको ही हेतुके प्राणरूपसे पकड़ा है। सपक्षसत्त्व इसलिए आवश्यक नहीं है कि एक तो समस्त पक्षोंमें हेतुका होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे सपक्षमें रहने या न रहनेसे हेतुतामें कोई अन्तर नहीं आता। केवलव्यतिरेकी हेतु सपक्षमें नहीं रहता, फिर भी सद्धेतु है। 'हेतुका साध्यके अभावमें नहीं ही पाया जाना' यह अन्यथानुपपत्ति, अन्य सब रूपोंकी व्यर्थता सिद्ध कर देती है। पक्षधर्मत्व भी आवश्यक नहीं है; क्योंकि अनेक हेतु ऐसे हैं जो पक्षमें नहीं पाये जाते, फिर भी अपने अविनाभावी साध्यका ज्ञान कराते हैं। जैसे 'रोहिणी नक्षत्र एक मुहूर्तके बाद उदित होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है।' यहाँ कृत्तिकाके उदय और एक मुहूर्त बाद होनेवाले शकटोदय (रोहिणीके उदय) में अविनाभाव है, वह अवश्य ही होगा; परन्तु कृत्तिकाका उदय रोहिणी नामक पक्षमें नहीं पाया जाता। अतः पक्षधर्मत्व ऐसा रूप नहीं है जो हेतुकी हेतुताके लिये अनिवार्य हो। [2]काल और आकाशको पक्ष बनाकर कृत्तिका और रोहिणीका सम्बन्ध बैठाना तो बुद्धिका अतिप्रसंग[3] है। अतः केवल नियमवाली विपक्षव्यावृत्ति ही हेतुकी आत्मा है, इसके अभावमें वह हेतु ही नहीं रह सकता। सपक्षसत्त्व तो इसलिये माना जाता है कि हेतुका अविनाभाव किसी दृष्टान्तमें ग्रहण करना चाहिये या दिखाना चाहिए। परन्तु हेतु बहिर्व्याप्ति (दृष्टान्तमें साध्यसाधनकी व्याप्ति) के बलपर गमक नहीं होता। वह तो अन्तर्व्याप्ति (पक्षमें साध्यसाधनकी व्याप्ति) से ही सद्धेतु बनता है।

---

१. हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥'—प्रमाणवा० ३।१४।

२. देखो, प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१।

३. प्रमाणसं० पृ० १०४।

जिसका अविनाभाव निश्चित है उसके साध्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधा ही नहीं आ सकती। फिर बाधित तो साध्य ही नहीं हो सकता; क्योंकि साध्यके लक्षणमें 'अबाधित' पद पड़ा हुआ है। जो बाधित होगा वह साध्याभास होकर अनुमानको आगे बढ़ने ही न देगा।

इसी तरह जिस हेतुका अपने साध्यके साथ समग्र अविनाभाव है, उसका तुल्यबलशाली प्रतिपक्षी प्रतिहेतु सम्भव ही नहीं है, जिसके वारण करनेके लिए असत्प्रतिपक्षत्वको हेतुका स्वरूप माना जाय। निश्चित अविनाभाव न होनेसे 'गर्भमें आया हुआ मित्राका पुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मित्राका पुत्र है जैसे कि उसके अन्य श्याम पुत्र' इस अनुमानमें त्रिरूपता होनेपर भी सत्यता नहीं है। मित्रापुत्रत्व हेतु गर्भस्थ पुत्रमें है, अतः पक्षधर्मत्व मिल गया, सपक्षभूत अन्य पुत्रोंमें पाया जाता है, अतः सपक्षसत्त्व भी सिद्ध है, विपक्षभूत गोरे चैत्रके पुत्रोंसे वह व्यावृत्त है, अतः सामान्यतया विपक्षव्यावृत्ति भी है। मित्रापुत्रके श्यामत्वमें कोई बाधा नहीं है और समान बलवाला कोई प्रतिपक्षी हेतु नहीं है। इस तरह इस मित्रापुत्रत्व हेतुमें त्रैरूप और पांचरूप्य होनेपर भी सत्यता नहीं है; क्योंकि मित्रापुत्रत्वका श्यामत्वके साथ कोई अविनाभाव नहीं है। अविनाभाव इसलिए नहीं है कि उसका श्यामत्वके साथ सहभाव या क्रमभाव नियम सहीं है। श्यामत्व-का कारण है उसके उत्पादक नामकर्मका उदय और मित्राका गर्भ अवस्थामें हरी पत्रशाक आदिका खाना। अतः जब मित्रापुत्रत्वका श्यामत्वके साथ किसी निमित्तक अविनाभाव नहीं है और विपक्षभूत गौरत्वकी भी वहाँ सम्भावना की जा सकती है, तब वह सच्चा हेतु नहीं हो सकता, परन्तु त्रैरूप्य और पाँचरूप्य उसमें अवश्य पाये जाते हैं। कृत्तिकोदय आदिमें त्रैरूप्य और पाँचरूप्य न होनेपर भी अविनाभाव होनेके कारण सद्धेतुता है। अतः अविनाभाव ही एक मात्र हेतुका स्वरूप हो सकता है, त्रैरूप्य आदि नहीं। इस आशयका एक प्राचीन श्लोक मिलता है, जिसे अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय (श्लो० ३२३) में शामिल किया है। तत्त्वसंग्रहपंजिकाके अनुसार यह श्लोक पात्रस्वामीका है।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?"

अर्थात् जहाँ अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव है वहाँ त्रैरूप्य माननेसे कोई लाभ नहीं और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रैरूप्य मानना भी व्यर्थ है।

आचार्य विद्यानन्दने इसीकी छायासे पंचरूपका खंडन करनेवाला निम्नलिखित श्लोक रचा है—

[1]"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥"

—प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ ७२ ।

अर्थात् जहाँ (कृत्तिकोदय आदि हेतुओंमें) अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव है वहाँ पञ्चरूप न भी हों तो भी कोई हानि नहीं है, उनके माननेसे क्या लाभ ? और जहाँ (मित्रातनयत्व आदि हेतुओंमें) पञ्चरूप हैं और अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है, वहाँ पञ्चरूप माननेसे क्या ? वे व्यर्थ हैं ।

हेतुबिन्दुटीकामें[2] इन पाँच रूपोंके अतिरिक्त छठवें 'ज्ञातत्व' स्वरूपको माननेवाले मतका उल्लेख पाया जाता है । यह उल्लेख सामान्यतया नैयायिक और मीमांसकका नाम लेकर किया गया है । पाँच रूपोंमें असत्प्रतिपक्षत्वका विवक्षितैकसंख्यत्व शब्दसे निर्देश है । असत्प्रतिपक्ष अर्थात् जिसका कोई प्रतिपक्षी हेतु विद्यमान न हो, जो अप्रतिद्वन्द्वी हो और विवक्षितैक संख्यत्वका भी यही अर्थ है कि जिसकी एक संख्या हो अर्थात् जो अकेला हो, जिसका कोई प्रतिपक्षी न हो । षड्लक्षण हेतुमें ज्ञातत्वरूपके पृथक् कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लिंग अज्ञात होकर साध्यका ज्ञान करा ही नहीं सकता । वह न केवल ज्ञात ही हो, किन्तु उसे अपने साध्यके साथ अविनाभावीरूपमें निश्चित भी होना चाहिये । तात्पर्य यह कि एक अविनाभावके होनेपर शेष रूप या तो निरर्थक हैं या उस अविनाभावके विस्तार मात्र हैं । बाधा[3] और अविनाभावका विरोध है । यदि हेतु अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखता है, तो बाधा कैसी ? और यदि बाधा है, तो अविनाभाव कैसा ? इनमें केवल एक 'विपक्षव्यावृत्ति' रूप ही ऐसा है, जो हेतुका असाधारण लक्षण हो सकता है । इसीका नाम अविनाभाव है ।

नैयायिक अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इस तरह तीन प्रकारके हेतु मानते हैं । 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है' इस अनुमानमें कृतकत्व हेतु सपक्षभूत अनित्य घटमें पाया जाता है और आकाश आदि नित्य विपक्षोंसे व्यावृत्त रहता है और पक्षमें इसका रहना निश्चित है, अतः यह अन्वयव्यतिरेकी है । इसमें पञ्चरूपता विद्यमान है । 'अदृष्ट आदि किसीके प्रत्यक्ष हैं,

१. 'अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते ।' —तत्त्वसं० पं० श्लो० १३६४ ।

२. 'षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते…तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरम्—एका संख्या यस्य हेतुद्रव्यस्य तदेकसंख्यं…यद्येकसंख्यावच्छिन्नायां प्रतिहेतुरहितायां…तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वम् ।' —हेतुबि० टी० पृ० २०६ ।

३. 'बाधाविनाभावयोर्विरोधात् ।'—हेतुबि० परि० ४ ।

क्योंकि वे अनुमेय हैं' यहाँ अनुमेयत्व हेतु पक्षभूत अदृष्टादिमें पाया जाता है, सपक्ष घटमें भी इसकी वृत्ति है, इसलिए पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व तो है, पर विपक्ष-व्यावृत्ति नहीं है; क्योंकि जगत्के समस्त पदार्थ पक्ष और सपक्षके अन्तर्गत आ गये हैं। जब कोई विपक्ष है ही नहीं तब व्यावृत्ति किससे हो ? इस केवलान्वयी हेतुमें विपक्षव्यावृत्तिके सिवाय अन्य चार रूप पाये जाते हैं। 'जीवित शरीर आत्मासे युक्त है, क्योंकि उसमें प्राणादिमत्त्व—श्वासोच्छ्वास आदि पाये जाते हैं', यहाँ जीवित शरीर पक्ष है, सात्मकत्व साध्य है और प्राणादिमत्त्व हेतु है। यह पक्षभूत जीवित शरीरमें पाया जाता है और विपक्षभूत पत्थर आदिसे व्यावृत्त है, अतः इसमें पक्ष-धर्मत्व और विपक्षव्यावृत्ति तो पाई जाती है; किन्तु सपक्षसत्त्व नहीं है, क्योंकि जगत्के समस्त चेतन पदार्थोंका पक्षमें और अचेतन पदार्थोंका विपक्षमें अन्तर्भाव हो गया है, सपक्ष कोई बचता ही नहीं है। इस केवलव्यतिरेकी हेतुमें सपक्षसत्त्वके सिवाय अन्य चार रूप पाये जाते हैं। स्वयं नैयायिकों[1] ने केवलान्वयी और केवल-व्यतिरेकी हेतुओंमें चार-चार रूप स्वीकार करके चतुर्लक्षणको भी सद्हेतु माना है। इस तरह पञ्चरूपता इन हेतुओंमें अपने आप अव्याप्त सिद्ध हो जाती है।

केवल एक अविनाभाव ही ऐसा है, जो समस्त सद्हेतुओंमें अनुपचरितरूपसे पाया जाता है और किसी भी हेत्वाभासमें इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इसलिये जैनदर्शनने हेतुको 'अन्यथानुपपत्ति' या 'अविनाभाव' रूपसे एकलक्षणवाला[2] ही माना है।

हेतुके प्रकार :

वैशेषिक सूत्रमें एक जगह (९।२।१) कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी इन पाँच प्रकारके लिंगोंका निर्देश है। अन्यत्र (३–११–२३) अभूत-भूतका, भूत-अभूतका और भूत-भूतका इस प्रकार तीन हेतुओंका वर्णन है। बौद्ध[3] स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि इस तरह तीन प्रकारके हेतु मानते हैं। कार्यहेतुका

---

१. 'यद्यप्यविनाभावः पञ्चसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यते।'

—न्यायवा० ता० टी० पृ० १७८।

"केवलान्वयसाधको हेतुः केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितासत्प्रति-पक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पञ्च। केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण चत्वारि।"

—वैशे० उप० पृ० ९७।

२. 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्।'—त० श्लो० १।१३।१२१।

३. न्यायबिन्दु २।१२।

अपने साध्यके साथ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है, स्वभावहेतुका तादात्म्य होता है और अनुपलब्धियोंमें भी तादात्म्यसम्बन्ध ही विवक्षित है। जैन तार्किकपरम्परामें अविनाभावको केवल तादात्म्य और तदुत्पत्तिमें ही नहीं बाँधा है, किन्तु उसका व्यापक क्षेत्र निश्चित किया है। अविनाभाव, सहभाव और क्रमभावमूलक होता है। सहभाव तादात्म्यप्रयुक्त भी हो सकता है और तादात्म्यके बिना भी। जैसे कि तराजूके एक पलड़ेका ऊपरको जाना और दूसरेका नीचेकी तरफ झुकना, इन दोनों में तादात्म्य न होकर भी सहभाव है। क्रमभाव कार्य-कारणभावमूलक भी होता है और कार्यकारणभावके बिना भी। जैसे कि कृत्तिकोदय और उसके एक मुहूर्तके बाद उदित होनेवाले शकटोदयमें परस्पर कार्यकारणभाव न होने पर भी नियत क्रमभाव है।

अविनाभावके इसी व्यापक स्वरूपको आधार बनाकर जैन परम्परामें हेतुके स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये भेद किये हैं[1]। हेतुके सामान्यतया दो भेद भी होते हैं[2]—एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। उपलब्धि, विधि और प्रतिषेध दोनोंको सिद्ध करती है। इसी तरह अनुपलब्धि भी। बौद्ध[3] कार्य और स्वभाव हेतुको केवल विधिसाधक और अनुपलब्धि हेतुको मात्र प्रतिषेधसाधक मानते हैं, किन्तु आगे दिये जानेवाले उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जायगा कि अनुपलब्धि और उपलब्धि दोनों ही हेतु विधि और प्रतिषेध दोनोंके साधक हैं। वैशेषिक संयोग और समवायको स्वतन्त्र मानते हैं, अतः एतन्निमित्तक संयोगी और समवायी ये दो हेतु उन्होंने स्वतन्त्र माने हैं; परन्तु इस प्रकारके भेद सहभावमूलक अविनाभावमें संगृहीत हो जाते हैं। वे या तो सहचर-हेतुमें या स्वभावहेतुमें अन्तर्भूत हो जाते हैं।

कारणहेतुका समर्थन :

बौद्ध कारणहेतुको स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है[४] कि 'कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करे' ऐसा नियम नहीं है। जो अन्तिम क्षणप्राप्त कारण नियमसे कार्यका उत्पादक है, उसके दूसरे क्षणमें ही कार्यका प्रत्यक्ष हो जाने वाला है, अतः उसका अनुमान निरर्थक है। किन्तु अँधेरेमें किसी फलके रसको चखकर तत्समानकालीन रूपका अनुमान कारणसे कार्यका अनुमान ही तो है[४], क्योंकि

१. परीक्षामुख ३।५४। ३. परीक्षामुख ३.५२।
२. 'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एकः प्रतिषेधहेतुः।' —न्यायवि० २।१९।
३. 'न च कारणानि अवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति।'—न्यायवि० २।४९।
४. 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।'—परीक्षामुख ३।५५।

वर्तमान रसको पूर्व रस उपादानभावसे तथा पूर्वरूप निमित्तभावसे उत्पन्न करता है और पूर्वरूप अपने उत्तररूपको पैदा करके ही रसमें निमित्त बनता है। अतः रसको चखकर उसकी एकसामग्रीका अनुमान होता है। फिर एकसामग्रीके अनुमानसे जो उत्तर रूपका अनुमान किया जाता है वह कारणसे कार्यका ही अनुमान है। इसे स्वभावहेतुमें अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। कारणसे कार्यके अनुमानमें दो शर्तें आवश्यक हैं। एक तो उस कारणकी शक्तिका किसी प्रतिबन्धकसे प्रतिरोध न हो और दूसरे सामग्रीकी विकलता न हो। इन दो बातोंका निश्चय होने पर ही कारण कार्यका अव्यभिचारी अनुमान करा सकता है। जहाँ इनका निश्चय न हो, वहाँ न सही; पर जिस कारणके सम्बन्धमें इनका निश्चय करना शक्य है, उस कारणको हेतु स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर हेतु :

इसी तरह [1]पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओंमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है और न तदुत्पत्ति ही; क्योंकि कालका व्यवधान रहने पर इन दोनों सम्बन्धोंकी सम्भावना नहीं है। अतः इन्हें भी पृथक् हेतु स्वीकार करना चाहिये। आज हुए अपशकुनको कालान्तरमें होनेवाले मरणका कार्य मानना तथा अतीत जागृत अवस्थाके ज्ञानको प्रबोधकालीन ज्ञानके प्रति कारण मानना उचित नहीं है; क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति कारणके व्यापारके अधीन होती है। जो कारण अतीत और अनुत्पन्न होनेके कारण स्वयं असत् हैं, अत एव व्यापारशून्य हैं; उनसे कार्योत्पत्तिकी सम्भावना कैसे की जा सकती है ?

इसी तरह[2] सहचारी पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं, अतः वे परस्पर कार्य-कारणभूत नहीं कहे जा सकते और एक अपनी स्थितिमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता, अतः उनमें परस्पर तादात्म्य भी नहीं माना जा सकता। इसलिए सहचर हेतुको भी पृथक् मानना ही चाहिये।

हेतु के भेद :

विधिसाधक उपलब्धिको अविरुद्धोपलब्धि और प्रतिषेध-साधक उपलब्धिको विरुद्धोपलब्धि कहते हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) अविरुद्धव्याप्योपलब्धि—शब्द परिणामी है, क्योंकि वह कृतक है।

(२) अविरुद्धकार्योपलब्धि—इस प्राणीमें बुद्धि है, क्योंकि वचन आदि देखे जाते हैं।

---

१. देखो, लघीय० श्लो० १४। परीक्षामुख ३।५६-५८।

२. परीक्षामुख ३।५९। ३. परीक्षामुख ३।६०-६५।

(३) अविरुद्धकारणोपलब्धि—यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है।

(४) अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि—एक मुहूर्तके बाद शकट (रोहिणी) का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय हो रहा है।

(५) अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है।

(६) अविरुद्धसहचरोपलब्धि—इस बिजौरेमें रूप है, क्योंकि रस पाया जाता है।

इनमें अविरुद्धव्यापकोपलब्धि भेद इसलिये नहीं बताया कि व्यापक व्याप्यका ज्ञान नहीं कराता, क्योंकि वह उसके अभावमें भी पाया जाता है।

प्रतिषेधको सिद्ध करनेवाली छह विरुद्धोपलब्धियाँ[१]—

(१) विरुद्धव्याप्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता पायी जाती है।

(२) विरुद्धकार्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूप पाया जाता है।

(३) विरुद्धकारणोपलब्धि—इस प्राणीमें सुख नहीं है, क्योंकि इसके हृदयमें शल्य है।

(४) विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि—एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय नहीं होगा, क्योंकि इस समय रेवतीका उदय हो रहा है।

(५) विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय नहीं हुआ, क्योंकि इस समय पुष्यका उदय हो रहा है।

(६) विरुद्धसहचरोपलब्धि—इस दीवालमें उस तरफके हिस्सेका अभाव नहीं है, क्योंकि इस तरफका हिस्सा देखा जाता है।

इन छह उपलब्धियोंमें प्रतिषेध साध्य है और जिसका प्रतिषेध किया जा रहा है उससे विरुद्धके व्याप्य, कार्य, कारण आदिकी उपलब्धि विवक्षित है। जैसे विरुद्ध कारणोपलब्धिमें सुखका प्रतिषेध साध्य है, तो सुखका विरोधी दुःख हुआ, उसके कारण हृदयशल्यको हेतु बनाया गया है।

प्रतिषेधसाधक सात अविरुद्धानुपलब्धियाँ[२]—

(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि—इस भूतलपर घड़ा नहीं है, क्योंकि वह अनुपलब्ध है। यद्यपि यहाँ घटाभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे ही हो जाता है, परन्तु जो

---

१. परीक्षामुख ३।६६–७२।

२. परीक्षामुख ३।७३–८०।

व्यक्ति अभावव्यवहार नहीं करना चाहते उन्हें अभावव्यवहार करानेमें इसकी सार्थकता है।

(२) अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि—यहाँ शीशम नहीं है; क्योंकि वृक्ष नहीं पाया जाता।

(३) अविरुद्धकार्यानुपलब्धि—यहाँपर अप्रतिबद्ध शक्तिशाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम नहीं पाया जाता। यद्यपि साधारणतया कार्याभावसे कारणाभाव नहीं होता, पर ऐसे कारणका अभाव कार्यके अभावसे अवश्य किया जा सकता है जो नियमसे कार्यका उत्पादक होता है।

(४) अविरुद्धकारणानुपलब्धि—यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं पायी जाती।

(५) अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि—एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नहीं हुआ है।

(६) अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नहीं है।

(७) अविरुद्धसहचरानुपलब्धि—इस समतराजूका एक पलड़ा नीचा नहीं है, क्योंकि दूसरा पलड़ा ऊँचा नहीं पाया जाता।

विधिसाधक तीन विरुद्धानुपलब्धियाँ[1]—

(१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीमें कोई व्याधि है, क्योंकि इसकी चेष्टाएँ नीरोग व्यक्तिकी नहीं हैं।

(२) विरुद्धकारणानुपलब्धि—इस प्राणीमें दुःख है, क्योंकि इष्टसंयोग नहीं देखा जाता।

(३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि—वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होता।

इन अनुपलब्धियोंमें साध्यसे विरुद्धके कार्य, कारण आदिकी अनुपलब्धि बतायी गई है। हेतुओंका यह वर्गीकरण परीक्षामुखके आधारसे है।

वादिदेवसूरिने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' (३।६४) में विधिसाधक तीन अनुपलब्धियोंकी जगह पाँच अनुपलब्धियाँ बताई हैं तथा निषेधसाधक छह अनुपलब्धियोंकी जगह सात अनुपलब्धियाँ गिनाई हैं। आचार्य विद्यानन्द[2]ने वैशेषिकोंके अभूत-भूतादि तीन प्रकारोंमें 'अभूत अभूतका' यह एक प्रकार और बढ़ाकर सभी

१. परीक्षामुख ३।८१–८४।

२. प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२–७४।

विधि और निषेध साधक उपलब्धियों तथा अनुपलब्धियोंको इन्हींमें अन्तर्भूत किया है। अकलंकदेवने 'प्रमाणसंग्रह' (पृ० १०४–५) सद्भावसाधक छह और अनुपलब्धियोंका कंठोक्त वर्णन करके शेषका इन्हींमें अन्तर्भाव करनेका संकेत किया है।

परम्परासे संभावित हेतु—कार्यके कार्य, कारणके कारण, कारणके विरोधी आदि हेतुओंका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

अदृश्यानुपलब्धि भी अभावसाधिका :

बौद्ध[1] दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते हैं। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है कि जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलनेपर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्म आदि विप्रकृष्ट पदार्थोंमें हम लोगोंके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव नहीं होता। प्रमाणकी प्रवृत्तिसे प्रमेयका सद्भाव तो जाना जाता है, पर प्रमाणकी निवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नहीं किया जा सकता। अतः विप्रकृष्ट विषयोंकी अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावसाधक नहीं हो सकती।[2] वस्तुके दृश्यत्वका इतना ही अर्थ है कि उसके उपलम्भ करनेवाले समस्त करणोंकी समग्रता हो और वस्तुमें एक विशेष स्वभाव हो। घट और भूतल एकज्ञानसंसर्गी थे, जितने कारणोंसे भूतल दिखाई देता है उतने ही कारणोंसे घड़ा। अतः जब शुद्ध भूतल दिखाई दे रहा है तब यह तो मानना ही होगा कि वहाँ भूतलकी उपलब्धिकी वह सब सामग्री विद्यमान है जिससे घड़ा यदि होता तो वह भी अवश्य दिख जाता। तात्पर्य यह कि एकज्ञान-संसर्गी पदार्थान्तरकी उपलब्धि इस बातका प्रमाण है कि वहाँ उपलब्धिकी समस्त सामग्री है। घटमें उस सामग्रीके द्वारा प्रत्यक्ष होनेका स्वभाव भी है, क्योंकि यदि वहाँ घड़ा लाया जाय तो उसी सामग्रीसे वह अवश्य दिख जायगा। पिशाचादि या परमाणु आदि पदार्थोंमें वह स्वभावविशेष नहीं है, अतः सामग्रीकी पूर्णता रहनेपर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। यहाँ सामग्रीकी पूर्णताका प्रमाण इसलिए नहीं दिया जा सकता कि उनका एकज्ञानसंसर्गी कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। इस दृश्यताको 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' शब्दसे भी कहते हैं। इस तरह बौद्ध दृश्यानुपलब्धिको गमक और अदृश्यानुलब्धिको संशयहेतु मानते हैं।

---

१. न्यायबिन्दु २।२८–३०, ४६।

२. न्यायबिन्दु २।४८–४९।

परन्तु जैनतार्किक[1] अकलंकदेव कहते हैं कि दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्ष-विषयत्व ही नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है प्रमाणविषयत्व। जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होती है, वह वस्तु यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध हो जाना चाहिये। उपलम्भका अर्थ प्रमाणसामान्य है। देखो, मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय परचैतन्यका अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ पर-चैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है, क्योंकि परचैतन्य कभी भी हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। हम तो वचन, उष्णता, श्वासोच्छ्वास या आकार-विशेष आदिके द्वारा शरीरमें मात्र उसका अनुमान करते हैं। अतः उन्हीं वचनादिके अभावसे चैतन्यका अभाव सिद्ध होना चाहिये। यदि अदृश्यानुपलब्धिको संशयहेतु मानते हैं; तो आत्माकी सत्ता भी कैसे सिद्ध की जा सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमानके विषय होते हैं। अतः यदि हम उनके साधक चिह्नोंके अभावमें उनकी अनुमानसे भी उपलब्धि न कर सकें तो ही उनका अभाव मानना चाहिए। हाँ, जिन पदार्थोंको हम किसी भी प्रमाणसे नहीं जान सकते, उनका अभाव हम अनुपलब्धिसे नहीं कर सकते। यदि परशरीरमें चैतन्यका अभाव हम अनुपलब्धिसे न जान सकें और संशय ही बना रहे, तो मृतशरीरका दाह करना कठिन हो जायगा और दाह करनेवालोंको सन्देहमें पातकी बनना पड़ेगा। संसारके समस्त गुरुशिष्य-भाव, लेन-देन आदि व्यवहार, अतीन्द्रिय चैतन्यका आकृतिविशेष आदिसे सद्भाव मानकर ही चलते हैं और उनके अभावमें चैतन्यका अभाव जानकर मृतकमें वे व्यवहार नहीं किये जाते। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थको हम जिन-जिन प्रमाणोंसे जानते हैं उस वस्तुका उन-उन प्रमाणोंकी निवृत्ति होनेपर अवश्य ही अभाव मानना चाहिए। अतः दृश्यत्वका संकुचित अर्थ—मात्र प्रत्यक्षत्व न करके 'प्रमाणविषयत्व' करना ही उचित है और व्यवहार्य भी है।

उदाहरणादि :

यह पहले लिखा जा चुका है कि अव्युत्पन्न श्रोताके लिए उदाहरण, उपनय और निगमन इन अवयवोंकी भी सार्थकता है। स्वार्थानुमानमें भी जो व्यक्ति व्याप्तिको भूल गया है, उसे व्याप्तिस्मरणके लिये कदाचित् उदाहरणका उपयोग हो भी सकता है, पर व्युत्पन्न व्यक्तिको उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्ति अर्थात् वादी और प्रतिवादीकी समान प्रतीति जिस स्थलमें हो उस

---

१. 'अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्युक्तं परचैतयनिवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तृणां पातकित्व-प्रसङ्गात् बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।'

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२।

स्थलको दृष्टान्त कहते हैं और दृष्टान्तका सम्यक् वचन उदाहरण[1] कहलाता है। साध्य और साधनकी व्याप्ति—अविनाभावसम्बन्ध कहीं साधर्म्य अर्थात् अन्वय-रूपसे गृहीत होता है और कहीं वैधर्म्य अर्थात् व्यतिरेकरूपसे। जहाँ अन्वयव्याप्ति गृहीत हो वह अन्वयदृष्टान्त तथा व्यतिरेकव्याप्ति जहाँ गृहीत हो वह व्यतिरेक-दृष्टान्त है। इस दृष्टान्तका सम्यक् अर्थात् दृष्टान्तकी विधिसे कथन करना उदाहरण है। जैसे 'जो-जो धूमवाला है वह-वह अग्निवाला है, जैसे कि महानस, जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे कि महाह्रद।' इस प्रकार व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तका कथन उदाहरण कहलाता है।

दृष्टान्तकी सदृशतासे पक्षमें साधनकी सत्ता दिखाना उपनय[2] है। जैसे 'उसी तरह यह भी धूमवाला है।' साधनका अनुवाद करके पक्षमें साध्यका नियम बताना निगमन है। जैसे 'इसलिये अग्निवाला है।' संक्षेपमें हेतुके उपसंहारको उपनय कहते हैं और प्रतिज्ञाके उपसंहारको निगमन[3]।

[4]हेतुका कथन कहीं तथोपपत्ति (साध्यके होने पर ही साधनका होना), अन्वय या साधर्म्यरूपसे होता है और कहीं अन्यथानुपपत्ति (साध्यके अभावमें हेतुका नहीं ही होना), व्यतिरेक या वैधर्म्यरूपसे होता है। दोनोंका प्रयोग करनेसे पुनरुक्ति दूषण आता है। हेतुका प्रयोग व्याप्तिग्रहणके अनुसार ही होता है। अतः हेतुके प्रयोगमात्रसे विद्वान् व्याप्तिका स्मरण या अवधारण कर लेते हैं। पक्षका प्रयोग तो इसलिये आवश्यक है कि साध्य और साधनका आधार अतिस्पष्टरूपसे सूचित हो जाय।

व्याप्तिके प्रसंगसे व्याप्य और व्यापकका लक्षण भी जान लेना आवश्यक है।

व्याप्य और व्यापक :

व्याप्तिक्रियाका जो कर्म होता है अर्थात् जो व्याप्त होता है वह व्याप्य है और जो व्याप्तिक्रियाका कर्ता होता है अर्थात् जो व्याप्त करता है वह व्यापक होता है। जैसे अग्नि धुआँको व्याप्त करती है अर्थात् जहाँ भी धूम होगा वहाँ अग्नि अवश्य मिलेगी, पर धूआँ अग्निको व्याप्त नहीं करता, कारण यह है कि निर्धूम भी अग्नि पाई जाती है। हम यह नहीं कह सकते कि 'जहाँ भी अग्नि है वहाँ धूम अवश्य

१. देखो, परीक्षामुख ३।४२-४४।
२. परीक्षामुख ३।४५।
३. परीक्षामुख ३।४६।
४. परीक्षामुख ३।८९–९३।

ही होगा', क्योंकि अग्निके अंगारोंमें धुँआ नहीं पाया जाता। [1]व्यापक 'तदतत्' अर्थात् हेतुके सद्भाव और हेतुके अभाव, दोनों स्थलोंमें मिलता है जब कि व्याप्य केवल तन्निष्ठ अर्थात् साध्यके होने पर ही होता है, अभावमें कदापि नहीं। अतः साध्य व्यापक है और साधन व्याप्य।

व्याप्ति[2] व्याप्य और व्यापक दोमें रहती है। अतः जब व्यापकके धर्मरूपसे व्याप्तिकी विवक्षा होती है तब उसका कथन 'व्यापकका व्याप्यके होने पर होना ही, न होना कभी नहीं' इस रूपमें होता है और जब व्याप्यके धर्मरूपसे विवक्षित होती है तब 'व्याप्यका व्यापकके होने पर ही होना, अभावमें कभी नहीं होना' इस रूपमें वर्णन होता है।

व्यापक गम्य होता है और व्याप्य गमक; क्योंकि व्याप्यके होने पर व्यापकका पाया जाना निश्चित है, परन्तु व्यापकके होने पर व्याप्यका अवश्य ही होना निश्चित नहीं है, वह हो भी और न भी हो। व्यापक अधिकदेशवर्ती होता है जब कि व्याप्य अल्पक्षेत्रवाला। यह व्यवस्था अन्वयव्याप्तिकी है। व्यतिरेकव्याप्तिमें साध्याभाव व्याप्य होता है और साधनाभाव व्यापक। जहाँ-जहाँ साध्यका अभाव होगा वहाँ-वहाँ साधनका अभाव अवश्य होगा अर्थात् साध्याभावको साधनाभावने व्याप्त किया है। पर जहाँ साधनाभाव होगा वहाँ साध्यके अभावका कोई नियम नहीं है; क्योंकि निर्धूम स्थलमें भी अग्नि पाई जाती है। अतः व्यतिरेकव्याप्तिमें साध्याभाव व्याप्य अर्थात् गमक होता है और साधनाभाव व्यापक अर्थात् गम्य।

अकस्मात् धूमदर्शनसे होनेवाला अग्निज्ञान प्रत्यक्ष नहीं :

आ० प्रज्ञाकर[3] अकस्मात् धुआँको देखकर होनेवाले अग्निके ज्ञानको अनुमान न मानकर प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उनका विचार है कि जब अग्नि और धूमकी व्याप्ति पहले ग्रहण नहीं की गई है, तब अगृहीतव्याप्तिक पुरुषको होनेवाला अग्नि-ज्ञान अनुमानकी कोटिमें नहीं आना चाहिये। किन्तु जब प्रत्यक्षका इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होना निश्चित है, तब जो अग्नि परोक्ष है और जिसके साथ हमारी इन्द्रियोंका कोई सम्बन्ध नहीं है, उस अग्निका ज्ञान प्रत्यक्षकी

---

१. 'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य च तत्रैव भावः।'

—प्रमाणवा० स्ववृ० ३।१।

२. 'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च।'

३. 'अत्यन्ताभ्यासतस्तस्य झटित्येव तदर्थदृक्।
अकस्माद् धूमतो वह्निप्रतीतिरिव देहिनाम्॥'

—प्रमाणवार्तिकाल० २।१३९।

मर्यादामें कैसे आ सकता है ? यह ठीक है कि व्यक्तिने 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, अग्निके अभावमें धूम कभी नहीं होता' इस प्रकार स्पष्ट-रूपसे व्याप्तिका निश्चय नहीं किया है किन्तु अनेक बार अग्नि और धूमको देखने-के बाद उसके मनमें अग्नि और धूमके सम्बन्धके सूक्ष्म संस्कार अवश्य थे और वे ही सूक्ष्म संस्कार अचानक धुआँको देखकर उद्बुद्ध होते हैं और अग्निका ज्ञान करा देते हैं। यहाँ धूमका ही तो प्रत्यक्ष है, अग्नि तो सामने है ही नहीं। अतः इस परोक्ष अग्निज्ञानको सामान्यतया श्रुतमें स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि इसमें एक अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान किया गया है। इसे अनुमान कहनेमें भी कोई विशेष बाधा नहीं है, क्योंकि व्याप्तिके सूक्ष्म संस्कार उसके मनपर अंकित थे ही। फिर यह ज्ञान अविशद है, अतः प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

अर्थापत्ति अनुमानमें अन्तर्भूत है :

मीमांसक[1] अर्थापत्तिको पृथक् प्रमाण मानते हैं। किसी दृष्ट या श्रुत पदार्थसे वह जिसके बिना नहीं होता उस अविनाभावी अदृष्ट अर्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति है। इससे अतीन्द्रिय शक्ति आदि पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है। यह छह प्रकारकी है—

(१) [2]प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति—प्रत्यक्षसे ज्ञात दाहके द्वारा अग्निमें दहनशक्तिकी कल्पना करना। शक्ति प्रत्यक्षसे नहीं जानी जा सकती; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है।

(२) [3]अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति—एक देशसे दूसरे देशको प्राप्त होना रूप हेतुसे सूर्यमें गतिका अनुमान करके फिर उस गतिसे सूर्यमें गमनशक्तिकी कल्पना करना।

(३) [4]श्रुतार्थापत्ति—'देवदत्त दिनको नहीं खाता, फिर भी मोटा है' इस वाक्यको सुनकर उसके रात्रिभोजनका ज्ञान करना।

(४) [5]उपमानार्थापत्ति—गवयसे उपमित गौमें उस ज्ञानके विषय होनेकी शक्तिकी कल्पना करना।

(५) [6]अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति—'शब्द वाचकशक्तियुक्त है, अन्यथा उससे अर्थप्रतीति नहीं हो सकती। इस अर्थापत्तिसे सिद्ध वाचकशक्तिसे शब्दमें

---

१. मी० श्लो० अर्था० श्लो० १।
२. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३।
३. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३। ४. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१।
५. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४। ६. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५-८।

नित्यत्व सिद्ध करना अर्थात् 'शब्द नित्य है, वाचकशक्ति अन्यथा नहीं हो सकती' यह प्रतीति करना ।

(६) [1]अभावपूर्विका अर्थापत्ति—अभाव प्रमाणके द्वारा जीवित चैत्रका घरमें अभाव जानकर उसके बाहर होनेकी कल्पना करना ।

इन [2]अर्थापत्तियोंमें अविनाभाव उसी समय गृहीत होता है । लिंगका अविनाभाव दृष्टान्तमें पहलेसे ही निश्चित कर लिया जाता है जब कि अर्थापत्तिमें पक्षमें ही तुरन्त अविनाभावका निश्चय किया जाता है । अनुमानमें हेतुका पक्ष-धर्मत्व आवश्यक है जब कि अर्थापत्तिमें पक्षधर्म आवश्यक नहीं माना जाता । जैसे 'ऊपरकी ओर मेघवृष्टि हुई है, नीचे नदीका पूर अन्यथा नहीं आ सकता' यहाँ नीचे नदीपूरको देखकर तुरन्त ही उपरिवृष्टिकी जो कल्पना होती है उसमें न तो पक्षधर्म है और न पहलेसे किसी सपक्षमें व्याप्ति ही ग्रहण की गई है ।

परन्तु इतने मात्रसे अर्थापत्तिको अनुमानसे भिन्न नहीं माना जा सकता । अविनाभावी एक अर्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान करना जैसे अनुमानमें है वैसे अर्था-पत्तिमें भी है । हम पहले बता चुके हैं कि पक्षधर्मत्व अनुमानका कोई आवश्यक अंग नहीं है । कृत्तिकोदय आदि हेतु पक्षधर्मरहित होकर भी सच्चे हैं और मित्रा-तनयत्व आदि हेत्वाभास पक्षधर्मत्वके रहनेपर भी गमक नहीं होते । इसी तरह सपक्षमें पहलेसे व्याप्तिको ग्रहण करना इतनी बड़ी विशेषता नहीं है कि इसके आधारपर दोनोंको पृथक् प्रमाण माना जाय । और सभी अनुमानोंमें सपक्षमें व्याप्ति ग्रहण करना आवश्यक भी नहीं है । व्याप्ति पहले गृहीत हो या तत्काल; इससे अनुमानमें कोई अन्तर नहीं आता । अतः अर्थापत्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

संभव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं :

इसी तरह सम्भव प्रमाण यदि अविनाभावमूलक है तो वह अनुमानमें ही अन्तर्भूत हो जाता है । सेरमें छटाँककी सम्भावना एक निश्चित अविनाभावी मापके नियमोंसे सम्बन्ध रखती है । यदि वह अविनाभावके बिना ही होता है तो उसे प्रमाण ही नहीं कह सकते ।

अभाव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं :

मीमांसक अभावको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं । उनका कहना है कि

---

१. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ९ । २. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३० ।

[1]भावरूप प्रमेयके लिये जैसे भावात्मक प्रमाण होता है उसी तरह अभावरूप प्रमेयके लिये अभावरूप प्रमाणकी ही आवश्यकता है। [2]वस्तु सत् और असत् उभयरूप है। इनमें इन्द्रिय आदिके द्वारा सदंशका ग्रहण हो जानेपर भी असदंशके ज्ञानके लिये अभावप्रमाण अपेक्षित होता है। [3]जिस पदार्थका निषेध करना है उसका स्मरण, जहाँ निषेध करना है उसका ग्रहण होनेपर मनसे ही जो 'नास्ति' ज्ञान होता है वह अभाव है। जिस[4] वस्तुरूपमें सद्भावके ग्राहक पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं होती उसमें अभाव बोधके लिये अभावप्रमाण प्रवृत्ति करता है। [5]अभाव यदि न माना जाय तो प्रागभावादिमूलक समस्त व्यवहार नष्ट हो जाँयगे। वस्तुकी परस्पर प्रतिनियत रूपमें स्थिति अभावके अधीन है। दूधमें दहीका अभाव प्रागभाव है। दहीमें दूधका अभाव प्रध्वंसाभाव है। घटमें पटका अभाव अन्योन्याभाव या इतरेतराभाव है और खरविषाणका अभाव अत्यन्ताभाव है।

किन्तु वस्तु उभयात्मक है, इसमें विवाद नहीं है, पर अभावांश भी वस्तुका धर्म होनेसे यथासंभव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदि प्रमाणोंसे ही गृहीत हो जाता है। भूतल और घटको 'सघटं भूतलम्' इस एक प्रत्यक्षने जाना था। पीछे शुद्ध भूतलको जाननेवाला प्रत्यक्ष ही घटाभावको ग्रहण कर लेता है, क्योंकि घटाभाव शुद्धभूतलादि रूप ही तो है। अथवा 'यह वही भूतल है जो पहले घटसहित था' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान भी अभावको ग्रहण कर सकता है। अनुमानके प्रकरणमें उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप अनेक हेतुओंके उदाहरण दिये गये हैं जो अभावोंके ग्राहक होते हैं। यह कोई नियम नहीं है कि भावात्मक प्रमेयके लिए भावरूप प्रमाण और अभावात्मक प्रमेयके लिए अभावात्मक प्रमाण ही माना

---

१. 'मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्।
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता॥
तथैवाभावमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता।''
—मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५।४६।

२. मी० श्लो० अभाव० श्लो० १२–१४।
३. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायते अक्षानपेक्षया।'
—मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७।

४. मी० श्लो० अभाव० श्लो० १।
५. मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७।
६. मी० श्लो० अभा० श्लो० २–४।

जाय; क्योंकि उड़ते हुए पत्तोंके नीचे न गिरने रूप अभावसे आकाशमें वायुका सद्भाव माना जाता है और शुद्धभूतलग्राही प्रत्यक्षसे घटाभावका बोध तो प्रसिद्ध ही है। प्रागभावादिके स्वरूपसे तो इनकार नहीं किया जा सकता, पर वे वस्तुरूप ही हैं। घटका प्रागभाव मृत्पिंडको छोड़कर अन्य नहीं बताया जा सकता। [1]अभाव भावान्तररूप होता है, यह अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है। अतः जब प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदि प्रमाणोंके द्वारा ही उसका ग्रहण हो जाता है तब स्वतन्त्र अभावप्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

कथा-विचार :

परार्थानुमानके प्रसंगमें कथाका अपना विशेष स्थान है। पक्ष और प्रतिपक्ष ग्रहण कर वादी और प्रतिवादीमें जो वचन-व्यवहार स्वमतके स्थापन पर्यन्त चलता है उसे कथा कहते हैं। न्याय-परम्परामें कथाके तीन भेद माने गये हैं—१. वाद, २. जल्प और ३ वितण्डा। तत्त्वके जिज्ञासुओंकी कथाको या वीतराग-कथाको वाद कहा जाता है। जय-पराजयके इच्छुक विजिगीषुओंकी कथा जल्प और वितण्डा है। दोनों कथाओंमें पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह आवश्यक है। [2]वादमें प्रमाण और तर्कके द्वारा स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण किये जाते हैं। इसमें सिद्धान्तसे अविरुद्ध पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग अनिवार्य होनेसे न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास इन आठ निग्रहस्थानोंका प्रयोग उचित माना गया है। अन्य छल, जाति आदिका प्रयोग इस वादकथामें वर्जित है। इसका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। [3]जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है। इनका उद्देश्य तत्त्वसंरक्षण करना है और तत्त्वकी संरक्षा किसी भी उपायसे करनेमें इन्हें आपत्ति नहीं है। न्यायसूत्र (४।२।५०) में स्पष्ट लिखा है कि जिस तरह अंकुरकी रक्षाके लिए काँटोंकी बारी लगायी जाती है, उसी तरह तत्त्वसंरक्षणके लिये जल्प और वितण्डामें काँटेके समान छल, जाति आदि असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी अनुचित नहीं है। [4]जनता मूढ़ और गतानुगतिक होती है। वह दुष्ट वादीके

१. 'भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत्।
अभावः सम्मतस्तस्य हेतोः किन्न समुद्भवः?'
—उद्धृत, प्रमेयक० पृ० १६०।

२. न्यायसू० १।२।१। ३. न्यायसू० १।२।२,३।

४. "गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मागादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥"—न्यायमं० पृ० ११।

द्वारा ठगी जाकर कुमार्गमें न चली जाय, इस मार्ग-संरक्षणके उद्देश्यसे कारुणिक मुनिने छल आदि जैसे असत् उपायोंका भी उपदेश दिया है।

वितण्डा कथामें वादी अपने पक्षके स्थापनकी चिन्ता न करके केवल प्रतिवादी पक्षमें दूषण-ही-दूषण देकर उसका मुँह बन्द कर देता है, जब कि जल्प कथामें परपक्ष खण्डनके साथ-ही-साथ स्वपक्ष-स्थापन भी आवश्यक होता है।

इस तरह स्वमतसंरक्षणके उद्देश्यसे एक बार छल, जाति जैसे असत् उपायोंके अवलम्बनकी छूट होनेपर तत्त्वनिर्णय गौण हो गया; और शास्त्रार्थके लिए ऐसी नवीन भाषाकी सृष्टि की गई, जिसके शब्दजालमें प्रतिवादी इतना उलझ जाय कि वह अपना पक्ष ही सिद्ध न कर सके। इसी भूमिकापर केवल व्याप्ति, हेत्वाभास आदि अनुमानके अवयवोंपर सारे नव्यन्यायकी सृष्टि हुई। जिनका भीतरी उद्देश्य तत्त्वनिर्णयकी अपेक्षा तत्त्वसंरक्षण ही विशेष मालूम होता है! चरकके विमानस्थानमें संधाय-संभाषा और विगृह्य-सम्भाषा ये दो भेद उक्त वाद और जल्प वितण्डाके अर्थमें ही आये हैं। यद्यपि नैयायिकने छल आदिको असद् उत्तर माना है और साधारण अवस्थामें उसका निषेध भी किया है, परन्तु किसी भी प्रयोजनसे जब एक बार छल आदि घुस गये तो फिर जय-पराजयके क्षेत्रमें उन्हींका राज्य हो गया।

बौद्ध परम्पराके प्राचीन उपायहृदय और तर्कशास्त्र आदिमें छलादिके प्रयोगका समर्थन देखा जाता है, किन्तु आचार्य धर्मकीर्तिने इसे सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित न समझकर अपने वादन्याय ग्रन्थमें उनका प्रयोग सर्वथा अमान्य और अन्याय्य ठहराया है। इसका भी कारण यह है कि बौद्ध परम्परामें धर्मरक्षाके साथ संघरक्षाका भी प्रमुख स्थान है। उनके [1]त्रिशरणमें बुद्ध और धर्मकी शरण जानेके साथ ही साथ संघके शरणमें भी जानेकी प्रतिज्ञा की जाती है। जब कि जैन परम्परामें संघशरणका कोई स्थान नहीं है। इनके [2]चतुःशरणमें अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्मकी शरणको ही प्राप्त होना बताया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि संघरक्षा और संघप्रभावनाके उद्देश्यसे भी छलादि असद् उपायोंका अवलम्बन करना जो प्राचीन बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें घुस गया उसमें सत्य और अहिंसाकी धर्मदृष्टि कुछ गौण तो अवश्य हो गयी है। धर्मकीर्तिने इस असंगतिको समझा और हर हालतमें छल, जाति आदि असत् प्रयोगोंको वर्जनीय ही बताया है।

---

१. "बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।"

२. "चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।"

—चत्तारि दंडक।

साध्यकी तरह साधनोंकी भी पवित्रता :

जैन तार्किक पहलेसे ही सत्य और अहिंसारूप धर्मकी रक्षाके लिए प्राणोंकी बाजी लगानेको सदा प्रस्तुत रहे हैं। उनके संयम और त्यागकी परम्परा साध्यकी तरह साधनोंकी पवित्रतापर भी प्रथमसे ही भार देती आयी है। यही कारण है कि जैन दर्शनके प्राचीन ग्रन्थोंमें कहींपर भी किसी भी रूपमें छलादिके प्रयोगका आपवादिक समर्थन भी नहीं देखा जाता। इसके एक ही अपवाद हैं, श्वेताम्बर परम्पराके अठारहवीं सदीके आचार्य यशोविजय। जिन्होंने वादद्वात्रिंशतिका[1] में प्राचीन बौद्ध तार्किकोंकी तरह शासन-प्रभावनाके मोहमें पड़कर अमुक देशादिमें आपवादिक छलादिके प्रयोगको भी उचित मान लिया है। इसका कारण भी दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराकी मूल प्रकृतिमें समाया हुआ है। दिगम्बर निर्ग्रन्थ परम्परा अपनी कठोर तपस्या, त्याग और वैराग्यके मूलभूत अपरिग्रह और अहिंसारूपी धर्मस्तम्भोंमें किसी भी प्रकारका अपवाद किसी भी उद्देश्यसे स्वीकार करनेको तैयार नहीं रही, जब कि श्वेताम्बर परम्परा बौद्धोंकी तरह लोकसंग्रहकी ओर भी झुकी। चूँकि लोकसंग्रहके लिये राजसम्पर्क, वाद और मतप्रभावना आदि करना आवश्यक थे इसीलिये व्यक्तिगत चारित्रकी कठोरता भी कुछ मृदुतामें परिणत हुई। सिद्धान्तकी तनिक भी ढिलाई पानीकी तरह अपना रास्ता बनाती ही जाती है। दिगम्बरपरम्पराके किसी भी तर्कग्रन्थमें छलादिके प्रयोगके आपवादिक औचित्यका नहीं मानना और इन असद् उपायोंके सर्वथा परिवर्जनका विधान, उनकी सिद्धान्त-स्थिरताका ही प्रतिफल है। अकलंकदेवने इसी सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे ही छलादिरूप असद् उत्तरोंके प्रयोगको सर्वथा अन्याय्य और परिवर्जनीय माना[2] है। अतः उनकी दृष्टिसे वाद और जल्पमें कोई भेद नहीं रह जाता। इसलिए वे संक्षेपमें समर्थवचनको वाद[3] कहकर भी कहीं वादके स्थानमें जल्प[4] शब्दका भी प्रयोग कर देते हैं। उनने बतलाया है कि मध्यस्थोंके समक्ष वादी और प्रतिवादियोंके स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणरूप

---

१. "अयमेव विधेयस्तत्तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम् ॥"
—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका ८।६।

२. देखो, सिद्धिविनिश्चय, जल्पसिद्धि (५ वाँ परिच्छेद)।

३. "समर्थवचनं वादः"—प्रमाणसं० श्लो० ५१।

४. "समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥"
—सिद्धिवि०, ५।२।

वचनको वाद कहते हैं। वितण्डा[1] वादाभास है, जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र खण्डन-ही-खण्डन करता है[2], जो सर्वथा त्याज्य है। न्यायदीपिका (पृ० ७९) तत्त्वनिर्णय या तत्त्वज्ञानके विशुद्ध प्रयोजनसे जय-पराजयकी भावनासे रहित गुरु-शिष्य या वीतरागी विद्वानोंमें तत्त्वनिर्णय तक चलनेवाले वचनव्यवहारको वीतराग कथा कहा है, और वादी तथा प्रतिवादीमें स्वमत-स्थापनके लिए जय-पराजयपर्यन्त चलनेवाले वचनव्यवहारको विजिगीषु कथा कहा है।

वीतराग कथा सभापति और सभ्योंके अभावमें भी चल सकती है, और जब कि विजिगीषु कथामें वादी और प्रतिवादीके साथ सभ्य और सभापतिका होना भी आवश्यक है। सभापतिके बिना जय और पराजयका निर्णय कौन देगा ? और उभयपक्षवेदी सभ्योंके बिना स्वमतोन्मत्त वादिप्रतिवादियोंको सभापतिके अनुशासनमें रखनेका कार्य कौन करेगा ? अतः वाद चतुरंग होता है।

जय-पराजयव्यवस्था :

नैयायिकोंने जब जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थानका प्रयोग स्वीकार कर लिया तब उन्हींके आधारपर जयपराजयकी व्यवस्था बनी। इन्होंने प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रहस्थान माने हैं। सामान्यसे 'विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना और अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, प्रतिवादीके द्वारा स्थापितका प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध स्वपक्षका उद्धार नहीं करना' ये दो ही निग्रहस्थान[3]—पराजयस्थान होते हैं। इन्हींके विशेष भेद प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस[4] हैं। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि करदे, दूसरा हेतु बोलदे, असम्बद्ध पद, वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिषद् न समझ सके, हेतु, दृष्टान्त आदिका क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून या अधिक कहे जाँय, पुनरुक्ति हो, प्रतिवादी वादीके द्वारा कहे गये पक्षका अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, दूषणको अर्ध स्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहयोग्यके लिए निग्रहस्थानका उद्भावन न कर सके, जो निग्रह-योग्य नहीं है, उसे निग्रहस्थान बतावे, सिद्धान्तविरुद्ध बोले, हेत्वाभासोंका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगी। ये शास्त्रार्थके कानून हैं, जिनका

---

१. "तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः।"—न्यायवि० २।३८४।

२. "यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।"—न्यायसू० १।२।२–३।

३. "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।"—न्यायसू० १।२।१९।

४. न्यायसू० ५।२।१।

थोड़ा-सा भंग होनेपर सत्यसाधनवादीके हाथमें भी पराजय आ सकती है और दुष्ट साधनवादी इन अनुशासनके नियमोंको पालकर जयलाभ भी कर सकता है। तात्पर्य यह कि यहाँ शास्त्रार्थके नियमोंका बारीकीसे पालन करने और न करनेका प्रदर्शन ही जय और पराजयका आधार हुआ; स्वपक्षसिद्धि या परपक्षदूषण जैसे मौलिक कर्त्तव्य नहीं। इसमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि पञ्चावयववाले अनुमानप्रयोगमें कुछ कमी-बेसी और क्रमभंग यदि होता है तो उसे पराजयका कारण होना ही चाहिए।

धर्मकीर्ति आचार्यने इन छल, जाति और निग्रहस्थानोंके आधारसे होने वाली जय-पराजय-व्यवस्थाका खण्डन करते हुए लिखा है कि जयपराजयकी व्यवस्थाको इस प्रकार घुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि 'वह कुछ अधिक बोल गया या कम बोल गया या उसने अमुक कायदेका बाकायदा पालन नहीं किया' सत्य, अहिंसा और न्यायकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादीके लिए क्रमशः असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रहस्थान[1] मानना चाहिये। वादीका कर्त्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्ण साधन बोले, और प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है यानी साधनांगका अवचन या असाधनांगका वचन करता है तो उसकी असाधनांग वचन होनेसे पराजय होगी। इसी तरह प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो वस्तुतः दोष नहीं हैं उन्हें दोषकी जगह बोले तो दोषानुद्भावन और अदोषोद्भावन होनेसे उसकी पराजय अवश्यंभावी है।

इस तरह सामान्यलक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपलेमें पड़ गये हैं। [2]उन्होंने असाधनांग वचन और अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक किसी एक दृष्टान्तसे ही साध्यकी सिद्धि जब संभव है तब दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूप हेतुका वचन साधनांग है। उसका कथन न करना असाधनांग है। प्रतिज्ञा, निगमन आदि साधनके अंग नहीं हैं, उनका कथन असाधनांग है। इसी तरह उनने अदोषोद्भावनके भी विविध व्याख्यान किये हैं। यानी कुछ कम बोलना या अधिक बोलना,

---

१. "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"—वादन्याय पृ० १।

२. देखो, वादन्याय, प्रथम प्रकरण।

इनकी दृष्टिमें भी अपराध है। यह सब लिखकर भी अन्तमें उनने सूचित किया है कि स्वपक्ष-सिद्धि और परपक्ष-निराकरण ही जय-पराजयकी व्यवस्थाके आधार होना चाहिये।

[1]आचार्य अकलंकदेव असाधनांग वचन तथा अदोषोद्भावनके झगड़ेको भी पसन्द नहीं करते। 'त्रिरूपको साधनांग माना जाय, पंचरूपको नहीं, किसको दोष माना जाय, किसको नहीं' यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ जब बौद्ध, नैयायिक और जैनोंके बीच चलते हैं, जो क्रमशः त्रिरूपवादी, पंचरूपवादी और एकरूपवादी हैं तब हरएक दूसरेकी अपेक्षा असाधनांगवादी हो जाता है। ऐसी अवस्थामें शास्त्रार्थके नियम स्वयं ही शास्त्रार्थके विषय बन जाते हैं। अतः उन्होंने बताया कि वादीका काम है कि वह अविनाभावी साधनसे स्वपक्षकी सिद्धि करे और परपक्षका निराकरण करे। प्रतिवादीका कार्य है कि वह वादीके स्थापित पक्षमें यथार्थ दूषण दे और अपने पक्षकी सिद्धि भी करे। इस तरह स्वपक्षसिद्धि और परपक्षका निराकरण ही बिना किसी लागलपेटके जय और पराजयके आधार होने चाहिये। इसीमें सत्य, अहिंसा और न्यायकी सुरक्षा है। स्वपक्षकी सिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक भी बोल जाय तो भी कोई हानि नहीं है। "स्वपक्षं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्, लोकवत्" अर्थात् अपने पक्षको सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं है।

प्रतिवादी यदि सीधे [2]विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो उसे स्वतन्त्र रूपसे पक्षकी सिद्धि करना आवश्यक नहीं है; क्योंकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है। असिद्धादि हेत्वाभासोंके उद्भावन करनेपर तो प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि करना भी अनिवार्य है। स्वपक्षकी सिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोंके अनुसार चलनेपर भी किसी भी हालतमें जयका भागी नहीं हो सकता।

इसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिकके मतसे छल आदिका प्रयोग करके अपने पक्षकी सिद्धि किये बिना ही सच्चे साधन बोलनेवाले भी वादीको प्रतिवादी जीत सकता है। बौद्ध परम्परामें छलादिका प्रयोग वर्ज्य है, फिर भी यदि वादी असाधनांगवचन और प्रतिवादी अदोषोद्भावन करता है तो उनका पराजय होता

१. "तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥"—उद्धृत अष्टसह० पृ० ८७।

२. "अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्—विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते॥"
—त० श्लो० पृ० २८०। रत्नाकरावतारिका पृ० ११४१।

है। वादीको असाधनांगवचनसे पराजय तब होगा जब प्रतिवादी यह बता दे कि वादीने असाधनांगवचन किया है। इस असाधनांगवचनमें जिस विषयको लेकर शास्त्रार्थ चला है, उससे असम्बद्ध बातोंका कथन और नाटक आदिकी घोषणा आदि भी ले लिये गये हैं। एक स्थल ऐसा भी आ सकता है, जहाँ दुष्टसाधन बोलकर भी वादी पराजित नहीं होगा। जैसे वादीने दुष्ट साधनका प्रयोग किया। प्रतिवादीने यथार्थ दोषका उद्भावन न करके अन्य दोषाभासोंका उद्भावन किया, फिर वादीने प्रतिवादीके द्वारा दिये गये दोषाभासोंका परिहार कर दिया। ऐसी अवस्थामें प्रतिवादी दोषाभासका उद्भावन करनेके कारण पराजित हो जायगा। यद्यपि दुष्ट साधन बोलनेसे वादीको जय नहीं मिलेगा, किन्तु वह पराजित भी नहीं माना जायगा। इसी तरह एक स्थल ऐसा है जहाँ वादी निर्दोष साधन बोलता है, प्रतिवादी कुछ अंटसंट दूषणोंको कहकर दूषणाभासका उद्भावन करता है। वादी प्रतिवादीकी दूषणाभासता नहीं बताता। ऐसी दशामें किसीको जय या पराजय न होगी। प्रथम स्थलमें अकलंकदेव स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरणमूलक जय और पराजयकी व्यवस्थाके आधारसे यह कहते हैं कि यदि प्रतिवादीको दूषणाभास कहनेके कारण पराजय मिलती है तो वादीकी भी साधनाभास कहनेके कारण पराजय होनी चाहिये, क्योंकि यहाँ वादी स्वपक्षसिद्धि नहीं कर सका है। अकलंकदेवके मतसे एकका स्वपक्ष सिद्ध करना ही दूसरेके पक्षकी असिद्धि है। अतः जयका मूल आधार स्वपक्षसिद्धि है और पराजयका मूल कारण पक्षका निराकृत होना है। तात्पर्य यह कि जब 'एकके जयमें दूसरेकी पराजय अवश्यंभावी है' ऐसा नियम है तब स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकृति ही जय-पराजयके आधार माने जाने चाहिये। बौद्ध वचनाधिक्य आदिको भी दूषणोंमें शामिल करके उलझ जाते हैं।

सीधी बात है कि परस्पर दो विरोधी पक्षोंको लेकर चलनेवाले वादमें जो भी अपना पक्ष सिद्ध करेगा, वह जयलाभ करेगा और अर्थात् ही दूसरेका, पक्षका निराकरण होनेके कारण पराजय होगा। यदि कोई भी अपनी पक्षसिद्धि नहीं कर पाता है और एक—वादी या प्रतिवादी वचनाधिक्य कर जाता है तो इतने मात्रसे उसकी पराजय नहीं होनी चाहिए। या दोनोंकी ही पराजय हो या दोनोंको ही जयाभाव रहे। अतः स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष-निराकरणमूलक ही जयपराजय-व्यवस्था सत्य और अहिंसाके आधारसे न्याय्य है। छोटे-मोटे वचनाधिक्य आदिके कारण न्यायतुलाको नहीं डिगने देना चाहिये। वादी सच्चे साधन बोलकर अपने पक्षकी सिद्धि करनेके बाद वचनाधिक्य और नाटकादिकी घोषणा भी करे तो

भी वह जयी ही होगा। इसी तरह प्रतिवादी वादीके पक्षमें यथार्थ दूषण देकर यदि अपने पक्षकी सिद्धि कर लेता है, तो वह भी वचनाधिक्य करनेके कारण पराजित नहीं हो सकता। इस व्यवस्थामें एक साथ दोनोंका जय या पराजयका प्रसंग नहीं आ सकता। एककी स्वपक्षसिद्धिमें दूसरेके पक्षका निराकरण गर्भित है ही, क्योंकि प्रतिपक्षकी असिद्धि बताये बिना स्वपक्षकी सिद्धि परिपूर्ण नहीं होती।

पक्षके ज्ञान और अज्ञानसे जय-पराजय व्यवस्था माननेपर तो पक्षप्रतिपक्षका परिग्रह करना ही व्यर्थ हो जाता हैं; क्योंकि किसी एक ही पक्षमें वादी और प्रतिवादीके ज्ञान और अज्ञानकी जाँच की जा सकती है।

पत्र-वाक्य :

लिखित शास्त्रार्थमें वादी और प्रतिवादी परस्पर जिन लेख-प्रतिलेखोंका आदान-प्रदान करते हैं, उन्हें पत्र कहते है। अपने पक्षकी सिद्धि करनेवाले निर्दोष और गूढ़ पद जिसमें हों, जो प्रसिद्ध अवयववाला हो तथा निर्दोष हो वह पत्र[1] है। पत्रवाक्यमें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव ही पर्याप्त हैं, इतने मात्रसे व्युत्पन्नको अर्थप्रतीति हो जाती है। अव्युत्पन्न श्रोताओंकी अपेक्षा तीन अवयव, चार अवयव और पाँच अवयवोंवाला भी पत्रवाक्य हो सकता है। पत्रवाक्यमें प्रकृति और प्रत्ययोंको गुप्त रखकर उसे अत्यन्त गूढ़ बनाया जाता है, जिससे प्रतिवादी सहज ही उसका भेदन न कर सके। जैसे—'विश्वम् अनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वात्' इस अनुमानवाक्यके लिये यह गूढ़ पत्र प्रस्तुत किया जाता है—

"स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतद्भान्तवाक्।
परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीत स्वात्मकत्वतः॥"
—प्रमेयक० पृ० ६८५।

जब कोई वादी पत्र देता है और प्रतिवादी उसके अर्थको समझकर खण्डन करता है, उस समय यदि वादी यह कहे कि 'यह मेरे पत्रका अर्थ नहीं है'; तब उससे पूँछना चाहिए कि 'जो आपके मनमें है वह इसका अर्थ है? या जो इस वाक्यरूप पत्रसे प्रतीत होता है वह है, या जो आपके मनमें भी है और वाक्यसे प्रतीत भी होता है?' प्रथम विकल्पमें पत्रका देना ही निरर्थक है; क्योंकि जो अर्थ आपके मनमें मौजूद है उसका जानना ही कठिन है, यह पत्रवाक्य तो उसका प्रति-

---

१. 'प्रसिद्धावयवं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधु गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्॥'—पत्रप० पृ० १।

निर्दिष्टत्व नहीं कर सकता। द्वितीय विकल्प ही उचित मालूम पड़ता है कि प्रकृति, प्रत्यय आदिके विभागसे जो अर्थ उस पत्रवाक्यसे प्रतीत होता हो, उसीका साधन और दूषण शास्त्रार्थमें होना चाहिये। इसमें प्रकरण आदिसे जितने भी अर्थ सम्भव हों वे सब उस पत्रवाक्यके अर्थ माने जाँयगे। इसमें वादीके द्वारा इष्ट होनेकी शर्त नहीं लगाई जा सकती; क्योंकि जब शब्द प्रमाण है तब उससे प्रतीत होनेवाले समस्त अर्थ स्वीकार किये ही जाने चाहिये। तीसरे विकल्पमें विवादका प्रश्न इतना ही रह जाता है कि कोई अर्थ शब्दसे प्रतीत हुआ और वही वादीके मनमें भी था, फिर भी यदि दुराग्रहवश वादी यह कहनेको उतारू हो जाय कि 'यह मेरा अर्थ ही नहीं है', तो उस समय कोई नियन्त्रण नहीं रखा जा सकेगा। अतः इसका एकमात्र सीधा मार्ग है कि जो प्रसिद्धिके अनुसार उन शब्दोंसे प्रतीत हो, वही अर्थ माना जाय।

यद्यपि वाक्य श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा सुने जानेवाले पदोंके समुदाय रूप होते हैं और पत्र होता है एक कागजका लिखित टुकड़ा, फिर भी उसे उपचरितोपचार विधिसे वाक्य कहा जा सकता है। यानी कानसे सुनाई देनेवाले पदोंका सांकेतिक लिपिके आकारोंमें उपचार होता है और लिपिके आकारोंमें उपचरित वाक्यका कागज आदि पर लिखित पत्रमें उपचार किया जाता है। अथवा पत्र-वाक्यकी 'पदोंका त्राण अर्थात् प्रतिवादीसे रक्षण हो जिन वाक्योंके द्वारा, उसे पत्रवाक्य कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मुख्यरूपसे कानसे सुनाई देनेवाले वाक्यको पत्र-वाक्य कह सकते हैं।

५. आगम—श्रुत :

मतिज्ञानके बाद जिस दूसरे ज्ञानका परोक्षरूपसे वर्णन मिलता है, वह है श्रुतज्ञान। परोक्ष प्रमाणमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञानकी पर्यायें हैं जो मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होती हैं। श्रुतज्ञानावरण-कर्मके क्षयोपशमसे जो श्रुत प्रकट होता है, उसका वर्णन सिद्धान्त—आगमग्रन्थोंमें भगवान् महावीरकी पवित्र वाणीके रूपमें पाया जाता है। तीर्थङ्कर जिस अर्थको अपनी दिव्य-ध्वनिसे प्रकाशित करते हैं, उसका द्वादशांगरूपमें ग्रथन गणधरोंके द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट कहा जाता है और जो श्रुत अन्य आरातीय शिष्यप्रशिष्योंके द्वारा रचा जाता है, वह अंगबाह्य श्रुत है। अंग-प्रविष्ट श्रुतके आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद हैं। अंगबाह्य श्रुत कालिक, उत्कालिक आदिके भेदसे अनेक

प्रकारका है। यह वर्णन आगमिकदृष्टिसे है। जैन परम्परामें श्रुतप्रमाणके नामसे इन्हीं द्वादशांग और द्वादशांगानुसारी अन्य शास्त्रोंको आगम या श्रुतकी मर्यादामें लिया जाता है। इसके मूलकर्त्ता तीर्थङ्कर हैं और उत्तरकर्ता उनके साक्षात् शिष्य गणधर तथा उत्तरोत्तर कर्त्ता प्रशिष्य आदि आचार्यपरम्परा है। इस व्याख्यासे आगम प्रमाण या श्रुत वैदिक परम्पराके 'श्रुति' शब्दकी तरह अमुक ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाता है।

परन्तु परोक्ष आगम प्रमाणसे इतना ही अर्थ इष्ट नहीं है, किन्तु व्यवहारमें भी अविसंवादी और अवंचक आप्तके वचनोंको सुनकर जो अर्थबोध होता है, वह भी आगमकी मर्यादामें आता है। इसलिए अकलंकदेव[1] ने आप्तका व्यापक अर्थ किया है कि जो जिस विषयमें अविसंवादक है वह उस विषयमें आप्त है। आप्तताके लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषयमें अविसंवादकता या अवंचकताका होना ही मुख्य शर्त है। इसलिए व्यवहारमें होनेवाले शब्दजन्य अर्थबोधको भी एक हद-तक आगमप्रमाणमें स्थान मिल जाता है। जैसे कोई कलकत्तेका प्रत्यक्षद्रष्टा यात्री आकर कलकत्तेका वर्णन करे तो उन शब्दोंको सुनकर वक्ताको प्रमाण माननेवाले श्रोताको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी आगमप्रमाणमें शामिल है।

वैशेषिक और बौद्ध आगमज्ञानको भी अनुमानप्रमाणमें अन्तर्भूत करते हैं। परन्तु शब्दश्रवण, संकेतस्मरण आदि सामग्रीसे लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरणके बिना ही होनेवाला यह आगमज्ञान अनुमानमें शामिल नहीं हो सकता। श्रुत या आगमज्ञान केवल आप्तके शब्दोंसे ही उत्पन्न नहीं होता, किन्तु हाथके इशारे आदि संकेतोंसे और ग्रन्थकी लिपिको पढ़ने आदिसे भी होता है। इनमें संकेत-स्मरण ही मुख्य प्रयोजक है।

श्रुतके तीन भेद :

अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रहमें[2] श्रुतके प्रत्यक्षनिमित्तक, अनुमाननिमित्तक तथा आगमनिमित्तक ये तीन भेद किये हैं। परोपदेशकी सहायता लेकर प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत है, परोपदेशसहित लिंगसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत अनुमानपूर्वक श्रुत और केवल परोपदेशसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत आगम-निमित्तक श्रुत है। जैनतर्कवार्तिककार[3] प्रत्यक्षपूर्वक श्रुतको नहीं मानकर परोप-देशज और लिङ्गनिमित्तक ये दो ही श्रुत मानते हैं। तात्पर्य यह कि जैनपरंपराने

---

१. "यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थ-ज्ञानात्।" —अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६।

२. "श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्।"—प्रमाणसं० पृ० १।

३. जैनतर्कवार्तिक पृ० ७४।

आगमप्रमाणमें मुख्यतया तीर्थङ्करकी वाणीके आधारसे साक्षात् या परंपरासे निबद्ध ग्रन्थविशेषोंको लेकर भी उसके व्यावहारिक पक्षको नहीं छोड़ा है। व्यवहारमें प्रामाणिक वक्ताके शब्दको सुनकर या हस्तसंकेत आदिको देखकर संकेतस्मरणसे जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आगम प्रमाणमें शामिल है। आगमवाद और हेतुवादका क्षेत्र अपना-अपना निश्चित है—अर्थात् आगमके बहुतसे अंश ऐसे हो सकते हैं, जहाँ कोई हेतु या युक्ति नहीं चलती। ऐसे विषयोंमें युक्तिसिद्ध वचनोंकी एककर्तृकतासे युक्त्यसिद्ध वचनोंका भी प्रमाण मान लिया जाता है।

आगमवाद और हेतुवाद :

जैन परम्पराने वेदके अपौरुषेयत्व और स्वतः प्रामाण्यको नहीं माना है। उसका कारण यह है कि कोई भी ऐसा शब्द, जो धर्म और उसके नियम-उपनियमोंका विधान करता हो, वीतराग और तत्त्वज्ञ पुरुषका आधार पाये बिना अर्थबोध नहीं करा सकता। जिनकी शब्द-रचनामें एक सुनिश्चित क्रम, भावप्रवणता और विशेष उद्देश्यकी सिद्धि करनेका प्रयोजन हो, वे वेद बिना पुरुषप्रयत्नके चले आये, यह संभव नहीं, अर्थात् अपौरुषेय नहीं हो सकते। वैसे मेघगर्जन आदि बहुतसे शब्द ऐसे होते हैं जिनका कोई विशेष अर्थ या उद्देश्य नहीं होता, वे भले ही अपौरुषेय हों; पर उनसे किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती।

वेदको अपौरुषेय माननेका मुख्य प्रयोजन था—पुरुषकी शक्ति और तत्त्वज्ञतापर अविश्वास करना। यदि पुरुषोंकी बुद्धिको स्वतन्त्र विचार करनेकी छूट दी जाती है तो किसी अतीन्द्रिय पदार्थके विषयमें कोई एक निश्चित मत नहीं बन सकता था। धर्म (यज्ञ आदि) इस अर्थमें अतीन्द्रिय है कि उसके अनुष्ठान करनेसे जो संस्कार या अपूर्व पैदा होता है; वह कभी भी इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होता, और न उसका फल स्वर्गादि ही इन्द्रियग्राह्य होते हैं। इसीलिए 'परलोक है या नहीं' यह बात आज भी विवाद और संदेहकी बनी हुई है। मीमांसकने मुख्यतया पुरुषकी धर्मज्ञताका ही निषेध किया है। उसका कहना है कि धर्म और उसके नियम-उपनियमोंको वेदके द्वारा जानकर बाकी संसारके सब पदार्थोंका यदि कोई साक्षात्कार करता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। सिर्फ धर्ममें अन्तिम प्रमाण वेद ही हो सकता है, पुरुषका अनुभव नहीं। किसी भी पुरुषका ज्ञान इतना विशुद्ध और व्यापक नहीं हो सकता कि वह धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी परिज्ञान कर सके, और न पुरुषमें इतनी वीतरागता आ सकती है, जिससे वह पूर्ण

निष्पक्ष रहकर धर्मका प्रतिपादन कर सके। पुरुष प्रायः अनृतवादी होते हैं। उनके वचनोंपर पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता।

वैदिक परम्परामें ही जिन नैयायिक आदिने नित्य ईश्वरको वेदका कर्त्ता कहा है उसके विषयमें भी मीमांसकका कहना है कि किसी ऐसे समयकी कल्पना ही नहीं की जा सकती कि जब वेद न रहा हो। ईश्वरकी सर्वज्ञता भी उसके वेदमय होनेके कारण ही सिद्ध होती है, स्वतः नहीं।

तात्पर्य यह कि जहाँ वैदिक परम्परामें धर्मका अन्तिम और निर्बाध अधिकार-सूत्र वेदके हाथमें है, वहाँ जैन परम्परामें धर्मतीर्थका प्रवर्तन तीर्थङ्कर (पुरुष-विशेष) करते हैं। वे अपनी साधनासे पूर्ण वीतरागता और तत्त्वज्ञता प्राप्तकर धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके भी साक्षात्द्रष्टा हो जाते हैं। उनके लोकभाषामें होनेवाले उपदेशोंका संग्रह और विभाजन उनके शिष्य गणधर करते हैं। यह कार्य द्वादशांग-रचनाके नामसे प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परामें जहाँ किसी धर्मके नियम और उपनियममें विवाद उपस्थित होता है तो उसका समाधान वेदके शब्दोंमें ढूँढ़ना पड़ता है जब कि जैन परम्परामें ऐसे विवादके समय किसी भी वीतराग तत्त्वज्ञके वचन निर्णायक हो सकते हैं। यानी पुरुष इतना विकास कर लेता है कि वह स्वयं तीर्थङ्कर बनकर तीर्थ (धर्म) का प्रवर्तन भी करता है। इसीलिए उसे 'तीर्थङ्करोतीति तीर्थङ्करः' तीर्थङ्कर कहते हैं। वह केवल तीर्थज्ञ ही नहीं होता। इस तरह मूलरूपमें धर्मके कर्त्ता और मोक्षमार्गके नेता ही धर्मतीर्थके प्रवर्तक होते हैं। आगे उन्हींके वचन 'आगम' कहलाते हैं। ये सर्व प्रथम गणधरोंके द्वारा 'अङ्गश्रुत' के रूपमें ग्रथित होते हैं। इनके शिष्य-प्रशिष्य तथा अन्य आचार्य उन्हीं आगम-ग्रन्थोंका आधार लेकर जो नवीन ग्रन्थ-रचना करते हैं वह 'अंगबाह्य' साहित्य कहलाता है। दोनोंकी प्रमाणताका मूल आधार पुरुषका निर्मल ज्ञान ही है! यद्यपि आज वैसे निर्मल ज्ञानी साधक नहीं होते, फिर भी जब वे हुए थे तब उन्होंने सर्वज्ञप्रणीत आगमका आधार लेकर ही धर्मग्रन्थ रचे थे।

आज हमारे सामने दो ज्ञानक्षेत्र स्पष्ट खुले हुए हैं—एक तो वह ज्ञानक्षेत्र, जिसमें हमारा प्रत्यक्ष, युक्ति तथा तर्क चल सकते हैं और दूसरा वह क्षेत्र, जिसमें तर्क आदिकी गुञ्जाइश नहीं होती, अर्थात् एक हेतुवाद पक्ष और दूसरा आगमवाद पक्ष। इस सम्बन्धमें जैन आचार्योंने अपनी नीति बहुत विचारके बाद यह स्थिर की है कि हेतुवादपक्षमें हेतुसे और आगमवादपक्षमें आगमसे व्यवस्था करनेवाला स्वसमयका प्रज्ञापक—आराधक होता है और अन्य सिद्धान्तका विराधक होता है। जैसा कि आचार्य सिद्धसेनकी इस गाथासे स्पष्ट है—

"जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमम्मि आगमओ ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अण्णो ॥"

—सन्मति० ३।४५ ।

आचार्य [1]समन्तभद्रने इस सम्बन्धमें निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं कि जहाँ वक्ता अनाप्त, अविश्वसनीय, अतत्त्वज्ञ और कषायकलुष हों वहाँ हेतुसे ही तत्त्वकी सिद्धि करनी चाहिए और जहाँ वक्ता आप्त—सर्वज्ञ और वीतराग हो वहाँ उसके वचनोंपर विश्वास करके भी तत्त्वसिद्धि की जा सकती है। पहला प्रकार हेतुसाधित कहलाता है और दूसरा प्रकार आगमसाधित। मूलमें पुरुषके अनुभव और साक्षात्कारका आधार होनेपर भी एक बार किसी पुरुषविशेषमें आप्तताका निश्चय हो जानेपर उसके वाक्यपर विश्वास करके चलनेका मार्ग भी है। लेकिन यह मार्ग बीचके समयका है। इससे पुरुषकी बुद्धि और उसके तत्त्व-साक्षात्कारकी अन्तिम प्रमाणताका अधिकार नहीं छिनता। जहाँ वक्ताकी अनाप्तता निश्चित है वहाँ उसके वचनोंको या तो हम तर्क और हेतुसे सिद्ध करेंगे या फिर आप्तवक्ताके वचनोंको मूल आधार मानकर उससे संगति बैठनेपर ही उनकी प्रमाणता मानेंगे। इस विवेचनसे इतना तो समझमें आ जाता है कि वक्ताकी आप्तता और अनाप्तताका निश्चय करनेकी जिम्मेवारी अन्ततः युक्ति और तर्कपर ही पड़ती है। एक बार निश्चय हो जानेके बाद फिर प्रत्येक युक्ति या हेतु ढूँढ़ो या न ढूँढ़ो, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। चालू जीवनके लिए यही मार्ग प्रशस्त हो सकता है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनमें युक्ति और तर्क नहीं चलता, उन बातोंको हमें आगमपक्षमें डालकर वक्ताके आप्तत्वके भरोसे ही चलना होता है, और चलते भी हैं। परन्तु वैदिक परम्पराके समान अन्तिम निर्णय अकर्तृक शब्दोंके आधीन नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक जैन आचार्य अपने नूतन ग्रन्थके प्रारम्भमें उस ग्रन्थकी परम्पराको सर्वज्ञ तक ले जाता है और इस बातका विश्वास दिलाता है कि उसके प्रतिपादित तत्त्व कपोल-कल्पित न होकर परम्परासे सर्वज्ञप्रतिपादित ही हैं।

तर्ककी एक सीमा तो है ही। पर हमें यह देखना है कि अन्तिम अधिकार किसके हाथमें है? क्या मनुष्य केवल अनादिकालसे चली आई अकर्तृक परम्पराओंके यन्त्रजालका मूक अनुसरण करनेवाला एक जन्तु ही है या स्वयं भी किसी अवस्थामें निर्माता और नेता हो सकता है? वैदिक परम्परामें इसका उत्तर

१. "वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साधितमागमसाधितम् ॥"

—आप्तमी० श्लो० ७८ ।

है 'नहीं हो सकता', जब कि जैन परम्परा यह कहती है कि 'जिस पुरुषने वीतरागता और तत्त्वज्ञता प्राप्त कर ली है उसे किसी शास्त्र या आगमके आधारकी या नियन्त्रणकी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं शास्त्र बनाता है, परम्पराएँ रचता है और सत्यको युगशरीरमें प्रकट करता है। अतः मध्यकालीन व्यवस्थाके लिए आगमिक क्षेत्र आवश्यक और उपयोगी होनेपर भी उसकी प्रतिष्ठा सार्वकालिक और सब पुरुषोंके लिए एक-सी नहीं है।

एक कल्पकालमें चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं। वे सब अक्षरशः एक ही प्रकारका उ देश देते हों, ऐसी अधिक सम्भावना नहीं है; यद्यपि उन सबका तत्त्वसाक्षात्कार और वीतरागता एक-जैसी ही होती है। हर तीर्थङ्करके समय विभिन्न व्यक्तियोंकी परिस्थितियाँ जुदे-जुदे प्रकारकी होती हैं, और वह उन परिस्थितियोंमें उलझे हुए भव्य जीवोंको सुलटने और सुलझनेका मार्ग बताता है। यह ठीक है कि व्यक्तिकी मुक्ति और विश्वकी शान्तिके लिए अहिंसा, परिग्रह, अनेकान्तदृष्टि और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके सिद्धान्त त्रैकालिक हैं। इन मूल सिद्धान्तोंके साक्षात्कारमें किसी भी तीर्थङ्करको मतभेद नहीं हुआ; क्योंकि मूल सत्य दो प्रकारका नहीं होता। परन्तु उस मूल सत्यको जीवनव्यवहारमें लानेके प्रकार व्यक्ति, समाज, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी दृष्टिसे अनन्त प्रकारके हो सकते हैं। यह बात हम सबके अनुभवकी है। जो कार्य एक समयमें अमुक परिस्थितिमें एकके लिए कर्त्तव्य होता है, वही उसी व्यक्तिको परिस्थिति बदलनेपर अखरता है। अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्मकी मूल आत्मा एक होनेपर भी उसके परिस्थिति-शरीर अनेक होते हैं, पर सत्यासत्यका निर्णय उस मूल आत्माकी संगति और असंगतिसे होता है। जैन परम्पराकी यह पद्धति श्रद्धा और तर्क दोनोंको उचित स्थान देकर उनका समन्वय करती है।

वेदापौरुषेयत्व विचार:

हम पहले लिख चुके हैं कि मीमांसक पुरुषमें पूर्ण ज्ञान और वीतरागताका विकास नहीं मानता और धर्मप्रतिपादक वेदवाक्यको किसी पुरुषविशेषकी कृति न मानकर उसे अपौरुषेय या अकर्तृक मानता है। इस अपौरुषेयत्वकी सिद्धिके लिए 'अस्मर्यमाण कर्तृकत्व' हेतु दिया जाता है। इसका अर्थ है कि यदि वेदका कोई कर्त्ता होता तो उसका स्मरण होना चाहिये था चूँकि स्मरण नहीं है, अतः वेद अनादि है और अपौरुषेय है। किन्तु, कर्त्ताका स्मरण नहीं होना किसीकी अनादिता और नित्यताका प्रमाण नहीं हो सकता। नित्य वस्तु अकर्त्तृक ही होती है। कर्त्ताका स्मरण होने और न होनेसे पौरुषेयता या अपौरुषेयताका कोई सम्बन्ध

नहीं है। बहुतसे पुराने मकान, कुएँ, खंडहर आदि ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनके कर्त्ताओं या बनानेवालोंका स्मरण नहीं है, फिर भी वे अपौरुषेय नहीं हैं।

अपौरुषेय होना प्रमाणताका साधक भी नहीं है। बहुतसे लौकिकम्लेच्छादि व्यवहार—गाली-गलौज आदि ऐसे चले आते हैं, जिनके कर्त्ताका कोई स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण नहीं माने जा सकते। 'वटे वटे वैश्रवणः' इत्यादि अनेक पदवाक्य परम्परासे कर्त्ताके स्मरणके बिना ही चले आते हैं, पर वे प्रमाणकोटिमें शामिल नहीं हैं।

पुराणोंमें वेदको ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ बताया है। और यह भी लिखा है[1] कि प्रतिमन्वतरमें भिन्न-भिन्न वेदोंका विधान होता है। "यो वेदाँश्च प्रहिणोति" इत्यादि[2] वाक्य वेदके कर्त्ताके प्रतिपादक हैं ही। जिस तरह याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण ऋषियोंके नामोंसे अंकित होनेके कारण पौरुषेय हैं, उसी तरह काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तिरीय आदि वेदकी शाखाएँ भी ऋषियोंके नामसे अंकित पायी जातीं हैं, अतः उन्हें अनादि या अपौरुषेय कैसे कहा जा सकता है? वेदोंमें न केवल ऋषियोंके ही नाम[3] पाये जाते हैं; किन्तु उनमें अनेक ऐतिहासिक राजाओं, नदियों और देशोंके नामोंका पाया जाना इस बातका प्रमाण है कि वे उन-उन परिस्थितियोंमें बने हैं।

बौद्ध वेदोंको अष्टक ऋषिकर्तृक कहते हैं तो जैन उन्हें कालासुरकर्तृक बताते हैं। अतः उनके कर्तृविशेषमें तो विवाद हो सकता है, किन्तु 'वे पौरुषेय हैं और उनका कोई-न-कोई बनानेवाला अवश्य है' यह विवादकी बात नहीं है।

'वेदका अध्ययन सदा वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है, अतः वेद अनादि है' यह दलील भी पुष्ट नहीं है; क्योंकि 'कण्व आदि ऋषियोंने काण्वादि शाखाओंकी रचना नहीं की, किन्तु अपने गुरुसे पढ़कर ही उनने उसे प्रकाशित किया' यह सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इस तरह तो यह भी कहा जा सकता है कि महाभारत भी व्यासने स्वयं नहीं बनाया; किन्तु अन्य महाभारतके अध्ययनसे उसे प्रकाशित किया है।

---

१. प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते—मत्स्यपु० १४५।५८।

२. श्वेता० ६।१८।

३. सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेः।
अनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात्।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्।
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत् पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥'—पात्रकेसरितोत्र श्लो० १४।

इसी तरह कालको हेतु बनाकर वर्तमान कालकी तरह अतीत और अनागत कालको वेदके कर्त्तासे शून्य कहना बहुत विचित्र तर्क है। इस तरह तो किसी भी अनिश्चित कर्तृक वस्तुको अनादि अनन्त सिद्ध किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि महाभारतका बनानेवाला अतीत कालमें नहीं था, क्योंकि वह काल है जैसे कि वर्तमानकाल।

जब वैदिक शब्द लौकिक शब्दके समान ही संकेतग्रहणके अनुसार अर्थका बोध कराते हैं और बिना उच्चारण किये पुरुषको सुनाई नहीं देते तब ऐसी कौन-सी विशेषता है जिससे कि वैदिक शब्दोंको अपौरुषेय कहा जाय? यदि कोई एक भी व्यक्ति अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नहीं हो सकता तो वेदोंकी अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकतामें विश्वास कैसे किया जा सकता है?

वैदिक शब्दोंकी अमुक छन्दोंमें रचना है। वह रचना बिना किसी पुरुष-प्रयत्नके अपने आप कैसे हो गई? यद्यपि मेघगर्जन आदि अनेकों शब्द पुरुषप्रयत्न-के बिना प्राकृतिक संयोग-वियोगोंसे होते हैं परन्तु वे निश्चित अर्थके प्रतिपादक नहीं होते और न उनमें सुसंगत छन्दोरचना और व्यवस्थितता ही देखी जाती है। अतः जो मनुष्यकी रचनाके समान ही एक विशिष्ट रचनामें आबद्ध हैं वे अपौरुषेय नहीं हो सकते।

अनादि परम्परा रूप हेतुसे वेदको अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकताकी सिद्धि करना उसी तरह कठिन है जिस तरह गाली-गलौज आदिकी प्रामाणिकता सिद्ध करना। अन्ततः वेदके व्याख्यानके लिए भी अतीन्द्रियार्थदर्शी ही अन्तिम प्रमाण बन सकता है। विवादकी अवस्थामें 'यह मेरा अर्थ है यह नहीं' यह स्वयं शब्द तो बोलेंगे नहीं। यदि शब्द अपने अर्थके मामलेमें स्वयं रोकनेवाला होता तो वेदकी व्याख्याओंमें मतभेद नहीं होना चाहिये था।

शब्दमात्रको नित्य मानकर वेदके नित्यत्वका समर्थन करना भी प्रतीतिसे विरुद्ध है; क्योंकि तालु आदिके व्यापारसे पुद्गलपर्यायरूप शब्दकी उत्पत्ति ही प्रमाणसिद्ध है, अभिव्यक्ति नहीं। संकेतके लिये शब्दको नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे अनित्य घटादि पदार्थोंमें अमुक घड़ेके नष्ट होनेपर भी अन्य सदृश घड़ोंसे सादृश्यमूलक व्यवहार चल जाता है उसी तरह जिस शब्दमें संकेत-ग्रहण किया है वह भले ही नष्ट हो जाय, पर उसके सदृश अन्य शब्दोंमें वाचक-व्यवहारका होना अनुभवसिद्ध है। 'यह वही शब्द है, जिसमें मैंने संकेत ग्रहण किया था' इस प्रकारका एकत्वप्रत्यभिज्ञान भी भ्रान्तिके कारण ही होता है; क्योंकि जब हम उस सरीखे दूसरे शब्दको सुनते हैं, तो दीपशिखाकी तरह भ्रमवश उसमें एकत्वका भान हो जाता है।

आजका विज्ञान शब्दतरंगोंको उसी तरह क्षणिक मानता है जिस तरह जैन, बौद्धादिदर्शन। अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंमें वेदकी अन्तिम प्रमाणता माननेके लिए यह आवश्यक है कि उसका आद्य प्रतिपादक स्वयं अतीन्द्रियदर्शी हो। अतीन्द्रिय-दर्शनकी असम्भवता कहकर अन्धपरम्परा चलानेसे प्रमाणताका निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाववाली आत्माका सम्पूर्ण आवरणोंके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानी बन जाना असम्भव बात नहीं है। शब्द वक्ताके भावोंको ढोनेवाला एक माध्यम है, जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता अपनी न होकर वक्ताके गुण और दोषोंपर आश्रित होती है। यानी गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया शब्द प्रमाण होता है और दोषवाले वक्ताके द्वारा प्रतिपादित शब्द अप्रमाण। इसलिये कोई शब्दको धन्यवाद या गाली नहीं देता, किन्तु उसके बोलनेवाला वक्ताको। वक्ताका अभाव मानकर 'दोष निराश्रय नहीं रहेंगे' इस युक्तिसे वेदको निर्दोष कहना तो ऐसा ही है जैसे मेघ गर्जन और बिजलीकी कड़कड़ाहटको निर्दोष बताना। वह इस विधिसे निर्दोष बन भी जाय, पर मेघगर्जन आदिकी तरह वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। वह विधि-प्रतिषेध आदि प्रयोजनोंका साधक नहीं बन सकेगा।

व्याकरणादिके अभ्याससे लौकिक शब्दोंकी तरह वैदिक पदोंके अर्थकी समस्याको हल करना इसलिए असंगत है कि जब शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं तब अनिष्ट अर्थका परिहार करके इष्ट अर्थका नियमन करना कैसे सम्भव होगा? प्रकरण आदि भी अनेक हो सकते हैं। अतः धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवालेके बिना धार्मिक नियम-उपनियमोंमें वेदकी निर्बाधता सिद्ध नहीं हो सकती। जब एक बार अतीन्द्रियदर्शीको स्वीकार कर लिया, तब वेदको अपौरुषेय मानना निरर्थक ही है। कोई भी पद और वाक्य या श्लोक आदि छन्द रचना पुरुषकी इच्छा बुद्धिके बिना सम्भव नहीं है। ध्वनि अपने आप बिना पुरुष-प्रयत्नके निकल सकती है, पर भाषा मानवकी अपनी देन है, उसमें उसका प्रयत्न, विवक्षा और ज्ञान सभी कारण होते हैं।

शब्दार्थ-प्रतिपत्ति :

स्वाभाविक योग्यता और संकेतके कारण शब्द और हस्तसंज्ञा आदि वस्तुकी प्रतिपत्ति करानेवाले होते हैं। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञापक और ज्ञाप्य शक्ति स्वाभाविक है उसी तरह शब्द और अर्थमें प्रतिपादक और प्रतिपाद्य शक्ति स्वाभाविक ही है। जैसे कि हस्तसंज्ञा आदिका अपने अभिव्यञ्जनीय अर्थके साथ सम्बन्ध अनित्य होकर भी इष्ट अर्थकी अभिव्यक्ति करा देता है, उसी तरह शब्द और अर्थका सम्बन्ध अनित्य होकर भी अर्थबोध करा सकता है। शब्द और अर्थका

यह सम्बन्ध माता, पिता, गुरु तथा समाज आदिकी परम्परा द्वारा अनादि कालसे प्रवाहित है और जगत्‌की समस्त व्यवहार-व्यवस्थाका मूल कारण बन रहा है।

ऊपर जिस आप्तके वचनको श्रुत या आगम प्रमाण कहा है, उसका व्यापक लक्षण[1] तो 'अवञ्चकत्व या अविसंवादित्व' ही है, परन्तु आगमके प्रकरणमें वह आप्त—सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी विवक्षित है। मनुष्य अज्ञान और रागद्वेषके कारण मिथ्या भाषणमें प्रवृत्त होता है[2]। जिस वस्तुका ज्ञान न हो, या ज्ञान होकर भी किसीसे राग या द्वेष हो, तो ही असत्य वचनका अवसर आता है। अतः सत्यवक्ता आप्तके लिये पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होना तो आवश्यक है ही, साथ-ही-साथ उसे हितोपदेशी भी होना चाहिये। हितोपदेशकी इच्छाके बिना जगतहितमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हितोपदेशित्वके विना सिद्ध पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होकर भी आप्त-कोटिमें नहीं आते, वे आप्तसे ऊपर हैं। हितोपदेशित्वकी भावना होनेपर भी यदि पूर्ण ज्ञान और वीतरागता न हो, तो अन्यथा उपदेशकी सम्भावना बनी रहती है। यही नीति लौकिक वाक्योंमें तद्विषयक ज्ञान और और तद्विषयक अवञ्चकत्वमें लागू है।

शब्दकी अर्थवाचकता :

अन्यापोह शब्दका वाच्य नहीं :

बौद्ध अर्थको [3]शब्दका वाच्य नहीं मानते। उनका कहना है कि शब्द अर्थके प्रतिपादक नहीं हो सकते; क्योंकि जो शब्द अर्थकी मौजूदगीमें उनका कथन करते हैं वे ही अतीत-अनागतरूपसे अविद्यमान पदार्थोंमें भी प्रयुक्त होते हैं। अतः उनका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अन्यथा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं हो सकेगा। स्वलक्षण अनिर्देश्य है। अर्थमें शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है, जिससे कि अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्दका बोध हो या शब्दके प्रतिभासित होनेपर अर्थका बोध अवश्य हो। वासना और संकेतकी इच्छाके अनुसार शब्द अन्यथा भी संकेतित किये जाते हैं, इसलिए उनका अर्थसे कोई अविनाभाव नहीं है। वे केवल

१. 'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः।'
—अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६।

२. 'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥'—आप्तस्वरूप।

३. 'अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता।
वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मतः॥'
—प्रमाणवा० ३।२०७।

बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहके वाचक होते हैं। यदि[1] शब्दोंका अर्थसे वास्तविक सम्बन्ध होता तो एक ही वस्तुमें परस्पर विरोधी विभिन्न शब्दोंकी और उन शब्दोंके आधारसे रचे हुए विभिन्न दर्शनोंकी सृष्टि न हुई होती। 'अग्नि ठंडी है या गरम' इसका निर्णय जैसे अग्नि स्वयं अपने स्वरूपसे कर देती है, उसी तरह 'कौन शब्द सत्य है और कौन असत्य' इसका निर्णय भी शब्दको अपने स्वरूपसे ही कर देना चाहिये था, पर विवाद आज तक मौजूद है। अतः गौ आदि शब्दोंको सुनकर हमें एक सामान्यका बोध होता है।

यह सामान्य वास्तविक नहीं है। किन्तु विभिन्न गौ व्यक्तियोंमें पाई जानेवाली अगोव्यावृत्तिरूप है। इस अगोपोहके द्वारा 'गौ गौ' इस सामान्यव्यवहारकी सृष्टि होती है। और यह सामान्य उन्हीं व्यक्तियोंको प्रतिभासित होता है, जिनने अपनी बुद्धिमें इस प्रकारके अभेदका भान कर लिया है। अनेक गायोंमें अनुस्यूत एक, नित्य और निरंश गोत्व असत् है, क्योंकि विभिन्न देशवर्ती व्यक्तियोंमें एक साथ एक गोत्वका पाया जाना अनुभवसे विरुद्ध तो है ही, साथ-ही-साथ व्यक्तिके अन्त-रालमें उसकी उपलब्धि न होनेसे बाधित भी है। जिस प्रकार छात्रमण्डल छात्र-व्यक्तियोंको छोड़कर अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वह एक प्रकारकी कल्पना है, जो सम्बन्धित व्यक्तियोंकी बुद्धि तक ही सीमित है, उसी तरह गोत्व और मनुष्यत्वादि सामान्य भी काल्पनिक हैं, बाह्य सत् वस्तु नहीं। सभी गायें गौके कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं और आगे गौके कार्योंको करती हैं, अतः उनमें अगो-कारणव्यावृत्ति और अगोकार्यव्यावृत्ति अर्थात् अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिसे सामान्य-व्यवहार होने लगता है। परमार्थसत् गौ वस्तु क्षणिक है, अतः उसमें संकेत भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। जिस गौव्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जायगा, वह गौ व्यक्ति द्वितीय क्षणमें जब नष्ट हो जाती है, तब वह संकेत व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि अगले क्षणमें जिन गौव्यक्तियों और शब्दोंसे व्यवहार करना है उन व्यक्तियोंमें तो संकेत ही ग्रहण नहीं किया गया है, वे तो असंकेतित ही हैं। अतः शब्द वक्ताकी विवक्षा को सूचित करता हुआ, बुद्धिकल्पित अन्यव्यावृत्ति या अन्या-पोहका ही वाचक होता है, अर्थका नहीं[2]।

---

१. 'परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥'—प्रमाणवा० ३।२०६।

२. "विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते।
ततोऽन्यापोहनिष्ठत्वादुक्ताऽन्यापोहकृच्छ्रुतिः॥"—प्रमाणवा० २।१६४।

[1]इन्द्रियग्राह्य पदार्थ भिन्न होता है और शब्दगोचर अर्थ भिन्न। शब्दसे अन्धा भी अर्थबोध कर सकता है, पर वह अर्थको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। दाह शब्दके द्वारा जिस दाह अर्थका बोध होता है और अग्निको छूकर जिस दाहकी प्रतीति होती है, वे दोनों दाह जुदे-जुदे हैं, इसे समझनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः शब्द केवल कल्पित सामान्यका वाचक है।

यदि शब्द अर्थका वाचक होता, तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह विशद होना चाहिए था। अर्थव्यक्तियाँ अनन्त और क्षणिक हैं, इसलिए जब उनका ग्रहण ही सम्भव नहीं है; तब पहले तो उनमें संकेत[2] ही गृहीत नहीं हो सकता, यदि संकेत गृहीत हो भी जाय, तो व्यवहारकाल तक उसकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उससे अर्थबोध होना असम्भव है। कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है, जो शब्द और अर्थ दोनोंको विषय करता हो, अतः संकेत होना ही कठिन है। स्मरण निर्विषय और गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थ वाच्य है :

किन्तु बौद्धकी यह मान्यता उचित नहीं है[3]। पदार्थमें कुछ धर्म सदृश होते हैं और कुछ विसदृश। सदृश धर्मोंको ही सामान्य कहते हैं। यह अनेकानुगत न होकर प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ है। यदि सादृश्यको वस्तुगत धर्म न माना जाय, तो अगोनिवृत्ति 'अमुक गौव्यक्तियोंमें ही पायी जाती है, अश्वादि व्यक्तियोंमें नहीं, यह नियम कैसे किया जा सकेगा? जिस तरह भाव—अस्तित्व वस्तुका अर्थ है, उसी तरह अभाव—परनास्तित्व भी वस्तुका ही धर्म है। उसे तुच्छ या निःस्वभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। सादृश्यका बोध और व्यवहार हम चाहे अगोनिवृत्ति आदि निषेधमुखसे करें या सास्नादिमत्त्व आदि समानधर्मरूप गोत्व आदिको देखकर करें, पर इससे उसकी परमार्थसत् वस्तुतामें कोई बाधा नहीं आती। जिस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होता है, उसी तरह शब्द-संकेत भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें ही किया जाता है। केवल सामान्यमें यदि संकेत ग्रहण किया जाय, तो उससे विशेषव्यक्तियोंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

---

१. 'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते॥"
—उद्धृत प्रश० व्यो० पृ० ५८४।—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५५३।

२. "तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते।
सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिविरोधतः॥—तत्त्वसं० पृ० २०७।

३. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५५७।

अनन्त विशेषव्यक्तियाँ तत्तत्रूपमें हम लोगोंके ज्ञानका जब विषय ही नहीं बन सकतीं, तब उनमें संकेत ग्रहणकी बात तो अत्यन्त असम्भव है। सदृश धर्मोंकी अपेक्षा शब्दका अर्थमें संकेत ग्रहण किया जाता है। जिस शब्दव्यक्ति और अर्थ-व्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है, भले ही वे व्यवहारकाल तक न जाँय, पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे तत्सदृश दूसरे अर्थकी प्रतीति होनेमें क्या बाधा है? एक घटशब्दका एक घटपदार्थमें संकेत ग्रहण करनेपर भी तत्सदृश यावत् घटोंमें तत्सदृश यावत् घटशब्दोंकी प्रवृत्ति होती ही है। संकेत ग्रहण करने के बाद शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष-बुद्धि अतीत अर्थको जानकर भी प्रमाण है, उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है, न केवल प्रमाण ही, किन्तु सविषयक भी है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है तब शब्द सुनकर तद्वाच्य अर्थका स्मरण करके तथा अर्थको देखकर तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलाया जा सकता है।

एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थको विषय करने पर भी इन्द्रियज्ञान स्पष्ट और शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे कि एक ही वृक्षको विषय करनेवाले दूरवर्ती और समीपवर्ती पुरुषोंके ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट होते हैं।[१] स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदके कारण नहीं आती, किन्तु आवरणके क्षयोपशमसे आती है। फिर शब्दसे होनेवाला अर्थका बोध मानस है और इन्द्रियसे होनेवाला पदार्थका ज्ञान ऐन्द्रियक है। जिस तरह अविनाभावसम्बन्धसे अर्थका बोध करनेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है, उसी तरह वाच्यवाचक-सम्बन्धके बलपर अर्थबोध करानेवाला शब्दज्ञान भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये। हाँ, जिस शब्दमें विसंवाद या संशयादि पाये जाँय, वह अनुमाना-भास और प्रत्यक्षाभासकी तरह शब्दाभास हो सकता है, पर इतने मात्रसे सभी शब्दज्ञानोंको अप्रमाणकोटिमें नहीं डाला जा सकता। कुछ [२]शब्दोंको अर्थव्यभि-चारी देखकर सभी शब्दोंको अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता।

यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो, तो क्षणिकत्व आदिके प्रतिपादक शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे। और तब बौद्ध स्वयं अदृष्ट नदी, देश और पर्वतादिका ज्ञान शब्दोंसे कैसे कर सकेंगे?[३] यदि हेतुवादरूप (परार्थानुमान) शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो; तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसी होगी? इसी

---

१. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५६५।

२. लघीय० श्लो० २७।

३. लघीय० श्लो० २६।

तरह आप्तके वचनके द्वारा[1] यदि अर्थका बोध न हो; तो आप्त और अनाप्तका भेद कैसे सिद्ध होगा ? यदि [2]पुरुषोंके अभिप्रायोंमें विचित्रता होनेके कारण सभी शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिये जायँ, तो सुगतके सर्वशास्तृत्वमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? यदि अर्थव्यभिचार होनेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नहीं हैं; तो अन्य शब्दकी विवक्षामें अन्य शब्दका प्रयोग देखा जानेसे जब विवक्षाव्यभिचार भी होता है, तो उसे विवक्षामें भी प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? जिस तरह सुविवेचित व्याप्य और कार्य अपने व्यापक और कारणका उल्लंघन नहीं कर सकते, उसी तरह सुविवेचित शब्द भी अर्थका व्यभिचारी नहीं हो सकता। फिर शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव भी नहीं है, क्योंकि [3]शब्द वर्ण या पद कहीं अवांछित अर्थको भी कहते हैं और कहीं वाञ्छितको भी नहीं कहते।

यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हों, तो शब्दोंमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि दोनों ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षाका अनुमान तो कराते ही हैं। शब्दमें सत्य और असत्य व्यवस्थाका मूल आधार अर्थप्राप्ति और अप्राप्ति ही बन सकता है। जिस शब्दका अर्थ प्राप्त हो वह सत्य और जिसका अर्थ प्राप्त न हो वह मिथ्या होता है। जिन शब्दोंका बाह्य अर्थ प्राप्त नहीं होता उन्हें ही हम विसंवादी कहकर मिथ्या ठहराते हैं। प्रत्येक दर्शनकार अपने द्वारा प्रतिपादित शब्दोंका वस्तुसम्बन्ध ही तो बतानेका प्रयास करता है। वह उसकी काल्पनिकताका परिहार भी जोरोंसे करता है। अविसंवादका आधार अर्थप्राप्तिको छोड़कर दूसरा कोई बन ही नहीं सकता।

अगोनिवृत्तिरूप सामान्यमें जिस गौकी आप निवृत्ति करना चाहते हैं उस गौका निर्वचन करना ही कठिन है। स्वलक्षणभूत गौकी निवृत्ति तो इसलिये नहीं कर सकते कि वह शब्दके अगोचर है। यदि अगोनिवृत्तिके पेटमें पड़ी हुई गौको भी अगोनिवृत्तिरूप ही कहा जाता है, तो अनवस्थासे पिंड नहीं छूटता। व्यवहारी सीधे गौशब्दको सुनकर गौ अर्थका ज्ञान करते हैं, वे अन्य अगौ आदिका निषेध करके गौ तक नहीं पहुँचते। गायोंमें ही 'अगोनिवृत्ति पायी जाती है।' इसका अर्थ ही है कि उन सबमें यह एक समान धर्म है। 'शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध माननेपर अर्थके देखनेपर शब्द भी सुनाई देना चाहिए' यह आपत्ति अत्यन्त अज्ञान-

१. 'आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः॥'—लघी० का० २८।

२. लघीय० श्लो० २६।

३. लघीय० श्लो० ६४, ६५।

पूर्ण है; क्योंकि वस्तुमें अनन्त धर्म है, उनमेंसे कोई ही धर्म किसी ज्ञानके विषय होते हैं; सब सबके नहीं। जिनकी जब जैसी इन्द्रियादिसामग्री और योग्यता होती है वह धर्म उस ज्ञानका स्पष्ट या अस्पष्टरूपमें विषय बनता है।

यदि गौशब्दके द्वारा अगोनिवृत्ति मुख्यरूपसे कही जाती है; तो गौ शब्दके सुनते ही सबसे पहले 'अगौ' ऐसा ज्ञान श्रोताको होना चाहिये, पर यह देखा नहीं जाता। आप गोशब्दसे अश्वादिकी निवृत्ति करते हैं; तो अश्वादिनिवृत्तिरूप कौन-सा पदार्थ शब्दका वाच्य होगा? असाधारण गौस्वलक्षण तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह समस्त शब्द और विकल्पोंके अगोचर है। शावलेयादि व्यक्तिविशेषको कह नहीं सकते; क्योंकि यदि गो-शब्द शावलेयादिका वाचक होता है तो वह सामान्यशब्द नहीं रह सकता। इसलिए समस्त सजातीय शावलेयादिव्यक्तियोंमें प्रत्येकमें जो सादृश्य रहता है, तन्निमित्तक ही गौबुद्धि होती है और वही सादृश्य सामान्य-रूप है[1]।

आपके मतसे जो विभिन्न सामान्यवाची गौ, अश्व आदि शब्द हैं वे सब मात्र निवृत्तिके वाचक होनेसे पर्यायवाची हो जाँयगे, क्योंकि वाच्यभूत अपोहके नीरूप (तुच्छ) होनेसे उसमें कोई भेद शेष नहीं रहता। एकत्व, नानात्व और संसृष्टत्व आदि धर्म वस्तुमें ही प्रतीत होते हैं। यदि अपोहमें भेद माना जाता है तो वह भी वस्तु ही हो जायगा।

[2]अपोह्य (जिनका अपोह किया जाता है) नामक सम्बन्धियोंके भेदसे अपोह-में भेद डालना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसी दशामें प्रमेय, अभिधेय और ज्ञेय आदि शब्दोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि संसारमें अप्रमेय, अनभिधेय और अज्ञेय आदि की सत्ता ही नहीं है। यदि शावलेयादि गौव्यक्तियोंमें परस्पर सादृश्य न होने पर भी उनमें एक अगोपोहकी कल्पना की जाती है तो गौ और अश्वमें भी एक अपोहकी कल्पना हो जानी चाहिये; क्योंकि शावलेय-गौ व्यक्ति बाहुलेय-गौव्यक्तिसे जब उतनी ही भिन्न है, जितनी कि अश्वव्यक्तिसे तो परस्पर उनमें कोई विशेषता नहीं रहती। अपोहपक्षमें इतरेतराश्रय दोष भी आता है—अगौका व्यवच्छेद करके गौकी प्रतिपत्ति होती है और गौका व्यवच्छेद करके अगौका ज्ञान होता है।

अपोहपक्षमें विशेषणविशेष्य-भावका बनना भी कठिन है; क्योंकि जब 'नीलम् उत्पलम्' यहाँ 'अनीलव्यावृत्तिसे विशिष्ट अनुत्पलव्यावृत्ति' यह अर्थ फलित होता है

---

१. देखो, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४३३।

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४३४।

तब एक व्यावृत्तिका दूसरी व्यावृत्तिसे विशिष्ट होनेका कोई मतलब ही नहीं निकलता। यदि विशेषणविशेष्यभावके समर्थनके लिये अनीलव्यावृत्त नील वस्तु और अनुत्पलव्यावृत्त उत्पल वस्तु 'नीलमुत्पलम्' इस पदका वाच्य कही जाती है; तो अपोहकी वाच्यता स्वयं खण्डित हो जाती है और जिस वस्तुको आप शब्दके अगोचर कहते थे, वही वस्तु शब्दका वाच्य सिद्ध हो जाती है।

यदि गौशब्दके द्वारा अगौका अपोह किया जाता है, तो अगौशब्दका वाच्य भी तो एक अपोह (गो-अपोह) ही होगा। यानी जिसका अपोह (व्यवच्छेद) किया जाता है, वह स्वयं जब अपोहरूप है, तो उस व्यवच्छेद्य अपोहको वस्तुरूप मानना पड़ेगा; क्योंकि प्रतिषेध वस्तुका होता है। यदि अपोहका प्रतिषेध किया जाता है तो अपोहको स्वयं वस्तु ही मानना होगा। इसलिए अश्वादिमें गौ आदिका जो अपोह होता है वह सामान्यभूत वस्तुका ही कहना चाहिये। इस तरह भी शब्द का वाच्य वस्तु ही सिद्ध होती है।

किञ्च' 'अपोह' इस शब्दका वाच्य क्या होगा ? यदि 'अनपोहव्यावृत्ति;' तो 'अनपोहव्यावृत्तिका वाच्य कोई अन्य व्यावृत्ति होगी, इस तरह अनवस्था आती है। अतः यदि अपोहशब्दका वाच्य 'अपोह' विधिरूप माना जाता है; तो अन्य शब्दोंका भी विधिरूप वाच्य माननेमें क्या आपत्ति है ? चूँकि प्रतिनियत शब्दोंसे प्रतिनियत अर्थोंमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए शाब्दप्रत्ययोंका विषय परमार्थ वस्तु ही मानना चाहिये। रह जाती है संकेतकी बात; सो सामान्य-विशेषात्मक पदार्थमें संकेत किया जा सकता है। ऐसा अर्थ वास्तविक है, और संकेत तथा व्यवहारकाल तक द्रव्यदृष्टिसे रहता भी है। समस्त व्यक्तियाँ समान-पर्यायरूप सामान्यकी अपेक्षा तर्कप्रमाणके द्वारा उसी प्रकार संकेतके विषय भी बन जायँगी जिस प्रकार कि अग्नि और धूमकी व्याप्तिके ग्रहण करनेके समय अग्नित्वेन समस्त अग्नियाँ और धूमत्वेन समस्त धूम व्याप्तिके विषय हो जाते हैं।

यह आशंका भी उचित नहीं कि 'शब्दके द्वारा यदि अर्थका बोध हो जाता है, तो चक्षुरादि इन्द्रियोंकी कल्पना व्यर्थ है;' क्योंकि शब्दसे अर्थकी अस्पष्ट रूपमें प्रतीति होती है। अतः उसकी स्पष्ट प्रतीतिके लिए अन्य इन्द्रियोंकी सार्थकता है। यह दूषण भी ठीक नहीं है कि 'जैसे अग्निके छूनेसे फोला पड़ता है और दुःख होता है, उसी तरह दाह शब्दके सुननेसे भी होना चाहिये;' क्योंकि फोला पड़ना या दुःख होना अग्निज्ञानका कार्य नहीं है; किन्तु अग्नि और देहके सम्बन्धका कार्य है। सुषुप्त या मूर्च्छित अवस्थामें ज्ञानके न होनेपर भी अग्निपर हाथ पड़ जानेसे फोला पड़ जाता है और दूरसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा अग्निको देखने पर भी फोला

नहीं पड़ता है। अतः सामग्रीभेदसे एक ही पदार्थमें स्पष्ट-अस्पष्ट आदि नाना प्रतिभास होते हैं।

यदि शब्दका वाच्य वस्तु न हो, तो शब्दोंमें सत्यत्व और असत्यत्व व्यवस्था नहीं की जा सकती। ऐसी दशामें 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इत्यादि आपके वाक्य भी उसी तरह मिथ्या होंगे जिस प्रकार कि 'सर्वं नित्यम्' इत्यादि विरोधी वाक्य। समस्त शब्दोंको विवक्षाका सूचक मानने पर भी यही दूषण अनिवार्य है। यदि शब्दसे मात्र विवक्षाका ज्ञान होता है तो उससे बाह्य अर्थकी प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होनी चाहिये। अतः व्यवहारसिद्धिके लिये शब्दका वाच्य वस्तुभूत सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही मानना चाहिये। शब्दोंमें सत्यासत्य व्यवस्था भी अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिके निमित्तसे ही स्वीकार की जाती है। जो शब्द अर्थ-व्यभिचारी हैं वे खुशीसे शब्दाभास सिद्ध हों, पर इतने मात्रसे सभी शब्दोंका सम्बन्ध अर्थसे नहीं तोड़ा जा सकता और न उन्हें अप्रमाण ही कहा जा सकता है। यह ठीक ही है कि शब्दकी प्रवृत्ति बुद्धिगत संकेतके अनुसार होती है। जिस अर्थमें जिस शब्दका जिस रूपसे संकेत किया जाता है, वह शब्द उस अर्थका उस रूपसे वाचक है और वह अर्थ वाच्य। यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य है; तो वह 'वस्तु' 'अवाच्य' आदि शब्दोंके द्वारा भी नहीं कही जा सकेगी और इस तरह जगत्से समस्त शब्दव्यवहारका उच्छेद ही हो जायगा। हम सभी शब्दोंको अर्थाविनाभावी नहीं कहते, किन्तु 'जिनके वक्ता आप्त हैं वे शब्द कभी भी अर्थके व्यभिचारी नहीं हो सकते' हमारा इतना ही अभिप्राय है।

प्राकृतअपभ्रंश शब्दोंकी अर्थवाचकता (पूर्वपक्ष) :

इस तरह 'शब्द अर्थके वाचक हैं' यह सामान्यतः सिद्ध होनेपर भी मीमांसक और वैयाकरणोंका यह आग्रह[1] है कि सभी शब्दोंमें वाचकशक्ति नहीं है, किन्तु संस्कृत शब्द ही साधु हैं और उन्हींमें वाचकशक्ति है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि शब्द असाधु हैं, उनमें अर्थ प्रतिपादनकी शक्ति नहीं है। जहाँ-कहीं प्राकृत या अपभ्रंश शब्दोंके द्वारा अर्थप्रतीति देखी जाती है, वहाँ वह[2] शक्तिभ्रमसे ही होती है, या उन प्राकृतादि असाधु शब्दोंको सुनकर प्रथम ही संस्कृत-साधु शब्दोंका स्मरण आता है और फिर उनसे अर्थबोध होता है।

---

१. "गवादय एव साधवो न गाव्यादयः इति साधुत्वरूपनियमः।"
—शास्त्रदी० १।३।२७।

२. 'न चापभ्रंशानामवाचकतया कथमर्थावबोध इति वाच्यम्, शक्तिभ्रमवतां बाधकाभावात्। विशेषदर्शिनस्तु द्विविधाः—तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्तः तद्विकलाश्च। तत्र आद्यानां साधुस्मरणद्वारा अर्थबोधः।'—शब्दकौ० पृ० ३२।

इस तरह शब्दराशिके एक बड़े भागको वाचकशक्तिसे शून्य कहनेवाले इस मतमें एक विचित्र साम्प्रदायिक भावना कार्य कर रही है। ये संस्कृत शब्दोंको साधु कहकर[1] और इनमें ही वाचकशक्ति मानकर ही चुप नहीं हो जाते, किन्तु साधुशब्दके उच्चारणको[2] धर्म और पुण्य मानते हैं और उसे ही कर्त्तव्य-विधिमें शामिल करते हैं तथा असाधु अपभ्रंश-शब्दोंके उच्चारणको शक्तिशून्य ही नहीं, पापका कारण भी कहते हैं। इसका मूल कारण है संस्कृतमें रचे गये वेदको धर्म्य और प्रमाण मानना तथा प्राकृत, पाली आदि भाषाओंमें रचे गये जैन, बौद्ध आदि आगमोंको अधर्म्य और अप्रमाण घोषित करना। स्त्री और शूद्रोंको धर्मके अधिकारोंसे वंचित करनेके अभिप्रायसे उनके लिये संस्कृत-शब्दोंका उच्चारण ही निषिद्ध कर दिया गया। नाटकोंमें स्त्री और शूद्र पात्रोंके मुखसे प्राकृतका ही उच्चारण कराया गया है। 'ब्राह्मण[3]को साधु शब्द बोलना चाहिये, अपभ्रंश या म्लेच्छ शब्दोंका व्यवहार नहीं करना चाहिए' आदि विधिवाक्योंकी सृष्टिका एक ही अभिप्राय है कि धर्ममें वेद और वेदोपजीवी वर्गका अबाध अधिकार कायम रहे। अधिकार हथयानेकी इस भावनाने वस्तुके स्वरूपमें ही विपर्यास उत्पन्न कर देनेका चक्र चलाया और एकमात्र संकेतके बलपर अर्थबोध करनेवाले शब्दोंमें भी जातिभेद उत्पन्न कर दिया गया। इतना ही नहीं 'असाधु दुष्ट शब्दोंका उच्चारण वज्र बनकर इन्द्रकी तरह जिह्वाको छेद देगा' यह भय भी दिखाया[4] गया। तात्पर्य यह कि वर्गभेदके विशेषाधिकारोंका कुचक्र भाषाके क्षेत्रमें भी अबाध गतिसे चला।

वाक्यपदीय (१–२७) में शिष्ट पुरुषोंके द्वारा जिन शब्दोंका उच्चारण हुआ है ऐसे आगमसिद्ध शब्दोंको साधु और धर्मका साधन माना है। यद्यपि अपभ्रंश आदि शब्दोंके द्वारा अर्थप्रतीति होती है, चूँकि उनका प्रयोग शिष्ट-जन आगमोंमें नहीं करते हैं, इसलिए वे असाधु हैं।

---

१. 'इत्थं च संस्कृत एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्तत्त्वं साधुत्वम्।'
—वैयाकरणभू० पृ० २४९।

२. 'शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।'
—वाक्यप० १।२७।

३. 'तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष अपशब्दः।'—पात० महा० पस्पशा०।

४. 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।'
—पात० महा० पस्पशा०।

तन्त्रवार्तिक (पृ० २७८) आदिमें भी व्याकरणसिद्ध शब्दोंको साधु और वाचकशक्तियुक्त कहा है और साधुत्वका आधार वृत्तिमत्त्व (संकेतसे अर्थबोध करना) को न मानकर व्याकरणनिष्पन्नत्वको ही अर्थबोध और साधुत्वका आधार माना गया है। इस तरह जब अर्थबोधक शक्ति संस्कृत-शब्दोंमें ही मानी गई, तब यह प्रश्न स्वाभाविक था कि 'प्राकृत और अपभ्रंश आदि शब्दोंसे जो अर्थबोध होता है वह कैसे ?' इसका समाधान द्राविड़ी प्राणायामके ढंगसे किया है। उनका कहना है कि 'प्राकृत आदि शब्दोंको सुनकर पहले संस्कृत शब्दोंका स्मरण होता है और पीछे उनसे अर्थबोध होता है। जिन लोगोंको संस्कृत शब्द ज्ञात नहीं है, उन्हें प्रकरण, अर्थाध्याहार आदिके द्वारा लक्षणासे अर्थबोध होता है। जैसे कि बालक 'अम्मा अम्मा' आदि रूपसे अस्पष्ट उच्चारण करता है, पर सुननेवालोंको तद्वाचक मूल 'अम्ब' शब्दका स्मरण होकर ही अर्थ प्रतीति होती है, उसी तरह प्राकृत आदि शब्दोंसे भी संस्कृत शब्दोंका स्मरण करके ही अर्थबोध होता है। तात्पर्य यह कि कहींपर साधु शब्दोंके स्मरणके द्वारा, कहीं वाचकशक्तिके भ्रमसे, कहीं प्रकरण और अविनाभावी अर्थका ज्ञान आदि निमित्तसे होनेवाली लक्षणासे अर्थ-बोधका निर्वाह हो जाता है। इस तरह एक विचित्र साम्प्रदायिक भावनाके वश होकर शब्दोंमें साधुत्व और असाधुत्वकी जाति कायम की गई है !

उत्तर पक्ष :

[1]किन्तु जब अन्वय लौर व्यतिरेक द्वारा संस्कृत शब्दोंकी तरह प्राकृत और और अपभ्रंश शब्दोंसे स्वतन्त्रभावसे अर्थप्रतीति और लोकव्यवहार देखा जाता है, तब केवल संस्कृत शब्दोंको साधु और वाचकशक्तिवाला बताना पक्षमोहका ही परिणाम है। जिन[2] लोगोंने संस्कृत शब्दोंको स्वप्नमें भी नहीं सुना है, वे निर्बाध रूपसे प्राकृत आदि भाषा-शब्दोंसे ही सीधा व्यवहार करते हैं। अतः उनमें वाचक-शक्ति स्वसिद्ध ही माननी चाहिये। जिनकी वाचकशक्तिका उन्हें भान ही नहीं है उन शब्दोंका स्मरण मानकर अर्थबोधकी बात करना व्यवहारविरुद्ध तो है ही, कल्पनासंगत भी नहीं है। प्रमाद और अशक्तिसे प्राकृत शब्दोंका उच्चारण उन लोगोंका तो माना जा सकता है जो संस्कृत शब्दोंको धर्म मानते हैं, पर जिन असंख्य व्यवहारी लोगोंकी भाषा ही प्राकृत और अपभ्रंशरूप लोकभाषा है और यावज्जीवन वे उसीसे अपनी लोकयात्रा चलाते हैं, उनके लिए प्रमाद और अशक्तिसे

---

१. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७६२।

२. 'म्लेच्छादीनां साधुशब्दपरिज्ञानाभावात् कथं तद्विषया स्मृतिः ? तदभावे न गोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्।'—तत्त्वोप० पृ० १२४।

भाषाव्यवहारकी कल्पना अनुभवविरुद्ध है। बल्कि[1] कहीं-कहीं तो जब बालकोंको संस्कृत पढ़ाई जाती है तब 'वृक्ष, अग्नि' आदि संस्कृत शब्दोंका अर्थबोध, 'रूख' 'आगी' आदि अपभ्रंश शब्दोंसे ही कराया जाता है।

अनादिप्रयोग, विशिष्टपुरुषप्रणीतता, बाधारहितता, विशिष्टार्थवाचकता और प्रमाणान्तरसंवाद आदि धर्म संस्कृतकी तरह प्राकृतादि शब्दोंमें भी पाये जाते हैं।

यदि संस्कृत शब्दके उच्चारणसे ही धर्म होता हो; तो अन्य व्रत, उपवास आदि धर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं।

'प्राकृत' शब्द स्वयं अपनी स्वाभाविकता और सर्वव्यवहार-मूलकताको कह रहा है। संस्कृतका अर्थ है संस्कार किया हुआ और प्राकृतका अर्थ है स्वाभाविक। किसी विद्यमान वस्तुमें कोई विशेषता लाना ही संस्कार कहलाता है और वह इस अर्थमें कृत्रिम ही है।

"प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं तत आगतं प्राकृतम्" प्राकृतकी यह [2]व्युत्पत्ति व्याकरणकी दृष्टिसे है। पहले संस्कृतके व्याकरण बने हैं और पीछे प्राकृतके व्याकरण। अतः व्याकरण-रचनामें संस्कृत-शब्दोंको प्रकृति मानकर, वर्ण-विकार वर्णागम आदिसे प्राकृत और अपभ्रंशके व्याकरणकी रचनाएँ हुई हैं। किन्तु प्रयोगकी दृष्टिसे तो [3]प्राकृत शब्द ही स्वाभाविक और जन्मसिद्ध हैं। जैसे कि मेघका जल स्वभावतः एकरूप होकर भी नीम, गन्ना आदि विशेष आधारोंमें संस्कारको पाकर अनेकरूपमें परिणत हो जाता है, उसी तरह स्वाभाविक सबकी बोली प्राकृत भाषा पाणिनि आदिके व्याकरणोंसे संस्कारको पाकर उत्तरकालमें संस्कृत आदि नामोंको पा लेती है। पर इतने मात्रसे वह अपने मूलभूत प्राकृत शब्दोंकी अर्थबोधक शक्तिको नहीं छीन सकती।

---

१. 'विपर्ययदर्शनाच्च···"—वादन्यायटी० पृ० १०५।

२. देखो, हेम० प्र०, प्राकृतसर्व०, प्राकृतच०, वाग्भटा० टी० २।२। नाट्यशा० १७।२। त्रि० प्रा० पृ० १। प्राकृतसं०।

३. 'प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यवहारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणसिद्धदेवाणं अद्धमग्गहा वाणी इत्यादि-वचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतम्, बालमहिलादिसकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।' —काव्या० रुद्र० नमि० २।१२।

अर्थबोधके लिए संकेत ही मुख्य आधार है। 'जिस शब्दका, जिस अर्थमें, जिन लोगोंने संकेत ग्रहण कर लिया है, उन शब्दोंसे उन लोगोंको उस अर्थका बोध हो जाता है' यह एक साधारण नियम है। यदि ऐसा न होता तो संसारमें देशभेदसे सैकड़ों प्रकारकी भाषाएँ न बनतीं। एक ही पुस्तकरूप अर्थका 'ग्रन्थ, किताब, पोथी' आदि अनेक देशीय शब्दोंके वाचकव्यवहारमें जब कोई बाधा या असंगति नहीं आई, तब केवल संस्कृत-शब्दमें ही वाचकशक्ति माननेका दुराग्रह और उसीके उच्चारणसे धर्म माननेकी कल्पना तथा स्त्री और शूद्रोंको संस्कृत शब्दोंके उच्चारणका निषेध आदि वर्ग-स्वार्थकी भीषण प्रवृत्तिके ही दुष्परिणाम हैं। धर्म और अधर्मके साधन किसी जाति और वर्गके लिए जुदे नहीं होते। जो ब्राह्मण यज्ञ आदिके समय संस्कृत शब्दोंका उच्चारण करते हैं, वे ही व्यवहार-कालमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दोंसे ही अपना समस्त जीवन-व्यवहार चलाते हैं। बल्कि हिसाब लगाया जाय तो चौबीस घंटोंमें संस्कृत शब्दोंका व्यवहार पाँच प्रतिशतसे अधिक नहीं होता होगा। व्याकरणके बन्धनोंमें भाषाको बाँधकर उसे परिष्कृत और संस्कृत बनानेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। और इस तरह वह कुछ विशिष्ट वाग्-विलासियोंकी ज्ञान और विनोदकी सामग्री भले ही हो जाय, पर इससे शब्दोंकी सर्वसाधारण वाचकशक्तिरूप सम्पत्तिपर एकाधिकार नहीं किया जा सकता। 'संकेतके अनुसार संस्कृत भी अपने क्षेत्रमें वाचकशक्तिकी अधिकारिणी हो, और शेष भाषाएँ भी अपने-अपने क्षेत्रमें संकेताधीन वाचकशक्तिकी समान अधिकारिणी रहें' यही एक तर्कसंगत और व्यवहारी मार्ग है।

शब्दकी साधुताका नियामक है 'अवितथ-सत्य अर्थका बोधक होना' न कि उसका संस्कृत होना। जिस प्रकार संस्कृत शब्द यदि अवितथ-सत्य अर्थका बोधक होनेसे साधु हो सकता है, तो उसी तरह प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ भी सत्यार्थ-का प्रतिपादन करनेसे साधु बन सकती हैं।

जैन परम्परा जन्मगत जातिभेद और तन्मूलक विशेष अधिकारोंको स्वीकार नहीं करती। इसीलिए वह वस्तुविचारके समय इन वर्गस्वार्थ और पक्षमोहके रंगीन चश्मोंको दृष्टिपर नहीं चढ़ने देती और इसीलिए अन्य क्षेत्रोंकी तरह भाषाके क्षेत्रमें भी उसने अपनी निर्मल दृष्टिसे अनुभवमूलक सत्य-पद्धतिको ही अपनाया है।

शब्दोच्चारणके लिए जिह्वा, तालु और कंठ आदिकी शक्ति और पूर्णता अपेक्षित होती है और सुननेके लिए श्रोत्र-इन्द्रियका परिपूर्ण होना। ये दोनों इन्द्रियाँ जिस व्यक्तिके भी होंगी, वह बिना किसी जातिभेदके सभी शब्दोंका

उच्चारण कर सकता है और सुन सकता है और जिन्हें जिन-जिन शब्दोंका संकेत गृहीत है उन्हें उन-उन शब्दोंको सुनकर अर्थबोध भी बराबर होता है। 'स्त्री और शूद्र संस्कृत न पढ़ें तथा द्विज ही पढ़ें' इस प्रकारके विधि-निषेध केवल वर्गस्वार्थ-की भित्तिपर आधारित हैं ! वस्तुस्वरूपके विचारमें इनका कोई उपयोग नहीं है, बल्कि ये वस्तुस्वरूपको विकृत ही कर देते हैं।

उपसंहार :

इस तरह परोक्ष-प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद होते हैं। इनमें 'अविशद ज्ञान' यह सामान्य लक्षण समानरूपसे पाया जाता है। अतः एक लक्षणसे लक्षित होनेके कारण ये सब परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भूत हैं; भले ही इनकी अवान्तरसामग्री जुदा-जुदा हो। रह जाती है अमुक ग्रन्थको प्रमाण मानने और न माननेकी बात, सो उसका आधार अविसंवाद ही हो सकता है। जिन वचनों या जिनके वचनोंमें अविसंवाद पाया जाय, वे प्रमाण होते हैं और विसंवादी वचन अप्रमाण। यह विवेक समग्र ग्रन्थके भिन्न-भिन्न अंशोंके सम्बन्धमें भी किया जा सकता है। इसमें सावधानी इतनी ही रखनी है कि अविसंवादित्वकी जाँचमें हमें भ्रम न हो। उसका अन्तिम निष्कर्ष केवल वर्तमान-कालीन सीमित साधनोंसे ही नहीं निकाला जाना चाहिये, किन्तु त्रैकालिक कार्य-कारणभावकी सुनिश्चित पद्धतिसे ही उसकी जाँच होनी चाहिये। इस खरी कसौटीपर जो वाक्य अपनी यथार्थता और सत्यार्थताको साबित कर सकें वे प्रमाणसिद्ध हैं और शेष अप्रमाण। यही बात आप्तके सम्बन्धमें है। 'यो यत्र वञ्चकः स तत्र आप्तः' अर्थात् जो जिस अंशमें अवंचक—अविसंवादी है वह उस अंशमें आप्त है। इस सामान्य सूत्रके अनुसार लोकव्यवहार और आगमिक परम्परा दोनोंमें आप्तका निर्णय किया जा सकता है और आगमप्रमाण की सीमा लोक और शास्त्र दोनों तक विस्तृत की जा सकती है। यही जैन परम्पराने किया भी है।

ज्ञानके कारण :

अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं :

ज्ञानके कारणोंका विचार करते समय जैनतार्किकोंको यह दृष्टि रही है कि ज्ञानकी कारणसामग्रीमें ज्ञानकी शक्तिको उपयोगमें लानेके लिए या उसे लब्धि अवस्थासे व्यापार करनेकी ओर प्रवृत्त करनेमें जो अनिवार्य साधकतम हों उन्हींको शामिल करना चाहिये। इसीलिए ज्ञानके व्यापारमें अन्तरंग कारण उसकी शक्ति

अर्थात् क्षयोपशमविशेषरूप योग्यता ही मानी गई है। इसके बिना ज्ञानकी प्रकटता नहीं हो सकती, वह उपयोगरूप नहीं बन सकता। बाह्य कारण इन्द्रिय और मन हैं, जिनके होनेपर ज्ञानकी योग्यता पदार्थोंके जाननेका व्यापार करती है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके व्यापारसे ज्ञानकी शक्ति उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको जानती है। इन्द्रियव्यापारके समय मनके व्यापारका होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए इन्द्रियप्रत्यक्षमें इन्द्रियोंकी मुख्यता होनेपर भी मनको बलाधायक—बल देनेवाला स्वीकार किया गया है। मानसप्रत्यक्ष या मानसज्ञानमें केवल मनोव्यापार ही कार्य करता है। इन्द्रिय और मनका व्यापार होनेपर जो भी पदार्थ सामने होगा उसका ज्ञान हो ही जायगा। इन्द्रिय और मनके व्यापार नियमसे ज्ञानकी शक्तिको उपयोगमें ला ही देते हैं, जब कि अर्थ और आलोक आदि कारणोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे ज्ञानकी शक्तिको उपयोगमें ला ही दें। पदार्थ और प्रकाश आदिके रहनेपर भी सुषुप्त और मूच्छित आदि अवस्थाओंमें ज्ञानकी शक्तिका बाह्य व्यापार नहीं होता। यदि इन्द्रिय और मनकी तरह अर्थ और आलोक आदिको भी ज्ञानका कारण स्वीकार कर लिया जाय, तो सुषुप्त अवस्था और ध्यानका होना असम्भव हो जाता है; क्योंकि पदार्थ और प्रकाशका सान्निध्य जगत्में बना ही हुआ है। विग्रहगति (एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको धारण करनेके लिए की जानेवाली मरणोत्तर गति) में इन्द्रिय और मनकी पूर्णता न होनेसे पदार्थ और प्रकाश आदिका सन्निधान होनेपर भी ज्ञानकी उपयोग अवस्था नहीं होती। अतः ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक यदि मिलता है तो इन्द्रिय और मनके साथ ही, अर्थ और आलोकके साथ नहीं। जिस प्रकार तेल, बत्ती, अग्नि आदि अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला प्रकाश मिट्टी, कुम्हार आदि अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए घड़ेको प्रकाशित करता है, उसी तरह कर्मक्षयोपशम और इन्द्रियादि कारणोंसे उपयोग अवस्थामें आया हुआ ज्ञान अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले जगत्के पदार्थोंको जानता है। जैसे दीपक न तो घटसे उत्पन्न हुआ है और न घटके आकार ही है, फिर भी वह घटका प्रकाशक है; उसी तरह ज्ञान घटादि पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर और उनके आकार न होकर भी उन पदार्थोंको जाननेवाला होता है।

बौद्धोंके चार प्रत्यय और तदुत्पत्ति आदि :

बौद्ध चित्त और चैत्तोंकी उत्पत्तिमें चार प्रत्यय मानते[1] हैं—

(१) समनन्तर प्रत्यय, (२) अधिपति प्रत्यय, (३) आलम्बन प्रत्यय और

---

१. 'चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् ।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥'—माध्यमिककारिका १।२ ।

(४) सहकारी प्रत्यय। प्रत्येक ज्ञानकी उत्पत्तिमें अनन्तर पूर्वज्ञान समनन्तर प्रत्यय होता है, अर्थात् पूर्व ज्ञानक्षण उत्तर ज्ञानक्षणको उत्पन्न करता है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय होती हैं; क्योंकि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानकी मालिकी इन्द्रियाँ ही करती हैं यानी चाक्षुषज्ञान, श्रावणज्ञान आदि व्यवहार इन्द्रियोंके स्वामित्वके कारण ही इन्द्रियोंसे होते हैं। जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह पदार्थ आलम्बन प्रत्यय होता है। अन्य प्रकाश आदि कारण सहकारी प्रत्यय कहे जाते हैं।

सौत्रान्तिक बौद्धोंका यह सिद्धान्त[1] है कि जो ज्ञानका कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय नहीं हो सकता।

नैयायिक आदि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे ज्ञानकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। अतः इनके मतसे भी सन्निकर्षके घटक रूपमें पदार्थ ज्ञानका कारण हो जाता है।

बौद्ध-मतमें सभी पदार्थ क्षणिक हैं। जब उनसे पूछा गया कि 'ज्ञान पदार्थ और इन्द्रियोंसे उत्पन्न होकर भी केवल पदार्थको ही क्यों जानता है, इन्द्रियोंको क्यों नहीं जानता ?' तब उन्होंने अर्थजन्यताके साथ-ही-साथ ज्ञानमें अर्थाकारताको भी स्थान दिया यानी जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है और जिसके आकार होता है वह उसीको जानता है। 'द्वितीयज्ञान प्रथमज्ञानसे उत्पन्न भी होता है, उसके आकार भी रहता है अर्थात् जो आकार प्रथमज्ञानमें है वही आकार द्वितीयज्ञानमें भी होता है, फिर द्वितीयज्ञान प्रथमज्ञानको नहीं जानता ?' इस प्रश्नके समाधानके लिये उन्हें तदध्यवसाय भी मानना पड़ा अर्थात् जो ज्ञान जिससे उत्पन्न हो, जिसके आकार हो और जिसका अध्यवसाय (अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करना) करे, वह उस पदार्थको जानता है। चूँकि नीलज्ञान 'नीलमिदम्' ऐसे विकल्पको उत्पन्न करता है, 'पूर्वज्ञानमिदम्' इस विकल्पको नहीं, अतः वह नीलको ही जानता है, पूर्वज्ञानको नहीं। इस तरह उन्होंने तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसायको ज्ञानका विषयनियामक स्वीकार किया है। 'प्रथमक्षणवर्ती पदार्थ जब ज्ञानको उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है, तब वह ग्राह्य कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्नका[2] समाधान तदाकारतासे किया गया अर्थात् पदार्थ अगले क्षणमें भले ही नष्ट हो जाय, परन्तु वह अपना आकार ज्ञानमें दे जाता है, इसीलिए ज्ञान उस अर्थको जानता है।

---

१. 'नाकरणं विषयः।'—उद्धृत बोधिचर्या० पृ० ३९८।

२. 'भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥' —प्रमाणवा० २।२४७।

अर्थ कारण नहीं :

जैन दार्शनिकोंमें सर्वप्रथम अकलंकदेवने उक्त विचारोंकी आलोचना करते हुए ज्ञानके प्रति मन[1] और इन्द्रियकी कारणताका सिद्धान्त स्थिर किया है; जो कि परम्परागत जैनमान्यता[2] का दिग्दर्शन मात्र है। वे अर्थ और आलोककी कारणताका अपनी अन्तरङ्ग सूक्ष्म दृष्टिसे निरास करते हैं कि ज्ञान[3] अर्थका कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है।' वह यह नहीं जानता कि 'मैं इस अर्थसे उत्पन्न हुआ हूँ।' यदि ज्ञान स्वयं यह जानता होता तो विवादकी गुञ्जाइश ही नहीं थी। इन्द्रियादिसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अर्थके परिच्छेदमें व्यापार करता है और अपने उत्पादक इन्द्रियादि कारणोंकी सूचना भी करता है। ज्ञानका अर्थके साथ जब निश्चित अन्वय और व्यतिरेक नहीं है, तब उसके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव स्थिर नहीं किया जा सकता। संशय और विपर्यय ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थोंके अभावमें भी इन्द्रियदोष आदिसे उत्पन्न होते हैं। पदार्थोंके बने रहने पर भी इन्द्रिय और मनका व्यापार न होनेपर सुषुप्त मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें ज्ञान नहीं होता। यदि मिथ्याज्ञानमें इन्द्रियोंकी दुष्टता हेतु है तो सम्यग्ज्ञानमें इन्द्रियोंकी निर्दोषताको ही कारण होना चाहिये।

[4]अन्य कारणोंसे उत्पन्न बुद्धिके द्वारा सन्निकर्षका निश्चय होता है। सन्निकर्षमें प्रविष्ट अर्थके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा, जब सन्निकर्ष, आत्मा, मन और इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञानके विषय हों। परन्तु आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं। अतः पदार्थके साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी स्वभावतः अतीन्द्रिय ही होगा। और इस तरह जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसकी ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणता कैसे मानी जाय ?

ज्ञान अर्थको तो जानता है, पर अर्थमें रहनेवाली ज्ञानकारणताको नहीं जानता। जब ज्ञान अतीत और अनागत पदार्थोंको, जो कि ज्ञानकालमें अविद्यमान हैं, जानता है तब अर्थकी ज्ञानके प्रति कारणता अपने आप निस्सार सिद्ध हो जाती है। कामलादिरोगवालेको सफेद शंखमें अविद्यमान पीलेपनका ज्ञान होता है और

---

१. 'ततः सुभाषितम्—इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः।'
—लघी० स्व० श्लो० ५४

२. 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।' —त० सू० १।१४।

३. लघी० श्लो० ५३।

४. लघी० स्व० श्लो० ५५।

मरणोन्मुख व्यक्तिको पदार्थके रहने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता या विपरीत ज्ञान होता है।

क्षणिक पदार्थ तो ज्ञानके प्रति कारण भी नहीं हो सकते; क्योंकि जब वह क्षणिक होनेसे कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय? अर्थके होनेपर भी उसके कालमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तथा अर्थके अभावमें ही ज्ञान उत्पन्न होता है, तब ज्ञान अर्थका कार्य कैसे माना जा सकता है? कार्य और कारण समानकालमें तो नहीं रह सकते।

ज्ञान[1] अमूर्त्त है, अतः वह मूर्त्त अर्थके प्रतिबिम्बको भी धारण नहीं कर सकता। मूर्त्त दर्पण आदिमें ही मूर्त्त मुख आदिका प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त्तमें मूर्त्तका नहीं।

यदि पदार्थसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञानमें विषयप्रतिनियम हो; तो घटज्ञानको घटकी तरह कारणभूत इन्द्रिय आदिको भी विषय करना चाहिए। तदाकारतासे विषयप्रतिनियम मानने पर एक घटका ज्ञान होनेसे उस आकारवाले यावत् घटोंका परिज्ञान हो जाना चाहिये। यदि तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर नियामक हैं, तो द्वितीय घटज्ञानको प्रथम घटज्ञानका नियामक होना चाहिये; क्योंकि प्रथम घटज्ञानसे वह उत्पन्न हुआ है और जैसा प्रथम घटज्ञानका आकार है वैसा ही आकार उसमें होता है। तदध्यवसायसे भी वस्तुका प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्ल शंखमें होनेवाले पीताकार ज्ञानसे उत्पन्न द्वितीय ज्ञानमें अनुकूल अध्यवसाय तो देखा जाता है पर नियामकता नहीं है।

अतः अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न ज्ञान और अर्थमें दीपक और घटके प्रकाश्य-प्रकाशकभावकी तरह ज्ञेय-ज्ञायकभाव मानना ही उचित है। जैसे देवदत्त और काठ अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न होकर भी छेदन क्रियाके कर्त्ता और कर्म बन जाते हैं उसी तरह अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न ज्ञेय और ज्ञानसे भी ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव हो जाता है[2]। जिस प्रकार खदानसे निकली हुई मलिन मणि अनेक शाण आदि कारणोंसे न्यूनाधिकरूपमें निर्मल और स्वच्छ होती है उसी तरह कर्ममुक्त मलिन आत्माका ज्ञान भी अपनी विशुद्धिके अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यताके अनुसार पदार्थोंको जानता है। अतः अर्थको ज्ञानमें साधकतम कारण नहीं माना जा सकता। पदार्थ तो जगत्‌में विद्यमान हैं ही, जो सामने आ गया उसे मात्र इन्द्रिय और मन के व्यापारसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान जानेगा ही।

---

१. लघी० स्व० श्लो० ५८।

२. 'स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः॥'—लघी० स्व० श्लो० ५९।

आधुनिक विज्ञान मस्तिष्कमें प्रत्येक विचारकी प्रतिनिधिभूत जिन सीधी-टेढ़ी रेखाओंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं वे रेखाएँ पदार्थाकारताका प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, किन्तु वे परिपक्व अनुभवके संस्कारोंकी प्रतिनिधि हैं। यही कारण है कि यथाकाल उन संस्कारोंके उद्बोध होने पर स्मृति आदि उत्पन्न होते हैं। अतः अन्तरङ्ग और साधकतम दृष्टिसे इन्द्रिय और मन ही ज्ञानके कारणोंमें गिनाये जानेके योग्य हैं, अर्थादि नहीं।

आलोक भी ज्ञानका कारण नहीं :

इसी तरह [1]आलोक ज्ञानका विषय तो होता है, कारण नहीं। जो जिस ज्ञानका विषय होता है वह उस ज्ञानका कारण नहीं होता, जैसे कि अन्धकार। आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय और व्यतिरेक भी नहीं है। आलोकके अभावमें अन्धकारका ज्ञान होता है। रात्रिचर उल्लू आदिको आलोकके अभावमें ही ज्ञान होता है, सद्भावमें नहीं। रात्रिमें अन्धकार तो दिखता है, पर उससे आवृत अन्य पदार्थ नहीं। अन्धकारको ज्ञानका आवरण भी नहीं मान सकते; क्योंकि वह ज्ञानका विषय होता है। ज्ञानका आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसीके क्षयोपशमकी तरतमतासे ज्ञानके विकासमें तारतम्य होता है। यह एक साधारण नियम है कि जो जिस ज्ञानका विषय होता है वह उस ज्ञानका कारण नहीं होता, जैसे कि अन्धकार। अतः आलोकके साथ ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक न होनेसे आलोक भी ज्ञानका कारण नहीं हो सकता।

विषयकी दृष्टिसे ज्ञानोंका विभाजन और नामकरण भी नहीं किया जाता। ज्ञानोंका विभाजन और नामकरण तो इन्द्रिय और मन रूप कारणोंसे उत्पन्न होनेकी वजहसे चाक्षुष, रासन, स्पार्शन, घ्राणज, श्रोत्रज और मनोजन्य—मानसके रूपमें मानना ही उचित और युक्तिसंगत है। पदार्थोंकी दृष्टिसे ज्ञानका विभाजन और नामकरण न संभव है और न शक्य ही। इसलिए भी अर्थ आदिको ज्ञानमें कारण मानना उचित नहीं जँचता।

प्रमाणका फल :

जैन दर्शनमें जब प्रमाके साधकतमरूपमें ज्ञानको ही प्रमाण माना है, तब यह स्वभावतः फलित होता है कि उस ज्ञानसे होने वाला परिणमन ही फलका स्थान पावे। ज्ञान दो कार्य करता है—अज्ञानकी निवृत्ति और स्व-परका व्यवसाय। ज्ञानका आध्यात्मिक फल मोक्षकी प्राप्ति है; जो तार्किक क्षेत्रमें विवक्षित नहीं है। वह तो अध्यात्मज्ञानका ही परम्परा फल है। प्रमाणसे साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति

---

१. देखो, लघी० श्लो० ५६।

होती है। जैसे प्रकाश अन्धकारको हटाकर पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान अज्ञानको हटाकर पदार्थोंका बोध कराता है। अज्ञानकी निवृत्ति और पदार्थोंका ज्ञान ये दो पृथक् चीजें नहीं हैं और न इनमें काल-भेद ही है, ये तो एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। पदार्थबोधके बाद होनेवाला हान—हेयका त्याग, उपादान और उपेक्षाबुद्धि प्रमाणके परम्परा फल हैं। मति आदि ज्ञानोंमें हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियाँ फल होती हैं, पर केवलज्ञान[1]का फल केवल उपेक्षाबुद्धि ही है। राग और द्वेषमें चित्तका प्रणिधान नहीं होना, उपेक्षा कहलाती है। चूँकि केवलज्ञानी वीतरागी हैं, अतः उनके रागद्वेषमूलक हान और उपादान बुद्धि नहीं हो सकती।

जैन परम्परामें ज्ञान आत्माका अभिन्न गुण है। इसी ज्ञानकी पूर्व अवस्था प्रमाण कहलाती है और उत्तर अवस्था फल। जो ज्ञानधारा अनेक ज्ञानक्षणोंमें व्याप्त रहती है, उस ज्ञानधाराका पूर्वक्षण साधकतम होनेसे प्रमाण होता है और उत्तरक्षण साध्य होनेसे फल। 'अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और हानादिबुद्धि' इस धारामें अवग्रह केवल प्रमाण ही है और हानादिबुद्धि केवल फल ही, परन्तु ईहासे धारणा पर्यन्त ज्ञान पूर्वकी अपेक्षा फल होकर भी अपने उत्तरकार्यकी अपेक्षा प्रमाण भी हो जाते हैं।[2] एक ही आत्माका ज्ञानव्यापार जब ज्ञेयोन्मुख होता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उसके द्वारा अज्ञाननिवृत्ति या अर्थप्रकाश होता है तब वह फल कहलाता है।

[3]नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य आदि इन्द्रियको प्रमाण मानकर इन्द्रियव्यापार, सन्निकर्ष, आलोचनाज्ञान, विशेषणज्ञान, विशेष्यज्ञान, हान, उपादान आदि बुद्धि तककी धारामें इन्द्रियको प्रमाण ही मानते हैं और हानोपादान आदि बुद्धिको फल ही। बीचके इन्द्रियव्यापार और सन्निकर्ष आदिको पूर्व पूर्वकी अपेक्षा फल और उत्तर उत्तरकी अपेक्षा प्रमाण स्वीकार करते हैं। प्रश्न इतना ही है कि जब प्रमाणका कार्य अज्ञानकी निवृत्ति करना है तब उस कार्यके लिए इन्द्रिय, इन्द्रिय-व्यापार और सन्निकर्ष, जो कि अचेतन हैं, कैसे उपयुक्त हो सकते हैं। चेतन प्रमामें साधकतम तो ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नहीं। अतः सविकल्पक ज्ञानसे ही

---

१. 'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥'—आप्तमी० श्लो० १०२।

२. पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्।'—लघी० श्लो० ७।

३. देखो, न्यायभा० १।१।३। प्रश० कन्दली पृ० १९८-९९।
मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ५९-७१। सांख्यतत्त्वकौ० श्लो० ४।

प्रमाणव्यवहार प्रारम्भ होना चाहिये, न कि इन्द्रियसे। अन्धकारनिवृत्तिके लिए अन्धकारविरोधी प्रकाश ही ढूँढ़ा जाता है न कि तदविरोधी घट, पट, आदि पदार्थ। इन्हीं परम्पराओंको उपनिषदोंमें यद्यपि तत्त्वज्ञानका चरम फल निःश्रेयस भी बताया गया है, परन्तु तर्कयुगमें उसकी प्रमुखता नहीं रही।

बौद्ध[1] परम्पराकी सौत्रान्तिक शाखामें बाह्य अर्थका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, इसलिए वे ज्ञानगत अर्थाकारता या सारूप्यको प्रमाण मानते हैं और विषयके अधिगमको प्रमाणका फल। ये सारूप्य और अधिगम दोनों ज्ञानके ही धर्म हैं। एक ही ज्ञान जिस क्षणमें व्यवस्थापनहेतु होनेसे प्रमाण कहलाता है वही उसी क्षणमें व्यवस्थाप्य होनेसे फल नाम पा जाता है। यद्यपि ज्ञान निरंश है, अतः उसमें उक्त दो अंश पृथक् नहीं होते, फिर भी अन्यव्यावृत्तिकी अपेक्षा (असारूप्यव्यावृत्तिसे सारूप्य, और अनधिगमव्यावृत्तिसे अधिगम) दो व्यवहार हो जाते हैं। विज्ञानवादी बौद्धोंके मतमें बाह्य अर्थका अस्तित्व न होनेसे ज्ञानगत योग्यता ही प्रमाण मानी जाती है और स्वसंवेदन फल। एक ही ज्ञानकी सव्यापार प्रतीति होनेसे उसीमें प्रमाण और फल ये दो पृथक् व्यवहार व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकका भेद मानकर कर लिये जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान तो निरंश है, उसमें उक्त भेद है ही नहीं।

प्रमाण और फलका भेदाभेद :

जैन परम्परामें चूँकि एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनों रूपसे परिणति करता है, अतः प्रमाण और फल अभिन्न माने गये हैं, तथा कार्य और कारणरूपसे क्षणभेद और पर्यायभेद होनेके कारण वे भिन्न हैं। बौद्धपरम्परामें आत्माका अस्तित्व न होनेसे एक ही ज्ञानक्षणमें व्यावृत्तिभेदसे भेदव्यवहार होनेपर भी वस्तुतः प्रमाण और फलमें अभेद ही माना जा सकता है। नैयायिक आदि इन्द्रिय और सन्निकर्षको प्रमाण माननेके कारण फलभूत ज्ञानको प्रमाणसे भिन्न ही मानते हैं। इस भेदाभेद-विषयक चर्चामें जैन परम्पराने अनेकान्तदृष्टिका ही उपयोग किया है और द्रव्य तथा पर्याय दोनोंको सामने रखकर प्रमाणफलभाव घटाया है। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनने अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धिको ही प्रमाणका फल बताया और अकलंकदेवने पूर्व-पूर्व ज्ञानोंको प्रमाण और उत्तर-उत्तर ज्ञानोंको फल कहकर एक ही ज्ञानमें अपेक्षाभेदसे प्रमाणरूपता और फलरूपताका भी समर्थन किया है।

---

१. "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"—तत्त्वसं० का० १३४४।

बौद्धोंके मतमें प्रमाण-फलव्यवहार, व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक दृष्टिसे है, जबकि नैयायिक आदिके मतमें यह व्यवहार कार्यकारण-भाव-निमित्तक है और जैन परम्परामें इस व्यवहारका आधार परिणामपरिणामीभाव है। पूर्वज्ञान स्वयं उत्तर-ज्ञान रूपसे परिणत होकर फल बन जाता है। एक आत्मद्रव्यकी ही ज्ञान पर्यायोंमें यह प्रमाणफलभावकी व्यवस्था अपेक्षाभेदसे सम्भव होती है।

यदि प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद माना जाता है तो उनमें एक व्यवस्थाप्य और दूसरा व्यवस्थापक, एक प्रमाण और दूसरा फल यह भेदव्यवहार नहीं हो सकता। सर्वथा भेद मानने पर आत्मान्तरके प्रमाणके साथ आत्मान्तरके फलमें भी प्रमाण-फल व्यवहार नहीं हो सकेगा। अचेतन इन्द्रियादिके साथ चेतन ज्ञानमें प्रमाणफल व्यवहार तो प्रतीतिविरुद्ध है। जिसे[1] प्रमाण उत्पन्न होता है, उसीका अज्ञान हटता है, वही अहितको छोड़ता है, हितका उपादान करता है और उपेक्षा करता है। इस तरह एक अनुस्यूत आत्माकी दृष्टिसे ही प्रमाण और फलमें कथञ्चित् अभेद कहा जा सकता है। आत्मा प्रमाता है, उसका अर्थपरिच्छित्तिमें साधकतम रूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप प्रमाण है, तथा व्यापार प्रमिति है। इस प्रकार पर्यायकी दृष्टिसे उनमें भेद है।

प्रमाणाभास :

ऊपर जिन प्रमाणोंकी चर्चा की गई है, उनके लक्षण जिसमें न पाये जाँय, पर जो उनकी तरह प्रतिभासित हों वे सब प्रमाणाभास हैं। यद्यपि उक्त विवेचनसे पता लग जाता है कि कौन-कौन प्रमाणाभास हैं, फिर भी इस प्रकरणमें उनका स्पष्ट और संयुक्तिक विवेचन करना अपेक्षित है।

[2]अस्वसंवेदी ज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि प्रमाणाभास हैं; क्योंकि इनके द्वारा प्रवृत्तिके विषयका यथार्थ उपदर्शन नहीं होता। जो अस्वसंवेदी ज्ञान अपने स्वरूपको ही नहीं जानता वह पुरुषान्तरके ज्ञानकी तरह हमें अर्थबोध कैसे करा सकता है? निर्विकल्पक दर्शन संव्यवहारानुपयोगी होनेके कारण प्रमाणकी कक्षामें शामिल नहीं किया जाता। वस्तुतः जब ज्ञानको प्रमाण माना है तब प्रमाण और प्रमाणाभासकी चिन्ता भी ज्ञानके क्षेत्रमें ही की जानी चाहिये। बौद्धमतमें शब्दयोजनाके पहलेवाले ज्ञानको या शब्दसंसर्गकी योग्यता न रखनेवाले जिस ज्ञानको निर्विकल्पक दर्शन शब्दसे कहा है, उस संव्यवहारानुपयोगी

---

१. 'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः।'

—परीक्षामुख ५।३।

२. 'अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः।'

—परीक्षामुख ६।२।

दर्शनको ही प्रमाणाभास कहना यहाँ इष्ट है, क्योंकि संव्यवहारके लिए ही अर्थ-क्रियार्थी व्यक्ति प्रमाणकी चिन्ता करते हैं। धवलादि सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें जिस निराकारदर्शनरूप आत्मदर्शनका विवेचन है, वह ज्ञानसे भिन्न, आत्माका एक पृथक् गुण है। अतः उसे प्रमाणाभास न कहकर प्रमाण और अप्रमाणके विचारसे बहिर्भूत ही रखना उचित है।

अविसंवादी और सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहा है। यद्यपि आचार्य माणिक्य-नन्दिने प्रमाणके लक्षणमें अपूर्वार्थग्राही विशेषण दिया है और गृहीतग्राही ज्ञानको प्रमाणाभास भी घोषित किया है; पर उनके इस विचारसे विद्यानन्द आदि आचार्य सहमत नहीं हैं। अकलंकदेवने भी कहीं प्रमाणके लक्षणमें अनधिगतार्थग्राही पद दिया है, पर उन्होंने इसे प्रमाणताका प्रयोजक नहीं माना। प्रमाणताके प्रयोजकके रूपमें तो उन्होंने अविसंवादका ही वर्णन किया। अतः गृहीतग्राहित्व इतना बड़ा दोष नहीं कहा जा सकता, जिसके कारण वैसे ज्ञानको प्रमाणाभास-कोटिमें डाला जाय।

जब वस्तुके सामान्य धर्मका दर्शन होता है और विशेष धर्म नहीं दिखाई देते, किन्तु दो परस्पर विरोधी विशेषोंका स्मरण हो जाता है तब ज्ञान उन दो विशेष कोटियोंमें दोलित होने लगता है। यह संशय ज्ञान अनिर्णयात्मक होनेसे प्रमाणाभास है। विपर्यय ज्ञानमें विपरीत एक कोटिका निश्चय होता है और अनध्यवसाय ज्ञानमें किसी भी एक कोटिका निश्चय नहीं हो पाता, इसलिये ये विसंवादी होनेके कारण प्रमाणाभास हैं।

सन्निकर्षादि प्रमाणाभास :

[1]चक्षु और रसका संयुक्तसमवायसम्बन्ध होनेपर भी चक्षुसे रसज्ञान नहीं होता और रूपके साथ चक्षुका सन्निकर्ष न होनेपर भी रूपज्ञान होता है। अतः सन्निकर्षको प्रमाके प्रति साधकतम नहीं कहा जा सकता। फिर सन्निकर्ष अचेतन है, इसलिए भी चेतन प्रमाका वह साधकतम नहीं बन सकता। अतः सन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि प्रमाणाभास हैं। कारकसाकल्यमें चेतन और अचेतन सभी प्रकार की सामग्रीका समावेश किया जाता है। ये प्रमितिक्रियाके प्रति ज्ञानसे व्यवहित होकर यानी ज्ञानके द्वारा ही किसी तरह अपनी कारणता कायम रख सकते हैं, साक्षात् नहीं; अतः ये सब प्रमाणाभास हैं। सन्निकर्ष आदि चूँकि अज्ञान रूप हैं; अतः वे मुख्यरूपसे प्रमाण नहीं हो सकते। रह जाती है उपचारसे प्रमाण कहनेकी

---

१. परीक्षामुख ६।५।

बात, सो साधकतमत्वके विचारमें उसका कोई मूल्य नहीं है। ज्ञान होकर भी जो संव्यवहारोपयोगी नहीं हैं या अकिञ्चित्कर हैं वे सब प्रमाणाभासकोटिमें शामिल हैं।

प्रत्यक्षाभास :

[1]अविशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्षाभास है, जैसे कि प्रज्ञाकर गुप्त अकस्मात् धुआँको देखकर होनेवाले वह्निविज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। भले ही यहाँ पहलेसे व्याप्ति गृहीत न हो और तात्कालिक प्रतिभा आदिसे वह्निका प्रतिभास हो गया हो, किन्तु वह प्रतिभास धूमदर्शनकी तरह विशद तो नहीं है, अतः उस अविशद ज्ञानको प्रत्यक्ष-कोटिमें शामिल नहीं किया जा सकता। वह प्रत्यक्षाभास ही है।

परोक्षाभास :

[2]विशद ज्ञानको भी परोक्ष कहना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञानको अपने स्वरूपमें विशद होते हुए भी परोक्ष मानता है।

यह कहा जा चुका है कि अप्रत्यक्षज्ञानके द्वारा पुरुषान्तरके ज्ञानकी तरह अर्थोपलब्धि नहीं की जा सकती। अतः ज्ञानमात्रको चाहे वह सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान, स्वसंवेदी मानना ही चाहिए। जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वप्रकाश करता हुआ ही उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं है कि घटादिकी तरह ज्ञान अज्ञात रहकर ही उत्पन्न हो जाय। अतः मीमांसकका उसे परोक्ष कहना परोक्षाभास है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास :

बादलोंमें गंधर्वनगरका ज्ञान और दुःखमेंसु खका ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है।

मुख्य प्रत्यक्षाभास :

इसी तरह अवधिज्ञानमें मिथ्यात्वके सम्पर्कसे विभंगावधिपना आता है। वह मुख्यप्रत्यक्षाभास कहा जायगा। मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं, अतः उनमें विपर्यासकी किसी भी तरह सम्भावना नहीं है।

स्मरणाभास :

अतत्में तत्का, या तत्में अतत्का स्मरण करना [3]स्मरणाभास है। जैसे जिनदत्तमें 'वह देवदत्त' ऐसा स्मरण स्मरणाभास है।

---

१. परीक्षामुख ६।३।
२. परीक्षामुख ६।७।
३. परीक्षामुख ६।८।

प्रत्यभिज्ञानाभास :

[1]सदृश पदार्थमें 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी पदार्थमें 'यह उस जैसा इस सहै' प्रकारका ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे सहजात देवदत्त और जिनदत्तमें भ्रमवश होनेवाला विपरीत प्रत्यभिज्ञान, या द्रव्यदृष्टिमें एक ही पदार्थमें बौद्धको होनेवाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और पर्यायदृष्टिसे सदृश पदार्थमें नैयायिकादिको होनेवाला एकत्वज्ञान। ये सब प्रत्यभिज्ञानाभास हैं।

तर्काभास :

जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, उनमें व्याप्तिज्ञान करना तर्काभास[2] है। जैसे—जितने मैत्रके पुत्र होंगे वे सब श्याम होंगे आदि। यहाँ मैत्रतनयत्व और श्यामत्वमें न तो सहभावनियम है और न क्रमभावनियम; क्योंकि श्यामताका कारण उस प्रकारके नामकर्मका उदय और गर्भावस्थामें माताके द्वारा शाक आदिका प्रचुर परिणाममें खाया जाना है।

अनुमानाभास :

पक्षाभास आदिसे उत्पन्न होनेवाले अनुमान अनुमानाभास[3] हैं। अनिष्ट, सिद्ध और बाधित पक्ष पक्षाभास हैं। मीमांसकका 'शब्द अनित्य है' यह कहना अनिष्ट पक्षाभास है। कभी-कभी भ्रमवश या घबड़ाकर अनिष्ट भी पक्ष कर लिया जाता है। 'शब्द श्रवण इन्द्रियका विषय है' यह सिद्ध पक्षाभास है। शब्दके कानसे सुनाई देनेमें किसीको भी विवाद नहीं है, अतः उसे पक्ष बनाना निरर्थक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनसे बाधित साध्यवाला पक्ष बाधित पक्षाभास है। जैसे—'अग्नि ठंडी है; क्योंकि वह द्रव्य है, जलकी तरह।' यहाँ अग्निका ठंडा होना प्रत्यक्षसे बाधित है। 'शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है, घटकी तरह।' यहाँ 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष 'शब्द परिणामी है; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है और कृतक है घटकी तरह' इस अनुमानसे बाधित है। 'परलोकमें धर्म दुःखदायक है, क्योंकि वह पुरुषाश्रित है, जैसे—कि अधर्म।' यहाँ धर्मको दुःखदायक बताना आगमसे बाधित है। 'मनुष्यकी खोपड़ी पवित्र है; क्योंकि वह प्राणीका अंग है, जैसे—कि शंख और शुक्ति'। यहाँ मनुष्यकी खोपड़ीकी पवित्रता लोकबाधित है। लोकमें गौके शरीरसे उत्पन्न होनेपर भी दूध पवित्र माना जाता

---

१. परीक्षामुख ६।९।

२. परीक्षामुख ६।१०।

३. परीक्षामुख ६।११–२०।

है और गोमांस अपवित्र। इसी तरह अनेक प्रकारके लौकिक पवित्रापवित्र व्यवहार चलते हैं। 'मेरी माता बन्ध्या है; क्योंकि उसे पुरुषसंयोग होनेपर भी गर्भ नहीं रहता, जैसे—कि प्रसिद्ध बन्ध्या।' यहाँ मेरी माताका बन्ध्यापन स्ववचनबाधित है। यदि बन्ध्या है, तो मेरी माता कैसे हुई ? ये सब पक्षाभास हैं।

हेत्वाभास :

जो हेतुके लक्षणसे रहित हैं, पर हेतुके समान मालूम होते हैं वे हेत्वाभास हैं। वस्तुतः इन्हें साधनके दोष होनेसे साधनाभास कहना चाहिए; क्योंकि निर्दुष्ट साधन-में इन दोषोंकी सम्भावना नहीं होती। साधन और हेतुमें वाच्य-वाचकका भेद है। साधनके वचनको हेतु कहते हैं, अतः उपचारसे साधनके दोषोंको हेतुका दोष मान-कर हेत्वाभास संज्ञा दे दी गई है।

नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक-एक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार करते हैं[1]। बौद्धों[2] ने हेतुको त्रिरूप माना है, अतः उनके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावमें असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावमें विरुद्ध और विपक्षासत्त्वके अभावमें अनै-कान्तिक इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। कणाद-सूत्र (३।१।१५) में असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध इन तीन हेत्वाभासोंका निर्देश होनेपर भी भाष्यमें अनध्य-वसित नामके चौथे हेत्वाभासका भी कथन है।

जैन दार्शनिकोंमें आचार्य सिद्धसेनने (न्यायावतार श्लो० २३) असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन हेत्वाभासोंको गिनाया है। अकलंकदेवने अन्य-थानुपपन्नत्वको ही जब हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास हो सकता है। वे स्वयं लिखते [3]हैं कि वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। 'अन्यथानुपपत्ति' का अभाव चूँकि कई प्रकारसे होता है, अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। [4]एक जगह तो उन्होंने विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धको अकिञ्चित्करका विस्तार मात्र बताया है। इनके मतसे हेत्वाभासोंकी

---

१. न्यायसार पृ० ७।

२. न्यायवि० ३।५७।

३. "अन्यथासंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥"—न्यायवि० २।१९५।

४. "अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे।"
—न्यायवि० २।३७०।

संख्याका कोई आग्रह नहीं है, फिर भी उनने जिन चार हेत्वाभासोंका निर्देश किया है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) असिद्ध—"सर्वथात्ययात्" (प्रमाणसं० श्लो० ४८) सर्वथा पक्षमें न पाया जानेवाला अथवा जिसका साध्यके साथ सर्वथा अविनाभाव न हो। जैसे—'शब्द अनित्य है, चाक्षुष होनेसे।' असिद्ध दो प्रकारका है। एक अविद्यमानसत्ताक—अर्थात् स्वरूपासिद्ध और दूसरा अविद्यमाननिश्चय—अर्थात् सन्दिग्धासिद्ध। अविद्यमानसत्ताक—जैसे शब्द परिणामी है; क्योंकि वह चाक्षुष है। इस अनुमानमें चाक्षुषत्व हेतु शब्दमें स्वरूपसे ही असिद्ध है। अविद्यमाननिश्चय—मूर्ख व्यक्ति धूम और भाफका विवेक नहीं करके जब बटलोईसे निकलनेवाली भाफको धुआँ मानकर, उसमें अग्निका अनुमान करता है, तो वह सन्दिग्धासिद्ध होता है। अथवा, सांख्य यदि शब्दको परिणामी सिद्ध करनेके लिये कृतकत्व हेतुका प्रयोग करता है तो वह भी सन्दिग्धासिद्ध है, क्योंकि सांख्यके मतमें आविर्भाव और तिरोभाव शब्द ही प्रसिद्ध हैं, कृतकत्व नहीं।

न्यायसार (पृ० ८) आदिमें विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध और भागासिद्ध इन असिद्धके आठ भेदोंका वर्णन है। उनमें व्यर्थविशेषण तक के छह भेद उन रूपोंसे सत्ताके अविद्यमान होनेके कारण स्वरूपासिद्धमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। भागासिद्ध यह है—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभावी है।' चूँकि इसमें अविनाभाव पाया जाता है, अतः यह सच्चा हेतु है। हाँ, यह अवश्य है कि जितने शब्दोंमें वह पाया जायगा, उतनेमें ही अनित्यत्व सिद्ध करेगा। जो शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होंगे वे तो अनित्य होंगे ही।

व्यधिकरणासिद्ध भी असिद्ध हेत्वाभासमें नहीं गिनाया जाना चाहिये; क्योंकि—'एक मुहूर्त बाद शटकका उदय होगा, इस समय कृत्तिकाका उदय होनेसे', 'ऊपर मेघवृष्टि हुई है, नीचे नदीपूर देखा जाता है' इत्यादि हेतु भिन्नाधिकरण हो करके भी अविनाभावके कारण सच्चे हेतु हैं। गम्यगमकभावका आधार अविनाभाव है, न कि भिन्न-अधिकरणता या अभिन्नाधिकरणता। 'अविद्यमानसत्ताक'का अर्थ—'पक्षमें सत्ताका न पाया जाना' नहीं है, किन्तु साध्य, दृष्टान्त या दोनोंके साथ जिसकी अविनाभाविनी सत्ता न पायी जाय उसे अविद्यमानसत्ताक कहते हैं।

इसी तरह सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदिका सन्दिग्धासिद्धमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। ये असिद्ध कुछ अन्यतरासिद्ध और कुछ उभयासिद्ध होते हैं। वादी

जब तक प्रमाणके द्वारा अपने हेतुको प्रतिवादीके लिए सिद्ध नहीं कर देता, तब-तक वह अन्तरासिद्ध कहा जा सकता है।

(२) विरुद्ध—"अन्यथाभावात्" (प्रमाणसं० श्लो० ४८) साध्याभावमें पाया जाने वाला। जैसे—'सब क्षणिक हैं सत् होनेसे' यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विपक्षी कथञ्चित् क्षणिकत्वमें पाया जाता है।

न्यायसार (पृ० ८) में विद्यमानसपक्षवाले चार विरुद्ध तथा अविद्यमानसपक्षवाले चार विरुद्ध इस तरह जिन आठ विरुद्धोंका वर्णन है, वे सब विपक्षमें अविनाभाव पाये जानेके कारण ही विरुद्ध हैं। हेतुका सपक्षमें होना कोई आवश्यक नहीं है। अतः सपक्षसत्त्वके अभावको विरुद्धताका नियामक नहीं मान सकते। किन्तु विपक्षके साथ उसके अविनाभावका निश्चित होना ही विरुद्धताका आधार है।

दिङ्नाग आचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्परविरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यह संशयहेतु होनेसे हेत्वाभास है। धर्मकीर्ति[1]ने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे प्रसिद्ध है, उसमें विरोधी हेतुका अवसर ही नहीं है। अतः यह आगमाश्रित हेतुके विषयमें ही संभव हो सकता है। शास्त्र अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिपादन करता है, अतः उसमें एक ही वस्तु परस्परविरोधी रूपमें वर्णित हो सकती है।

अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धमें अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी—विपक्षमें भी रहने वाला है, वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमामें आता है।

(३) अनैकान्तिक—"व्यभिचारी विपक्षेऽपि" (प्रमाणसं० श्लो० ४९)—विपक्षमें भी पाया जानेवाला। यह दो प्रकारका है। एक निश्चितानैकान्तिक—'जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, घटकी तरह।' यहाँ प्रमेयत्व हेतुका विपक्षभूत नित्य आकाशमें पाया जाना निश्चित है। दूसरा सन्दिग्धानैकान्तिक—जैसे सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, रथ्यापुरुषकी तरह।' यहाँ विपक्षभूत सर्वज्ञके साथ वक्तृत्वका कोई विरोध न होनेसे वक्तृत्वहेतु सन्दिग्धानैकान्तिक है।

न्यायसार (पृ० १०) आदिमें इसके जिन पक्षत्रयव्यापक, सपक्षविपक्षैकदेशवृत्ति आदि आठ भेदोंका वर्णन है, वे सब इसीमें अन्तर्भूत हैं। अकलंकदेवने इस हेत्वाभासके लिए सन्दिग्ध शब्दका प्रयोग किया है।

---

१. ननु च आचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः स इह नोक्तः, अनुमानविषयेऽसंभवात्।"—न्यायबि० ३।११२,११३।

(४) अकिञ्चित्कर[1]—सिद्ध साध्यमें और प्रत्यक्षादिबाधित साध्यमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिञ्चित्कर है। सिद्ध और प्रत्यक्षादि बाधित साध्यके उदाहरण पक्षाभासके प्रकरणमें दिये जा चुके हैं। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी त्रिलक्षण हेतु हैं, वे सब अकिञ्चित्कर हैं।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका निर्देश जैनदार्शनिकोंमें सर्वप्रथम अकलंकदेवने किया है, परन्तु उनका अभिप्राय इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ़ नहीं मालूम होता। वे एक जगह लिखते हैं कि सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार हैं। फिर लिखते हैं कि अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हैं, उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिये। इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेका उनका प्रबल आग्रह नहीं था। यही कारण है कि आचार्य [2]माणिक्यनन्दिने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि 'इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिये। शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है।' आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नहीं दिया है। वादिदेवसूरि आदि आचार्य भी हेत्वाभासके असिद्ध आदि तीन भेद ही मानते हैं।

दृष्टान्ताभास :

व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्तिका स्थान दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्तमें साध्य और साधनका निर्णय होना आवश्यक है। जो दृष्टान्त इस दृष्टान्तके लक्षणसे रहित हो, किन्तु दृष्टान्तके स्थानमें उपस्थित किया गया हो, वह दृष्टान्ताभास है। दिङ्नागके न्यायप्रवेश (पृ० ५–६) में दृष्टान्ताभासके साधनधर्मासिद्ध, साध्यधर्मासिद्ध; अनन्वय, उभयधर्मासिद्ध विपरीतान्वय ये पाँच साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये पाँच वैधर्म्य दृष्टान्ताभास इस तरह दस दृष्टान्ताभास बताये हैं। इनमें उभयासिद्ध नामक दृष्टान्ताभासके

---

१. 'सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।"–प्रमाणसं० श्लो० ४९।
"सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।"–परीक्षामुख ६।३५।

२. "लक्षण एवासौ दोषः व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।"
—परीक्षामुख ६।३९।

अवान्तर दो भेद और भी दिखाये गये हैं। अतः दिङ्नागके मतसे बारह दृष्टान्ताभास फलित होते हैं। [1]वैशेषिकको भी बारह निदर्शनाभास ही इष्ट हैं। [2]आचार्य धर्मकीर्तिने दिङ्नागके मूल दस भेदोंमें सन्दिग्धसाध्यान्वय, सन्दिग्धसाधनान्वय, सन्दिग्धउभयान्वय और अप्रदर्शितान्वय ये चार साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक, सन्दिग्धोभयव्यतिरेक और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन चार वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंको मिलाकर कुल अठारह दृष्टान्ताभास बतलाये हैं।

न्यायावतार (श्लो० २४–२५) में आ० सिद्धसेनने 'साध्यादिविकल तथा संशय' शब्द देकर लगभग धर्मकीर्तिसम्मत विस्तारकी ओर ही संकेत किया है। आचार्य माणिक्यनन्दि (परीक्षामुख ४।४०–४५) असिद्धसाध्य, असिद्ध-साधन, असिद्धोभय तथा विपरीतान्वय ये चार साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा चार ही वैधर्म्य दृष्टान्ताभास इस तरह कुछ आठ दृष्टान्ताभास मानते हैं। इन्होंने 'असिद्ध' शब्दसे अभाव और संशय दोनोंको ले लिया है। इतने अनन्वय और अप्रदर्शितान्वयको भी दृष्टान्त-दोषोंमें शामिल नहीं किया है। वादिदेवसूरि (प्रमाणनय० ६।६०–७९) धर्मकीर्तिकी तरह अठारह ही दृष्टान्ताभास मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र (प्रमाणमी० २।१।२२–२७) अनन्वय और अव्यतिरेकको स्वतन्त्र दोष नहीं मानकर दृष्टान्ताभासोंकी संख्या सोलह निर्धारित करते हैं।

परीक्षामुखके अनुसार आठ दृष्टान्ताभास इस प्रकार हैं :—

'शब्द अपौरुषेय है, अमूर्तिक होनेसे' इस अनुमानमें इन्द्रियसुख, परमाणु और घट ये दृष्टान्त क्रमशः असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय हैं, क्योंकि इन्द्रियसुख पौरुषेय है, परमाणु मूर्तिक है तथा घड़ा पौरुषेय भी है और मूर्तिक भी है। 'जो अमूर्तिक हैं, वह अपौरुषेय है' ऐसा अन्वय मिलाना चाहिये, परन्तु 'जो अपौरुषेय है वह अमूर्तिक है' ऐसा विपरीतान्वय मिलाना दृष्टान्ताभास है, क्योंकि बिजली आदि अपौरुषेय होकर भी अमूर्तिक नहीं है। उक्त अनुमानमें परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाशका दृष्टान्त क्रमशः असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्ध-साधनव्यतिरेक और असिद्धोभय-व्यतिरेक है, क्योंकि परमाणु अपौरुषेय है, इन्द्रियसुख अमूर्तिक है, और आकाश अपौरुषेय और अमूर्तिक दोनों है। अतः इनमें उन-उन धर्मोंका व्यतिरेक असिद्ध है। 'जो अपौरुषेय नहीं हैं, वे अमूर्तिक नहीं हैं' ऐसा साध्याभावमें साधनाभावरूप व्यतिरेक दिखाया जाना चाहिये परन्तु 'जो अमूर्तिक नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है' इस प्रकारका उलटा व्यतिरेक दिखाना विपरीत-

---

१. प्रश० भा० पृ० २४७।

२. न्यायबि० ३।१२५।—१३६।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि बिजली आदिसे अतिप्रसंग दोष आता है।

आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार अन्य आठ दृष्टान्ताभास—

(१) सन्दिग्धसाध्यान्वय—जैसे यह पुरुष रागी है, क्योंकि वचन बोलता है, रथ्यापुरुषकी तरह।

(२) सन्दिग्धसाधनान्वय—जैसे यह पुरुष मरणधर्मा है, क्योंकि यह रागी है, रथ्यापुरुषकी तरह।

(३) सन्दिग्धोभयधर्मान्वय—जैसे यह पुरुष किंचिज्ज्ञ है, क्योंकि रागी है, रथ्यापुरुषकी तरह।

इन अनुमानोंमें चूँकि परकी चित्तवृत्तिका जानना अत्यन्त कठिन है, अतः राग और किंचिज्ज्ञत्वकी सत्ता सन्दिग्ध है।

(४-६) इसी तरह इन्हीं अनुमानोंमें साध्य-साधनभूत राग और किंचिज्ज्ञत्व-का व्यतिरेक सन्दिग्ध होनेसे सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक और सन्दिग्धोभयव्यतिरेक नामके व्यतिरेक दृष्टान्ताभास हो जाते हैं।

(७-८) अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक भी दृष्टान्ताभास होते हैं, यदि व्याप्तिका ग्राहक तर्क उपस्थित न किया जाय। 'यथावत् तथा' आदि शब्दों-का प्रयोग न होनेकी वजहसे किसीको दृष्टान्ताभास नहीं कहा जा सकता; क्योंकि व्याप्तिके साधक प्रमाणकी उपस्थितिमें इन शब्दोंके अप्रयोगका कोई महत्त्व नहीं है; और इन शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी यदि व्याप्तिसाधक प्रमाण नहीं है, तो वे निश्चयसे दृष्टान्ताभास हो जाएँगे।

वादिदेवसूरिने अनन्वय और अव्यतिरेक इन दो दृष्टान्ताभासोंका भी निर्देश किया है, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट लिखते हैं कि ये स्वतन्त्र दृष्टान्ताभास नहीं हैं; क्योंकि पूर्वोक्त आठ-आठ दृष्टान्ताभास अनन्वय और अव्यतिरेकके ही विस्तार हैं।

उदाहरणाभास :

दृष्टान्ताभासके वचनको उदाहरणाभास कहते हैं। उदाहरणाभासमें वस्तुगत दोष और वचनगत दोष दोनों शामिल हो सकते हैं। अतः इन्हें उदाहरणाभास कहनेपर ही अप्रदर्शितान्वय, विपरीतान्वय, प्रदर्शितव्यतिरेक, विपरीत व्यतिरेक जैसे वचनदोषोंका संग्रह हो सकता है, दृष्टान्ताभासमें तो केवल वस्तुगत दोषोंका ही संग्रह होना न्याय्य है।

बालप्रयोगाभास[1] :

यह पहले बताया जा चुका है कि उदाहरण, उपनय और निगमन बालबुद्धि शिष्योंके समझानेके लिए अनुमानके अवयवरूपमें स्वीकार किये गये हैं। जो अधिकारी जितने अवयवोंसे समझते हैं, उनके लिये उनसे कमका प्रयोग बालप्रयोगाभास होगा। क्योंकि जिन्हें जितने वाक्यसे समझनेकी आदत पड़ी हुई है, उन्हें उससे कमका बोलना अटपटा लगेगा और उन्हें उतने मात्रसे स्पष्ट अर्थबोध भी नहीं हो सकेगा।

आगमाभास[2] :

राग, द्वेष और मोहसे युक्त अप्रामाणिक पुरुषके वचनोंसे होनेवाला ज्ञान आगमाभास है। जैसे—कोई पुरुष बच्चोंके उपद्रवसे तंग आकर उन्हें भगानेकी इच्छासे कहे कि 'बच्चो, नदीके किनारे लड्डू बट रहे हैं दौड़ो।' इसी प्रकारके राग-द्वेष-मोहप्रयुक्त वाक्य आगमाभास कहे जाते हैं।

संख्याभास[3] :

मुख्यरूपसे प्रमाणके दो भेद किये गये हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इसका उल्लंघन करना अर्थात् एक, या तीन आदि प्रमाण मानना संख्याभास है; क्योंकि एक प्रमाण मानने पर चार्वाक प्रत्यक्षसे ही परलोकादिका निषेध, परबुद्धि आदिका ज्ञान, यहाँ तक कि स्वयं प्रत्यक्षकी प्रमाणताका समर्थन भी नहीं कर सकता। इन कार्योंके लिए उसे अनुमान मानना ही पड़ेगा। इसी तरह बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, प्राभाकर और जैमिनीय अपने द्वारा स्वीकृत दो, तीन, चार, पाँच और छह प्रमाणोंसे व्याप्तिका ज्ञान नहीं कर सकते। उन्हें व्याप्तिग्राही तर्कको स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही चाहिये। इस तरह तर्कको अतिरिक्त प्रमाण मानने पर उनकी निश्चित प्रमाण-संख्या बिगड़ जाती है।

नैयायिकके उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें, प्रभाकरकी अर्थापत्तिका अनुमानमें और जैमिनीयके अभाव प्रमाणका यथासम्भव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः यावत् विशदज्ञानोंका, जिनमें एकदेशविशद इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष भी शामिल हैं, प्रत्यक्षप्रमाणमें, तथा समस्त अविशदज्ञानोंका, जिनमें स्मरण,

---

१. परीक्षामुख ६।४६–५० ।
२. परीक्षामुख ६।५१–५४ ।
३. परीक्षामुख ६।५५–६० ।

प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम हैं, परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भाव करके प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद स्वीकार करना चाहिये। इनके अवान्तर भेद भी प्रतिभासभेद और आवश्यकताके आधारसे ही किये जाने चाहिये।

विषयाभास[१] :

एक ही सामान्यविशेषात्मक पदार्थ प्रमाणका विषय है, यह पहले बताया जा चुका है। यदि केवल सामान्य, केवल विशेष या सामान्य और विशेष दोनोंको स्वतन्त्र-स्वतन्त्ररूपमें प्रमाणका विषय माना जाता है, तो ये सब विषयाभास हैं, क्योंकि पदार्थकी स्थिति सामान्यविशेषात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकरूपमें ही उपलब्ध होती है। पूर्वपर्यायका त्याग, उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति और द्रव्यरूपसे स्थिति इस त्रयात्मकताके बिना पदार्थ कोई भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता। लोकव्यवस्था' आदि प्रकरणोंमें हम इसका विस्तारसे वर्णन कर आये हैं। यदि सर्वथा नित्य सामान्य आदिरूप पदार्थ अर्थक्रियाकारी हों, तो समर्थके लिए कारणान्तरोंकी अपेक्षा न होनेसे समस्त कार्योंकी उत्पत्ति एकसाथ हो जानी चाहिये। और यदि असमर्थ हैं, तो कार्योत्पत्ति बिलकुल ही नहीं होनी चाहिये। 'सहकारी कारणोंके मिलनेपर कार्योत्पत्ति होती है' इसका सीधा अर्थ है कि सहकारी उस कारणकी असामर्थ्यको हटाकर सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं और इस तरह वह उत्पाद और व्ययका आधार बन जाता है। सर्वथा क्षणिक पदार्थमें देशकृत क्रम न होनेके कारण कार्यकारणभाव और क्रमिक कार्योत्पत्तिका निर्वाह नहीं हो सकता। पूर्वका उत्तरके साथ कोई वास्तविक स्थिर सम्बन्ध न होनेसे कार्यकारणभावमूलक समस्त जगतके व्यवहारोंका उच्छेद हो जायगा। बद्धको ही मोक्ष तो तब हो सकता है जब एक ही अनुस्यूत चित्त प्रथम बँधे और वही छूटे। हिंसकको ही पापका फल भोगनेका अवसर तब आ सकता है, जब हिंसाक्रियासे लेकर फल भोगने तक उसका वास्तविक अस्तित्व और परस्पर सम्बन्ध हो।

इन विषयाभासोंमें ब्रह्मवाद और शब्दाद्वैतवाद नित्य पदार्थका प्रतिनिधित्व करनेवाली उपनिषद्धारासे निकले हैं। सांख्यका एक प्रधान अर्थात् प्रकृतिवाद भी केवल सामान्यवादमें आता है। प्रतिक्षण पदार्थोंका विनाश मानना और परस्पर विशकलित क्षणिक परमाणुओंका पुञ्ज मानना केवल विशेषवादमें सम्मिलित है। तथा सामान्यको स्वतन्त्र पदार्थ और द्रव्य, गुण, कर्म आदि विशेषोंको पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानना परस्पर-निरपेक्ष उभयवादमें शामिल है।

---

१. 'विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्'।

—परीक्षामुख ६।६१–६५।

ब्रह्मवादविचार :

वेदान्तीका पूर्वपक्ष :

वेदान्ती जगतमें केवल एक [1]ब्रह्मको ही सत् मानते हैं। वह कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तनशील है। वह सत् रूप है। 'है' यह अस्तित्व ही उस महासत्ताका सबसे प्रबल साधक प्रमाण है। चेतन और अचेतन जितने भी भेद हैं, वे सब इस ब्रह्मके प्रतिभासमात्र हैं। उनकी सत्ता प्रातिभासिक या व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जैसे एक अगाध समुद्र वायुके वेगसे अनेक प्रकारकी बीची, तरंग, फेन, बुद्बुद आदि रूपोंमें प्रतिभासित होता है, उसी तरह एक सत् ब्रह्म अविद्या या मायाकी वजहसे अनेक जड़-चेतन, जीवात्मा-परमात्मा और घट-पट आदि रूपसे प्रतिभासित होता है। यह तो दृष्टि-सृष्टि है। अविद्याके कारण अपनी पृथक् सत्ता अनुभव करनेवाला प्राणी अविद्यामें ही बैठकर अपने संस्कार और वासनाओंके अनुसार जगतको अनेक प्रकारके भेद और प्रपञ्चके रूपमें देखता है। एक ही पदार्थ अनेक प्राणियोंको अपनी-अपनी वासना-दूषित दृष्टिके अनुसार विभिन्न रूपोंमें दिखाई देता है। अविद्याके हट जानेपर सत्, चित् और आनन्दरूप ब्रह्ममें लय हो जानेपर समस्त प्रपंचोंसे रहित निर्विकल्प ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होती है। जिस[2] प्रकार विशुद्ध आकाशको तिमिररोगी अनेक प्रकारकी चित्र-विचित्र रेखाओंसे खचित और चित्रित देखता है, उसी तरह अविद्या या मायाके कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकारके देश, काल और आकारके भेदोंसे भिन्नकी तरह चित्र-विचित्र प्रतिभासित होता है। जो भी जगतमें था, है और होगा वह सब ब्रह्म ही है।

यही ब्रह्म समस्त विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें उसी तरह कारण होता है, जिस[3] प्रकार मकड़ी अपने जालके लिए, चन्द्रकान्तमणि जलके लिए और वट वृक्ष अपने प्ररोहोंके लिए कारण होता है। जितना भी भेद है, वह सब अतात्त्विक और झूठा है।

---

१. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' —छान्दो० ३।१४।१।

२. 'यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥'

—बृहदा० भा० वा० ३।५। ४३–४४।

३ 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च ···'—मुण्डकोप० १।१।७।

यद्यपि [1]आत्मश्रवण, मनन और ध्यानादि भी भेदरूप होनेके कारण अविद्यात्मक हैं, फिर भी उनसे विद्याकी प्राप्ति संभव है। जैसे धूलिसे गंदले पानीमें कतकफल या फिटकरीका चूर्ण, जो कि स्वयं भी धूलिरूप ही है, डालनेपर एक धूलि दूसरी धूलिको शान्त कर देती है और स्वयं भी शान्त होकर जलको स्वच्छ अवस्थामें पहुँचा देती है। अथवा जैसे एक विष दूसरे विषको नाशकर निरोग अवस्थाको प्राप्त करा देता है, उसी तरह आत्मश्रवण, मनन आदिरूप अविद्या भी राग-द्वेष-मोह आदिरूप मूल-अविद्याको नष्ट कर स्वगतभेदके शान्त होनेपर निर्विकल्प स्वरूपावस्था प्राप्त हो जाती है। अतात्त्विक अनादिकालीन अविद्याके उच्छेदके लिए ही मुमुक्षुओंका प्रयत्न होता है। यह अविद्या तत्त्वज्ञानका प्रागभाव है। अतः अनादि होनेपर भी उसकी निवृत्ति उसी तरह हो जाती है जिस प्रकार कि घटदि कार्योंकी उत्पत्ति होनेपर उनके प्रागभावोंकी।

इस ब्रह्मका ग्राहक सन्मात्रग्राही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। वह मूक बच्चोंके ज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्दसम्पर्कसे शून्य निर्विकल्प होता है।

'अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विचार भी अप्रस्तुत हैं, क्योंकि ये विचार वस्तुस्पर्शी होते हैं और अविद्या है अवस्तु। किसी भी विचारको सहन नहीं करना ही [2]अविद्याका अविद्यात्व है।

जैनका उत्तरपक्ष :

किन्तु, प्रत्यक्षसिद्ध ठोस और तात्त्विक जड़ और चेतन पदार्थोंका मात्र अविद्याके हवाई प्रहारसे निषेध नहीं किया जा सकता। विज्ञानकी प्रयोगशालाओंने अनन्त जड़ परमाणुओंका पृथक् तात्त्विक अस्तित्व सिद्ध किया ही है। तुम्हारा कल्पित ब्रह्म ही उन तथ्य और सत्यसाधक प्रयोगशालाओंमें सिद्ध नहीं हो सका है। यह ठीक है कि हम अपनी शब्दसंकेतकी वासनाके अनुसार किसी परमाणु-समुदायको घट, घड़ा, कलश आदि अनेक शब्दसंकेतोंसे व्यक्त करें और इस व्यक्तिकरणकी अपनी सीमित मर्यादा भी हो, पर इतने मात्रसे उन परमाणुओंकी

---

१. 'यथा पयो पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति; यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति, एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति।'

—ब्रह्मसू० शां० भा० भा० पृ० ३२।

२. 'अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥'—सम्बन्धवा० का० १८१।

सत्तासे और परमाणुओंसे बने हुए विशिष्ट आकारवाले ठोस पदार्थोंकी सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र, वजनवाले और अपने गुणधर्मोंके अखण्ड आधारभूत उन परमाणुओंके व्यक्तित्वका अभेदगामिनी दृष्टिके द्वारा विलय नहीं किया जा सकता। उन सबमें अभिन्न सत्ताका दर्शन ही काल्पनिक है। जैसे कि अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखनेवाले छात्रोंके समुदायमें सामाजिक भावनासे कल्पित किया गया एक 'छात्रमण्डल' मात्र व्यवहारसत्य है, वह समझ और समझौतेके अनुसार संगठित और विघटित भी किया जाता है, उसका विस्तार और संकोच भी होता है और अन्ततः उसका भावनाके सिवाय वास्तविक कोई ठोस अस्तित्व नहीं है, उसी तरह एक 'सत् सत्'के आधारसे कल्पित किया गया अभेद अपनी सीमाओंमें संघटित और विघटित होता रहता है। इस एक सत्का ही अस्तित्व व्यावहारिक और प्रातिभासिक है, न कि अनन्त चेतन द्रव्यों और अनन्त अचेतन परमाणुओंका। असंख्य प्रयत्न करनेपर भी जगतके रंगमञ्चसे एक भी परमाणुका अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता।

दृष्टिसृष्टि तो उस शतुर्मुर्ग जैसी बात है जो अपनी आँखोंको बन्द करके गर्दन नीची कर समझता है कि जगतमें कुछ नहीं है। अपनी आँखें खोलने या बन्द करनेसे जगतके अस्तित्व या नास्तित्वका कोई सम्बन्ध नहीं है। आँखें बन्द करना और खोलना अप्रतिभास, प्रतिभास या विचित्र प्रतिभाससे सम्बन्ध रखता है, न कि विज्ञानसिद्ध कार्यकारणपरम्परासे प्रतिबद्ध पदार्थोंके अस्तित्वसे। किसी स्वयंसिद्ध पदार्थमें विभिन्न रागी, द्वेषी और मोही पुरुषोंके द्वारा की जानेवाली इष्ट-अनिष्ट, अच्छी-बुरी, हित-अहित आदि कल्पनाएँ भले ही दृष्टि-सृष्टिकी सीमामें आवें और उनका अस्तित्व उस व्यक्तिके प्रतिभास तक ही सीमित हो और व्यावहारिक हो, पर उस पदार्थका और उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि वास्तविक गुण-धर्मोंका अस्तित्व अपना स्वयं है, किसीकी दृष्टिने उनकी सृष्टि नहीं की है और न किसीकी वासना या रागसे उनकी उत्पत्ति हुई है। भेद वस्तुओंमें स्वाभाविक है। वह न केवल मनुष्योंको ही, किन्तु संसारके प्रत्येक प्राणीको अपने-अपने प्रत्यक्षज्ञानोंमें स्वतः प्रतिभासित होता है। अनन्त प्रकारके विरुद्ध-धर्माध्यासोंसे सिद्ध देश, काल और आकारकृत भेद पदार्थोंके निजी स्वरूप हैं। बल्कि चरम अभेद ही कल्पनाका विषय है। उसका पता तब तक नहीं लगता जबतक कोई व्यक्ति उसकी सीमा और परिभाषाको न समझा दे। अभेदमूलक संगठन बनते और बिगड़ते हैं, जब कि भेद अपनी स्थिरभूमिपर जैसा है, वैसा ही रहता है, न वह बनता है और न वह बिगड़ता है।

आजके विज्ञानने अपनी प्रयोगशालाओंसे यह सिद्ध कर दिया है कि जगतके प्रत्येक अणु-परमाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं और सामग्रीके अनुसार उनमें अनेकविध परिवर्तन होते रहते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी किसी परमाणुका अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता और न कोई द्रव्य नया उत्पन्न किया जा सकता है। यह सारी जगतकी लीला उन्हीं परमाणुओंके न्यूनाधिक संयोग-वियोगजन्य विचित्र परिणमनोंके कारण हो रही है।

यदि एक ही ब्रह्मका जगतमें मूलभूत अस्तित्व हो और अनन्त जीवात्मा कल्पित भेदके कारण ही प्रतिभासित होते हों; तो परस्परविरुद्ध सदाचार, दुराचार आदि क्रियाओंसे होनेवाला पुण्य-पापका बन्ध और उनके फल सुख-दुःख आदि नहीं बन सकेंगे। जिस प्रकार एक शरीरमें सिरसे पैर तक सुख और दुःखकी अनुभूति अखण्ड होती है, भले ही फोड़ा पैरमें ही हुआ हो, या पेड़ा मुखमें ही खाया गया हो, उसी तरह समस्त प्राणियोंमें यदि मूलभूत एक ब्रह्मका ही सद्भाव है तो अखण्डभावसे सबको एक जैसी सुख-दुःखकी अनुभूति होनी चाहिये थी। एक अनिर्वचनीय अविद्या या मायाका सहारा लेकर इन जलते हुए प्रश्नोंको नहीं सुलझाया जा सकता।

ब्रह्मको जगतका उपादान कहना इसलिए असंगत है, कि एक ही उपादानसे विभिन्न सहकारियोंके मिलने पर भी जड़ और चेतन, मूर्त्त और अमूर्त जैसे अत्यन्त विरोधी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते। एक-उपादानजन्य कार्योंमें एकरूपताका अन्वय अवश्य देखा जाता है। 'ब्रह्म क्रीड़ाके लिए जगतको उत्पन्न करता है' यह कहना एक प्रकारकी खिलवाड़ है। जब ब्रह्मसे भिन्न कोई दया करने योग्य प्राणी ही नहीं है; तब वह किसपर दया करके भी जगतको उत्पन्न करनेकी बात सोचता है? और जब ब्रह्मसे भिन्न अविद्या वास्तविक है ही नहीं; तब आत्मश्रवण, मनन और निदिध्यासन आदिके द्वारा किसकी निवृत्ति की जाती है?

अविद्याको तत्त्वज्ञानका प्रागभाव नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि वह सर्वथा अभावरूप है, तो भेदज्ञानरूपी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकेगी? एक विष स्वयं सत् होकर, पूर्व विषको, जो कि स्वयं सत् होकर ही मूर्छादि कार्य कर रहा था, शान्त कर सकता है और उसे शान्त कर स्वयं भी शान्त हो सकता है। इसमें दो सत् पदार्थोंमें ही बाध्यबाधकभाव सिद्ध होता है। ज्ञानमें विद्यात्व या अविद्यात्वकी व्यवस्था भेद या अभेदको ग्रहण करनेके कारण नहीं है। यह व्यवस्था तो संवाद और विसंवादसे होती है और संवाद अभेदकी तरह भेदमें भी निर्विवाद रूपसे देखा जाता है।

अविद्याको भिन्नाभिन्नादि विचारोंसे दूर रखना भी उचित नहीं है; क्योंकि इतरेतराभाव आदि अवस्तु होनेपर भी भिन्नाभिन्नादि विचारोंके विषय होते हैं, तथा गुड़ और मिश्रीके परस्पर मिठासका तारतम्य वस्तु होकर भी विचारका विषय नहीं हो पाता। अतः प्रत्यक्षसिद्ध भेदका लोप कर काल्पनिक अभेदके आधारसे परमार्थ ब्रह्मकी कल्पना करना व्यवहारविरुद्ध तो है ही, प्रमाण-विरुद्ध भी है।

हाँ, प्रत्येक द्रव्य अपनेमें अद्वैत है। वह अपनी गुण और पर्यायोंमें अनेक प्रकारसे भासमान होता है; किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वे गुण और पर्यायरूप भेद द्रव्यमें वास्तविक हैं, केवल प्रातिभासिक और काल्पनिक नहीं हैं। द्रव्य स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावके कारण उन-उन पर्यायोंके रूपसे परिणत होता है। अतः एक द्रव्यमें अद्वैत होकर भी भेदकी स्थिति उतनी ही सत्य है जितनी कि अभेदकी। पर्यायें भी द्रव्यकी तरह वस्तुसत् हैं; क्योंकि वे उसकी पर्यायें हैं। यह ठीक है कि साधना करते समय योगीको ध्यान-कालमें ऐसी निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसमें जगत्के अनन्त भेद या स्वपर्यायगत भेद भी प्रतिभासित न होकर मात्र अद्वैत आत्माका साक्षात्कार हो, पर इतने मात्र-से जगत्की सत्ताका लोप नहीं किया जा सकता।

'जगत क्षणभंगुर है, संसार स्वप्न है, मिथ्या है, गंधर्वनगरकी तरह प्रति-भासमात्र है' इत्यादि भावनाएँ हैं। इनसे चित्तको भावित करके उसकी प्रवृत्तिको जगतके विषयोंसे हटाकर आत्मलीन किया जाता है। भावनाओंसे तत्त्वकी व्यवस्था नहीं होती। उसके लिए तो सुनिश्चित कार्यकारणभावकी पद्धिति और तन्मूलक प्रयोग ही अपेक्षित होते हैं। जैनाचार्य भी अनित्य भावनामें संसारको मिथ्या और स्वप्नवत् असत्य कहते हैं। पर उसका प्रयोजन केवल वैराग्य और उपेक्षावृत्तिको जागृत करना है। अतः भावनाओंके बलसे तत्त्वज्ञानके योग्य चित्तकी भूमिका तैयार होनेपर भी तत्त्वव्यवस्थामें उसके उपयोग करनेका मिथ्या क्रम छोड़ ही देना चाहिये।

'एक ही ब्रह्मके सब अंश हैं, परस्परका भेद झूठा है, अतः सबको मिलकरके प्रेमपूर्वक रहना चाहिये' इस प्रकारके उदार उद्देश्यसे ब्रह्मवादके समर्थनका ढंग केवल औदार्यके प्रकारका कल्पित साधन हो सकता है।

आजके भारतीय दार्शनिक यह कहते नहीं अघाते कि 'दर्शनकी चरम कल्पना-का विकास अद्वैतवादमें ही हो सकता है।' तो क्या दर्शन केवल कल्पनाकी दौड़ है? यदि दर्शन मात्र कल्पनाकी सीमामें ही खेलना चाहता है, तो समझ लेना

चाहिये कि विज्ञानके इस सुसम्बद्ध कार्यकारणभावके युगमें उसका कोई विशिष्ट स्थान नहीं रहने पायगा। ठोस वस्तुका आधार छोड़कर केवल दिमागी कसरतमें पड़े रहनेके कारण ही आज भारतीयदर्शन अनेक विरोधाभासोंका अजायबघर बना हुआ है। दर्शनका केवल यही काम था कि वह स्वयंसिद्ध पदार्थोंका समुचित वर्गीकरण करके उनकी व्याख्या करता, किन्तु उसने प्रयोजन और उपयोगकी दृष्टिसे पदार्थोंका काल्पनिक निर्माण ही शुरू कर दिया है!

विभिन्न प्रत्ययोंके आधारसे पदार्थोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता माननेका क्रम ही गलत है। एक ही पदार्थमें अवस्थाभेदसे विभिन्न प्रत्यय हो सकते हैं। 'एक जातिका होना' और 'एक होना' बिल्कुल जुदी बात है। 'सर्वत्र 'सत् सत्' ऐसा प्रत्यय होनेके कारण सन्मात्र एक तत्त्व है।' यह व्यवस्था देना केवल निरी कल्पना ही है, किन्तु प्रत्यक्षादिसे बाधित भी है। दो पदार्थ विभिन्नसत्ताके होते हुए भी सादृश्यके कारण समानप्रत्ययके विषय हो सकते हैं। पदार्थोंका वर्गीकरण सादृश्यके कारण 'एक जातिक' के रूपमें यदि होता है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वे सब पदार्थ 'एक ही' हैं। अनन्त जड़ परमाणुओंको सामान्यलक्षणसे एक पुद्गलद्रव्य या अजीवद्रव्य जो कहा जाता है वह जातिकी अपेक्षा है, व्यक्तियाँ तो अपना पृथक्-पृथक् सत्ता रखने वाली जुदी-जुदी ही हैं। इसी तरह अनन्त जड़ और अनन्त चेतन पदार्थोंको एक द्रव्यत्वकी दृष्टिसे एक कहनेपर भी उनका अपना पृथक् व्यक्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसी तरह द्रव्य, गुण, पर्याय आदिको एक सत्की दृष्टिसे सन्मात्र कहनेपर भी उनके द्रव्य और द्रव्यांश रूपके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आनी चाहिये। ये सब कल्पनाएँ सादृश्य-मूलक हैं, न कि एकत्व-मूलक। एकत्व-मूलक अभेद तो प्रत्येक द्रव्यका अपने गुण और पर्यायोंके साथ ही हो सकता है वह अपनी कालक्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंकी अविच्छिन्न धारा है, जो सजातीय और विजातीय द्रव्यान्तरोंसे असंक्रान्त रहकर अनादि अनन्त प्रवाहित है। इस तरह प्रत्येक द्रव्यका अद्वैत तात्त्विक और पारमार्थिक है, किन्तु अनन्त अखण्ड द्रव्योंका 'सत्' इस सामान्यदृष्टिसे किया जानेवाला सादृश्यमूलक संगठन काल्पनिक और व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं।

अमुक भू-खण्डका नाम अमुक देश रखनेपर भी वह देश कोई द्रव्य नहीं बन जाता और न उसका मनुष्यके भावोंके अतिरिक्त कोई बाह्यमें पारमार्थिक स्थान ही है। 'सेना, वन' इत्यादि संग्रह-मूलक व्यवहार शब्दप्रयोगकी सहजताके लिए हैं; न कि इनके पारमार्थिक अस्तित्व साधनके लिए। अतः अद्वैतको कल्पनाका

चरमविकास कहकर खुश होना स्वयं उसकी व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताको घोषित करना है। हम वैज्ञानिक प्रयोग करनेपर भी दो परमाणुओंको अनन्त कालके लिए अविभागी एकद्रव्य नहीं बना सकते, यानी एककी सत्ताका लोप विज्ञानकी भट्टी भी नहीं कर सकती। तात्पर्य यह है कि दिमागी कल्पनाओंको पदार्थ-व्यवस्थाका आधार नहीं बनाया जा सकता।

यह ठीक है कि हम प्रतिभासके बिना पदार्थका अस्तित्व दूसरेको न समझा सकें और न स्वयं समझ सकें, परन्तु इतने मात्रसे उस पदार्थको 'प्रतिभासस्वरूप' ही तो नहीं कहा जा सकता? अँधेरेमें यदि बिना प्रकाशके हम घटादि पदार्थोंको नहीं देख सकते और न दूसरोंको दिखा सकते हैं; तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि घटादि पदार्थ 'प्रकाशरूप' ही हैं। पदार्थोंकी अपने कारणोंसे अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं और प्रकाशकी अपने कारणोंसे। फिर भी जैसे दोनोंमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव है उसी तरह प्रतिभास और पदार्थोंमें प्रतिभास्य-प्रतिभासक-भाव है। दोनोंकी एक सत्ता कदापि नहीं हो सकती। अतः परम काल्पनिक संग्रहनयकी दृष्टिसे समस्त जगतके पदार्थोंको एक 'सत्' भले ही कह दिया जाय, पर यह कहना उसी तरह एक काल्पनिक शब्दसंकेतमात्र है, जिस तरह दुनियाँके अनन्त आमोंको एक आम शब्दसे कहना। जगतका हर पदार्थ अपने व्यक्तित्वके लिए संघर्ष करता दिखलाई दे रहा है और प्रकृतिका नियम अल्पकालके लिए उसके अस्तित्वको दूसरेसे सम्बद्ध करके भी उसे अन्तमें स्वतन्त्र ही रहनेका विधान करता है। जड़परमाणुओंमें इस सम्बन्धका सिलसिला परस्परसंयोगके कारण बनता और बिगड़ता रहता है, परन्तु चेतनतत्त्वोंमें इसकी भी संभावना नहीं है। सबकी अपनी-अपनी अनुभूतियाँ, वासनाएँ और प्रकृतियाँ जुदी-जुदी हैं। उनमें समानता हो सकती है, एकता नहीं। इस तरह अनन्त भेदोंके भण्डारभूत इस विश्वमें एक अद्वैतकी बात सुन्दर कल्पनासे अधिक महत्त्व नहीं रखती।

जैन दर्शनमें इस प्रकारकी कल्पनाओंको संग्रहनयमें स्थान देकर भी एक शर्त लगा दी है कि कोई भी नय अपने प्रतिपक्षी नयसे निरपेक्ष होकर सत्य नहीं हो सकता। यानी भेदसे निरपेक्ष अभेद परमार्थसत्की पदवीपर नहीं पहुँच सकता। उसे यह कहना ही होगा कि 'इन स्वयं सिद्ध भेदोंमें इस दृष्टिसे अभेद कहा जा सकता है।' जो नय प्रतिपक्षी नयके विषयका निराकरण करके एकान्तकी ओर जाता है वह दुर्नय है—नयाभास है। अतः सन्मात्र अद्वैत संग्रहनयका विषय नहीं होता, किन्तु संग्रहनयाभासका विषय है।

शब्दाद्वैतवादसमीक्षा :

पूर्वपक्ष :

[1]भर्तृहरि आदि वैयाकरण जगतमें मात्र एक 'शब्द'को परमार्थ सत् कहकर समस्त वाच्य-वाचकतत्त्वको उसी शब्दब्रह्मका विवर्त मानते हैं। यद्यपि[2] उपनिषद्में शब्दब्रह्म और परब्रह्मका वर्णन आता है और उसमें यह बताया गया है कि शब्दब्रह्ममें निष्णात व्यक्ति परब्रह्मको प्राप्त करता है। इनका कहना है कि संसारके समस्त ज्ञान शब्दानुबिद्ध ही अनुभवमें आते हैं। यदि प्रत्ययोंमें शब्दसंस्पर्श न हो तो उनकी प्रकाशरूपता ही समाप्त हो जायगी। ज्ञानमें वाग्रूपता शाश्वती है और वही उसका प्राण है। संसारका कोई भी व्यवहार शब्दके बिना नहीं होता। अविद्याके कारण संसारमें नाना प्रकारका भेद-प्रपञ्च दिखाई देता है। वस्तुतः सभी उसी शब्दब्रह्मकी ही पर्यायें हैं। जैसे एक ही जल वीची, तरंग, बुद्बुद और फेन आदिके आकारको धारण करता है, उसी तरह एक ही शब्दब्रह्म वाच्य-वाचकरूपसे काल्पनिक भेदोंमें विभाजित-सा दिखता है। भेद डालनेवाली अविद्याके नाश होने पर समस्त प्रपञ्चोंसे रहित निर्विकल्प शब्दब्रह्मकी प्रतीति हो जाती है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु इस शब्दब्रह्मवादकी प्रक्रिया उसी तरह दूषित है, जिस प्रकार कि पूर्वोक्त ब्रह्माद्वैतवादकी। यह ठीक है कि शब्द, ज्ञानके प्रकाश करनेका एक समर्थ माध्यम है और दूसरे तक अपने भावों और विचारोंको बिना शब्दके नहीं भेजा जा सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि जगतमें एक शब्दतत्त्व ही है। कोई बूढ़ा लाठीके बिना नहीं चल सकता तो बूढ़ा, लाठी, गति और जमीन सब लाठीकी पर्यायें तो नहीं हो सकतीं? अनेक प्रतिभास ऐसे होते हैं जिन्हें शब्दकी स्वल्प शक्ति स्पर्श भी नहीं कर सकती और असंख्य पदार्थ ऐसे पड़े हुए हैं जिन तक मनुष्यका संकेत और उसके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले शब्द नहीं पहुँच पाये हैं। घटादि पदार्थोंको कोई जाने, या न जाने, उनके वाचक शब्दका प्रयोग करे, या न करे; पर उनका अपना अस्तित्व शब्द और ज्ञानके अभावमें भी है ही। शब्द-रहित पदार्थ आँखसे दिखाई देता है और अर्थरहित शब्द कानसे सुनाई देता है।

यदि शब्द और अर्थमें तादात्म्य हो, तो अग्नि, पत्थर, छुरा आदि शब्दोंको

---

१. 'अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥'—वाक्यप० १।१।

२. 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'—ब्रह्मबिन्दूप० २२।

सुननेसे श्रोत्रका दाह, अभिघात और छेदन आदि होना चाहिये। शब्द और अर्थ भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकारवाले होकर एक दूसरेसे निरपेक्ष विभिन्न इन्द्रियोंसे गृहीत होते हैं। अतः उनमें तादात्म्य मानना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। जगतका व्यवहार केवल शब्दात्मक ही तो नहीं है? अन्य संकेत, स्थापना आदिके द्वारा भी सैकड़ों व्यवहार चलते हैं। अतः शाब्दिक व्यवहार शब्दके विना न भी हों; पर अन्य व्यवहारोंके चलनेमें क्या बाधा है? यदि शब्द और अर्थ अभिन्न हैं; तो अंधेको शब्दके सुननेपर रूप दिखाई देना चाहिये और बहरेको रूपके दिखाई देनेपर शब्द सुनाई देना चाहिये।

शब्दसे अर्थकी उत्पत्ति कहना या शब्दका अर्थरूपसे परिणमन मानना विज्ञान-सिद्ध कार्यकारणभावके सर्वथा प्रतिकूल है। शब्द तालु आदिके अभिघातसे उत्पन्न होता है और घटादि पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे। स्वयंसिद्ध दोनोंमें संकेतके अनुसार वाच्य-वाचकभाव बन जाता है।

जो उपनिषद्वाक्य शब्दब्रह्मकी सिद्धिके लिये दिया जाता है, उसका सीधा अर्थ तो यह है कि दो[1] विद्याएँ जगतमें उपादेय हैं—एक शब्दविद्या और दूसरी ब्रह्मविद्या। शब्दविद्यामें निष्णात व्यक्तिको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति सहजमें हो सकती है। इसमें शब्दज्ञान और आत्मज्ञानका उत्पत्ति-क्रम बताया गया है, न कि जगतमें 'मात्र एक शब्दतत्त्व है', इस प्रतीतिविरुद्ध अव्यावहारिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। सीधी-सी बात है कि साधकको पहले शब्दव्यवहारमें कुशलता प्राप्त करनी चाहिये, तभी वह शब्दोंकी उलझनसे ऊपर उठकर यथार्थ तत्त्वतक पहुँच सकता है।

अविद्या और मायाके नामसे सुनिश्चित कार्यकारणभावमूलक जगतके व्यवहारोंको और घटपटादि भेदोंको काल्पनिक और असत्य इसलिए नहीं ठहराया जा सकता कि स्वयं अविद्या जब भेदप्रतिभासरूप या भेदप्रतिभासरूपी कार्यको उत्पन्न करनेवाली होनेसे वस्तुसत् सिद्ध हो जाती है, तब वह स्वयं पृथक् सत् होकर उस अद्वैतकी विघातक बनती है। निष्कर्ष यह कि अविद्याकी तरह अन्य घटपटादिभेदोंको वस्तुसत् होनेमें क्या बाधा है।

सर्वथा नित्य शब्दब्रह्मसे न तो कार्योंकी क्रमिक उत्पत्ति हो सकती है और न उसका क्रमिक परिणमन ही; क्योंकि नित्य पदार्थ सदा एकरूप, अविकारी और समर्थ होनेके कारण क्रमिक कार्य या परिणमनका आधार नहीं हो सकता। सर्वथा नित्यमें परिणमन कैसा?

---

१. 'द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।'—ब्रह्मबिन्दू० २२।

शब्दब्रह्म जब अर्थरूपसे परिणमन करता है, तब यदि शब्दरूपताको छोड़ देता है, तो सर्वथा नित्य कहाँ रहा ? यदि नहीं छोड़ता है, तो शब्द और अर्थ दोनोंका एक इन्द्रियके द्वारा ग्रहण होना चाहिये। एक शब्दाकारसे अनुस्यूत होनेके कारण जगतके समस्त प्रत्ययोंको एकजातिवाला या समानजातिवाला तो कह सकते हैं, पर एक नहीं। जैसे कि एक मिट्टीके आकारसे अनुस्यूत होनेके कारण घट, सुराही, सकोरा आदिको मिट्टीकी जातिका और मिट्टीसे बना हुआ ही तो कहा जाता है, न कि इन सबकी एक सत्ता स्थापित की जा सकती है। जगतका प्रत्येक पदार्थ समान और असमान दोनों धर्मोंका आधार होता है। समान धर्मोंकी दृष्टिसे उनमें 'एक जातिक' व्यवहार होनेपर भी अपने व्यक्तिगत असाधारण स्वभावके कारण उनका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता ही है। प्राणोंको अन्नमय कहनेका अर्थ यह नहीं है कि अन्न और प्राण एक वस्तु हैं।

विशुद्ध आकाशमें तिमिर-रोगीको जो अनेक प्रकारकी रेखाओंका मिथ्या भान होता है, उसमें मिथ्या-प्रतिभासका कारण तिमिररोग वास्तविक है, तभी वह वस्तुसत् आकाशमें वस्तुसत् रोगीको मिथ्या प्रतीति कराता है। इसी तरह यदि भेदप्रतिभासकी कारणभूत अविद्या वस्तुसत् मानी जाती है; तो शब्दाद्वैतवाद अपने आप समाप्त है। अतः शुष्क कल्पनाके क्षेत्रसे निकलकर दर्शनशास्त्रमें हमें स्वसिद्ध पदार्थोंकी विज्ञानाविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिये, न कि कल्पनाके आधारसे नये-नये पदार्थोंकी सृष्टि। 'सभी ज्ञान शब्दान्वित हों ही' यह भी ऐकान्तिक नियम नहीं है; क्योंकि भाषा और संकेतसे अनभिज्ञ व्यक्तिको पदार्थोंका प्रतिभास होने पर भी तद्वाचक शब्दोंकी योजना नहीं हो पाती। अतः शब्दाद्वैतवाद भी प्रत्यक्षादिसे बाधित है।

सांख्यके 'प्रधान' सामान्यवादकी मीमांसा :

पूर्वपक्ष :

सांख्य मूलमें दो तत्त्व मानते हैं। एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। पुरुषतत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य और ज्ञानादिपरिणामसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुषतत्त्व अनन्त है, सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति, जिसे प्रधान भी कहते हैं, परिणामी-नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह [1]एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है

१. "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥"
—सांख्यका० ११।

और महान् आदि विकारोंको उत्पन्न करती है। कारणरूप प्रधान 'अव्यक्त' कहा जाता है और कार्यरूप 'व्यक्त'। [1]इस प्रधानसे, जो कि व्यापक, निष्क्रिय और एक है; सबसे पहले विषयको निश्चय करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है। इसे महान् कहते हैं। महान्से 'मैं सुन्दर हूँ, मैं दर्शनीय हूँ' इत्यादि अहंकार पैदा होता है। अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वचन, हाथ, पैर, मलस्थान और मूत्रस्थान ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन इस प्रकार सोलह गण पैदा होते हैं। इनमें शब्दतन्मात्रासे आकाश, स्पर्शतन्मात्रासे वायु, रसतन्मात्रासे जल, रूपतन्मात्रासे अग्नि और गन्धतन्मात्रासे पृथ्वी इस प्रकार पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले महान् आदि तेईस विकार प्रकृतिके ही परिणाम हैं और उत्पत्तिके पहले प्रकृतिरूप कारणमें इनका सद्भाव है। इसीलिए सांख्य सत्कार्यवादी माने जाते हैं। इस सत्कार्यवादको सिद्ध करनेके लिए निम्नलिखित पाँच हेतु दिये जाते हैं[2] :—

(१) कोई भी असत्कार्य पैदा नहीं होता। यदि कारणमें कार्य असत् हो, तो वह खरविषाणकी तरह उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

(२) यदि कार्य असत् होता, तो लोग प्रतिनियत उपादान कारणोंका ग्रहण क्यों करते ? कोदोंके अंकुरके लिए कोदोंके बीजका बोया जाना और चनेके बीजका न बोया जाना, इस बातका प्रमाण है कि कारणमें कार्य सत् है।

(३) यदि कारणमें कार्य असत् है, तो सभी कारणोंसे सभी कार्य उत्पन्न होना चाहिये थे। लेकिन सबसे सब कार्य उत्पन्न नहीं होते। अतः ज्ञात होता है कि जिनसे जो उत्पन्न होते हैं उनमें उन कार्योंका सद्भाव है।

(४) प्रतिनियत कारणोंकी प्रतिनियत कार्यके उत्पन्न करनेमें ही शक्ति देखी जाती है। समर्थ भी हेतु शक्यक्रिय कार्यको ही उत्पन्न करते हैं, अशक्यको नहीं। जो अशक्य है वह शक्यक्रिय हो ही नहीं सकता।

(५) जगतमें कार्यकारणभाव ही सत्कार्यवादका सबसे बड़ा प्रमाण है। बीजको कारण कहना इस बातका साक्षी है कि उसमें ही कार्यका सद्भाव है, अन्यथा उसे कारण ही नहीं कह सकते थे।

---

१. "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥"
—सांख्यका० २२।

२. सांख्यका० ९।

समस्त जगतका कारण एक प्रधान है। एक प्रधान अर्थात् प्रकृतिसे यह समस्त जगत उत्पन्न होता है।

[1]प्रधानसे उत्पन्न होनेवाले कार्य परिमित देखे जाते हैं। उनकी संख्या है। सबमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका अन्वय देखा जाता है। हर कार्य किसी-न-किसीको प्रसाद, लाघव, हर्ष, प्रीति (सत्त्वगुणके कार्य), ताप, शोष, उद्वेग (रजोगुणके कार्य), दैन्य, बीभत्स, गौरव (तमोगुणके कार्य) आदि भाव उत्पन्न करता है। यदि कार्योंमें स्वयं सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण न होते; तो वह उक्त भावोंमें कारण नहीं बन सकता था। प्रधानमें ऐसी शक्ति है, जिससे वह महान् आदि 'व्यक्त' उत्पन्न करता है। जिस तरह घटादि कार्योंको देखकर उनके मिट्टी आदि कारणोंका अनुमान होता है, उसी तरह 'महान्' आदि कार्योंसे उनके उत्पादक प्रधानका अनुमान होता है। प्रलयकालमें समस्त कार्योंका लय इसी एक प्रकृतिमें हो जाता है। पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओंमें, तन्मात्रादि सोलह गण अहंकारमें, अहंकार बुद्धिमें और बुद्धि प्रकृतिमें लीन हो जाती है। उस समय व्यक्त अव्यक्तका विवेक नहीं रहता।

[2]इनमें मूल प्रकृति कारण ही होती है और ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच भूत ये सोलह कार्य ही होते हैं और महान, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ ये सात पूर्वकी अपेक्षा कार्य और उत्तरकी अपेक्षा कारण होते हैं। इस तरह एक सामान्य प्रधान तत्त्वसे इस समस्त जगतका विपरिणाम होता है और प्रलयकालमें उसीमें उनका लय हो जाता है। पुरुष जलमें कमलपत्रकी तरह निर्लिप्त है, साक्षी है, चेतन है और निर्गुण है। प्रकृतिसंसर्गके कारण [3]बुद्धिरूपी माध्यमके द्वारा इसमें भोगकी कल्पना की जाती है। बुद्धि दोनों ओरसे पारदर्शी दर्पणके समान है। इस मध्यभूत बुद्धि दर्पणमें एक ओरसे इन्द्रियों द्वारा विषयोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओरसे पुरुषकी छाया। इस छायापत्तिके कारण पुरुषमें भोगनेका भान

---

१. "भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥"
—सांख्यका० १५।

२. "मूलप्रकृतिरविकृतिः महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥"
—सांख्यका० ३।

३. "बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्धया संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।"—योगसू० तत्त्ववै० २।२०।

होता है, यानी परिणमन तो बुद्धिमें ही होता है और भोगका भान पुरुषमें होता है। वही बुद्धि पुरुष और पदार्थ दोनोंकी छायाको ग्रहण करती है। इस तरह बुद्धिदर्पणमें दोनोंके प्रतिबिम्बित होनेका नाम ही भोग है। वैसे पुरुष तो कूटस्थ-नित्य और अविकारी है, उसमें कोई परिणमन नहीं होता।

बँधती भी प्रकृति ही है और छूटती भी प्रकृति ही है। प्रकृति एक वेश्याके समान है। जब वह जान लेती है कि इस पुरुषको 'मैं प्रकृतिका नहीं हूँ, प्रकृति मेरी नहीं है' इस प्रकारका तत्त्वज्ञान हो गया है और यह मुझसे विरक्त है, तब वह स्वयं हताश होकर पुरुषका संसर्ग छोड़ देती है। तात्पर्य यह कि सारा खेल इस प्रकृतिका है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु सांख्यकी इस तत्त्वप्रक्रियामें सबसे बड़े दोष ये हैं। जब [1]एक ही प्रधानका अस्तित्व संसारमें है, तब उस एक तत्त्वसे महान्, अहंकाररूप चेतन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि अचेतन इस तरह परस्पर विरोधी दो कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? उसी एक कारणसे अमूर्तिक आकाश और मूर्तिक पृथिव्यादिकी उत्पत्ति मानना भी किसी तरह संगत नहीं है। एक कारण परस्पर अत्यन्त विरोधी दो कार्योंको उत्पन्न नहीं कर सकता। विषयोंका निश्चय करनेवाली बुद्धि और अहंकार चेतनके धर्म हैं। इनका उपादान कारण जड़ प्रकृति नहीं हो सकती। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके कार्य जो प्रसाद, ताप, शोष आदि बताये हैं, वे भी चेतनके ही विकार हैं। उसमें प्रकृतिको उपादान कहना किसी भी तरह संगत नहीं है। एक अखण्ड तत्त्व एक ही समयमें परस्पर विरोधी चेतन-अचेतन, मूर्त्त-अमूर्त्त, सत्त्वप्रधान, रजःप्रधान, तमःप्रधान आदि अनेक विरोधी कार्योंके रूपसे कैसे वास्तविक परिणमन कर सकता है ? किसी आत्मामें एक पुस्तक राग उत्पन्न करती है और वही पुस्तक दूसरी आत्मामें द्वेष उत्पन्न करती है, तो उसका अर्थ नहीं है कि पुस्तकमें राग और द्वेष हैं। चेतन भावोंमें चेतन ही उपादान हो सकता है, जड़ नहीं। स्वयं राग और द्वेषसे शून्य जड़ पदार्थ आत्माओंके राग और द्वेषके निमित्त बन सकते हैं।

---

१. यद्यपि मौलिक सांख्योंका एक प्राचीन पक्ष यह था कि हर एक पुरुषके साथ संसर्ग रखनेवाला 'प्रधान' जुदा-जुदा है अर्थात् प्रधान अनेक है। जैसा कि षड्द० समु० गुणरत्न-टीका (पृ० ९९) के इस अवतरणसे ज्ञात होता है—"मौलिकसांख्या हि आत्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रतिपन्नाः।" किन्तु सांख्यकारिका आदि उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें इस पक्षका कोई निर्देश तक नहीं मिलता।

यदि बन्ध और मोक्ष प्रकृतिको ही होते हैं, तो पुरुषकी कल्पना निरर्थक है। बुद्धिमें विषयकी छाया पड़नेपर भी यदि पुरुषमें भोक्तृत्वरूप परिणमन नहीं होता, तो उसे भोक्ता कैसे माना जाय ? पुरुष यदि सर्वथा निष्क्रिय है; तो वह भोगक्रियाका कर्त्ता भी नहीं हो सकता और इसीलिए भोक्तृत्वके साथ अकर्ता पुरुषकी कोई संगति ही नहीं बैठती।

मूल प्रकृति यदि निर्विकार है और उत्पाद और व्यय केवल धर्मोंमें ही होते हैं, तो प्रकृतिको परिणामी कैसे कहा जा सकता है ? कारणमें कार्योत्पादनकी शक्ति तो मानी जा सकती है, पर कार्यकालकी तरह उसका प्रकट सद्भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'मिट्टीमें घड़ा अपने आकारमें मौजूद है और वह केवल कुम्हारके व्यापारसे प्रकट होता है' इसके स्थानमें यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'मिट्टीमें सामान्य रूपसे घटादि कार्योंके उत्पादन करनेकी शक्ति हैं, कुम्हारके व्यापार आदिका निमित्त पाकर वह शक्तिवाली मिट्टी अपनी पूर्वपिण्डपर्यायको छोड़कर घटपर्यायको धारण करती हैं', यानी मिट्टी स्वयं घड़ा बन जाती है। कार्य द्रव्यकी पर्याय है और वह पर्याय किसी भी द्रव्यमें शक्तिरूपसे ही व्यवहृत हो सकती है।

वस्तुतः प्रकृतिके संसर्गसे उत्पन्न होनेपर भी बुद्धि, अहंकार आदि धर्मोंका आधार पुरुष ही हो सकता है, भले ही ये धर्म प्रकृतिसंसर्गज होनेसे अनित्य हों। अभिन्न स्वभाववाली एक ही प्रकृति अखण्ड तत्त्व होकर कैसे अनन्त पुरुषोंके साथ विभिन्न प्रकारका संसर्ग एक साथ कर सकती है ? अभिन्न स्वभाव होनेके कारण सबके साथ एक प्रकारका ही संसर्ग होना चाहिये। फिर मुक्तात्माओंके साथ असंसर्ग और संसारी आत्माओंके साथ संसर्ग यह भेद भी व्यापक और अभिन्न प्रकृतिमें कैसे बन सकता है ?

प्रकृतिको अन्धी और पुरुषको पङ्गु मानकर दोनोंके संसर्गसे सृष्टिकी कल्पनाका विचार सुननेमें सुन्दर तो लगता है, पर जिस प्रकार अन्ध और पङ्गु दोनोंमें संसर्गकी इच्छा और उस जातिका परिणमन होनेपर ही सृष्टि सम्भव होती है, उसी तरह जबतक पुरुष और प्रकृति दोनोंमें स्वतन्त्र परिणमनकी योग्यता नहीं मानी जायगी तबतक एकके परिणामी होनेपर भी न तो संसर्गकी सम्भावना है और न सृष्टिकी ही। दोनों एक दूसरेके परिणमनोंमें निमित्त कारण हो सकते हैं, उपादान नहीं।

एक ही चैतन्य हर्ष, विषाद, ज्ञान, विज्ञान आदि अनेक पर्यायोंको धारण करनेवाला संविद्-रूपसे अनुभवमें आता है। उसीमें महान्, अहङ्कार आदि संज्ञाएँ

की जा सकती हैं, पर इन विभिन्न भावोंको चेतनसे भिन्न जड़-प्रकृतिका धर्म नहीं माना जा सकता। जलमें कमलकी तरह पुरुष यदि सर्वथा निर्लिप्त है, तो प्रकृति-गत परिणामोंका औपचारिक भोक्तृत्व घटा देनेपर भी वस्तुतः न तो वह भोक्ता ही सिद्ध होता है और न चेतयिता ही। अतः पुरुषको वास्तविक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका आधार मानकर परिणामी नित्य ही स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागम नामके दूषण आते हैं। जिस प्रकृतिने कार्य किया, वह तो उसका फल नहीं भोगती और जो पुरुष भोक्ता होता है, वह कर्त्ता नहीं है। यह असंगति पुरुषको अधिकारी माननेमें बनी ही रहती है।

यदि 'व्यक्त' रूप महदादि विकार और 'अव्यक्त' रूप प्रकृतिमें अभेद है, तो महदादिकी उत्पत्ति और विनाशसे प्रकृति अलिप्त कैसे रह सकती है? अतः परस्पर विरोधी अनन्त कार्योंकी उत्पत्तिके निर्वाहके लिए अनन्त ही प्रकृतितत्त्व जुदे-जुदे मानना चाहिये, जिसके विलक्षण परिणमनोंसे इस सृष्टिका वैचित्र्य सुसंगत हो सकता है। वे सब तत्त्व एक प्रकृतिजातिके हो सकते हैं यानी जातिकी अपेक्षा वे एक कहे जा सकते हैं; पर सर्वथा एक नहीं, उनका पृथक् अस्तित्व रहना ही चाहिए। शब्दसे आकाश, रूपसे अग्नि इत्यादि गुणोंसे गुणीकी उत्पत्तिकी बात असंगत है। गुण गुणीको पैदा नहीं करता, बल्कि गुणीमें ही नाना गुण अव-स्थाभेदसे उत्पन्न होते और विनष्ट होते हैं। घट, सकोरा, सुराही आदि कार्योंमें मिट्टीका अन्वय देखकर यही तो सिद्ध किया जा सकता है कि इनके उत्पादक परमाणु एक मिट्टी जातिके हैं।

सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए जो 'असदकरणात्' आदि पाँच हेतु दिये हैं, वे सब कथञ्चित् सद्-असद् कार्यवादमें ही सम्भव हो सकते हैं। अर्थात् प्रत्येक कार्य अपने आधारभूत द्रव्यमें शक्तिकी दृष्टिसे ही सत् कहा जा सकता है, पर्यायकी दृष्टिसे नहीं। यदि पर्यायकी दृष्टिसे भी सत् हो; तो कारणोंका व्यापार निरर्थक हो जाता है। उपादान-उपादेयभाव, शक्य हेतुका शक्यक्रिय कार्यको ही पैदा करना, और कारणकार्यविभाग आदि कथंचित् सत्कार्यवादमें ही सम्भव हैं।

त्रिगुणका अन्वय देखकर कार्योंको एक जातिका ही तो माना जा सकता है न कि एक कारणसे उत्पन्न। समस्त पुरुषोंमें परस्पर चेतनत्व और भोक्तृत्व आदि धर्मोंका अन्वय देखा जाता है; पर वे सब किसी एक कारणसे उत्पन्न नहीं हुए हैं। प्रधान और पुरुषमें नित्यत्व, सत्त्व आदि धर्मोंका अन्वय होनेपर भी दोनोंकी एक कारणसे उत्पत्ति नहीं मानी जाती।

यदि प्रकृति नित्यस्वभाव होकर तत्त्वसृष्टि या भूतसृष्टिमें प्रवृत्त होती है; तो अचेतन प्रकृतिको यह ज्ञान नहीं हो सकता कि इतनी ही तत्त्वसृष्टि होनी चाहिए

और यह ही इसका उपकारक है। ऐसी हालतमें नियत प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि हो, तो प्रवृत्तिका अन्त नहीं आ सकता। 'पुरुषके भोगके लिए मैं सृष्टि करूँ' यह ज्ञान भी अचेतन प्रकृतिको कैसे हो सकता है?

वेश्याके दृष्टान्तसे बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था जमाना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वेश्याका संसर्ग उसी पुरुषसे होता है, जो स्वयं उसकी कामना करता है, उसी पर उसका जादू चलता है। यानी अनुराग होने पर आसक्ति और विराग होने पर विरक्तिका चक्र तभी चलेगा, जब पुरुष स्वयं अनुराग और विराग अवस्थाओंको धारण करे। कोई वेश्या स्वयं अनुरक्त होकर किसी पत्थरसे नहीं चिपटती। अतः जब तक पुरुषका मिथ्याज्ञान, अनुराग और विराग आदि परिणमनोंका वास्तविक आधार नहीं माना जाता, तब तक बन्ध और मोक्षकी प्रक्रिया बन ही नहीं सकती। जब उसके स्वरूपभूत चैतन्यका ही प्रकृतिसंसर्गसे विकारी परिणमन हो तभी वह मिथ्याज्ञानी होकर विपर्ययमूलक बन्ध-दशाको पा सकता है और कैवल्यकी भावना-से संप्रज्ञात और असंप्रज्ञातरूप समाधिमें पहुँचकर जीवन्मुक्त और परममुक्त दशा-को पहुँच सकता है। अतः पुरुषको परिणामी नित्य माने बिना न तो प्रतीतिसिद्ध लोकव्यवहारका ही निर्वाह हो सकता है और न पारमार्थिक लोक-परलोक या बन्ध-मोक्षव्यवस्थाका ही सुसंगत रूप बन सकता है।

यह ठीक है कि पुरुषके प्रकृतिसंसर्गसे होनेवाले अनेक परिणमन स्थायी या निजस्वभाव नहीं कहे जा सकते, पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि केवल प्रकृति-के ही धर्म हैं; क्योंकि इन्द्रियादिके संयोगसे जो बुद्धि या अहंकार उत्पन्न होता है, आखिर हैं तो वह चेतनधर्म ही। चेतन ही अपने परिणामी स्वभावके कारण सामग्रीके अनुसार उन-उन पर्यायोंको धारण करता है। इसलिए इन संयोगजन्य धर्मोंमें उपादानभूत पुरुष इनकी वैकारिक जवाबदारीसे कैसे बच सकता है? यह ठीक है कि जब प्रकृतिसंसर्ग छूट जाता है और पुरुष मुक्त हो जाता है तब इन धर्मोंकी उत्पत्ति नहीं होती, जब तक संसर्ग रहता है तभी तक उत्पत्ति होती है, इस तरह प्रकृतिसंसर्ग ही इनका हेतु ठहरता है, परन्तु यदि पुरुषमें विकार रूपसे परिणमनकी योग्यता और प्रवृत्ति न हो, तो प्रकृतिसंसर्ग बलात् उसमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकता। अन्यथा मुक्त अवस्थामें भी विकार उत्पन्न होना चाहिये; क्योंकि व्यापक होनेसे मुक्त आत्माका प्रकृतिसंसर्ग तो छूटा नहीं है, संयोग तो उसका कायम है ही। प्रकृतिको चरितार्थ तो इसलिये कहा है कि जो पुरुष पहले उसके संसर्गसे संसारमें प्रवृत्त होता था, वह अब संसरण नहीं करता। अतः चरि-तार्थ और प्रवृत्तार्थ व्यवहार भी पुरुषकी ओरसे ही है, प्रकृतिकी ओरसे नहीं।

जब पुरुष स्वयं राग, विराग, विपर्यय, विवेक और ज्ञान-विज्ञानरूप परिणमनोंका वास्तविक उपादान होता है, तब उसे हम लंगड़ा नहीं कह सकते। एक दृष्टिसे प्रकृति न केवल अन्धी है, किन्तु पुरुषके परिणमनोंके लिए वह लँगड़ी भी है। 'जो करे वह भोगे' यह एक निरपवाद सिद्धान्त है। अतः पुरुषमें जब वास्तविक भोक्तृत्व माने बिना चारा नहीं है, तब वास्तविक कर्तृत्व भी उसीमें मानना ही उचित है। जब कर्तृत्व और भोक्तृत्व अवस्थाएँ पुरुषगत ही हो जाती हैं, तब उसका कूटस्थ नित्यत्व अपने आप समाप्त हो जाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणाम प्रत्येक सत्का अपरिहार्य लक्षण है, चाहे चेतन हो या अचेतन, मूर्त्त हो या अमूर्त्त, प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने स्वाभाविक परिणामी स्वभावके अनुसार एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायको धारण करता चला जा रहा है। ये परिणमन सदृश भी होते हैं और विसदृश भी। परिणमनकी धाराको तो अपनी गतिसे प्रतिक्षण बहना है। बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार उसमें विविधता बराबर आती रहती है। सांख्यके इस मतको केवल सामान्यवादमें इसलिए शामिल किया है कि उसने प्रकृतिको एक, नित्य, व्यापक और अखण्ड तत्त्व मानकर उसे ही मूर्त्त, अमूर्त्त आदि विरोधी परिणमनोंका सामान्य आधार माना है।

विशेषपदार्थवाद :

बौद्धका पूर्वपक्ष :

बौद्ध साधारणतया विशेषपदार्थको ही वास्तविक तत्त्व मानते हैं। स्वलक्षण, चाहे चेतन हो या अचेतन, क्षणिक और परमाणुरूप हैं। जो, जहाँ और जिस कालमें उत्पन्न होता है वह वहीं और उसी समय नष्ट हो जाता है। कोई भी पदार्थ देशान्तर और कालान्तरमें व्याप्त नहीं हो सकता, वह दो देशोंको स्पर्श नहीं कर सकता। हर पदार्थका प्रतिक्षण नष्ट होना स्वभाव है। उसे नाशके लिए किसी अन्य कारणकी आवश्यकता नहीं है। अगले क्षणकी उत्पत्तिके जितने कारण हैं उनसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा पूर्वक्षणके विनाशको नहीं होती, वह उतने ही कारणोंसे हो जाता है, अतः उसे निर्हेतुक कहते हैं। निर्हेतुका अर्थ 'कारणोंके अभावमें हो जाना' नहीं है, किन्तु 'उत्पादके कारणोंसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं रखना' यह है। हर पूर्वक्षण स्वयं विनष्ट होता हुआ उत्तरक्षणको उत्पन्न करता जाता है और इस तरह एक वर्तमानक्षण ही अस्तित्वमें

---

१. 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥'

—उद्धृत प्रमेयरत्नमाला ४।१।

रहकर धाराकी क्रमबद्धताका प्रतीक होता है। पूर्वोत्तर क्षणोंकी इस सन्तति-परम्परामें कार्यकारणभाव और बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था बन जाती है।

स्थिर और स्थूल ये दोनों ही मनकी कल्पना हैं। इनका प्रतिभास सदृश उत्पत्तिमें एकत्वका मिथ्या भान होनेके कारण तथा पुञ्जमें सम्बद्धबुद्धि होनेके कारण होता है। विचार करके देखा जाय, तो जिसे हम स्थूल पदार्थ कहते हैं, वह मात्र परमाणुओंका पुञ्ज ही तो है। अत्यासन्न और असंसृष्ट परमाणुओंमें स्थूलताका भ्रम होता है। एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे यदि सर्वात्मना संसर्ग माना जाता है; तो दो परमाणु मिलकर एक हो जायँगे और इसी क्रमसे परमाणुओंका पिण्ड अणुमात्र ही रह जायगा। यदि एकदेशसे संसर्ग माना जाता है; तो छहों दिशाओंके छह परमाणुओंके साथ संसर्ग रखनेवाले मध्यवर्ती परमाणुके छह देश कल्पना करने पड़ेंगे। अतः केवल परमाणुका सञ्चय ही इन्द्रियप्रतीतिका विषय होता है।

अर्थक्रिया ही परमार्थसत्का वास्तविक लक्षण है। कोई भी अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत्। चूँकि [1]नित्य और एकस्वभाववाले पदार्थमें न तो क्रमसे अर्थक्रिया सम्भव है और न युगपत्। अतः क्रम और यौगपद्यके अभावमें उससे व्याप्त अर्थक्रिया निवृत्त हो जाती है और अर्थक्रियाके अभावमें उससे सत्त्व निवृत्त होकर नित्य पदार्थको असत् सिद्ध कर देता है। सहकारियोंकी अपेक्षा नित्य पदार्थमें क्रम इसलिये नहीं बन सकता; कि नित्य जब स्वयं समर्थ है; तब उसे सहकारियोंकी अपेक्षा ही नहीं होनी चाहिए। यदि सहकारी कारण नित्य पदार्थमें कोई अतिशय या विशेषता उत्पन्न करते हैं, तो वह सर्वथा नित्य नहीं रह सकता। यदि कोई विशेषता नहीं लाते; तो उनका मिलना और न मिलना बराबर ही रहा। नित्य एकस्वभाव पदार्थ जब प्रथमक्षणभावी कार्य करता है; तब अन्य कार्योंके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य उसमें है, या नहीं ? यदि है; तो सभी कार्य एक साथ उत्पन्न होना चाहिए। यदि नहीं है और सहकारियोंके मिलनेपर वह सामर्थ्य आ जाती है; तो वह नित्य और एकरूप नहीं रह सकता। अतः प्रतिक्षण परिवर्तन-शील परमाणुरूप ही पदार्थ अपनी-अपनी सामग्रीके अनुसार विभिन्न कार्योंके उत्पादक होते हैं।

---

१. 'क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः।
न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः॥'
—तत्वसं० श्लो० ३९०.

चित्तक्षण भी इसी तरह क्षणप्रवाहरूप है, अपरिवर्तनशील और नित्य नहीं हैं। इसी क्षणप्रवाहमें प्राप्त वासनाके अनुसार पूर्वक्षण उत्तरक्षणको उत्पन्न करता हुआ अपना अस्तित्व निःशेष करता जाता है। एकत्व और शाश्वतिकता भ्रम है। उत्तरका पूर्वके साथ इतना ही सम्बन्ध है कि वह उससे उत्पन्न हुआ है और उसका ही वह सर्वस्व है। जगत् केवल प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। 'इससे यह उत्पन्न होता है' यह अनवरत कारणकार्यपरम्परा नाम और रूप सभीमें चालू है। निर्वाण अवस्थामें भी यही क्रम चालू रहता है। अन्तर इतना ही है कि जो चित्तसन्तति सास्रव थी, वह निर्वाणमें निरास्रव हो जाती है।

विनाशका भी एक अपना क्रम है। मुद्गरका अभिघात होनेपर जो घटक्षण आगे द्वितीय समर्थ घटको उत्पन्न करता था वह असमर्थ, असमर्थतर और असमर्थतम क्षणोंको उत्पन्न करता हुआ कपालकी उत्पत्तिमें कारण हो जाता है। तात्पर्य यह कि उत्पाद सहेतुक है, न कि विनाश। चूँकि विनाशको किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है, अतः वह स्वभावतः प्रतिक्षण होता ही रहता है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु [1]क्षणिक परमाणुरूप पदार्थ माननेपर स्कन्ध अवस्था भ्रान्त ठहरती है। यदि पुञ्ज होने पर भी परमाणु अपनी परमाणुरूपता नहीं छोड़ते और स्कन्ध-

१. दिग्नागादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद इसी रूपमें बुद्धको अभिप्रेत न था, इस विषयकी चर्चा प्रो० दलसुखजीने जैन तर्कवा० टि० पृ० २८१ में इस प्रकार की है—'इस विषयमें प्रथम यह बात ध्यान देनेकी है कि भगवान् बुद्धने उत्पाद, स्थिति और व्यय इन तीनोंके भिन्न क्षण माने थे, ऐसा अंगुत्तरनिकाय और अभिधर्म ग्रन्थोंके देखनेसे प्रतीत होता है ("उप्पादट्ठितिभंगवसेन खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम। तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मान आयु"—अभिधम्मत्थ० ४.८) अंगुत्तरनिकायमें संस्कृतके तीन लक्षण बताये गये हैं—संस्कृत वस्तुका उत्पाद होता है, व्यय होता है और स्थितिका अन्यथात्व होता है। इससे फलित होता है कि प्रथम उत्पत्ति, फिर जरा और फिर विनाश, इस क्रमसे वस्तुमें अनित्यता—क्षणिकता सिद्ध है ⋯चित्तक्षण क्षणिक है, इसका अर्थ है कि वह तीन क्षण तक है। प्राचीन बौद्ध शास्त्रमें मात्र चित्त-नाम ही को योगाचारकी तरह वस्तुसत् नहीं माना है और उसकी आयु योगाचारकी तरह एकक्षण नहीं, स्वसम्मत चित्तकी तरह त्रिक्षण नहीं, किन्तु १७ क्षण मानी गई है। ये १७ क्षण भी समयके अर्थमें नहीं, किन्तु १७ चित्तक्षणके अर्थमें लिये गये हैं अर्थात् वस्तुतः एक चित्तक्षण बराबर ३ क्षण होनेसे ५१ क्षणकी आयु रूपकी मानी गई है। यदि अभिधम्मत्थसंगहकारने जो बताया है वैसा ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत हो तो कहना होगा कि बुद्धसम्मत क्षणिकता और योगाचारसम्मत क्षणिकतामें महत्त्वपूर्ण अन्तर है।⋯सर्वास्तिवादिबौद्ध मतसे 'सत्'

अवस्था धारण नहीं करते तथा अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओंका पुंज भी अतीन्द्रिय ही बना रहता है; तो वह घट, पट आदि रूपसे इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकेगा। परमाणुओंमें परस्पर विशिष्ट रासायनिक सम्बन्ध होनेपर ही उनमें स्थूलता आती है, और तभी वे इन्द्रियग्राह्य होते हैं। परमाणुओंका परस्पर जो सम्बन्ध होता है वह स्निग्धता और रूक्षताके कारण गुणात्मक परिवर्तनके रूपमें होता है। वह कथञ्चित्तादात्म्यरूप है, उसमें एकदेशादि विकल्प नहीं उठ सकते। वे ही परमाणु अपनी सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलरूपताको धारण कर लेते हैं। पुद्गलोंका यही स्वभाव है। यदि परमाणु परस्पर सर्वथा असंसृष्ट रहते हैं; तो जैसे बिखरे हुए परमाणुओंसे जलधारण नहीं किया जा सकता था वैसे पुञ्जीभूत परमाणुओंसे भी जलधारण आदि क्रियाएँ नहीं हो सकेंगी। पदार्थ पर्यायकी दृष्टिसे प्रतिक्षण विनाशी होकर भी अपनी अविच्छिन्न सन्ततिकी दृष्टिसे कथञ्चित् ध्रुव भी हैं।

सन्तति, पंक्ति और सेनाकी तरह बुद्धिकल्पित ही नहीं है, किन्तु वास्तविक कार्यकारणपरम्पराकी ध्रुव कोल है। इसीलिए निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्ततिका सर्वथा उच्छेद नहीं माना जा सकता। दीपनिर्वाणका दृष्टान्त भी इसलिये उचित नहीं है कि दीपकका भी सर्वथा उच्छेद नहीं होता। जो परमाणु दीपक अवस्थामें भासुराकार और दीप्त थे वे बुझनेपर श्यामरूप और अदीप्त बन जाते हैं। यहाँ केवल पर्यायपरिवर्तन ही हुआ। किसी मौलिक तत्त्वका सर्वथा उच्छेद मानना अवैज्ञानिक है।

वस्तुतः बुद्धने विषयोंसे वैराग्य और ब्रह्मचर्यकी साधनाके लिये जगत्के क्षणिकत्व और अनित्यत्वकी भावनापर इसलिये भार दिया था कि मोही और परिग्रही प्राणी पदार्थोंको स्थिर और स्थूल मानकर उनमें राग करता है, तृष्णासे उनके परिग्रहकी चेष्टा करता है, स्त्री आदिको एक स्थिर और स्थूल पदार्थ

की त्रैकालिक अस्तित्वसे व्याप्ति है। जो सत् है अर्थात् वस्तु है वह तीनों कालमें अस्ति है। 'सर्व' वस्तुको तीनों कालोंमें अस्ति माननेके कारण ही उस वादका नाम सर्वास्तिवाद पड़ा है (देखो, सिस्टम ऑफ बुद्धिस्टिक थाट् पृ० १०३) सर्वास्तिवादियोंने रूपपरमाणुको नित्य मानकर उसीमें पृथिवी, अप्, तेज, वायुरूप होनेकी शक्ति मानी है। (वही पृ० १३४, १३७)...सर्वास्तिवादियोंने नैयायिकोंके समान परमाणुसमुदायजन्य अवयवीको अतिरिक्त नहीं, किन्तु परमाणुसमुदायको ही अवयवी माना है। दोनोंने परमाणुको नित्य मानते हुए भी समुदाय और अवयवीको अनित्य माना है। सर्वास्तिवादियोंने एक ही परमाणुको अन्य परमाणुके संसर्गसे नाना अवस्थाएँ मानी हैं और उन्हीं नाना अवस्थाओंको अनित्य माना है, परमाणुको नहीं (वही, पृ० १२१, १३७)'–जैनतर्कवा० टि० पृ० २८२।

मानकर उनके स्तन आदि अवयवोंमें रागदृष्टि गड़ाता है। यदि प्राणी उन्हें केवल हड्डियोंका ढाँचा और मांसका पिंड, अन्ततः परमाणुपुंजके रूपमें देखे, तो उसका रागभाव अवश्य कम होगा। 'स्त्री' यह संज्ञा भी स्थूलताके आधारसे कल्पित होती है। अतः वीतरागताकी साधनाके लिये जगत् और शरीरकी अनित्यताका विचार और उसकी बार-बार भावना अत्यन्त अपेक्षित है। जैन साधुओंको भी चित्तमें वैराग्यकी दृढ़ताके लिये अनित्यत्व, अशरणत्व आदि भावनाओंका उपदेश दिया गया है। परन्तु भावना जुदी वस्तु है और वस्तुतत्त्वका निरूपण जुदा। वैज्ञानिक भावनाके बलपर वस्तुस्वरूपकी मीमांसा नहीं करता, अपितु सुनिश्चित कार्यकारणभावोंके प्रयोगसे।

स्त्रीका सर्पिणी, नरकका द्वार, पापकी खानि, नागिन और विषवेल आदि रूपसे जो भावनात्मक वर्णन पाया जाता है वह केवल वैराग्य जागृत करनेके लिये है, इससे स्त्री सर्पिणी या नागिन नहीं बन जाती। किसी पदार्थको नित्य माननेसे उसमें सहज राग पैदा होता है। आत्माको शाश्वत माननेसे मनुष्य उसके चिर सुखके लिये न्याय और अन्यायसे जैसे-बने-तैसे परिग्रहका संग्रह करने लगता है। अतः बुद्धने इस तृष्णामूलक परिग्रहसे विरक्ति लानेके लिये शाश्वत आत्माका ही निषेध करके नैरात्म्यका उपदेश दिया। उन्हें बड़ा डर था कि जिस प्रकार नित्य आत्माके मोहमें पगे अन्य तीर्थिक तृष्णामें आकंठ डूबे हुए हैं उस तरहके बुद्धके भिक्षु न हों और इसीलिये उन्होंने बड़ी कठोरतासे आत्माकी शाश्वतिकता ही नहीं; आत्माका ही निषेध कर दिया। जगत्को क्षणिक, शून्य, निरात्मक, अशुचि और दुःखरूप कहना भी मात्र भावनाएँ हैं। किन्तु आगे जाकर इन्हीं भावनाओंने दर्शनका रूप ले लिया और एक-एक शब्दको लेकर एक-एक क्षणिकवाद, शून्यवाद, नैरात्म्यवाद आदि वाद खड़े हो गये। एक बार इन्हे दार्शनिक रूप मिल जानेपर तो उनका बड़े उग्ररूपमें समर्थन हुआ।

बुद्धने योगिज्ञानकी उत्पत्ति चार आर्यसत्योंकी भावनाके[1] प्रकर्ष पर्यन्त गमनसे ही तो मानी है। उसमें दृष्टान्त भी दिया है[2] कामुकका। जैसे कोई कामुक अपनी प्रिय कामिनीकी तीव्रतम भावनाके द्वारा उसका सामने उपस्थितकी तरह साक्षात्कार कर लेता है, उसी तरह भावनासे सत्यका साक्षात्कार भी हो जाता है। अतः जहाँ तक वैराग्यका सम्बन्ध है वहाँ तक जगत्को क्षणिक और परमाणुपुंजरूप मानकर

१. 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्।'—न्यायवि० १।११।

२. 'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥'—प्रमाणवा० २।२८२।

चलनेमें कोई हानि नहीं है; क्योंकि असत्योपाधिसे भी सत्य तक पहुँचा जाता है, पर दार्शनिकक्षेत्र तो वस्तुस्वरूपकी यथार्थ मीमांसा करना चाहता है। अतः वहाँ भावनाओंका कार्य नहीं है। प्रतीतिसिद्ध स्थिर और स्थूल पदार्थोंको भावनावश असत्यताका फतवा नहीं दिया जा सकता।

जिस क्रम और यौगपद्यसे अर्थक्रियाकी व्याप्ति है वे सर्वथा क्षणिक पदार्थमें भी नहीं बन सकते। यदि पूर्वका उत्तरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो उनमें कार्यकारणभाव ही नहीं बन सकता। अव्यभिचारी कार्यकारणभाव या उपादानोपादेयभावके लिये पूर्व और उत्तर क्षणमें कोई वास्तविक सम्बन्ध या अन्वय मानना ही होगा, अन्यथा सन्तानान्तरवर्ती उत्तरक्षणके साथ भी उपादानोपादेशभाव बन जाना चाहिये। एक वस्तु अब क्रमशः दो क्षणोंको या दो देशोंको प्राप्त होती है तो उसमें कालकृत या देशकृत क्रम माना जा सकता है, किन्तु जो जहाँ और जब उत्पन्न हो तथा वहीं और तभी नष्ट हो जाय; तो उसमें क्रम कैसा ? क्रमके अभावमें यौगपद्यकी चर्चा ही व्यर्थ है। जगत्के पदार्थोंके विनाशको निर्हेतुक मानकर उसे स्वभावसिद्ध कहना उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकर उत्तरका उत्पाद अपने कारणोंसे होता है उसी तरह पूर्वका विनाश भी उन्हीं कारणोंसे होता है। उनमें कारणभेद नहीं है, इसलिये वस्तुतः स्वरूपभेद भी नहीं है। पूर्वका विनाश और उत्तरका उत्पाद दोनों एक ही वस्तु हैं। कार्यका उत्पाद ही कारणका विनाश है। जो स्वभावभूत उत्पाद और विनाश हैं वे तो स्वरसतः होते ही रहते हैं। रह जाती है स्थूल विनाशकी बात, सो वह स्पष्ट ही कारणोंकी अपेक्षा रखता है। जब वस्तुमें उत्पाद और विनाश दोनों ही समान कोटिके धर्म हैं तब उनमेंसे एकको सहेतुक तथा दूसरेको अहेतुक कहना किसी भी तरह उचित नहीं है।

संसारके समस्त ही जड़ और चेतन पदार्थोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों प्रकारके सम्बन्ध बराबर अनुभवमें आते हैं। इनमें क्षेत्र, काल और भाव प्रत्यासत्तियाँ व्यवहारके निर्वाहके लिये भी हों पर उपादानोपादेयभावको स्थापित करनेके लिये द्रव्यप्रत्यासत्ति परमार्थ ही मानना होगी। और यह एकद्रव्यतादात्म्यको छोड़कर अन्य नहीं हो सकती। इस एकद्रव्यतादात्म्यके बिना बन्ध-मोक्ष, लेन-देन, गुरु-शिष्यादि समस्त व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद' स्वयं, जिसको प्रतीत्य जो समुत्पादको प्राप्त करता है उनमें परस्पर सम्बन्धकी सिद्धि कर देता है। यहाँ केवल क्रिया मात्र ही नहीं है, किन्तु क्रियाका आधार कर्त्ता भी है। जो प्रतीत्य—अपेक्षा करता है, वही उत्पन्न होता है। अतः इस एक द्रव्यप्रत्यासत्तिको हर हालतमें स्वीकार करना ही होगा। अव्यभिचारी कार्यकारणभावके आधारसे

पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एक सन्तति तभी बन सकती है जब कार्य और कारणमें अव्यभिचारिताका नियामक कोई अनुस्यूत परमार्थ तत्त्व स्वीकार किया जाय।

विज्ञानवादकी समीक्षा :

इसी तरह विज्ञानवादमें बाह्यार्थके अस्तित्वका सर्वथा लोप करके केवल उन्हें वासनाकल्पित ही कहना उचित नहीं है। यह ठीक है कि पदार्थोंमें अनेक प्रकारकी संज्ञाएँ और शब्दप्रयोग हमारी कल्पनासे कल्पित हों, पर जो ठोस और सत्य पदार्थ हैं उनकी सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता। नीलपदार्थकी सत्ता नीलविज्ञानसे सिद्ध भले ही हो, पर नीलविज्ञान नीलपदार्थकी सत्ताको उत्पन्न नहीं करता। वह स्वयं सिद्ध है, और नीलविज्ञानके न होनेपर भी उसका स्वसिद्ध अस्तित्व है ही। आँख पदार्थको देखती है, न कि पदार्थको उत्पन्न करती है। प्रमेय और प्रमाण ये संज्ञाएँ सापेक्ष हों, पर दोनों पदार्थ अपनी-अपनी सामग्रीसे स्वतःसिद्ध उत्पत्तिवाले हैं। वासना और कल्पनासे पदार्थको इष्ट-अनिष्ट रूपमें चित्रित किया जाता है, परन्तु पदार्थ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अतः विज्ञानवाद आजके प्रयोगसिद्ध विज्ञानसे न केवल बाधित ही है, किन्तु व्यवहारानुपयोगी भी है।

शून्यवादकी आलोचना :

शून्यवादके दो रूप हमारे सामने हैं—एक तो स्वप्नप्रत्ययकी तरह समस्त प्रत्ययोंको निरालम्बन कहना अर्थात् प्रत्ययकी सत्ता तो स्वीकार करना, पर उन्हें निर्विषय मानना और दूसरा बाह्यार्थकी तरह ज्ञानका भी लोप करके सर्वशून्य मानना। प्रथम कल्पना एक प्रकार से निर्विषय ज्ञान माननेकी है, जो प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि प्रकृत अनुमानको यदि निर्विषय माना जाता है, तो इससे 'निरालम्बन ज्ञानवाद' ही सिद्ध नहीं हो सकता। यदि सविषय मानते हैं; तो इसी अनुमानसे हेतु व्यभिचारी हो जाता है। अतः जिन प्रत्ययोंका बाह्यार्थ उपलब्ध होता है उन्हें सविषय और जिनका उपलब्ध नहीं होता, उन्हें निर्विषय मानना उचित है। ज्ञानोंमें सत्य और असत्य या अविसंवादी और विसंवादी व्यवस्था बाह्यार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे ही तो होती है। अग्निके ज्ञानसे पानी गरम नहीं किया जा सकता। जगत्का समस्त बाह्य व्यवहार बाह्य-पदार्थोंकी वास्तविक सत्तासे ही संभव होता है। संकेतके अनुसार शब्दप्रयोगोंकी स्वतन्त्रता होनेपर भी पदार्थोंके निजसिद्ध स्वरूप या अस्तित्व किसीके संकेतसे उत्पन्न नहीं हो सकते।

बाह्यार्थकी तरह ज्ञानका भी अभाव माननेवाले सर्वशून्यपक्षको तो सिद्ध करना ही कठिन है। जिस प्रमाणसे सर्वशून्यता साधी जाती है उस प्रमाणको भी यदि शून्य अर्थात् असत् माना जाता है; तो फिर शून्यता किससे सिद्ध की जायगी? और यदि वह प्रमाण अशून्य अर्थात् सत् है; तो 'सर्वं शून्यम्' कहाँ रहा? कम-से-कम उस प्रमाणको तो अशून्य मानना ही पड़ा। प्रमाण और प्रमेय व्यवहार परस्परसापेक्ष हो सकते हैं, परन्तु उनका स्वरूप परस्पर-सापेक्ष नहीं है, वह तो स्वतःसिद्ध है। अतः क्षणिक और शून्य भावनाओंसे वस्तुकी सिद्धि नहीं की जा सकती।

इस तरह विशेषपदार्थवाद भी विषयाभास है; क्योंकि जैसा उसका वर्णन है वैसा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाता।

उभयस्वतन्त्रवाद मीमांसा :

पूर्वपक्ष :

वैशेषिक सामान्य अर्थात् जाति और द्रव्य, गुण, कर्मरूप विशेष अर्थात् व्यक्तियोंको स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। सामान्य और विशेषका समवाय सम्बन्ध होता है। वैशेषिकका मूल मन्त्र है—प्रत्ययके आधारसे पदार्थ व्यवस्था करना! चूँकि 'द्रव्यं द्रव्यं' यह प्रत्यय होता है, अतः द्रव्य एक पदार्थ है। 'गुणः गुणः' 'कर्म कर्म' इस प्रकारके स्वतन्त्र प्रत्यय होते हैं, अतः गुण और कर्म स्वतन्त्र पदार्थ हैं। इसी तरह अनुगताकार प्रत्ययके कारण सामान्य पदार्थ; नित्य पदार्थोंमें परस्पर भेद स्थापित करनेके लिये विशेषपदार्थ और 'इहेदं' प्रत्ययसे समवाय पदार्थ माने गये हैं। जितने प्रकारके ज्ञान और शब्दव्यवहार होते हैं उनका वर्गीकरण करके असांकर्यभावसे उतने पदार्थ माननेका प्रयत्न वैशेषिकोंने किया है। इसीलिए इन्हें 'संप्रत्ययोपाध्याय' कहा जाता है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु प्रत्यय अर्थात् ज्ञान और शब्दका व्यवहार इतने अपरिपूर्ण और लचर हैं कि इनपर पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। वे तो वस्तुस्वरूपकी ओर मात्र इशारा ही कर सकते हैं। बल्कि अखण्ड और अनिर्वचनीय वस्तुको समझने-समझानेके लिये उसको खंड-खंड कर डालते हैं और इतना विश्लेषण कर डालते हैं कि उसी वस्तुके अंश स्वतन्त्र पदार्थ मालूम पड़ने लगते हैं। गुण-गुणांश और देश-देशांशकी कल्पना भी आखिर बुद्धि और शब्द व्यवहारकी ही करामात है। एक अखंड द्रव्यसे पृथक्भूत या पृथक्सिद्ध गुण और क्रिया नहीं रह सकतीं और

न बताई जा सकती हैं फिर भी बुद्धि उन्हें पृथक् पदार्थ बतानेको तैयार है। पदार्थ तो अपना ठोस और अखंड अस्तित्व रखता है, वह अपने परिणमनके अनुसार अनेक प्रत्ययोंका विषय हो सकता है। गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, ये तो द्रव्यकी अवस्थाओंके विभिन्न व्यवहार हैं।

इस तरह सामान्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जो नित्य और एक होकर अनेक स्वतन्त्रसत्ताक व्यक्तियोंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। पदार्थोंके कुछ परिणमन सदृश भी होते हैं और कुछ विसदृश भी। दो स्वतन्त्रसत्ताक विभिन्न व्यक्तियोंमें भूयःसाम्य देखकर अनुगत व्यवहार होता है। अनेक आत्माएँ संसार अवस्थामें अपने विभिन्न शरीरोंमें वर्तमान हैं। जिनकी अवयवरचना अमुक प्रकारकी सदृश है उनमें 'मनुष्यः मनुष्यः' ऐसा व्यवहार संकेतके अनुसार होता है और जिनकी शरीररचना संकेतानुसार घोड़ों जैसी है उनमें 'अश्वः अश्वः' यह व्यवहार होता है। जिन आत्माओंमें अवयवसादृश्यके आधारसे मनुष्यव्यवहार होता है उनमें 'मनुष्यत्व' नामका कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नहीं है, जो अपनी स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो और समवायसम्बन्धसे उनमें रहता हो। इतनी भेदकल्पना पदार्थस्थितिके प्रतिकूल है। 'सत् सत्', 'द्रव्यम् द्रव्यम्', 'गुणः गुणः', 'मनुष्यः मनुष्यः' इत्यादि सभी व्यवहार सादृश्यमूलक हैं। सादृश्य भी प्रत्येकनिष्ठ धर्म है, कोई अनेकनिष्ठ स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह तो अनेक अवयवोंकी समानतारूप है और तत्तद् अवयव उन-उन व्यक्तियोंमें ही रहते हैं। उनमें समानता देखकर द्रष्टा अनेक प्रकारके छोटे-बड़े दायरेवाले अनुगत-व्यवहार करने लगता है।

सामान्य नित्य, एक और निरंश होकर यदि सर्वगत है, तो उसे विभिन्न-देशवाली स्वव्यक्तियोंमें खण्डशः रहना होगा; क्योंकि एक वस्तु एक साथ भिन्न देशोंमें पूर्णरूपसे नहीं रह सकती। नित्य और निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमें प्रकट होता है उसी समय उसे सर्वत्र—व्यक्तियोंके अन्तरालमें भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा क्वचित् व्यक्त और क्वचित् अव्यक्त रूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व और सांशत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

जिस तरह सत्तासामान्य पदार्थ अन्य किसी 'सत्तात्व' नामक सामान्यके बिना ही स्वतः सत् है उसी तरह द्रव्यादि भी स्वतः सत् ही क्यों न माने जायँ? सत्ताके सम्बन्धसे पहले पदार्थ सत् हैं, या असत्? यदि सत् हैं; तो सत्ताका सम्बन्ध मानना निरर्थक है। यदि असत् हैं; तो उनमें खरविषाणकी तरह सत्तासम्बन्ध हो नहीं सकता। इसी तरह अन्य सामान्योंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। जिस

तरह सामान्य, विशेष और समवाय स्वतः सत् हैं—इनमें किसी अन्य सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना नहीं की जाती, उसी तरह द्रव्यादि भी स्वतःसिद्ध सत् हैं, इनमें भी सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना निरर्थक है।

वैशेषिक तुल्य आकृतिवाले और तुल्य गुणवाले परमाणुओंमें, मुक्त आत्माओं-में और मुक्त आत्माओं द्वारा त्यक्त मनोंमें भेद-प्रत्यय करानेके लिये इन प्रत्येकमें एक विशेष नामक पदार्थ मानते हैं। ये विशेष अनन्त हैं और नित्यद्रव्यवृत्ति हैं। अन्य अवयवी आदि पदार्थोंमें जाति, आकृति और अवयवसंयोग आदिके कारण भेद किया जा सकता है, पर समान आकृतिवाले, समानगुणवाले नित्य द्रव्योंमें भेद करनेके लिये कोई अन्य निमित्त चाहिये और वह निमित्त है विशेष पदार्थ। परन्तु प्रत्ययके आधारसे पदार्थ-व्यवस्था माननेका सिद्धान्त ही गलत है। जितने प्रकारके प्रत्यय होते हैं, उतने स्वतन्त्र पदार्थ यदि माने जायँ तो पदार्थोंकी कोई सीमा ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार एक विशेष दूसरे विशेषसे स्वतः व्यावृत्त है, उसमें अन्य किसी व्यावर्तककी आवश्यकता नहीं है, उसी तरह परमाणु आदि समस्त पदार्थ अपने असाधारण निज स्वरूपसे ही स्वतः व्यावृत्त रह सकते हैं, इसके लिये भी किसी स्वतन्त्र विशेष पदार्थकी कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तियाँ स्वयं ही विशेष हैं। प्रमाणका कार्य है स्वतःसिद्ध पदार्थोंकी असंकर व्याख्या करना न कि नये-नये पदार्थोंकी कल्पना करना।

फलाभास[1] :

प्रमाणसे फलको सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न कहना फलाभास है। यदि प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद माना जाता है; तो भिन्न-भिन्न आत्माओंके प्रमाण और फलोंमें जैसे प्रमाण-फलभाव नहीं बनता, उसी तरह एक आत्माके प्रमाण और फलमें भी प्रमाण-फलव्यवहार नहीं होना चाहिये। समवायसम्बन्ध भी सर्वथा भेद की स्थितिमें नियामक नहीं हो सकता। यदि सर्वथा अभेद माना जाता है तो 'यह प्रमाण है और यह फल' इस प्रकारका भेदव्यवहार और कारणकार्यभाव भी नहीं हो सकेगा। जिस आत्माकी प्रमाणरूपसे परिणति हुई है उसीकी अज्ञान-निवृत्ति होती है, अतः एक आत्माकी दृष्टिसे प्रमाण और फलमें अभेद है और साधकतमकरणरूप तथा प्रमितिक्रियारूप पर्यायोंकी दृष्टिसे उनमें भेद है। अतः प्रमाण और फलमें कथञ्चिद् भेदाभेद मानना ही उचित है।

●

१. परीक्षामुख ६।६६–७२।

९. नय-विचार

नयका लक्षण :

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्रायविशेष नय[1] है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एकदेशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इन ज्ञानमें प्रमाण घड़ेको अखंड भावसे उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है, जब कि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः' 'रसवान् घटः' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ हैं, दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकलके ग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खंडशः ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोंके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नहीं जान पाते, फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्रके ग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय। 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखंडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामें पहुँचता है और घटके रूप, रस आदिका विभाजन कर यदि घड़ेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एकदेशके द्वारा भी समग्रकी तरफ ही है, जब कि नय समग्रवस्तुको विभाजित कर उसके अंशविशेषकी ओर ही झुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घड़ेको आत्मसात् करता है और नय उस घड़ेका विश्लेषण कर उसके रूप आदि अंशोंके जाननेकी ओर प्रवृत्त होता है? इसीलिये प्रमाणको

---

१. 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः।'—लघी० श्लो० ५५।
'ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः।'—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१७।

सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंसे अभिव्यक्त करनेके लिये जो ज्ञानकी रुझान होती है वह नय है।

नय प्रमाणका एकदेश है :

'नय प्रमाण है या अप्रमाण ?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ' और 'नहीं' में नहीं किया जा सकता है ? जैसे कि घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही[1]। नय प्रमाणसे उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता, और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु; किन्तु वह 'वस्त्वेकदेश' ही हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे ज्ञाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं हैं जिससे उसमें सब समा सकें। छोटे-बड़े पात्र अपनी मर्यादाके अनुसार ही तो जल ग्रहण करते हैं। प्रमाणकी रंगशालामें नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

सुनय, दुर्नय :

यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अन्त अर्थात् धर्मोंको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी ही सन्तान हैं, पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो ही ये सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता; उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। जैसे बापकी जायदादमें सभी सन्तानोंका समान हक़ होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी चेष्टा कभी भी नहीं करता, किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार हैं और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्यके अंशोंको गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे अर्थात् उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कलहकारी कपूतकी तरह दुर्नय कहलाता है।

---

१. 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥'

—त० श्लो० १।६। नयविवरण श्लो० ६।

प्रमाणमें पूर्ण वस्तु समाती है। नय एक अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण करता है, पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी भी नहीं करता। किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[1] 'तत् और अतत्' सभीको जानता है, नयमें 'अतत्' या 'तत्' गौण रहता है और केवल 'तत्' या 'अतत्' की प्रतिपत्ति होती है, पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है। [2]प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है, और नय 'स्यात् सत्' इस तरह सापेक्ष रूपसे जानता है जब कि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह कि सापेक्षता ही नयका[3] प्राण है।

आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्र (१।२१-२५) में कहा है कि—

"तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा ॥"

—सन्मति० १।२२।

वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं—परका निषेध करते हैं, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों, तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकतीं, उसी तरह अपने नियत वादोंका आग्रह रखनेवाले परस्पर-निरपेक्ष नय सम्यक्त्वपनेको नहीं पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके क्यों न हों। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूतमें पिरोई जाकर 'रत्नावली या रत्नाहार' बन जाती हैं उसी तरह सभी नय परस्परसापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं—

"जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा ॥"

—सन्मति० १।५३।

---

१. 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।'

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०।

२. 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।'

—अन्ययोगव्य० श्लो० २८।

३. 'निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।'

—आप्तमी० श्लो० १०८।

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं वह उनकी स्वसमयप्रज्ञापना है तथा अन्य—निरपेक्षवृत्ति तीर्थङ्करकी आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बड़ी मार्मिक रीतिसे समझाते हैं—

"दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चिवि णयपक्खपरिहीणो॥"

—समयसार गाथा १४३।

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोंके वक्तव्यको जानता तो है, पर किसी एक नयका तिरस्कार करके दूसरे नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता। वह एक नयको द्वितीय-सापेक्षरूपसे ही ग्रहण करता है।

वस्तु जब अनन्तधर्मात्मक है तब स्वभावतः एक-एक धर्मको ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे; भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मोंको जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते हैं। यानी अभिप्रायोंकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोंकी सीमा न बाँध सकें, पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि कोई भी वचनमार्ग अभिप्रायके बिना हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय तो संभव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें, पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नहीं हो सकता, जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अतः सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने[1] नय हैं।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी-न-किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य (१।३४) में 'ये नय क्या एक वस्तुके विषयमें परस्पर विरोधी तन्त्रोंके मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही परस्पर मतभेद हैं?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्योंके ही पारस्परिक मतभेद हैं?' किन्तु ज्ञेय अर्थको जाननेवाले नाना अध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। वे हवाई कल्पनाएँ नहीं हैं। और न शेखचिल्लीके विचार ही हैं, किन्तु अर्थको नाना प्रकारसे जाननेवाले अभिप्राय-विशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना ज्ञाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्की

१. "जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया।" —सन्मति० ३।४७।

अपेक्षा एक है, जीव और अजीवके भेदसे दो, ऊर्ध्व, मध्य और अधः के भेदसे तीन, चार प्रकारके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेसे चार; पाँच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं, मात्र मतभेद या विवाद नहीं हैं। उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय हैं।

दो नयः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोंकी अनन्तता होनेपर भी उन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है—एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करने वाले। वस्तुमें स्वरूपतः अभेद है, वह अखंड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण, पर्याय और धर्मोंके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक या व्युच्छित्ति नय। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो-दो प्रकार हैं। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद है, जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोंमें ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोंको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद-कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्योंमें सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक्सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योंमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली एक भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद कल्पना व्यतिरेक-विशेष कही जाती है। इस प्रकार दोनों प्रकारके अभेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और दोनों भेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार :

परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली दृष्टि ही द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्यायभेदको जाननेवाली दृष्टि ही पर्यायार्थिक होती है। अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है, अतः उनमें सादृश्यमूलक अभेद

भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्योंका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नहीं है, जो अनेक मनुष्यद्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योंका सादृश्यमूलक अभेदसे संग्रह केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्गलपरमाणुद्रव्योंको पुद्गलत्वेन एक कहना व्यवहार-के लिए है। दो पृथक् परमाणुओंकी सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यको छोड़कर जितनी भी अभेद-कल्पनाएँ अवान्तरसामान्य या महासामान्यके नामसे की जाती हैं, वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थिति-से इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोंके द्वारा उन पृथक् वस्तुओंका संग्रह कर रही हैं। जिस प्रकार अनेकद्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें कालिक पर्यायभेद वास्तविक होकर भी उनमें गुणभेद और धर्मभेद उस अखंड अनिर्वच-नीय वस्तुको समझने-समझाने और कहनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार पृथक् सिद्ध द्रव्योंको हम विश्लेषणकर अलग स्वतन्त्रभावसे गिना सकते हैं उस तरह किसी एक द्रव्यके गुण और धर्मोंको नहीं बता सकते। अतः परमार्थद्रव्या-र्थिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और व्यवहार पर्यायार्थिक एकद्रव्य-की क्रमिक पर्यायोंके कल्पित भेदको। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेकद्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और परमार्थ पर्यायार्थिक दो द्रव्योंके वास्तविक परस्पर भेद-को जानता है। वस्तुतः व्यवहारपर्यायार्थिककी सीमा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक ही है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक :

तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) में द्रव्यार्थिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्मभेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एकद्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोंके अस्तित्वको मानकर उन्हींके आधारसे भेदव्यवहार करता है। इस दृष्टिसे अनेकद्रव्यगत परमार्थ भेदको पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यकी पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्यायशब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और व्यवहार पर्यायार्थिक, अनेक-

द्रव्योंके सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेकद्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दसे व्यवहारके लिए ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्तधर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ, कौन-सा भेद या अभेद विवक्षित है, यह समझना वक्ता और श्रोताकी कुशलतापर निर्भर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमार्थ अभेद एकद्रव्यमें ही होता है और परमार्थ भेद दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें। इसी तरह व्यावहारिक अभेद दो पृथक् द्रव्योंमें सादृश्यमूलक होता है और व्यावहारिक भेद एकद्रव्यके दो गुणों, धर्मों या पर्यायोंमें परस्पर होता है। द्रव्य का अपने गुण, धर्म और पर्यायोंसे व्यावहारिक भेद ही होता है, परमार्थतः तो उनकी सत्ता अभिन्न ही है।

तीन प्रकारके पदार्थ और निक्षेप :

तीर्थंकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान। जगत्में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्यका है और परमार्थ अर्थसंज्ञा भी इसी गुण-पर्यायवाले द्रव्यको दी जाती है। परन्तु व्यवहार केवल परमार्थ अर्थसे ही नहीं चलता। अतः व्यवहारके लिए पदार्थोंका निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे किया जाता है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा किये बिना ही इच्छानुसार संज्ञा रखना 'नाम' कहलाता है। जैसे—किसी लड़केका 'गजराज' यह नाम शब्दात्मक अर्थका आधार होता है। जिसका नामकरण हो चुका है उस पदार्थका उसीके आकार वाली वस्तुमें या अतदाकार वस्तुमें स्थापना करना 'स्थापना' निक्षेप है। जैसे—हाथीकी मूर्तिमें हाथीकी स्थापना या शतरंजके मुहरेको हाथी कहना। यह ज्ञानात्मक अर्थका आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्यायकी योग्यताकी दृष्टिसे पदार्थमें वह व्यवहार करना 'द्रव्य' निक्षेप है। जैसे—युवराजको राजा कहना या जिसने राजपद छोड़ दिया है उसे भी वर्तमानमें राजा कहना। वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे होनेवाला व्यवहार 'भाव' निक्षेप है जैसे—राज्य करनेवालेको राजा कहना।

इसमें परमार्थ अर्थ—द्रव्य और भाव हैं। ज्ञानात्मक अर्थ स्थापना निक्षेप और शब्दात्मक अर्थ नामनिक्षेपमें गर्भित है। यदि बच्चा शेरके लिये रोता है तो उसे शेरका तदाकार खिलौना देकर ही व्यवहार निभाया जा सकता है। जगत्के समस्त शाब्दिक व्यवहार शब्दसे ही चल रहे हैं। द्रव्य और भाव पदार्थको त्रैकालिक

पर्यायोंमें होनेवाले व्यवहारके आधार बनते हैं। 'गजराजको बुला लाओ' यह कहनेपर इस नामक व्यक्ति ही बुलाया जाता है, न कि गजराज-हाथी। राज्याभिषेकके समय युवराज ही 'राजा साहिब' कहे जाते हैं और राज-सभामें वर्तमान राजा ही 'राजा' कहा जाता है। इत्यादि समस्त व्यवहार कहीं शब्द, कहीं अर्थ और कहीं स्थापना अर्थात् ज्ञानसे चलते हुए देखे जाते हैं।

अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका बोध कराना, संशयको दूर करना और तत्त्वार्थका अवधारण करना निक्षेप-प्रक्रियाका प्रयोजन है[1]। प्राचीन शैलीमें प्रत्येक शब्दके प्रयोगके समय निक्षेप करके समझानेकी प्रक्रिया देखी जाती है। जैसे—'घड़ा लाओ' इस वाक्यमें समझाएँगे कि 'घड़ा' शब्दसे नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट विवक्षित नहीं, किन्तु 'भावघट' विवक्षित है। शेरके लिये रोनेवाले बालकको चुप करनेके लिये नामशेर, द्रव्यशेर और भावशेर नहीं चाहिये; किन्तु स्थापनाशेर चाहिये। 'गजराजको बुलाओ' यहाँ स्थापनागजराज, द्रव्यगजराज या भावगजराज नहीं बुलाया जाता किन्तु 'नाम गजराज' ही बुलाया जाता है। अतः अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका ज्ञान करना निक्षेपका मुख्य प्रयोजन है।

तीन और सात नय :

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ, शब्द और ज्ञानके आकारोंमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियोंमें बँट जाते हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नहीं होती, वे केवल संकल्पसे चलते हैं। जैसे—आज 'महावीर जयन्ती' है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य, एक और व्यापी रूपमें चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्यकी है। पहली कोटिमें सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले

---

१. "उक्तं हि—अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥"
—धवला टी० सत्प्र०।

नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। चौथे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थमें विभिन्न शब्दोंके प्रयोगको मानते हैं; परन्तु शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोंके समन्वयके लिये जैन परम्पराने 'नय-पद्धति' स्वीकार की है। नयका अर्थ है—अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय :

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमें समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" "एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्-वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया है। इससे नीचे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंको, जिनमें नैयायिक, वैशेषिकादि दर्शन हैं, व्यवहारनयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देश-कोटि परमाणुरूपता तथा अन्तिम काल-कोटिमें क्षणिकताको ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेद और अभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आता है। काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस काल-कारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्द-नयमें समावेश होता है। एक ही साधनसे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अतः इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमें स्थान पाती है। एवम्भूत नय कहता है कि जिस समय, जो अर्थ, जिस क्रियामें परिणत हो, उसी समय, उसमें, तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलनेरूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छाशब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओंसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है।

मूल नय सात :

नयोंके मूल भेद सात हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति० १।४–५) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव करके नयोंके छह भेद ही मानते

हैं। तत्त्वार्थभाष्यमें नयोंके मूल भेद पाँच मानकर फिर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं। नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४-३५) में पाये जाते हैं। षट्खंडागममें नयोंके नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद गिनाये हैं, पर कसायपाहुडमें मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है।

नैगमनय :

संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकड़ी काटने जंगल जा रहा है। पूछनेपर वह कहता है कि 'दरवाजा लेने जा रहा हूँ।' यहाँ दरवाजा बनानेके संकल्पमें ही 'दरवाजा' व्यवहार किया गया है। संकल्प सत्‌में भी होता है और असत्‌में भी। इसी नैगमनयकी मर्यादामें अनेकों औपचारिक व्यवहार भी आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं। निगम गाँवको कहते हैं, अतः गाँवोंमें जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं।

[२]अकलंकदेवने धर्म और धर्मी दोनोंको गौण-मुख्यभावसे ग्रहण करना नैगम नयका कार्य बताया है। जैसे—'जीवः' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर 'जीव द्रव्य' ही मुख्यरूपसे विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीवः' कहनेमें ज्ञान-गुण मुख्य हो जाता है और जीव-द्रव्य गौण। यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही। विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्यक्षेत्रमें आते हैं। दो [३]धर्मोंमें, दो धर्मियोंमें तथा धर्म और धर्मीमें एकको प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जब कि संग्रहनय केवल अभेदको ही विषय करता है और व्यवहारनय मात्र भेदको ही। यह किसी एकपर नियत नहीं रहता। अतः इसे ([४]नैकं गमः) नैगम कहते हैं। कार्य-कारण और आधार-आधेय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है।

---

१. "अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।"—सर्वार्थसि० १।३३
२. लघी० स्ववृ० श्लोक ३९।
३. त० श्लोकवा० श्लो० २६९।
४. धवलाटी० सत्प्ररू०।

नैगमाभास :

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान् आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि गुण गुणीसे पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्धको छोड़कर दूसरा सम्बन्ध नहीं है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथंचित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं—उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं है वह ज्ञानके समवायसे भी 'ज्ञ' कैसे बन सकता है ? अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानना नैगमाभास है।[1]

सांख्यका ज्ञान और सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप 'व्यक्तकार्यकी' दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप 'अव्यक्त' स्वरूपसे अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। अतः चेतन पुरुषका धर्म बुद्धि नहीं है। इस तरह सांख्यका ज्ञान और आत्मामें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिके संसर्गसे भी बन्ध, मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुषको परिणामी-नित्य ही मानना चाहिये, तभी उसमें बन्ध-मोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह और संग्रहाभास :

अनेक पर्यायोंको एकद्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योंको सादृश्य-मूलक एकत्वरूपसे अभेदग्राही संग्रह[2]नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य है। द्रव्यको छोड़कर

---

१. लघी० स्व० श्लो० ३९।

२. 'शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।'—लघी० श्लो० ३२।

पर्यायें हैं ही नहीं। यह दो प्रकारका होता है—एक परसंग्रह और दूसरा अपर-संग्रह। परसंग्रहमें सत्‌रूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है तथा अपर-संग्रहमें एकद्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोंका तथा द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका, मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका इत्यादि संग्रह किया जाता है।

यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थपर्याय तक पहुँचता है यानी संग्रह करनेके लिये दो रह ही नहीं जाते, तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। परसंग्रहके बाद और ऋजुसूत्रनयसे पहले अपरसंग्रह और व्यवहार-नयका समान क्षेत्र है, पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहार नयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायमें भी भेद डालता है। परसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्‌रूपसे सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जीव, अजीव आदि सभी सद्‌रूपसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोंमें व्याप्त हैं उसी तरह सन्मात्र तत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है। जीव, अजीव आदि सभी उसीके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे, या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोंको जाने, वह सद्‌रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि एक-द्रव्यमूलक पर्यायोंके संग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहारकी सुविधाके लिये हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें चाहे वे सजातीय हों, या विजातीय, वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता।

संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेदके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेद-दृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी होता है तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे, तभी

वह अवयवीव्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं 'विश्व सन्मात्ररूप[1] है, एक है, अद्वैत है; क्योंकि सद्‌रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है।

अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें भेदका "नेह नानास्ति किञ्चन" (कठोप० ४।११) कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण अवश्य हो जाता है, पर उसके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओंके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस मतमें प्राप्त होता है। अतः सांग्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रहनय जगत्‌के समस्त पदार्थोंको 'सत्' कह ले, पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नहीं हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अतः संग्रहनयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये ही है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नहीं।

इसी तरह शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास है। यह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है, जो प्रमाणसे प्रसिद्ध तो है ही, विज्ञानने भी जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

व्यवहार और अव्यवहाराभास :

संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थिति-मूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[2] है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, विसंवादी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना [3]व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनोंसे चलता है। जीवव्यवहार जीव-अर्थ जीव-विषयक ज्ञान और जीव-शब्द तीनोंसे सधता है। 'वस्तु उत्पादव्यय-ध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुण-पर्याय वाला है,

---

१. 'सर्वमेकं सदविशेषात्'–तत्त्वार्थभा० १।३५।

२. 'संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।'
—सर्वार्थसि० १।३३।

३. 'कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥'–त० श्लो० पृ० २७१।

जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि भेदक-वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहारमें अविसंवादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण तथा पूर्वापराविरोधी होनेसे सत्व्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक निरंश और परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरावलम्बन ज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमें विसंवादक होनेसे व्यवहाराभास है।

जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है और अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है, जब कि एकद्रव्यके गुण और पर्यायोंमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषणकर समझनेके लिए कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना तदाभास होती है, पारमार्थिक नहीं। विश्वके अनन्त द्रव्यों का अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्यके अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अनन्त अद्वैतोंमें तो क्या, दो अद्वैतोंमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है, जैसे सेना, वन, प्रान्त और देश आदि की कल्पना। वैशेषिककी प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आती है।

ऋजुसूत्र और तदाभास :

व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। 'एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध नहीं है' यह विचार ऋजुसूत्रनय प्रस्तुत करता है। यह नय[1] वर्तमानक्षणवर्ती शुद्ध अर्थपर्यायको ही विषय करता है। अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्याय व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी कोई चीज नहीं है। सरल सूतकी तरह यह[2] केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

---

१. 'पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।'—अनुयोग० द्वा० ४।
अकलङ्कग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

२. 'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः।'—तत्त्वार्थवा० १।३३

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको भी भुक्त और बद्ध्यमानको भी बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमें शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे 'कुम्भकार' व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक कुम्हार शिविक, छत्रक आदि पर्यायोंको कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नहीं जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है, तब वह स्वयं अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है। अब किसे करनेके कारण वह 'कुम्भकार' कहा जाय?

जिस समय जो आकरके बैठा है, वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ' इस नयकी दृष्टिमें 'ग्रामनिवास', 'गृहनिवास' आदि व्यवहार नहीं हो सकते, क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है, वह न तो ग्राममें रहता है और न घरमें ही।

'कौआ काला है' यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला कौआ हो; तो समस्त भौंरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जायँगे। यदि कौआ काला हो; तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा। फिर कौआके रक्त, मांस, पित्त, हड्डी, चमड़ी आदि मिलकर पचरंगी वस्तु होते हैं, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं?

इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि आगीका सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षण में नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत-सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमें पान, भोजन आदि अनेक-समय-साध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकतीं; क्योंकि एक क्षणमें तो क्रिया होती नहीं और वर्तमानका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं है।[1] लोक व्यवहार

---

१. "ननु संव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेत्; न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः।"

—सर्वार्थसि० १।३३।

तो यथायोग्य व्यवहार, नैगम आदि अन्य नयोंसे चलेगा ही। इतना सब क्षण-पर्यायकी दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नहीं करता। वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले, पर द्रव्यकी परमार्थसत्ता उसे क्षणकी तरह ही स्वीकृत है। उसकी दृष्टिमें द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमें विद्यमान रहता ही है।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि उसमें द्रव्यका विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, यानी अस्तित्वशून्य हो जाती है, तब उनके मतमें द्रव्यका सर्वथा लोप स्पष्ट हो जाता है।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्रनय तभी कर सकता है, जब उसमें द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो। परन्तु व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है।

शब्दनय और तदाभास :

काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होने पर उनके भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय[1] है। शब्दनयके अभिप्रायमें अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनोंके साथ प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्तः देवदत्ता' इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है। इसकी दृष्टिमें भिन्नकालीन, भिन्नकारकनिष्पन्न, भिन्नलिंगक और भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये। शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते, अर्थात् जो एकान्तनित्य आदि रूप पदार्थ मानते हैं, उसमें पर्यायभेद स्वीकार नहीं करते। उनके मतमें कालकारकादिभेद होने पर भी अर्थ एकरूप बना रहता है। तब यह नय कहता है कि तुम्हारी मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्न लिंगक, भिन्नसंख्याक और भिन्नकालीन शब्दों का वाच्य हो सकेगा? उसमें भिन्न शब्दोंकी वाच्यभूत पर्यायें भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये, अन्यथा लिंगव्यभिचार, साधनव्यभिचार और काल-व्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होने पर अर्थभेद नहीं मानना, यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध। अनुचित

---

१. "कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।"

—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४६।

इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है; यदि पदार्थमें तदनुकूल वाच्यशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है ?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्त अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलने पर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य—ध्रौव्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्तपक्षमें सम्भव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणोंको शब्दशास्त्रकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है। जब तक वस्तुको अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे, तब तक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्न-लिंगक, विभिन्नसंख्याक शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्द-नयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, अन्यपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुष-भेद, भावि और वर्तमानक्रियाका एक कारकसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार एवं निर्विषयक हो जायँगी। इसीलिये जैनेन्द्रव्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणका प्रारम्भ "सिद्धिरनेकान्तात्" सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हेमशब्दानुशासनका प्रारम्भ "सिद्धिः स्याद्वादात्" सूत्रसे किया है। अतः अन्य वैयाकरणोंका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ और तदाभास :

एककालवाचक, एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढनय[1] उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंका भी अर्थभेद मानता है।

1. 'अभिरूढस्तु पर्यायैः'—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासनक्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन—ऐश्वर्यक्रियाकी अपेक्षासे और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रियाकी अपेक्षासे, प्रवृत्त हुआ है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तोंकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद मानता है। यह नय उन कोशकारोंको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम—पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये हैं, पर उस पदार्थमें उन पर्यायशब्दोंकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नहीं की। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नहीं हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नहीं हो सकते; उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचकशक्ति मानना ही होगी। अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथिवीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो; तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनों एक हो जायँगे। अतः शब्दमें वाच्य-भेदके हिसाबसे अनेक वाचकशक्तियोंकी तरह पदार्थमें भी वाचकभेदकी अपेक्षा अनेक वाचकशक्तियाँ माननी ही चाहिये। प्रत्येक शब्दके व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते हैं, उनके अनुसार वाच्यभूत अर्थमें पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो; तो उसमें विभिन्न क्रियाओंसे निष्पन्न अनेक शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंकी अपेक्षा भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत और तदाभास :

एवम्भूतनय[1], पदार्थ जिस समय जिस क्रियामें परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, इन्दन-क्रियाके समय नहीं। जिस समय घटन-क्रिया हो रही हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिये, अन्य समयमें नहीं।

---

१. 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः।'
—सर्वार्थसिद्धि १।३३। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो, पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोंका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नहीं करता। क्रियाक्षणमें ही कारक कहा जाय, अन्य क्षणमें नहीं। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय, अन्य समयमें नहीं; और पूजा करते समय उसे अन्य शब्दसे भी नहीं कहा जाय। इस तरह समभिरूढनयके द्वारा वर्तमान पर्यायमें शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्यायशब्दोंके प्रयोगकी स्वीकृति थी, वह इसकी दृष्टिमें नहीं है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमें शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तत्क्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नहीं करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नहीं है। हाँ, कभी-कभी इससे भी व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। न्यायाधीश जब न्यायकी कुरसीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है। अन्य कालमें भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो, तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अतः व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है, वह ठीक ही कहा है।

नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक हैं :

इन नयोंमें[1] उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् और असत् दोनोंको विषय करता है, जब कि संग्रहनय 'सत्' तक ही सीमित है। नैगमनय भेद और अभेद दोनोंको गौण-मुख्यभावसे विषय करता है, जब कि संग्रहनयकी दृष्टि केवल अभेदपर है, अतः नैगमनय महाविषयक और स्थूल है, परन्तु संग्रहनय अल्पविषयक और सूक्ष्म है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक है। संग्रहके द्वारा संगृहीत अर्थमें व्यवहार भेद करता है, अतः वह अल्पविषयक हो ही जाता है। व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेषको विषय करता है, अतः वर्तमानकालीन पर्यायको ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्र उससे सूक्ष्म हो ही जाता है। शब्दभेदकी चिन्ता नहीं करने-वाले ऋजुसूत्रनयसे वर्तमानकालीन एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेदकी चिन्ता करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायवाची शब्दोंमें भेद होनेपर भी अर्थभेद न माननेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दों द्वारा पदार्थमें शक्तिभेद कल्पना करनेवाला समभिरूढनय सूक्ष्म है। शब्दप्रयोगमें क्रियाकी चिन्ता नहीं करनेवाले समभिरूढसे क्रियाकालमें ही उस शब्दका प्रयोग माननेवाला एवम्भूत सूक्ष्मतम और अल्पविषयक है।

---

१. 'एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषयाः।'

—तत्त्वार्थवा० १।३३।

उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादि पर अचेतन पदार्थोंसे नाता तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावना मात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि ये सत्य-स्थितिका अपलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं[1] कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवमें रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामोंमें उपादान होते हैं, पर वे परिणमन परस्परहेतुक—अन्योन्यनिमित्तक हैं।' उन्होंने "अण्णो-ण्णणिमित्तेण" पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनों सामग्रीसे होता है।

इस तथ्यका वे अपलाप नहीं करके उसका विवेचन करते हैं और जगत्के उस अहंकारमूलक नैमित्तिक कर्तृत्वका खरा विश्लेषण करके कहते हैं[2] कि बताओ 'कुम्हारने घड़ा बनाया' इसमें कुम्हारने आखिर क्या किया? यह सही है कि कुम्हारको घड़ा बनानेकी इच्छा हुई, उसने उपयोग लगाया और योग—अर्थात् हाथ-पैर हिलाये, किन्तु 'घट' पर्याय तो आखिर मिट्टीमें ही उत्पन्न हुई। यदि कुम्हारकी इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घटके अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थरमें भी घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिये था। आखिर वह मिट्टीकी उपादान-योग्यतापर ही निर्भर करता है, वही योग्यता घटाकार बन जाती है। यह ठीक है कि कुम्हारके ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके निमित्त बने बिना मिट्टीकी योग्यता विकसित नहीं हो सकती थी, पर इतने निमित्तमात्रसे हम उपादानकी निजयोग्यता-की विभूतिकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस निमित्तका अहंकार तो देखिए कि जिसमें रंचमात्र भी इसका अंश नहीं जाता, अर्थात् न तो कुम्हारका ज्ञान मिट्टीमें धँसता है, न इच्छा और न प्रयत्न, फिर भी वह 'कुम्भकार' कहलाता है! कुम्भके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मिट्टीसे ही उत्पन्न होते हैं, उसका एक भी गुण

१. 'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥'
—समयसार।

२. 'जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥'—समयसार।

कुम्हारने उपजाया नहीं है। कुम्हारका एक भी गुण मिट्टीमें पहुँचा नहीं है, फिर भी वह सर्वाधिकारी बनकर 'कुम्भकार' होनेका दुरभिमान करता है !

राग, द्वेष आदिकी स्थिति यद्यपि विभिन्न प्रकारकी है; क्योंकि इसमें आत्मा स्वयं राग और द्वेष आदि पर्यायों रूपसे परिणत होता है, फिर भी यहाँ वे विश्लेषण करते हैं कि बताओ तो सही—क्या शुद्ध आत्मा इनमें उपादान बनता है ? यदि सिद्ध और शुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बनने लगे; तो मुक्तिका क्या स्वरूप रह जाता है ? अतः इनमें उपादान रागादिपर्यायसे विशिष्ट आत्मा ही बनता है, दूसरे शब्दोंमें रागादिसे ही रागादि होते हैं। निश्चयनय जीव और कर्मके अनादि बन्धनसे इनकार नहीं करता। पर उस बंधनका विश्लेषण करता है कि जब दो स्वतंत्र द्रव्य हैं तो इनका संयोग ही तो हो सकता है, तादात्म्य नहीं। केवल संयोग तो अनेक द्रव्योंसे इस आत्माका सदा ही रहनेवाला है, केवल वह हानिकारक नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा अन्य अनेक आत्माओंसे इसका सम्बन्ध बराबर मौजूद है, पर उससे इसके स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता। सिद्धिशिलापर विद्यमान सिद्धात्माओंके साथ वहाँके पुद्‌गल परमाणुओंका संयोग है ही, पर इतने मात्रसे उनमें बन्धन नहीं कहा जा सकता और न उस संयोगसे सिद्धोंमें रागादि ही उत्पन्न होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा परसंयोगरूप निमित्तके रहनेपर भी रागादिमें उपादान नहीं होता और न पर निमित्त उसमें बलात् रागादि उत्पन्न ही कर सकते हैं। हमें सोचना ऊपरकी तरफसे है कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप बन सकता है, जो हम हो सकते हैं, वह स्वरूप क्या रागादिमें उपादान होता है ? नीचेकी ओरसे नहीं सोचना है; क्योंकि अनादिकालसे तो अशुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बन ही रहा है और उसमें रागादिकी परम्परा बराबर चालू है।

अतः निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमें कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ; यह कहना चाहिये कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योंकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नहीं है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपंकमें ही वह लिप्त रहा है। यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है, और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादि अशुद्ध आत्मामें शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता—भविष्यत्‌का ही तो विचार है। हमारा भूत

और वर्तमान अशुद्ध है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्ज्वल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नहीं, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है। उसी तत्त्वको आचार्य कुन्द-कुन्द[1] बड़ी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त—शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसारी जीवोंको केवल श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमें ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी इसने उसका अनुभव ही किया है। आ० कुन्दकुन्द (समयसार गा० ५) अपने आत्मविश्वाससे भरोसा दिलाते हैं कि 'मैं अपनी समस्त सामर्थ्य और बुद्धिका विभव लगाकर उसे दिखाता हूँ।' फिर भी वे थोड़ी कचाई-का अनुभव करके यह भी कह देते हैं कि 'यदि चूक जाऊँ, तो छल नहीं मानना।'

द्रव्य का शुद्ध लक्षण :

उनका एक ही दृष्टिकोण है कि द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें व्याप्त होता है। यद्यपि द्रव्य किसी-न-किसी पर्यायको प्राप्त होता है और होगा, पर एक पर्याय दूसरी पर्यायमें तो नहीं पाई जा सकती और इस-लिये द्रव्यकी कोई भी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न होकर भी द्रव्यका शुद्धरूप नहीं कही जा सकती। अब आप आत्माके स्वरूपपर क्रमशः विचार कीजिए। वर्ण, रस आदि तो स्पष्ट पुद्गलके गुण हैं, वे पुद्गलकी ही पर्यायें हैं और उनमें पुद्गल ही उपादान होता है, अतः वे आत्माके स्वरूप नहीं हो सकते, यह बात निर्विवाद है। रागादि समस्त विकारोंमें यद्यपि अपने परिणामीस्वभावके कारण आत्मा ही उपादान होता है, उसकी विरागता ही बिगड़कर राग बनती है, उसीका सम्यक्त्व बिगड़कर मिथ्यात्वरूप हो जाता है, पर वे विरागता और सम्यक्त्व भी आत्माके त्रिकालानुयायी शुद्ध रूप नहीं हो सकते; क्योंकि वे निगोद आदि अवस्थामें तथा सिद्ध अवस्था में नहीं पाये जाते। सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थान भी, उन-उन पर्यायों के नाम हैं जो कि त्रिकालानुयायी नहीं हैं, उनकी सत्ता मिथ्यात्व आदि अवस्थाओं-में तथा सिद्ध अवस्था में नहीं रहती। इनमें परपदार्थ निमित्त पड़ता है। किसी-न-किसी पर कर्मका उपशम, क्षय या क्षयोपशम उसमें निमित्त होता ही है। केवली अवस्थामें जो अनन्तज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं वे घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए हैं और अघातिया कर्मोंका उदय उनके जीवनपर्यन्त बना ही रहता है।

---

१. सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स॥

—समयसार गा० ४।

योगजन्य चंचलता उनके आत्मप्रदेशोंमें है ही। अतः परनिमित्तक होनेसे ये भी शुद्ध द्रव्यका स्वरूप नहीं कहे जा सकते। चौदहवें गुणस्थानको पार करके जो सिद्ध अवस्था है वह शुद्ध द्रव्यका ऐसा स्वरूप तो है जो प्रथमक्षणभावी सिद्ध अवस्थासे लेकर आगेके अनन्तकाल तकके समस्त भविष्यमें अनुयायी है, उसमें कोई भी परनिमित्तक विकार नहीं आ सकता, किन्तु वह संसारी दशामें नहीं पाया जाता। एक त्रिकालानुयायी स्वरूप ही लक्षण हो सकता है, और वह है—शुद्ध ज्ञायक रूप, चैतन्य रूप। इनमें ज्ञायक रूप भी परपदार्थके जाननेरूप उपाधिकी अपेक्षा रखता है।

त्रिकालव्यापी 'चित्' ही लक्षण हो सकती है :

अतः केवल 'चित्' रूप ही ऐसा बचता है जो भविष्यत्में तो प्रकटरूपसे व्याप्त होता ही है, साथ ही अतीतकी प्रत्येक पर्यायमें, चाहे वह निगोद जैसी अत्यल्पज्ञानवाली अवस्था हो और केवलज्ञान जैसी समग्र विकसित अवस्था हो, सबमें निर्विवादरूपसे पाया जाता है। 'चित्' रूपका अभाव कभी भी आत्मद्रव्यमें न रहा है, न है और न होगा। वही अंश द्रवणशील होनेसे द्रव्य कहा जा सकता है और अलक्ष्यसे व्यावर्तक होनेके कारण लक्ष्यव्यापी लक्षण हो सकता है। यह शंका नहीं की जा सकती कि 'सिद्ध अवस्था भी अपनी पूर्वकी संसारी निगोद आदि अवस्थाओंमें नहीं पाई जाती, अतः वह शुद्धद्रव्यका लक्षण नहीं हो सकती', क्योंकि यहाँ सिद्धपर्यायको लक्षण नहीं बनाया जा रहा है, लक्षण तो वह द्रव्य है जो सिद्धपर्यायमें पहली बार विकसित हुआ है और चूँकि उस अवस्थासे लेकर आगेकी अनन्तकालभावी समस्त अवस्थाओंमें कभी भी परनिमित्तक किसी भी अन्य परिणमनकी संभावना नहीं है, अतः वह 'चित्' अंश ही द्रव्यका यथार्थ परिचायक होता है। शुद्ध और अशुद्ध विशेषण भी उसमें नहीं लगते, क्योंकि वे उस अखण्ड चित्का विभाग कर देते हैं। इसलिये कहा[१] है कि मैं अर्थात् 'चित्' न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध है और न शुद्ध, वह तो केवल 'ज्ञायक' है। हाँ, उस शुद्ध और व्यापक 'चित्' का प्रथम विकास मुक्त अवस्थामें ही होता है। इसीलिये आत्माके विकारी रागादिभावोंकी तरह कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षयसे होनेवाले भावोंको भी अनादि-अनन्त सम्पूर्ण द्रव्य-व्यापी न होनेसे आत्माका स्वरूप या लक्षण नहीं माना गया और उन्हें भी वर्णादिकी तरह परभाव कह दिया गया है। न केवल उन अव्यापक परनिमित्तक

---

१. "ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥"—समयसार।

रागादि विकारी भावोंको 'पर भाव' ही कहा गया है, किन्तु पुद्गलनिमित्तक होनेसे 'पुद्गलकी पर्याय' तक कह दिया गया है।

तात्पर्य इतना ही है कि—ये सब बीचकी मंजिलें हैं। आत्मा अपने अज्ञानके कारण उन-उन पर्यायोंको धारण अवश्य करता है, पर ये सब शुद्ध और मूलभूत द्रव्य नहीं हैं। आत्माके इस त्रिकालव्यापी स्वरूपको आचार्यने इसीलिये अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणोंसे व्यक्त किया है[1]। यानी एक ऐसी 'चित्' है जो अनादिकालसे अनन्तकाल तक अपनी प्रवहमान मौलिक सत्ता रखती है। उस अखंड 'चित्' को हम न निगोदरूपमें, न नारकादि पर्यायोंमें, न प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें, न केवलज्ञानादि क्षायिक भावोंमें और न अयोगकेवली अवस्थामें ही सीमित कर सकते हैं। उसका यदि दर्शन कर सकते हैं तो निरुपाधि, शुद्ध, सिद्ध अवस्थामें। वह मूलभूत 'चित्' अनादिकालसे अपने परिणामी स्वभावके कारण विकारी परिणमनमें पड़ी हुई है। यदि विकारका कारण परभावसंसर्ग हट जाय, तो वही निखरकर निर्मल, निर्लेप और खालिस शुद्ध बन सकती है।

तात्पर्य यह कि हम शुद्धनिश्चयनयसे उस 'चित्' का यदि रागादि अशुद्ध अवस्थामें या गुणस्थानोंकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओंमें दर्शन करना चाहते हैं तो इन सबसे दृष्टि हटाकर हमें उस महाव्यापक मूलद्रव्यपर दृष्टि ले जानी होगी और उस समय कहना ही होगा कि 'ये रागादि भाव आत्माके यानी शुद्ध आत्माके नहीं हैं, ये तो विनाशी हैं, वह अविनाशी अनाद्यनन्त तत्त्व तो जुदा ही हैं।'

समयसारका शुद्धनय इसी मूलतत्त्वपर दृष्टि रखता है। वह वस्तुके परिणमनका निषेध नहीं करता और न उस चित्के रागादि पर्यायोंमें रुलनेका प्रतिषेधक ही है। किन्तु वह कहना चाहता है कि 'अनादिकालीन अशुद्ध किट्ट-कालिमा आदिसे विकृत बने हुए इस सोनेमें भी उस १०० टंचके सोनेकी शक्तिरूपसे विद्यमान आभापर एकबार दृष्टि तो दो, तुम्हें इस किट्ट-कालिमा आदिमें जो पूर्ण सुवर्णत्वकी बुद्धि हो रही है, वह अपने-आप हट जायगी। इस शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य दिये बिना कभी उसकी प्राप्तिकी दिशामें प्रयत्न नहीं किया जा सकता। वे अबद्ध और अस्पृष्ट या असंयुक्त विशेषणसे यही दिखाना चाहते हैं कि आत्माकी बद्ध, स्पष्ट और संयुक्त अवस्थाएँ बीचकी हैं, ये उनका त्रिकालव्यापी मूल स्वरूप नहीं हैं।

---

१. "जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥"—समयसार।

उस एक 'चित्' का ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपसे विभाजन या उसका विशेषरूपसे कथन करना भी एक प्रकारका व्यवहार है, वह केवल समझने-समझानेके लिये है[1]। आप ज्ञानको या दर्शनको या चारित्रको भी शुद्ध आत्माका असाधारण लक्षण नहीं कह सकते; क्योंकि ये सब उस 'चित्' के अंश हैं और उस अखंड तत्त्वको खंड-खंड करनेवाले विशेष हैं। वह 'चित्' तो इन विशेषोंसे परे 'अविशेष' है, 'अनन्य' है और 'नियत' है। आचार्य आत्मविश्वाससे कहते हैं कि 'जिसने इसको जान लिया उसने समस्त जिनशासनको जान लिया।'

निश्चयका वर्णन असाधारण लक्षणका कथन है :

दर्शनशास्त्रमें आत्मभूत लक्षण उस असाधारण धर्मको कहते हैं जो समस्त लक्ष्योंमें व्याप्त हो तथा अलक्ष्यमें बिलकुल न पाया जाय। जो लक्षण लक्ष्यमें नहीं पाया जाता वह असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है, जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोमें पाया जाता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है और जो लक्ष्यके एक देशमें रहता है वह अव्याप्त लक्षणाभास कहा जाता है। आत्मद्रव्यका आत्मभूत लक्षण करते समय हम इन तीनों दोषों का परिहार करके जब निर्दोष लक्षण खोजते हैं तो केवल 'चित्' के सिवाय दूसरा कोई पकड़में नहीं आता। वर्णादि तो स्पष्टतया पुद्गलके धर्म हैं, अतः वर्णादि तो जीवमें असंभव हैं। रागादि विभावपर्यायें तथा केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायें, जिनमें आत्मा स्वयं उपादान होता है, समस्त आत्माओंमें व्यापक नहीं होनेसे अव्याप्त हैं। अतः केवल 'चित्' ही ऐसा स्वरूप है, जो पुद्गलादि अलक्ष्योंमें नहीं पाया जाता और लक्ष्यभूत सभी आत्माओंमें अनाद्यनन्त व्याप्त रहता है। इसलिये 'चित्' ही आत्म द्रव्यका स्वरूपभूत लक्षण हो सकती है।

यद्यपि यही 'चित्' प्रमत्त, अप्रमत्त, नर, नारकादि सभी अवस्थाओंको प्राप्त होती है, पर निश्चयसे वे पर्यायें आत्माका व्यापक लक्षण नहीं बन सकतीं। इसी व्याप्यव्यापकभावको लक्ष्यमें रख कर अनेक अशुद्ध अवस्थाओंमें भी शुद्ध आत्म-द्रव्यकी पहिचान करानेके लिये आचार्यने शुद्ध नयका अवलम्बन किया है। इसीलिये 'शुद्ध चित्' का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि रूपसे विभाग भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे एक अनिर्वचनीय अखण्ड चित्को ही आत्मद्रव्यके स्थानमें रखते हैं। आचार्यने इस लक्षणभूत 'चित्' के सिवाय जितने भी वर्णादि और रागादि

१. 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ॥
ण वि णाणं च चरित्तं ण दंसणं जाणगो शुद्धो ॥ ७ ॥'
—समयसार।

ही है' यह अवधारण करके घड़ेमें रहनेवाले रस, गन्ध आदिका प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थको मुख्य रूपसे कहे, यहाँ तक कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर 'अपने ही स्वार्थ'को सब कुछ मानकर शेषका निषेध करता है, तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थितिका विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अन्यायको रोकता है और न्याय्य वचनपद्धतिकी सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्यके साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्यको मुख्य-गौणभावसे अनेकान्त अर्थका प्रतिपादक बनाता है।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। यद्यपि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-सामान्यका वाचक होता है फिर भी 'अस्ति' आदि विशेष धर्मोंका प्रतिपादन करनेके लिए 'अस्ति' आदि तत्तत् धर्मवाचक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह कि 'स्यात् अस्ति' वाक्यमें 'अस्ति' पद अस्तित्व धर्मका वाचक है और 'स्यात्' शब्द 'अनेकान्त' का। वह उस समय अस्तिसे भिन्न अन्य शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व करता है। जब 'स्यात्' अनेकान्तका द्योतन करता है तब 'अस्ति' आदि पदोंके प्रयोगसे जिन अस्तित्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन किया जा रहा है वह 'अनेकान्त रूप है' यह द्योतन 'स्यात्' शब्द करता है। यदि यह पद न हो, तो 'सर्वथा अस्तित्व' रूप एकान्तकी शंका हो जाती है। यद्यपि स्यात् और कथंचित्का अनेकात्मक अर्थ इन शब्दोंके प्रयोग न करनेपर भी कुशल वक्ता समझ लेता है, परन्तु वक्ताको यदि अनेकान्त वस्तुका दर्शन नहीं है, तो वह एकान्तमें भटक सकता है। अतः उसे वस्तुतत्त्वपर आनेके लिए आलोकस्तम्भके समान इस 'स्यात्' ज्योतिकी नितान्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद विशिष्ट भाषापद्धति :

स्याद्वाद सुनयका निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि 'वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समान हैं' उसमें अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः'में 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्' के साथ नहीं जुटता; क्योंकि रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मोंके साथ उसका अन्वय है। वह 'रूपवान्' को पूरे घड़ेपर अधिकार जमानेसे रोकता है और साफ कह देता है कि 'घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्तधर्म हैं। रूप भी उसमेंसे एक है।' यद्यपि रूपकी विवक्षा होनेसे अभी रूप हमारी दृष्टिमें मुख्य है और वही शब्दके द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रसकी विवक्षा होनेपर वह गौणराशिमें शामिल हो जायगा और रस प्रधान

बन जायगा। इस तरह समस्त शब्द गौण-मुख्यभावसे अनेकान्त अर्थके प्रतिपादक हैं। इसी सत्यका उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

मैंने पहले बताया है, कि 'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है। जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मोंके अधिकारका संरक्षक है। इसलिए जो लोग स्यात्का रूपवान्के साथ अन्वय करके और उसका 'शायद, संभावना और कदाचित्' अर्थ करके घड़ेमें रूपकी स्थितिको भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे वस्तुतः प्रगाढ़ भ्रममें हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता। किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके गौण सद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चारित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको ही न हड़प जाय और अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिए यह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि 'हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी कुचेष्टा नहीं करना।' इस भयका कारण है कि प्राचीन कालसे 'नित्य ही है', 'अनित्य ही है' आदि हड़पू प्रकृतिके अंशवाक्योंने वस्तुपर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्में अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक कुमतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसाज्वालामें पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है, जिससे अहंकारका सृजन होता है।

'स्यात्' शब्द एक ओर एक निश्चित अपेक्षासे जहाँ अस्तित्व धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बताना है वहाँ वह उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है, जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि 'हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार-सीमा को समझो। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा सगा भाई भी उसी घटमें रहता है। घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे कार्य है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी मुख्यता, तुम्हारी विवक्षा है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'तुम अपने

समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको ही उखाड़ कर फेंकनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो; तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा 'घड़ा' ही न रह जायगा, किन्तु कपड़ा आदि परपदार्थरूप हो जायगा। अतः तुम्हें अपनी स्थितिके लिये भी यह आवश्यक है कि तुम अन्य धर्मोंकी वास्तविक स्थितिको समझो। तुम उनकी हिंसा न कर सको, इसके लिये अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि भाइयोंके साथ हिलमिल कर अनन्तधर्मा वस्तुमें रहते ही हो, सब धर्म-भाई अपने-अपने स्वरूपको सापेक्षभावसे वस्तुमें रखे हो, पर इन फूट डालनेवाले वस्तुद्रष्टाओंको क्या कहा जाय ? ये अपनी एकांगी दृष्टिसे तुममें फूट डालना चाहते हैं और चाहते हैं कि तुममें भी अहंकारपूर्ण स्थिति उत्पन्न होकर आपसमें भेदभाव एवं हिंसाकी सृष्टि हो।' बस, 'स्यात्' शब्द एक ऐसी अञ्जनशलाका है जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देती, वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाती है। इस अविवक्षित-संरक्षक, दृष्टिविषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्यके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, शब्दको सुधामय करनेवाले तथा सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं, किन्तु उसके स्वरूपका 'शायद, सम्भव और कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका अशोभन प्रयत्न अवश्य किया है, और आजतक किया जा रहा है।

विरोध-परिहार :

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घड़ा जब अस्ति है, तो नास्ति कैसे हो सकता है ? घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है ? यह तो प्रत्यक्ष-विरोध है।' पर विचार तो करो—घड़ा आखिर 'घड़ा' ही तो है, कपड़ा तो नहीं है, कुरसी तो नहीं है, टेबिल तो नहीं है। तात्पर्य यह कि वह घटसे भिन्न अनन्त पदार्थोंरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है और स्वभिन्न पररूपोंसे नास्ति है।' इस घड़ेमें अनन्त पररूपकी अपेक्षा 'नास्तित्व' है, अन्यथा दुनियामें कोई शक्ति ऐसी नहीं; जो घड़ेको कपड़ा आदि बननेसे रोक सकती। यह नास्तित्व धर्म ही घड़ेको घड़ेके रूपमें कायम रखता है। इसी नास्ति धर्मकी सूचना 'अस्ति'के प्रयोग कालमें 'स्यात्' शब्द देता है। इसी तरह 'घड़ा समग्र भावसे एक होकर भी अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा, बड़ा, हलका, भारी आदि अनन्त गुण, और धर्मोंकी दृष्टिसे अनेक रूपोंमें दिखाई देता है या नहीं ?' यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक

रूपमें दिखाई देता है तो आपको यह मानने और कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि 'घड़ा द्रव्यरूपसे एक होकर भी अपने गुण धर्म और शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है।' जब प्रत्यक्षसे वस्तुमें अनेक विरोधी धर्मोंका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है, तब हमें क्यों संशय और विरोध उत्पन्न करना चाहिये ? हमें उसके स्वरूपको विकृतरूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। हम उस महान् 'स्यात्' शब्दको, जो वस्तुके इस पूर्ण रूपकी झाँकी सापेक्षभावसे बताता है, विरोध, संशय जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं ! किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है—

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।
—प्रमाणवा० २।२१०।

अर्थात् यदि यह चित्ररूपता—अनेकधर्मता वस्तुको स्वयं रुच रही है, उसके बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें तो सिर्फ अपनी दृष्टिको ही निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें विरोध नहीं है। विरोध तो हमारी दृष्टियोंमें है। और इस दृष्टि विरोध-ज्वरकी अमृता (गुरबेल) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको तत्काल कटु तो अवश्य लगती है, पर इसके बिना यह दृष्टि-विषमज्वर उतर भी नहीं सकता।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता :

'वस्तु अनेकान्तरूप है' यह बात थोड़ा गम्भीर विचार करते ही अनुभवमें आ जाती है, और यह भी प्रतिभासित होने लगता है कि हमारे क्षुद्र ज्ञानने कितनी उछल-कूद मचा रखी है तथा वस्तुके विराट् स्वरूपके साथ खिलवाड़ कर रखी है। पदार्थ भावरूप भी है और अभावरूप भी है। यदि सर्वथा भावरूप माना जाय, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोंका लोप हो जानेसे पर्यायें भी अनादि, अनन्त और सर्वसंकररूप हो जायेंगी तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होकर प्रतिनियत द्रव्यव्यवस्थाको ही समाप्त कर देगा।

प्रागभाव :

कोई भी कार्य अपनी उत्पत्तिके पहले 'असत्' होता है। वह कारणोंसे उत्पन्न होता है। कार्यका उत्पत्तिके पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव भावान्तररूप होता है। यह तो ध्रुवसत्य है कि किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। द्रव्य तो विश्वमें अनादि-अनन्त गिने-गिनाये हैं। उनकी संख्या न तो कम

होती है और न अधिक। उत्पाद होता है पर्यायका। द्रव्य अपने द्रव्यरूपसे कारण होता है और पर्यायरूपसे कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रही है वह उत्पत्तिके पहले पर्यायरूपमें तो नहीं है' अतः उसका जो यह अभाव है वही प्रागभाव है। यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है, अर्थात् 'घड़ा' पर्याय जबतक उत्पन्न नहीं हुई, तबतक वह 'असत्' है और जिस मिट्टी द्रव्यसे वह उत्पन्न होनेवाली है उस, द्रव्यकी घटसे पहलेकी पर्याय घटका प्रागभाव कही जाती है। यानी वही पर्याय नष्ट होकर घट पर्याय बनती है, अतः वह पर्याय घट-प्रागभाव है। इस तरह अत्यन्त सूक्ष्म कालकी दृष्टिसे पूर्वपर्याय ही उत्तर-पर्यायका प्रागभाव है, और सन्ततिकी दृष्टिसे यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है। पूर्वपर्यायका प्रागभाव तत्पूर्व पर्याय है, तथा तत्पूर्वपर्यायका प्रागभाव उससे भी पूर्वकी पर्याय होगा, इस तरह सन्ततिकी दृष्टिसे यह अनादि होता है। यदि कार्य-पर्यायका प्रागभाव नहीं माना जाता है, तो कार्यपर्याय अनादि हो जायगी और द्रव्यमें त्रिकालवर्ती सभी पर्यायोंका एक कालमें प्रकट सत्भाव मानना होगा, जो कि सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है।

प्रध्वंसाभाव :

द्रव्यका विनाश नहीं होता, विनाश होता है पर्यायका। अतः कारणपर्यायका नाश कार्यपर्यायरूप होता है, कारण नष्ट होकर कार्य बन जाता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तरपर्यायरूप होता है। घड़ा पर्याय नष्ट होकर कपाल पर्याय बनती है, अतः घटविनाश कपाल (खपरियाँ) रूप ही फलित होता है। तात्पर्य यह कि पूर्वका नाश उत्तररूप होता है। यदि यह प्रध्वंसाभाव न माना जाय तो सभी पर्यायें अनन्त हो जायँगी, यानी वर्तमान क्षणमें अनादिकालसे अब तक हुई सभी पर्यायोंका सद्भाव अनुभवमें आना चाहिये, जो कि असम्भव है। वर्तमानमें तो एक ही पर्याय अनुभवमें आती है। यह शंका भी नहीं ही हो सकती कि 'घटविनाश यदि कपालरूप है तो कपालका विनाश होने पर, यानी घटविनाशका नाश होनेपर फिर घड़ेको पुनरुज्जीवित हो जाना चाहिये, क्योंकि विनाशका विनाश तो सद्भावरूप होता है'; क्योंकि कारणका उपमर्दन करके तो कार्य उत्पन्न होता है पर कार्यका उपमर्दन करके कारण नहीं। उपादानका उपमर्दन करके उपादेयकी उत्पत्ति ही सर्वजनसिद्ध है। प्रागभाव (पूर्वपर्याय) और प्रध्वंसाभाव (उत्तर पर्याय) में उपादान-उपादेयभाव है। प्रागभावका नाश करके प्रध्वंस उत्पन्न होता है, पर प्रध्वंसका नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता। जो नष्ट हुआ, वह नष्ट हुआ। नाश

अनन्त है। जो पर्याय गयी वह अनन्तकालके लिये गयी, वह फिर वापिस नहीं आ सकती। 'यदतीतमतीतमेव तत्' यह ध्रुव नियम है। यदि प्रध्वंसाभाव नहीं माना जाता है तो कोई भी पर्याय नष्ट नहीं होगी, सभी पर्यायें अनन्त हो जाँयगी, अतः प्रध्वंसाभाव प्रतिनियत पदार्थ-व्यवस्थाके लिये नितान्त आवश्यक है।

इतरेतराभाव :

एक पर्यायिका दूसरी पर्यायमें जो अभाव है बह इतरेतराभाव है। स्वभावान्तरसे स्वस्वभावकी व्यावृत्तिको इतरेतराभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने स्वभाव निश्चित हैं। एक स्वभाव दूसरे रूप नहीं होता। यह जो स्वभावोंकी प्रतिनियतता है वही इतरेतराभाव है। इसमें एक द्रव्यकी पर्यायोंका परस्परमें जो अभाव है वही इतरेतराभाव फलित होता है, जैसे घटका पटमें और पटका घटमें वर्तमानकालिक अभाव। कालान्तरमें घटके परमाणु मिट्टी; कपास और तन्तु बनकर पटपर्यायिको धारण कर सकते हैं, पर वर्तमानमें तो घट पट नहीं हो सकता है। यह जो वर्तमानकालीन परस्पर व्यावृत्ति है वह अन्योन्याभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभावसे अन्योन्याभावका कार्य नहीं चलाया जा सकता; क्योंकि जिसके अभावमें नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो वह प्रागभाव और जिसके होने पर नियमसे कार्यका विनाश हो वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है, पर इतरेतराभावके अभाव या भावसे कार्योत्पत्ति या विनाशका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो वर्तमान पर्यायोंके प्रतिनियत स्वरूपकी व्यवस्था करता है कि वे एक दूसरे रूप नहीं हैं। यदि यह इतरेतराभाव महीं माना जाता; तो कोई भी प्रतिनियत पर्याय सर्वात्मक हो जायगी, यानी सब सर्वात्मक हो जायेंगे।

अत्यन्ताभाव :

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। ज्ञानका आत्मामें समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गलमें नहीं हो सकता, यह अत्यन्ताभाव कहलाता है। इतरेतराभाव वर्तमानकालीन होता है और एक स्वभावकी दूसरेसे व्यावृत्ति कराना ही उसका लक्ष्य होता है। यदि अत्यन्ताभावका लोप कर दिया जाये तो किसी भी द्रव्यका कोई असाधारण स्वरूप नहीं रह जायगा। सब द्रव्य सब रूप हो जायँगे। अत्यन्ताभावके कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो पाता। द्रव्य चाहे सजातीय हों, या विजातीय, उनका अपना प्रतिनियत अखंड स्वरूप होता है। एक द्रव्य दूसरेमें कभी भी ऐसा विलीन नहीं होता, जिससे उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय। इस तरह ये चार अभाव,

जो कि प्रकारान्तरसे भावरूप ही हैं, वस्तुके धर्म हैं। इनका लोप होनेपर, यानी पदार्थोंको सर्वथा भावात्मक माननेपर उक्त दूषण आते हैं। अतः अभावांश भी वस्तुका उसी तरह धर्म है जिस प्रकार कि भावांश। अतः वस्तु भावाभावात्मक है।

यदि वस्तु अभावात्मक ही मानी जाय, यानी सर्वथा शून्य हो; तो, बोध और वाक्यका भी अभाव होनेसे 'अभावात्मक तत्त्व' की स्वयं कैसे प्रतीति होगी ? तथा परको कैसे समझाया जायगा ? स्वप्रतिपत्तिका साधन है बोध तथा परप्रतिपत्तिका उपाय है वाक्य। इन दोनोंके अभावमें स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण कैसे हो सकेगा ? इस तरह विचार करनेसे लोकका प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक प्रतीत होता है। सीधी बात है—कोई भी पदार्थ अपने निजरूपमें ही होगा, पररूपमें नहीं। उसका इस प्रकार स्वरूपमय होना ही पदार्थमात्रकी अनेकान्तात्मकताको सिद्ध कर देता है। यहाँ तक तो पदार्थकी सामान्य स्थितिका विचार हुआ। अब हम प्रत्येक द्रव्यको लेकर भी विचार करें तो हर द्रव्य सदसदात्मक ही अनुभवमें आता है।

सदसदात्मक तत्त्व :

प्रत्येक द्रव्यका अपना असाधारण स्वरूप होता है, उसका निजी क्षेत्र, काल और भाव होता है, जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्म विचार करनेपर क्षेत्र, काल और भाव अन्ततः द्रव्यकी असाधारण स्थिति रूप ही फलित होते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका चतुष्टय स्वरूपचतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपचतुष्टयसे सत् होता है और पररूपचतुष्टयसे असत्। यदि स्वरूपचतुष्टयकी तरह पररूपचतुष्टयसे भी सत् मान लिया जाय; तो स्व और परमें कोई भेद नहीं रहकर सबको सर्वात्मकताका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत् हो जाय; तो निःस्वरूप होनेसे अभावात्मकताका प्रसंग होता है। अतः लोककी प्रतीतिसिद्ध व्यवस्थाके लिये प्रत्येक पदार्थको स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् मानना ही चाहिये। द्रव्य एक इकाई है, अखंड मौलिक है। पुद्‌गल द्रव्योंमें ही परमाणुओंके परस्पर संयोगसे छोटे-बड़े अनेक स्कन्ध तैयार होते हैं। ये स्कन्ध संयुक्तपर्याय हैं। अनेक द्रव्योंके संयोगसे ही घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंकी सृष्टि होती है। ये संयुक्त स्थूल पर्यायें भी अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने असाधारण निज धर्मकी दृष्टिसे 'सत्' हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी दृष्टिसे असत् हैं। इस तरह कोई भी पदार्थ इस सदसदात्मकताका अपवाद नहीं हो सकता।

एकानेकात्मक तत्त्व :

हम पहले लिख चुके हैं कि दो द्रव्य व्यवहारके लिये ही एक कहे जा सकते हैं। वस्तुतः दो पृथक् स्वतंत्रसिद्ध द्रव्य एकसत्ताक नहीं हो सकते। पुद्गल द्रव्यके अनेक अणु जब स्कन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब उनका ऐसा रासायनिक मिश्रण होता है, जिससे ये अमुक काल तक एकसत्ताक जैसे हो जाते हैं। ऐसी दशामें हमें प्रत्येक द्रव्यका विचार करते समय द्रव्यदृष्टिसे उसे एक मानना होगा और गुण तथा पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक। एक ही मनुष्यजीव अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओंकी दृष्टिसे अनेक अनुभवमें आता है। द्रव्य अपनी गुण और पर्यायोंसे, संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भिन्न होकर भी चूँकि द्रव्यसे पृथक् गुण और पर्यायोंकी सत्ता नहीं पाई जाती, या प्रयत्न करने पर भी हम द्रव्यसे गुणपर्यायोंका विवेचन-पृथक्करण नहीं कर सकते, अतः वे अभिन्न हैं। सत्सामान्यकी दृष्टिसे समस्त द्रव्योंको एक कहा जा सकता है और अपने-अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे पृथक् अर्थात् अनेक। इस तरह समग्र विश्व अनेक होकर भी व्यवहारार्थ संग्रह-नयकी दृष्टिसे एक कहा जाता है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेकात्मक है। एक ही आत्मा हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, ज्ञान आदि अनेक रूपोंसे अनुभव में आता है। द्रव्यका लक्षण अन्वयरूप है, जब कि पर्याय व्यतिरेकरूप होती है। द्रव्यकी संख्या एक है और पर्यायोंकी अनेक। द्रव्यका प्रयोजन अन्वयज्ञान है और पर्यायका प्रयोजन है व्यतिरेक ज्ञान। पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं और द्रव्य अनादि अनन्त होता है। इस तरह एक होकर भी द्रव्यकी अनेकरूपता जब प्रतीतिसिद्ध है तब उसमें विरोध, संशय आदि दूषणोंका कोई अवकाश नहीं है।

नित्यानित्यात्मक तत्त्व :

यदि द्रव्यको सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें किसी भी प्रकार के परिणमनकी संभावना नहीं होनेसे कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रिया-शून्य होनेसे पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, लेन-देन आदिकी समस्त व्यवस्थाएँ नष्ट हो जायँगी। यदि पदार्थ एक जैसा कूटस्थ नित्य रहता है तो जगके प्रतिक्षणके परिवर्तन असंभव हो जायँगे। और यदि पदार्थको सर्वथा विनाशी माना जाता है तो पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण लेन-देन, बन्ध-मोक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। जो करता है उसके भोगनेका क्रम ही नहीं रहेगा। नित्य पक्षमें कर्त्तृत्व नहीं बनता, तो अनित्य पक्षमें करनेवाला एक और भोगनेवाला दूसरा होता है। उपादान-उपादेयभावमूलक

ग्रहण करते समय दृष्टिके सामने अंशकल्पना बराबर रहती है, अतः इन्हें विकला-देशी कहना चाहिये। यद्यपि 'स्यात्' पद होनेसे शेष धर्मोंका संग्रह इनमें भी हो जाता है; पर धर्मभेद होनेसे अखंड धर्मी अभिन्नभावसे गृहीत नहीं हो पाती, इसलिये ये विकलादेश हैं। उ० यशोविजयजीने जैनतर्क-भाषा और गुरुतत्त्वविनि-श्चय आदि अपने ग्रन्थोंमें इस परम्पराका अनुसरण न करके सातों ही भंगोंको सकलादेशी और विकलादेशी दोनों रूप माना है। पर अष्टसहस्रीविवरण (पृ० २०८ बी०) में वे तीन भंगोंको सकलादेशी और शेषको विकलादेशी माननेका पक्ष भी स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं कि देश भेदके बिना क्रमसे सत्, असत्, उभयकी विवक्षा हो नहीं सकती, अतः निरवयव द्रव्यको विषय करना संभव नहीं है, इसलिये चारों भंगोंको विकलादेशी मानना चाहिये। यह मतभेद कोई महत्त्वका नहीं है; कारण जिस प्रकार हम सत्त्वमुखेन समस्त वस्तुका संग्रह कर सकते हैं, उसी तरह सत्त्व और असत्त्व दो धर्मोंके द्वारा भी अखंड वस्तुका स्पर्श करनेमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। यह तो विवक्षाभेद और दृष्टिभेदकी बात है।

मलयगिरि आचार्यके मतकी मीमांसा :

आचार्य मलयगिरि (आव० नि० मलय० टी० पृ० ३७१ ए) प्रमाणवाक्यमें ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि नयवाक्यमें जब 'स्यात्' पदके द्वारा शेष धर्मोंका संग्रह हो जाता है तो वह समस्त वस्तुका ग्राहक होनेसे प्रमाण ही हो जायगा, नय नहीं रह सकता, क्योंकि नय तो एक धर्मका ग्राहक होता है। इनके मतसे सभी नय एकान्तग्राहक होनेसे मिथ्यारूप हैं। किन्तु उनके इस मतकी उ० यशोविजयजीने गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ बी) में आलोचना की है। वे लिखते हैं कि "नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव करने पर व्यवहारनयको प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह निश्चयकी अपेक्षा रखता है। इसी तरह चारों निक्षेपोंको विषय करनेवाले शब्दनय भी भावविषयक शब्द-नयसापेक्ष होनेसे प्रमाण हो जायँगे। वास्तविक बात तो यह है कि नयवाक्यमें 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी नयके विषयकी सापेक्षता ही उपस्थित करता है, न कि अन्य अनन्त धर्मोंका परामर्श करता है। यदि ऐसा न हो तो अनेकान्तमें सम्यगेकान्तका अन्तर्भाव ही नहीं हो सकेगा। सम्यगेकान्त अर्थात् प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखने-वाला एकान्त। इसलिए 'स्यात्' इस अव्ययको अनेकान्तका द्योतक माना है न कि अनन्तधर्मका परामर्श करनेवाला। अतः प्रमाणवाक्यमें 'स्यात्' पद अनन्त धर्मका परामर्श करता है और नयवाक्यमें प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षाका द्योतन करता है।" प्रमाणमें तत् और अतत् दोनों गृहीत होते हैं और 'स्यात्' पदसे उस अनेकान्त

अर्थका द्योतन होता है। नयमें एक धर्मका मुख्यभावसे ग्रहण होकर भी शेष धर्मोंका निराकरण नहीं किया जाता है। उनका सद्भाव गौणरूपसे स्वीकृत रहता है जब कि दुर्नयमें अन्य धर्मोंका निराकरण कर दिया जाता है। नयवाक्यमें 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी शेष धर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करता है। दुर्नयमें अपने धर्मका अवधारण होकर अन्यका निराकरण ही हो जाता है। अनेकान्तमें जो सम्यगेकान्त समाता है वह धर्मान्तरसापेक्ष धर्मका ग्राहक ही तो होता है।

यह मैं बता चुका हूँ कि आजसे तीन हजार वर्ष पूर्व तथा इससे भी पहले भारतके मनीषी विश्व और तदन्तर्गत प्रत्येक पदार्थके स्वरूपका 'सत्; असत्, उभय और अनुभय, एक अनेक उभय और अनुभय' आदि चार कोटियोंमें विभाजित कर वर्णन करते थे। जिज्ञासु भी अपने प्रश्नको इन्हीं चार कोटियोंमें पूँछता था। म० बुद्धसे जब तत्त्वके सम्बन्धमें विशेषत: आत्माके सम्बन्धमें प्रश्न किये गये, तो उनने उसे अव्याकृत कहा। संजय इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें अपना अज्ञान ही प्रकट करता था। किन्तु भ० महावीरने अपने सप्तभंगीन्यायसे इन चार कोटियोंका ही वैज्ञानिक समाधान नहीं किया, अपितु अधिक-से-अधिक संभवित सात कोटियों तकका उत्तर दिया। ये उत्तर ही सप्तभंगी या स्याद्वाद हैं।

संजयके विक्षेपवादसे स्याद्वाद नहीं निकला[1]:

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा इतः पूर्व डॉ० हर्बन जैकोबी आदिने स्याद्वाद या सप्तभंगकी उत्पत्तिको संजयवेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शनदिग्दर्शनमें लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्तके चार अंगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजय तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इनकार करते हुए उस इनकारको चार प्रकार कहा है—

१ 'है ?' नहीं कह सकता। २ 'नहीं है ?' नहीं कह सकता। ३ 'है भी और नहीं भी नहीं कह सकता। ४ 'न है और न नहीं है ?' नहीं कह सकता। इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वाद से—

१ 'है ?' हो सकता है (स्यादस्ति), २ 'नहीं है ?' नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति), ३ 'है भी और नहीं भी ?' है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)।

१, देखो, न्यायविनिश्चय विवरण प्रथम भागकी प्रस्तावना।

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (—वक्तव्य हैं) ? इसका उत्तर जैन 'नहीं'में देते हैं—

४ स्यात् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, स्याद् अ—वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, स्यादस्ति अवक्तव्य है।

६ 'स्यान्नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्यात् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्यादस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ—वक्तव्य है। दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनायी हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर स्यात्सदसत् भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।············इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (—स्यात्) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया और उसके चतुर्भङ्गी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।" —दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९६।

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमें सप्तभंगी और स्याद्वादके रहस्यको न समझकर केवल शब्दसाम्य देखकर एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है। जैसे कि चोरसे जज यह पूछे कि—'क्या तुमने यह कार्य किया है ?' चोर कहे कि 'इससे आपको क्या ?' या 'मैं जानता होऊँ, तो कहूँ ?' फिर जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि 'चोरने यह कार्य किया है' तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

[1]संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९१ में) इन शब्दोंमें किया है—"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी है, परलोक न है और न नहीं है।"

---

१. इसके मतका विस्तृत वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमें है। यह विक्षेपवादी था। 'अमराविक्षेपवाद' रूपसे भी इसका मत प्रसिद्ध था।

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शत-प्रतिशत अज्ञान या अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ।" वह संशयालु नहीं, घोर अनिश्चयवादी था। इसलिये उसका दर्शन बकौल राहुलजीके "मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चय कर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है।" वह आज्ञानिक था।

बुद्ध और संजय :

म० बुद्धने १. लोक नित्य है, २. अनित्य है, ३. नित्य-अनित्य है, ४. न नित्य न अनित्य है, ५. लोक अन्तवान् है, ६. नहीं है, ७. है नहीं है, ८. न है न नहीं है, ९. मरनेके बाद तथागत होते हैं, १०. नहीं होते, ११. होते हैं नहीं होते, १२. न होते हैं न नहीं होते, १३. जीव शरीरसे भिन्न है, १४. जीव शरीरसे भिन्न नहीं है।' (माध्यमिकवृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२३) में इनकी संख्या दस है। इनमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया है। 'इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिये उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाणके लिये आवश्यक है।' तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिये आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त-धारणाओंकी सृष्टि ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता और अनिश्चय को साफ-साफ शब्दोंमें कह देता है कि 'यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ,' तब बुद्ध अपने जानने न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिये अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। आज तक यह प्रश्न तार्किकोंके सामने ज्यों-का-त्यों है कि बुद्धकी अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या अंतर है, खासकर चित्तकी निर्णयभूमिमें ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़की तरह पल्ला झाड़कर खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध कुशल बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा, लोक, परलोक और मुक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें सत्, असत्, उभय और अनुभय या अवक्तव्य ये चार कोटियाँ गूँजती थीं। जिस प्रकार आजका राजनैतिक प्रश्न 'मजदूर और मालिक, शोष्य और शोषकके' द्वन्द्वकी छायामें ही सामने आता है, उसी प्रकार

उस समयके आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थविषयक प्रश्न चतुष्कोटिमें ही पूछे जाते थे। वेद और उपनिषद्में इस चतुष्कोटिके दर्शन बराबर होते हैं। 'यह विश्व सत्से हुआ या असत्से? यह सत् है या असत् या उभय या अनिर्वचनीय' ये प्रश्न जब सहस्रों वर्षसे प्रचलित रहे हैं तब राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा दे देना कि 'संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भङ्गीको तोड़-मरोड़कर सप्तभंगी बनी'—कहाँ तक उचित है, इसका वे स्वयं विचार करें।

बुद्धके समकालीन जो अन्य पाँच तीर्थिक थे, उनमें निग्गंठ नाथपुत्त वर्धमान-महावीरकी सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमें प्रसिद्धि थी। 'वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, या नहीं' यह इस समयकी चरचाका विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्व-विचारक अवश्य थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चय या विक्षेप कोटिमें और बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें डालनेवाले नहीं थे, और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते, तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचारपर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह जगत्के स्वरूप-विचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना चाहते थे। किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मनन शक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'हाँ' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्‌वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायँगे और 'नहीं है' कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तिकताका प्रसंग उपस्थित होगा, अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूदा तर्कों और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभव कर बताया कि जगत्का प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है और प्रतिक्षण परिणामी है। हमारा ज्ञानलव (दृष्टि उसे एक-एक अंशसे जानकर भी अपनेमें पूर्णताका मिथ्याभिमान कर बैठता है। अतः हमें सावधानीसे वस्तुके विराट् अनेकान्तात्मक स्वरूपका विचार करना चाहिये। अनेकान्त दृष्टिसे तत्त्वका विचार करनेपर न तो शाश्वतवादका भय है और न उच्छेदवादका। पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा उच्छिन्न होकर भी अपनी अनाद्यन्त धाराकी दृष्टिसे अविच्छिन्न है, शाश्वत है। इसी दृष्टिसे हम लोकके शाश्वत-अशाश्वत आदि प्रश्नोंको भी देखें।

(१) क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है—द्रव्योंकी संख्याकी दृष्टिसे। इसमें जितने सत् अनादिसे हैं, उनमेंसे एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये 'सत्' की वृद्धि ही हो सकती है, न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता, जब इसके अंगभूत एक भी द्रव्यका लोप हो जाय या सब समाप्त हो जाँय। निर्वाण अवस्थामें भी आत्माकी निरास्रव चित्-सन्तति अपने शुद्धरूपमें बराबर चालू रहती है, दीपकी तरह बुझ नहीं जाती, यानी समूल समाप्त नहीं हो जाती।

(२) क्या लोक अशाश्वत है ? हाँ, लोक अशाश्वत है द्रव्योंके प्रतिक्षण-भावी परिणमनोंकी दृष्टिसे। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने उत्पाद, विनाश और ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभावके कारण सदृश या विसदृश परिणमन करता रहता है। कोई भी पर्याय दो क्षण नहीं ठहरती। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी अनेक सदृश परिणमनोंका अवलोकन मात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिए, तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिर्वातित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है ? हाँ, क्रमशः उप-र्युक्त दोनों दृष्टियोंसे विचार करने पर लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे) और अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे), दोनों दृष्टिकोणोंको क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोंपर स्थूल दृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप भी प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है ? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है ? हाँ, लोकका पूर्ण रूप बचनोंके अगोचर है, अवक्तव्य है। कोई ऐसा शब्द नहीं, जो एक साथ लोकके शाश्वत और अशाश्वत दोनों स्वरूपोंको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अतः शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्ण रूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है, अवक्तव्य है। चौथा उत्तर वस्तुके पूर्ण रूपको युगपत् न कह सकनेकी दृष्टिसे है पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टिसे और अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलतः चौथा, पहला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयका संयोगरूप है। अब आप विचारें कि जब संजयने लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कहा है कि 'यदि मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ' और बुद्धने कह दिया कि 'इनके चक्करमें न पड़ो, इनका जानना उपयोगी नहीं है, ये अव्याकृत हैं' तब महावीरने उन प्रश्नोंका

वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासाका समाधान कर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१. क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ? (अनिश्चय, अज्ञान)	इनका जानना अनुपयोगी है, (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है। इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नहीं हो सकता, न किसी असत्से नये सत्का उत्पाद ही संभव है।
२. क्या लोक अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षणभावी परिणमनोंकी दृष्टिसे अशाश्वत है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरनेवाली नहीं है।
३. क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, लोक दोनों दृष्टियोंसे क्रमशः विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।
४. क्या लोक दोनोंरूप नहीं है; अनुभय है?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ (अज्ञान, अनिश्चय)	अव्याकृत	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं, जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्रभावसे कह सके, अतः पूर्ण रूपसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर उनसे पिंड छुड़ा लेते हैं; महावीर उन्हींका वास्तविक और युक्तिसंगत[1] समाधान करते हैं। इस पर भी राहुलजी यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जाने पर संजयके वादको ही जैनियोंने अपना

१. बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंका पूरा समाधान तथा उनके आगमिक अवतरणोंके लिये देखो, जैनतर्कवार्तिककी प्रस्तावना पृ० १४–२४।

लिया।' यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई कहे कि 'भारतमें रही परतंत्रताको परतंत्रता-विधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने उसे अपरतंत्रता (स्वतंत्रता) के रूपमें अपना लिया; क्योंकि अपरतंत्रतामें भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही।' या 'हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उसके अनुयायियोंके लुप्त होने पर 'अहिंसाके रूपसे अपना लिया है; क्योंकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही।' जितना परतन्त्रताका अपरतन्त्रतासे और हिंसाका अहिंसासे भेद है उतना ही संजयके अनिश्चय या अज्ञानवादसे स्याद्वादका अन्तर है। ये तो तीन और छह (३६) की तरह परस्पर विमुख हैं। स्याद्वाद संजयके अज्ञान और अनिश्चयका ही तो उच्छेद करता है। साथ-ही-साथ तत्त्वमें जो विपर्यय और संशय हैं उनका भी समूल नाश कर देता है। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि आप (पृ० ४८४ में) अनिश्चिततावादियोंकी सूचीमें संजय के साथ निग्गंठनाथपुत्त (महावीर) का नाम भी लिख जाते हैं तथा (पृ० ४९१ में) संजयको अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कह सकते ?

'स्यात्' का अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं :

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय, अनिश्चय और संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसंगको, जहाँ एक वादका स्थापन नहीं किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'सिया' (स्यात्) पदका प्रयोग भाषाकी विशिष्ट शैली-का एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तके अवतरणसे[1] विदित होता है। इसमें तेजोधातुके दोनों सुनिश्चित भेदोंकी सूचना 'सिया' शब्द देता है, न कि उन भेदोंका अनिश्चय, संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थितिको निश्चित अपेक्षासे दृढ़ तो करता ही है, साथ-ही-साथ अस्तिसे भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तुमें हैं, पर वे विवक्षित न होनेसे इस समय गौण हैं, इस सापेक्ष स्थितिको भी बताता है।

राहुलजीने 'दर्शनदिग्दर्शन' में सप्तभंगीके पाँचवें, छठे और सातवें भंगको जिस अशोभन तरीकेसे तोड़ा-मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और साहस है। जब वे दर्शनको व्यापक, नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके ठीक स्वरूपको समझकर करनी चाहिये। वे 'अवक्तव्य'

१. देखो, पृ० ५३।

नामक धर्मका, जो कि 'अस्ति' आदिके साथ स्वतन्त्र भावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ—वक्तव्य करके उसका संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और [1]संजयके घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह डालते हैं! किमाश्चर्यमतः परम् !!

डॉ० सम्पूर्णानन्दका मत :

डॉ० सम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० ३) में अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभंगी न्यायको बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझते हैं। पर सप्तभंगीको आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पहलेके वातावरणमें देखनेपर वे स्वयं उसे समयकी माँग कहे बिना नहीं रह सकते। उस समय आबाल-गोपाल प्रत्येक प्रश्नको सहज ही 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' इस चार कोटियोंमें गूँथकर ही उपस्थित करते थे और उस समयके आचार्य उत्तर भी उस चतुष्कोटिका 'हाँ' या 'ना' में देते थे। तीर्थंकर महावीरने मूल तीन भंगोंके गणितके नियमानुसार अधिक-से-अधिक अनुपरुक्त सात भंग बनाकर कहा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें चार विकल्प भी बराबर सम्भव हैं। 'अवक्तव्य, सत् और असत् इन तीन मूलधर्मोंके सात भंग ही हो सकते हैं। इन सब सम्भव प्रश्नोंका समाधान करना ही सप्तभंगीका प्रयोजन है। यह तो जैसे-को-तैसा उत्तर है। अर्थात् चार प्रश्न तो क्या सात प्रश्नोंकी भी कल्पना करके एक-एक धर्मविषयक सप्तभंगी बनाई जा सकती है और ऐसे अनन्त सप्तभंग वस्तुके विराट् स्वरूपमें संभव हैं। यह सब निरूपण वस्तुस्थितिके आधारसे किया जाता है, केवल कल्पनासे नहीं।

जैनदर्शनने दर्शनशब्दकी काल्पनिक भूमिसे ऊपर उठकर वस्तुसीमापर खड़े होकर जगत्में वस्तुस्थितिके आधारसे संवाद, समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञानकी अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद-भाषा दी। जिनकी उपासनासे विश्व अपने वास्तविक स्वरूपको समझ निरर्थक वादविवादसे बचकर संवादी बन सकता है।

---

१. जैन कथाग्रन्थोंमें महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन मिलता है कि संजय और विजय नामके दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसीलिए इनका नाम 'सन्मति' रखा गया था। सम्भव है, ये संजय, संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इन्हींके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगीन्यायसे हुआ हो। यहाँ 'वेलट्ठिपुत्त' विशेषण अपभ्रष्ट होकर विजय नाम का दूसरा साधु बन गया है।

शङ्कराचार्य और स्याद्वाद :

बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें[1] सामान्यरूपसे 'अनेकान्त' तत्त्वमें दूषण दिया है कि एक वस्तुमें अनेकधर्म नहीं हो सकते। श्रीशङ्कराचार्यजी अपने भाष्यमें[2] इसे विवसनसमय (दिगम्बर सिद्धान्त) लिखकर इसके सप्तभंगी नयमें सूत्रनिर्दिष्ट विरोधके सिवाय संशय दोष भी देते हैं। वे लिखते हैं कि "एक वस्तुमें परस्पर-विरोधी अनेक धर्म नहीं हो सकते, जैसे कि एक ही वस्तु शीत और उष्ण नहीं हो सकती। जो सात पदार्थ या पंचास्तिकाय बताये हैं, उनका वर्णन जिस रूपमें है, वे उस रूपमें भी होंगे और अन्य रूपमें भी। यानी एक भी रूपसे उनका निश्चय नहीं होनेसे संशयदूषण आता है। प्रमाता, प्रमिति आदिके स्वरूपमें भी इसी तरह निश्चयात्मकता न होनेसे तीर्थंकर किसे उपदेश देंगे और श्रोता कैसे प्रवृत्ति करेंगे? पाँच अस्तिकायोंकी 'पाँच संख्या' है भी और नहीं भी, यह तो बड़ी विचित्र बात है। 'एक तरफ अवक्तव्य भी कहते हैं, फिर उसे अवक्तव्य शब्दसे कहते भी जाते हैं।' यह तो स्पष्ट विरोध है कि—'स्वर्ग और मोक्ष है भी और नहीं भी, नित्य भी है और अनित्य भी।' तात्पर्य यह कि एक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंका होना सम्भव ही नहीं है। अतः आर्हतमतका 'स्याद्वाद' सिद्धान्त असंगत है।'

हम पहले लिख आये हैं कि 'स्यात्' शब्द जिस धर्मके साथ लगता है उसकी स्थिति कमजोर नहीं करके वस्तुमें रहनेवाले तत्प्रतिपक्षी धर्मकी सूचना देता है। वस्तु अनेकान्तरूप है, यह समझनेकी बात नहीं है। उसमें साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। एक ही पदार्थ अपेक्षा-भेदसे परस्परविरोधी अनेक धर्मोंका आधार होता है। एक ही देवदत्त अपेक्षाभेदसे पिता भी है, पुत्र भी है, गुरु भी है, शिष्य भी है, शासक भी है, शास्य भी है, ज्येष्ठ भी है, कनिष्ठ भी है, दूर भी है, और पास भी है। इस तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विभिन्न अपेक्षाओंसे उसमें अनन्त धर्म सम्भव हैं। केवल यह कह देनेसे कि 'जो पिता है वह पुत्र कैसा? जो गुरु है वह शिष्य कैसा? जो ज्येष्ठ है वह कनिष्ठ कैसा? जो दूर है वह पास कैसा, प्रतीतिसिद्ध स्वरूपका अपलाप नहीं किया जा सकता। एक ही मेचकरत्न अपने अनेक रंगोंकी अपेक्षा अनेक है। चित्रज्ञान एक होकर भी अनेक आकारवाला प्रसिद्ध ही है। एक ही स्त्री अपेक्षा-भेदसे माता भी है और पत्नी भी। एक ही पृथिवीत्वसामान्य पृथिवीव्यक्तियोंमें अनुगत होनेके कारण सामान्य होकर भी जलादिसे व्यावृत्ति कराता है। अतः विशेष भी है। इसीलिये इसको सामान्यविशेष या अपरसामान्य कहते हैं। स्वयं

१. नैकस्मिन्नसंभवात्।' —ब्रह्मसू० २।२।३३। २. शांकरभाष्य २।२।३३।

संशयज्ञान एक होकर भी 'संशय और निश्चय' इन दो आकारोंको धारण करता है। 'संशय परस्पर विरोधी दो आकारोंवाला है' यह बात तो सुनिश्चित है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। एक ही नरसिंह एक भागसे नर होकर भी द्वितीय भागकी अपेक्षा सिंह है। एक ही धूपदहनी अग्निसे संयुक्त भागमें उष्ण होकर भी पकड़ने-वाले भागमें ठंडी है। हमारा समस्त जीवन-व्यवहार ही सापेक्ष धर्मोंसे चलता है। कोई पिता अपने बेटेसे 'बेटा' कहे और वह बेटा, जो अपने लड़केका बाप है, अपने पितासे इसलिये झगड़ पड़े कि 'वह उसे बेटा क्यों कहता है?' तो हम उस बेटेको ही पागल कहेंगे, बापको नहीं। अतः जब ये परस्परविरोधी अनन्तधर्म वस्तुके विराट्रूपमें समाये हुए हैं, उसके अस्तित्वके आधार हैं, तब विरोध कैसा?

सात तत्त्वका जो स्वरूप है, उस स्वरूपसे ही तो उनका अस्तित्व है, भिन्न स्वरूपसे उनका नास्तित्व ही है। यदि जिस रूपसे अस्तित्व कहा जाता है उसी रूपसे नास्तित्व कहा जाता, तो विरोध या असंगति होती। स्त्री जिसकी पत्नी है, यदि उसीकी माता कही जाय, तो ही लड़ाई हो सकती है। ब्रह्मका जो स्वरूप नित्य, एक और व्यापक बताया जाता है उसी रूपसे तो ब्रह्मका अस्तित्व माना जा सकता है, अनित्य, अव्यापक और अनेकके रूपसे तो नहीं। हम पूछते हैं कि जिस प्रकार ब्रह्म नित्यादिरूपसे अस्ति है, क्या उसी तरह अनित्यादिरूपसे भी उसका अस्तित्व है क्या? यदि हाँ, तो आप स्वयं देखिये, ब्रह्मका स्वरूप किसी अनुन्मत्तके समझने लायक रह जाता है क्या? यदि नहीं; तो ब्रह्म जिस प्रकार नित्यादिरूपसे 'सत्' और अनित्यादिरूपसे 'असत्' है, और इस तरह अनेक-धर्मात्मक सिद्ध होता है उसी तरह जगत्के समस्त पदार्थ इस त्रिकालाबाधित स्वरूपसे व्याप्त हैं।

प्रमाता और प्रमिति आदिके जो स्वरूप हैं, उनकी दृष्टिसे ही तो उनका अस्तित्व होगा, अन्य स्वरूपोंसे कैसे हो सकता है? अन्यथा स्वरूपसांकर्य होनेसे जगत्की व्यवस्थाका लोप ही प्राप्त होता है।

'पंचास्तिकायकी पांच संख्या है, चार या तीन नहीं', इसमें क्या विरोध है? यदि कहा जाता कि 'पंचास्तिकाय पाँच हैं और पाँच नहीं हैं' तो विरोध होता, पर अपेक्षाभेदसे तो पंचास्तिकाय पाँच हैं, चार आदि नहीं हैं। फिर पाँचों अस्तिकाय अस्तिकायत्वेन एक होकर भी तत्तद्व्यक्तियोंकी दृष्टिसे पाँच भी हैं। सामान्यसे एक भी हैं और विशेष रूपसे पाँच भी हैं, इसमें क्या विरोध है?

स्वर्ग और मोक्ष अपने स्वरूपकी दृष्टिसे 'हैं', नरकादिकी दृष्टिसे 'नहीं'; इसमें क्या आपत्ति है? 'स्वर्ग स्वर्ग है, नरक तो नहीं है', यह तो आप भी मानेंगे। 'मोक्ष मोक्ष ही तो होगा, संसार तो नहीं होगा।'

अवक्तव्य भी एक धर्म है, जो वस्तुके पूर्णरूपकी अपेक्षासे है। कोई ऐसा शब्द नहीं, जो वस्तुके अनेकधर्मात्मक अखंड रूपका वर्णन कर सके। अतः वह अवक्तव्य होकर भी तत्तद्धर्मोंकी अपेक्षा वक्तव्य है और उस अवक्तव्य धर्मको भी इसीलिये 'अवक्तव्य' शब्दसे कहते भी हैं। 'स्यात्' पद इसीलिये प्रत्येक वाक्यके साथ लगकर वक्ता और श्रोता दोनोंकी वस्तुके विराट् स्वरूप और विवक्षा या अपेक्षाकी याद दिलाता रहता है, जिससे लोग सरसरी तौरपर वस्तुके स्वरूपके साथ खिलवाड़ न करें। 'प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे है, अपने क्षेत्रमें है, अपने कालसे है और अपनी गुणपर्यायोंसे है, भिन्न रूपोंसे नहीं है' यह एक सीधी-साधी बात है, जिसे आबाल-गोपाल सभी सहज ही समझ सकते हैं। यदि एक ही अपेक्षासे दो विरोधी धर्म बताये जाते, तो विरोध हो सकता था। एक ही देवदत्त जब जवानीमें अपने बाल-चरितोंका स्मरण करता है तो मनमें लज्जित होता है, पर वर्तमान सदाचारसे प्रसन्न होता है। यदि देवदत्तकी बालपन और जवानी दो अवस्थाएँ नहीं हुई होतीं और दोनों अवस्थाओंमें देवदत्तका अन्वय न होता, तो उसे बचपनका स्मरण कैसे आता? और क्यों वह उस बालचरितको अपना मानकर लज्जित होता? इससे देवदत्त आत्मत्वेन एक और नित्य होकर भी अपनी अवस्थाओंकी दृष्टिसे अनेक और अनित्य भी है। यह सब रस्सीमें साँपकी तरह केवल प्रातिभासिक नहीं है, किन्तु परमार्थसत् है, ठोस सत्य है। जब वस्तुका स्वरूपसे 'अस्ति' रूप भी निश्चित है, और पररूपसे 'नास्ति' रूप भी निश्चित है तब संशय कैसे हो सकता है? संशय तो, दोनों कोटियोंके अनिश्चयकी दशामें ज्ञान जब दोनों ओर झूलता है, तब होता है। अतः न तो अनेकान्तस्वरूपमें विरोध ही हो सकता है और न संशय ही।

श्वे० उपनिषद्के "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (३।२०) "क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं" (१।८) आदि वाक्योंकी संगति भी तो आखिर अपेक्षा-भेदके बिना नहीं बैठाई जा सकती। स्वयं शंकराचार्यजीके द्वारा समन्वयाधिकरणमें जिन श्रुतियोंका समन्वय किया गया है, वह भी तो अपेक्षाभेदसे ही सम्भव हो सका है।

स्व० महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झाने इस सम्बन्धमें अपनी विचारपूर्ण सम्मतिमें लिखा था कि "जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्तका खंडन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा।"

हिन्दू विश्वविद्यालयके दर्शनशास्त्रके भूतपूर्व प्रधानाध्यक्ष स्व० प्रो० फणिभूषण अधिकारीने तो और भी स्पष्ट लिखा था कि 'जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धान्तको जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है, यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्मके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।"

अनेकान्त भी अनेकान्त है :

अनेकान्त भी प्रमाण और नयकी दृष्टिसे अनेकान्त अर्थात् कथञ्चित् अनेकान्त और कथञ्चित् एकान्तरूप है। वह प्रमाणका विषय होनेसे अनेकान्तरूप है। अनेकान्त दो प्रकारका—सम्यगनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। परस्परसापेक्ष अनेक धर्मोंका सकल भावसे ग्रहण करना सम्यगनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मोंका ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्यसापेक्ष एक धर्मका ग्रहण सम्यगेकान्त है तथा अन्य धर्मका निषेध करके एकका अवधारण करना मिथ्यैकान्त है। वस्तुमें सम्यगेकान्त और सम्यगनेकान्त ही मिल सकते हैं, मिथ्या अनेकान्त और मिथ्यैकान्त जो प्रमाणाभास और दुर्नयके विषय पड़ते हैं नहीं, वे केवल बुद्धिगत ही हैं, वैसी वस्तु बाह्यमें स्थित नहीं है। अतः एकान्तका निषेध बुद्धिकल्पित एकान्तका ही किया जाता है। वस्तुमें जो एक धर्म है वह स्वभावतः परसापेक्ष होनेके कारण सम्यगेकान्त रूप होता है। तात्पर्य यह कि अनेकान्त अर्थात् सकलादेशका विषय प्रमाणाधीन होता है, और वह एकान्तकी अर्थात् नयाधीन विकलादेशके विषयकी अपेक्षा रखता है। यही बात स्वामी समन्तभद्रने अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्रमें कही है—

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०२॥"

अर्थात् प्रमाण और नयका विषय होनेसे अनेकान्त यानी अनेक धर्मवाला पदार्थ भी अनेकान्तरूप है। वह जब प्रमाणके द्वारा समग्रभावसे गृहीत होता है तब वह अनेकान्त—अनेकधर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नयका विषय होता है तब एकान्त एकधर्मरूप है, उस समय शेष धर्म पदार्थमें विद्यमान रहकर भी दृष्टिके सामने नहीं होते। इस तरह पदार्थकी स्थिति हर हालतमें अनेकान्तरूप ही सिद्ध होती है।

प्रो० बलदेवजी उपाध्यायके मतकी आलोचना :

प्रो० बलदेवजी उपाध्यायने अपने भारतीयदर्शन (पृ० १५५) में स्याद्वादका अर्थ बताते हुए लिखा है कि "स्यात् (शायद, सम्भवतः) शब्द अस् धातुके विधिलिङ्के रूपका तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़ेके विषयमें हमारा मत स्यादस्ति—सम्भवतः यह विद्यमान है' इसी रूपमें होना चाहिए।" यहाँ उपाध्यायजी 'स्यात्' शब्दको शायदका पर्यायवाची तो नहीं मानना चाहते, इसलिये वे शायद शब्दको कोष्ठकमें लिखकर भी आगे 'सम्भवतः' अर्थका समर्थन करते हैं। वैदिक आचार्य स्वामी शंकराचार्यने जो स्याद्वादकी गलत बयानी की है उसका संस्कार आज भी कुछ विद्वानोंके मस्तिष्कपर पड़ा हुआ है और वे उसी संस्कारवश 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' करनेमें नहीं चूकते। जब यह स्पष्ट रूपसे अवधारण करके निश्चयात्मक रूपसे कहा जाता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे 'स्यादस्ति'—है ही, घड़ा स्वभिन्न पररूपसे 'स्यान्नास्ति'—नहीं ही है', तब शायद या संशयकी गुञ्जाइश कहाँ है ? 'स्यात्' शब्द तो श्रोताको यह सूचना देता है कि जिस 'अस्ति' धर्मका प्रतिपादन हो रहा है वह धर्म सापेक्ष स्थितिवाला है, अमुक स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे उसका सद्भाव है। 'स्यात्' शब्द यह बताता है कि वस्तुमें अस्तिसे भिन्न अन्य धर्म भी सत्ता रखते हैं। जब कि संशय और शायदमें एक भी धर्म निश्चित नहीं होता। अनेकान्त-सिद्धान्तमें अनेक ही धर्म निश्चित हैं और उनके दृष्टिकोण भी निर्धारित हैं। आश्चर्य है कि अपनेको तटस्थ माननेवाले विद्वान् आज भी उसी संशय और शायदकी परम्पराको चलाये जाते हैं ! रूढिवादका माहात्म्य अगम्य है !

इसी संस्कारवश उपाध्यायजी 'स्यात्' के पर्यायवाचियोंमें 'शायद' शब्दको लिखकर (पृ० १७३) जैनदर्शनकी समीक्षा करते समय शंकराचार्यकी वकालत इन शब्दोंमें करते हैं—"यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय दृष्टिसे वह पदार्थोंके विभिन्न रूपोंका समीकरण करता जाता तो समग्र विश्वमें अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य पहुँच जाता। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर शंकराचार्यने इस स्याद्वादका मार्मिक खण्डन अपने शारीरक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियोंके सहारे किया है" पर, उपाध्यायजी, जब आप 'स्यात्' का अर्थ निश्चितरूपसे 'संशय' नहीं मानते, तब शंकराचार्यके खण्डनका मार्मिकत्व क्या रह जाता है ?

जैनदर्शन स्याद्वाद-सिद्धान्तके अनुसार वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय करता है। जो धर्म वस्तुमें विद्यमान हैं उन्हींका तो समन्वय हो सकता है। जैनदर्शनको आपने वास्तव-बहुत्ववादी लिखा है। अनेक स्वतन्त्र चेतन, अचेतन सत्-व्यवहारके

लिये सद्रूपसे 'एक' भले ही कहे जायँ, पर वह काल्पनिक एकत्व मौलिक वस्तुकी संज्ञा नहीं पा सकता। यह कैसे संभव है कि चेतन और अचेतन दोनों ही एक सत्के प्रातिभासिक विवर्त हों। जिस काल्पनिक समन्वयकी ओर उपाध्यायजीने संकेत किया है; उस ओर जैन दार्शनिकोंने प्रारंभसे ही दृष्टिपात किया है। परमसंग्रहनयकी दृष्टिमें सद्रूपसे यावत् चेतन-अचेतन द्रव्योंका संग्रह करके 'एकसत्' इस शब्दव्यवहारके करनेमें जैन दार्शनिकोंको कोई आपत्ति नहीं है। पर यह एकत्व वस्तुसिद्ध भेदका अपलाप नहीं कर सकता। सैकड़ों आरोपित और काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर उनसे मौलिक तत्त्व-व्यवस्था नहीं की जा सकती। 'एक देश या एक राष्ट्र' अपनेमें क्या वस्तु है? भूखण्डोंका अपना-अपना जुदा अस्तित्व होनेपर भी बुद्धिगत सीमाकी अपेक्षा राष्ट्रोंकी सीमाएँ बनती बिगड़ती रहती हैं। उसमें व्यवहारकी सुविधाके लिये प्रान्त, जिला आदि संज्ञाएँ जैसे काल्पनिक हैं—मात्र व्यवहारसत्य हैं, उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिक सत् होकर मात्र व्यवहारसत्य ही बन सकता है और कल्पनाकी दौड़का चरमबिन्दु भी हो सकता है, पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असंभव है; आज विज्ञान एटम तकका विश्लेषण कर चुका है। अतः इतना बड़ा अभेद, जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी लीन हो जाँय, कल्पनासाम्राज्यकी चरम कोटि है। और इस कल्पनाकोटिको परमार्थसत् न माननेके कारण जैनदर्शनका स्याद्वाद-सिद्धान्त यदि आपको मूलभूत तत्त्वके स्वरूप समझनेमें नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है, तो हो, पर वह वस्तुकी सीमाका उल्लंघन नहीं कर सकता और न कल्पनालोककी लम्बी दौड़ ही लगा सकता है।

'स्यात्' शब्दको उपाध्यायजी संशयका पर्यायवाची नहीं मानते, यह तो प्रायः निश्चित है; क्योंकि आप स्वयं लिखते हैं (पृ० १७३) कि "यह अनेकान्तवाद संशयवादका रूपान्तर नहीं है"। पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते हैं। परन्तु 'स्यात्'का अर्थ 'संभवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है; क्योंकि संभावना, संशयगत उभयकोटियोंमेंसे किसी एककी अर्धनिश्चितताकी ओर संकेतमात्र है, निश्चय उससे बिलकुल भिन्न होता है, स्याद्वादको संशय और निश्चयके मध्यमें संभावनावादकी जगह रखनेका अर्थ है कि वह एक प्रकारका अनध्यवसाय ही है। परन्तु जब स्याद्वादका प्रत्येक भंग स्पष्ट रूपसे अपनी सापेक्ष सत्यताका अवधारण करा रहा है कि 'घड़ा स्वचतुष्टयकी दृष्टिसे 'है ही', इस दृष्टिसे 'नहीं' कभी भी नहीं हैं। परचतुष्टयकी दृष्टिसे 'नहीं ही है', 'है' कभी भी नहीं; तब संशय और संभावनाकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'घटः स्यादस्त्येव' इसमें जो एवकार

लगा हुआ है वह निर्दिष्टधर्मके अवधारणको बताता है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणोंसे उन-उन धर्मोंका खरा निश्चय करा रहा है, तब इसे संभावनावादमें नहीं रखा जा सकता। यह स्याद्वाद व्यवहार, निर्वाहके लक्ष्यसे कल्पित धर्मोंमें भी भले ही लग जाय, पर वस्तुव्यवस्थाके समय वह वस्तुकी सीमाको नहीं लाँघता। अतः न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद ही, किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है।

सर राधाकृष्णन्के मतकी मीमांसा :

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्ने इण्डियन फिलासफी (जिल्द १ पृ० ३०५-६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है। स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें स्याद्वाद हमें अर्धसत्योंके पास लाकर पटक देता है, और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्णसत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्धसत्योंको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता!" आदि। क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्ण सत्य मान लेनेकी प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तके समन्वय करनेकी सलाह देता है, जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्ण सत्यके रूपमें वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है, जिसमें चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादकी समन्वय दृष्टिको अर्धसत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है, तब उस वास्तविक नतीजेपर पहुँचनेको अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं? हाँ, स्याद्वाद उस प्रमाणविरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टिसे नहीं जा सकता। वैसे परमसंग्रहनयकी दृष्टिसे एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है, जिसमें सद्रूपसे सभी चेतन और अचेतन समा जाते हैं— "सर्वमेकं सदविशेषात्"—सब एक हैं, सत् रूपसे चेतन अचेतनमें कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना ही है, क्योंकि ऐसा कोई एक 'वस्तुसत्' नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो, तो वह परमसंग्रहनयमें देखी जा सकती है। पर वह सादृश्यमूलक अभेदोपचार ही होगा, वस्तुस्थिति नहीं। या प्रत्येक द्रव्य अपनी गुण और पर्यायोंसे वास्तविक अभेद रखता है, पर ऐसे स्वनिष्ठ एकत्ववाले

अनन्तानन्त द्रव्य लोकमें वस्तुसत् हैं। पूर्णसत्य तो वस्तुके यथार्थ अनेकान्तस्वरूप-का दर्शन ही है, न कि काल्पनिक अभेदका खयाल। बुद्धिगत अभेद हमारे आनन्दका विषय हो सकता है, पर इससे दो द्रव्योंकी एक सत्ता स्थापित नहीं हो सकती।

कुछ इसी प्रकारके विचार प्रो० बलदेवजी उपाध्याय भी राधाकृष्णन्का अनुसरण कर 'भारतीय दर्शन' (पृ० १७३) में प्रकट करते हैं—"इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोंबीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिये विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिये। पर स्याद्वाद जब वस्तुका विचार कर रहा है, तब वह परमार्थसत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्ति-विरुद्ध ही है, किन्तु आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटमका भी विश्लेषण किया है और प्रत्येक परमाणुकी अपनी मौलिक और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः यदि स्याद्वाद वस्तुको अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचा-कर बुद्धिको विराम देता है, तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरंजनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

डॉ० देवराजजीने 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' (पृ० ६५) में 'स्यात्' शब्दका 'कदाचित्' अनुवाद किया है। यह भी भ्रमपूर्ण है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है—किसी समय। और प्रचलित अर्थमें कदाचित् शब्द एक तरहसे संशयकी ओर ही झुकता है। वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक ही कालमें रहते हैं, न कि भिन्नकालमें। कदाचित् अस्ति और कदाचित् नास्ति नहीं हैं, किन्तु सह—एक साथ अस्ति और नास्ति हैं। स्यात्का सही और सटीक अर्थ है—'कथञ्चित्' अर्थात् एक निश्चित प्रकारसे। यानी अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वस्तु 'अस्ति' है और उसी समय द्वितीय निश्चित दृष्टिकोणसे 'नास्ति' है, इसमें कालभेद नहीं है। अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वादका अभ्रान्त वाच्यार्थ हो सकता है।

श्री हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने "Jain Instrumental Theory of Knowledge" नामक लेखमें लिखा है कि "स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्यतक नहीं ले जाता" आदि। ये सब एक ही प्रकारके विचार हैं जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझने या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा

करनेके परिणाम हैं। वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है, उसमें अनन्तधर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं। पर हमारी दृष्टिमें विरोध होनेसे हम उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं।

धर्मकीर्ति और अनेकान्तवाद :

आचार्य धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।१८०-१८४) में उभयरूप तत्त्वके स्वरूपमें विपर्यास कर बड़े रोषसे अनेकान्ततत्त्वको प्रलापमात्र कहते हैं। वे सांख्यमतका खंडन करनेके बाद जैनमतके खंडनका उपक्रम करते हुए लिखते हैं—

"एतेनैव यदह्रीकाः किमप्ययुक्तमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात् ॥"—प्र० वा० ३।१८०।

अर्थात् सांख्यमतके खंडन करनेसे ही अह्रीक यानी दिगम्बर लोग जो कुछ अयुक्त और आकुल प्रलाप करते हैं वह खंडित हो जाता है; क्योंकि तत्त्व एकान्त-रूप ही हो सकता है।

यदि[1] सभी तत्त्वोंको उभयरूप यानी स्व-पररूप माना जाता है, तो पदार्थोंमें विशेषताका निराकरण हो जानेसे 'दही खाओ' इस प्रकारकी आज्ञा दिया पुरुष ऊँटको खानेके लिये क्यों नहीं दौड़ता? क्योंकि दही 'स्व-दहीकी तरह पर-ऊँटरूप भी है। यदि दही और ऊँटमें कोई विशेषता या अतिशय है, जिसके कारण दही शब्दसे दहीमें तथा ऊँट शब्दसे ऊँटमें ही प्रवृत्ति होती है, तो वही विशेषता सर्वत्र मान लेनी चाहिये, ऐसी दशामें तत्त्व उभयात्मक नहीं रहकर अनुभयात्मक यानी प्रतिनियत स्वरूपवाला सिद्ध होगा।

इस प्रसङ्गमें आ० धर्मकीर्तिने जैनतत्त्वके विपर्यास करनेमें हद कर दी है। तत्त्वको उभयात्मक अर्थात् सत्-असदात्मक, नित्यानित्यात्मक या भेदाभेदात्मक कहनेका तात्पर्य यह है कि दही, दही रूपसे सत् है और दहीसे भिन्न उष्ट्रादिरूपसे वह 'नास्ति' है। जब जैन तत्त्वज्ञान यह स्पष्ट कह रहा है कि 'हर वस्तु स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं हैं; तब उससे तो यही फलित हो रहा है कि 'दही दही है, ऊँट

---

१. 'सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥
अथास्त्यतिशयः कश्चित् तेन भेदेन वर्तते।
स एव विशेषोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं वरम् ॥'
—प्रमाणवा० ३।१८१-१८२।

आदि रूप नहीं है।' ऐसी हालतमें दही खानेको कहा गया पुरुष ऊँटको खानेके लिये क्यों दौड़ेगा? जब ऊँटका नास्तित्व दहीमें है, तब उसमें प्रवृत्ति करनेका प्रसंग किसी अनुन्मत्तको कैसे हो सकता है? दूसरे श्लोकमें जिस विशेषताका निर्देश करके समाधान किया गया है, वह विशेषता तो प्रत्येक पदार्थमें स्वभावभूत मानी ही जाती है। अतः स्वास्तित्व और परनास्तित्वकी इतनी स्पष्ट घोषणा होनेपर भी स्वभिन्न परपदार्थमें प्रवृत्तिकी बात कहना ही वस्तुतः अह्रीकता है।

उभयात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक मानकर द्रव्य यानी पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे दही और ऊँटके शरीरको एक मानकर दही खानेके बदले ऊँटके खानेका दूषण देना भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रत्येक परमाणु, स्वतन्त्र पुद्गलद्रव्य है, अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूपमें दही कहलाते हैं और उनसे भिन्न अनेक परमाणु स्कन्धका शरीर बने हैं। अनेक भिन्नासत्ताक परमाणुद्रव्योंमें पुद्गलरूपसे जो एकता है वह सादृश्यमूलक एकता है, वास्तविक एकता नहीं है। वे एकजातीय हैं, एकसत्ताक नहीं। ऐसी दशामें दही और ऊँटके शरीरमें एकताका प्रसंग लाकर मखौल उड़ाना शोभन बात तो नहीं है। जिन परमाणुओंसे दही स्कन्ध बना है उनमें भी विचारकर देखा जाय, तो सादृश्यमूलक ही एकत्वारोप हो रहा है, वस्तुतः एकत्व तो एक द्रव्यमें ही है। ऐसी स्थितिमें दही और ऊँटमें एकत्वका भान किस स्वस्थ पुरुषको हो सकता है?

यदि कहा जाय कि "जिन परमाणुओंसे दही बना है वे परमाणु कभी-न-कभी ऊँटके शरीरमें भी रहे होंगे और ऊँटके शरीरके परमाणु दही भी बने होंगे, और आगे भी दहीके परमाणु ऊँटके शरीररूप हो सकनेकी योग्यता रखते हैं, इस दृष्टिसे दही और ऊँटका शरीर अभिन्न हो सकता है?" सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यकी अतीत और अनागत पर्यायें जुदा होती हैं, व्यवहार तो वर्तमान पर्यायके अनुसार चलता है। खानेके उपयोगमें दही पर्याय आती है और सवारीके उपयोगमें ऊँट पर्याय। फिर शब्दका वाच्य भी जुदा-जुदा है। दही शब्दका प्रयोग दही पर्यायवाले द्रव्योंको विषय करता है न कि ऊँटकी पर्यायवाले द्रव्यको। प्रतिनियत शब्द प्रतिनियत पर्यायवाले द्रव्यका कथन करते हैं। यदि अतीत पर्यायकी संभावनासे दही और ऊँटमें एकत्व लाया जाता है तो सुगत अपने पूर्वजातकमें मृग हुए थे और वही मृग मरकर सुगत हुआ है, अतः सन्तानकी दृष्टिसे एकत्व होनेपर भी जैसे सुगत पूज्य ही होते हैं और मृग खाद्य माना जाता है, उसी तरह दही और ऊँटमें खाद्य-अखाद्यकी व्यवस्था है। आप मृग और सुगतमें खाद्यत्व और वन्द्यत्वका विपर्यास नहीं करते; क्योंकि दोनों अवस्थाएँ जुदा हैं, और वन्द्यत्व

तथा खाद्यत्वका सम्बन्ध अवस्थाओंसे है, उसी तरह प्रत्येक पदार्थकी स्थिति द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायोंकी क्षणपरम्परा अनादिसे अनन्त काल तक चली जाती है, कभी विच्छिन्न नहीं होती, यही उसकी द्रव्यता ध्रौव्य या नित्यत्व है। नित्यत्व या शाश्वतपनेसे बिचकनेकी आवश्यकता नहीं है। सन्तति या परम्पराके अविच्छेद-की दृष्टिसे आंशिक नित्यता तो वस्तुका निज रूप है। उससे इनकार नहीं किया जा सकता। आप जो यह कहते हैं कि 'विशेषताका निराकरण हो जानेसे सब सर्वात्मक हो जायँगें', सो द्रव्योंमें एकजातीयता होनेपर स्वरूपकी भिन्नता और विशेषता है ही। पर्यायोंमें परस्पर भेद ही है, अतः दही और ऊँटके अभेदका प्रसंग देना वस्तुका जानते-बूझते विपर्यास करना है। विशेषता तो प्रत्येक द्रव्यमें है और एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें भी मौजूद है ही, उससे इनकार नहीं किया जा सकता।

प्रज्ञाकरगुप्त और अर्चट, तथा स्याद्वाद :

प्रज्ञाकरगुप्त धर्मकीर्तिके शिष्य हैं। वे प्रमाणवार्तिकालंकारमें जैनदर्शनके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक परिणामवादमें दूषण देते हुए लिखते[1] हैं कि "जिस समय व्यय होगा, उस समय सत्त्व कैसे? यदि सत्त्व है; तो व्यय कैसे? अतः नित्यानित्यात्मक वस्तुकी सम्भावना नहीं है। या तो वह एकान्तसे नित्य हो सकती है या एकान्तसे अनित्य।"

हेतुबिन्दुके टीकाकार अर्चट भी वस्तुके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक लक्षणमें ही विरोध दूषणका उद्भावन करते हैं। वे कहते हैं[2] कि "जिस रूपसे उत्पाद और व्यय हैं उस रूपसे ध्रौव्य नहीं है, और जिस रूपसे ध्रौव्य है उस रूपसे उत्पाद और व्यय नहीं हैं। एक धर्मीमें परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं हो सकते।"

---

१. "अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते।
एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावान्नियोगतः॥
यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते?
पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात् तदा तस्य व्ययः कथम्॥
ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते।
प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा॥
तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः संभवः क्वचित्।
अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत्॥"

—प्रमाणवार्तिकाल०, पृ० १४२।

२. "ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।"

—हेतुबि० टी० पृ० १४६।

किन्तु जब बौद्ध स्वयं इतना स्वीकार करते हैं कि वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और नष्ट होती है तथा उसकी इस धाराका कभी विच्छेद नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि वह कबसे प्रारम्भ हुई और न यह बताया जा सकता है कि वह कब तक चलेगी। प्रथम क्षण नष्ट होकर अपना सारा उत्तराधिकार द्वितीय क्षणको सौंप देता है और वह तीसरे क्षणको। इस तरह यह क्षणसन्तति अनन्तकाल तक चालू रहती है। यह भी सिद्ध है कि विवक्षित क्षण अपने सजातीय क्षणमें ही उपादान होता है, कभी भी उपादानसांकर्य नहीं होता। आखिर इस अनन्तकाल तक चलनेवाली उपादानकी असंकरताका नियामक क्या है? क्यों नहीं वह विच्छिन्न होता और क्यों नहीं कोई विजातीयक्षणमें उपादान बनता? ध्रौव्य इसी असंकरता और अविच्छिन्नताका नाम है। इसीके कारण कोई भी मौलिक तत्त्व अपनी मौलिकता नहीं खोता। इसका उत्पाद और व्ययके साथ क्या विरोध है? उत्पाद और व्ययको अपनी लाइन पर चालू रखनेने लिये, और अनन्तकाल तक उसकी लड़ी बनाये रखनेके लिये ध्रौव्यका मानना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, लेन-देन, बन्ध-मोक्ष, गुरु-शिष्यादि समस्त व्यवहारोंका उच्छेद हो जायगा। आज विज्ञान भी इस मूल सिद्धान्त[1] पर ही स्थिर है कि "किसी नये सत्‌का उत्पाद नहीं होता और मौजूद सत्‌का सर्वथा उच्छेद नहीं होता, परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है" इसमें जो तत्त्वकी मौलिक स्थिति है उसीको ध्रौव्य कहते हैं। बौद्ध दर्शनमें 'सन्तान' शब्द कुछ इसी अर्थमें प्रयुक्त होकर भी वह अपनी सत्यता खो बैठा है, और उसे पंक्ति और सेनाकी तरह मृषा कहनेका पक्ष प्रबल हो गया है। पंक्ति और सेना अनेक स्वतन्त्र सिद्ध मौलिक द्रव्योंमें संक्षिप्त व्यवहारके लिये कल्पित बुद्धिगत स्फुरण है, जो उन्हें ही प्रतीत होता है, जिनने संकेत ग्रहण कर लिया है, परन्तु ध्रौव्य या द्रव्यकी मौलिकता बुद्धिकल्पित नहीं है, किन्तु क्षणकी तरह ठोस सत्य है, जो उसकी अनादि अनन्त असंकर स्थितिको प्रवहमान रखता है। जब वस्तुका स्वरूप ही इस तरह त्रयात्मक है तब उस प्रतीयमान स्वरूपमें विरोध कैसा? हाँ, जिस दृष्टिसे उत्पाद और व्यय कहे जाते हैं, उसी दृष्टिसे यह ध्रौव्य कहा जाता तो अवश्य विरोध होता, पर उत्पाद और व्यय तो पर्यायकी दृष्टिसे है तथा ध्रौव्य उस द्रवणशील मौलिकत्वकी अपेक्षासे है, जो अनादिसे अनन्त तक अपनी पर्यायोंमें

---

१. "भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ॥१५॥"

—पंचास्तिकाय।

बहता रहता है। कोई भी दार्शनिक कैसे इस ठोस सत्यसे इनकार कर सकता है? इसके बिना विचारका कोई आधार ही नहीं रह जाता।

बुद्धको शाश्वतवादसे यदि भय था, तो वे उच्छेदवाद भी तो नहीं चाहते थे। ये तत्त्वको न शाश्वत कहते थे और न उच्छिन्न। उनने उसके स्वरूपको दो 'न' से कहा, जब कि उसका विध्यात्मक रूप उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक ही बन सकता है। बुद्ध तो कहते हैं कि न तो वस्तु नित्य है और न सर्वथा उच्छिन्न जब कि प्रज्ञाकरगुप्त यह विधान करते हैं कि या तो वस्तुको नित्य मानो या क्षणिक अर्थात् उच्छिन्न। क्षणिकका अर्थ उच्छिन्न मैंने जानबूझकर इसलिये किया है कि ऐसा क्षणिक, जिसके मौलिकत्व और असंकरताकी कोई गारंटी नहीं है, उच्छिन्नके सिवाय क्या हो सकता है? वर्तमान क्षणमें अतीतके संस्कार और भविष्यकी योग्यताका होना ही ध्रौव्यत्वकी व्याख्या है। अतीतका सद्भाव तो कोई भी नहीं मान सकता और न भविष्यतका ही। द्रव्यको त्रैकालिक भी इसी अर्थमें कहा जाता है कि वह अतीतसे प्रवहमान होता हुआ वर्तमान तक आया है और आगेकी मंजिलकी तैयारी कर रहा है।

अर्चट कहते हैं कि जिस रूपसे उत्पाद और व्यय हैं उस रूपसे ध्रौव्य नहीं; सो ठीक है, किन्तु 'वे दोनों रूप एक धर्मीमें नहीं रह सकते' यह कैसे? जब सभी प्रमाण उस अनन्तधर्मात्मक वस्तुकी साक्षी दे रहे हैं तब उसका अंगुली हिलाकर निषेध कैसे किया जा सकता है?

"यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

यह कर्म और कर्मफलको एक अधिकरणमें सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्पष्ट कह रहा है कि जिस सन्तानमें कर्मवासना—यानी कर्मके संस्कार पड़ते हैं, उसीमें फलका अनुसन्धान होता है। जैसे कि जिस कपासके बीजमें लाक्षारसका सिंचन किया गया है उसीसे उत्पन्न होनेवाली कपास लाल रंगकी होती है। यह सब क्या है? सन्तान एक सन्तन्यमान तत्त्व है जो पूर्व और उत्तरको जोड़ता है और वे पूर्व तथा उत्तर परिवर्तित होते हैं। इसीको तो जैन ध्रौव्य शब्दसे कहते हैं, जिसके कारण द्रव्य अनादि-अनन्त परिवर्तमान रहता है। द्रव्य एक आम्रेडित अखंड मौलिक है। उसका अपने धर्मोंसे कथञ्चित् भेदाभेद या कथञ्चित्तादात्म्य है। अभेद इसलिये कि द्रव्यसे उन धर्मोंको पृथक् नहीं किया जा सकता, उनका विवेचन—पृथक्करण अशक्य है। भेद इसलिये कि द्रव्य और पर्यायोंमें संज्ञा, संख्या, स्वलक्षण और प्रयोजन आदिकी विविधता पाई जाती है।

अर्चटको इसपर भी आपत्ति है। वे लिखते[1] हैं कि "द्रव्य और पर्यायमें संख्यादिके भेदसे भेद मानना उचित नहीं है। भेद और अभेद पक्षमें जो दोष होते हैं वे दोनों पक्ष मानने पर अवश्य होंगे। भिन्नाभिन्नात्मक एक वस्तुकी संभावना नहीं है, अतः यह वाद दुष्टकल्पित है।" आदि।

परन्तु जो अभेद अंश है वही द्रव्य है और भेद है वही पर्याय है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद नहीं माना गया है, जिससे भेदपक्ष और अभेदपक्षके दोनों दोष ऐसी वस्तुमें आवें। स्थिति यह है कि द्रव्य एक अखंड मौलिक है। उसके कालक्रमसे होनेवाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। वे उसी द्रव्यमें होते हैं। यानी द्रव्य अतीतके संस्कार लेता हुआ वर्तमान पर्यायरूप होता है और भविष्यके लिये कारण बनता है। अखंड द्रव्यको समझानेके लिये उसमें अनेक गुण माने जाते हैं, जो पर्यायरूपसे परिणत होते हैं। द्रव्य और पर्यायमें जो संज्ञाभेद, संख्याभेद, लक्षणभेद और कार्यभेद आदि बताये जाते हैं, वे उन दोनोंका भेद समझानेके लिये हैं, वस्तुतः उनसे ऐसा भेद नहीं है, जिससे पर्यायोंको द्रव्यसे निकालकर जुदा बताया जा सके। पर्यायरूपसे द्रव्य अनित्य है। द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण पर्याय यदि नित्य कही जाती है तो भी कोई दूषण नहीं है; क्योंकि द्रव्यका अस्तित्व किसी-न-किसी पर्यायमें ही तो होता है। द्रव्यका स्वरूप जुदा और पर्यायका स्वरूप जुदा—इसका इतना ही अर्थ है कि दोनोंको पृथक् समझानेके लिये उनके लक्षण जुदा-जुदा होते हैं। कार्य भी जुदे इसलिये हैं कि द्रव्यसे अन्वय-ज्ञान होता है जब कि पर्यायोंसे व्यावृत्तज्ञान या भेदज्ञान। द्रव्य एक होता है और पर्यायें कालक्रमसे अनेक। अतः इन संज्ञा आदिसे वस्तुके टुकड़े माननेपर जो दूषण दिये जाते हैं वे इसमें लागू नहीं होते। हाँ, वैशेषिक जो द्रव्य, गुण और कर्म आदिको स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, उसके भेदपक्षमें इन दूषणोंका समर्थन तो जैन भी करते हैं। सर्वथा अभेदरूप ब्रह्मवादमें विवर्त, विकार या भिन्नप्रतिभास आदिकी सम्भावना नहीं है। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक, ज्ञान-ज्ञेय आदिका भेद भी असम्भव है। इस तरह एक पूर्वबद्ध धारणाके कारण जैनदर्शनके भेदाभेदवादमें

---

१. 'द्रव्यपर्यायरूपत्वात् द्वैरूप्यं वस्तुनः किल।
तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेदः संज्ञादिभेदतः ॥१॥...
भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते ॥६२॥...
न चैवं गम्यते तेन वादोऽयं जाल्मकल्पितः ॥४५॥'
—हेतुबि० टी० पृ० १०४-१०७।

विना विचारे ही विरोधादि दूषण लाद दिये जाते हैं। 'सत् सामान्य'से जो सब पदार्थोंको 'एक' कहते हैं वह वस्तुसत् ऐक्य नहीं है, व्यवहारार्थ संग्रहभूत एकत्व है, जो कि उपचरित है, मुख्य नहीं। शब्दप्रयोगकी दृष्टिसे एक द्रव्यमें विवक्षित धर्मभेद और दो द्रव्योंमें रहने वाला परमार्थसत् भेद, दोनों बिलकुल जुदे प्रकारके हैं। वस्तुकी समीक्षा करते समय हमें सावधानीसे उसके वर्णित स्वरूपपर विचार करना चाहिये।

शान्तरक्षित और स्याद्वाद :

आ० शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें स्याद्वादपरीक्षा (पृ० ४८६) नामका एक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा है। वे सामान्यविशेषात्मक या भावाभावात्मक तत्त्वमें दूषण उद्भावित करते हैं कि "यदि सामान्य और विशेषरूप एक ही वस्तु है, तो एक वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण सामान्य और विशेषमें स्वरूपसांकर्य हो जायगा। यदि सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न हैं और उनसे वस्तु अभिन्न होने जाती है; तो वस्तुमें भेद हो जायगा। विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी हैं, अतः वे एक वस्तुमें नहीं हो सकते। नरसिंह, मेचकरत्न आदि दृष्टान्त भी ठीक नहीं हैं; क्योंकि वे सब अनेक अणुओंके समूहरूप हैं, अतः उनका यह स्वरूप अवयवीकी तरह विकल्प-कल्पित है।" आदि।

बौद्धाचार्योंकी एक ही दलील है कि एक वस्तु दो रूप नहीं हो सकती। वे सोचें कि जब प्रत्येक स्वलक्षण परस्पर भिन्न हैं, एक दूसरे रूप नहीं हैं, तो इतना तो मानना ही चाहिए कि रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षणत्वेन 'अस्ति' है और रसादि-स्वलक्षणत्वेन 'नास्ति' है, अन्यथा रूप और रस मिलकर एक हो जायँगे। हम स्वरूप-अस्तित्वको ही पररूपनास्तित्व नहीं कह सकते; क्योंकि दोनोंकी अपेक्षाएँ जुदा-जुदा हैं, प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। एक ही हेतु स्वपक्षका साधक होता है और परपक्षका दूषक, इन दोनों धर्मोंकी स्थिति जुदा-जुदा है। हेतुमें यदि केवल साधक स्वरूप ही हो; तो उसे स्वपक्षकी तरह परपक्षको भी सिद्ध ही करना चाहिये। इसी तरह दूषकरूप ही हो; तो परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी दूषण ही करना चाहिये। यदि एक हेतुमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षा-सत्त्व तीनों रूप भिन्न-भिन्न माने जाते हैं; तो क्यों नहीं सपक्षसत्त्वको ही विपक्षा-सत्त्व मान लेते ? अतः जिस प्रकार हेतुमें विपक्षासत्त्व सपक्षसत्त्वसे जुदा रूप है उसी तरह प्रत्येक वस्तुमें स्वरूपास्तित्वसे पररूपनास्तित्व जुदा ही स्वरूप है। अन्वयज्ञान और व्यतिरेकज्ञानरूप प्रयोजन और कार्य भी उनके जुदे ही हैं। यदि रूपस्वलक्षण अपने उत्तररूपस्वलक्षणमें उपादान होता है और रसस्वलक्षणमें

निमित्त; तो उसमें ये दोनों धर्म विभिन्न हैं या नहीं ? यदि रूपमें एक ही स्वभावसे उपादान और निमित्तत्वकी व्यवस्था की जाती है ? तो बताइए एक ही स्वभाव दो रूप हुआ या नहीं ? उसने दो कार्य किये या नहीं ? तो जिस प्रकार एक ही स्वभाव रूपकी दृष्टिसे उपादान है और रसकी दृष्टिसे निमित्त, उसी प्रकार विभिन्न अपेक्षाओंसे एक ही वस्तुमें अनेक धर्म माननेमें क्यों विरोधका हल्ला किया जाता है ?

बौद्ध कहते हैं कि "दृष्ट पदार्थके अखिल गुण दृष्ट हो जाते हैं, पर भ्रान्तिसे उनका निश्चय नहीं होता, अतः अनुमानकी प्रवृत्ति होती है।"[1] यहाँ प्रत्यक्षपृष्ठ-भावी विकल्पसे नीलस्वलक्षणके नीलांशका निश्चय होनेपर क्षणिकत्व और स्वर्ग-प्रापणशक्ति आदिका निश्चय नहीं होता, अतः अनुमान करना पड़ता है; तो एक ही नीलस्वलक्षणमें अपेक्षाभेदसे निश्चितत्व और अनिश्चितत्व ये दो धर्म तो मानना ही चाहिए। पदार्थमें अनेकधर्म या गुण माननेमें विरोधका कोई स्थान नहीं है, वे तो प्रतीत हैं। वस्तुमें सर्वथा भेद स्वीकार करनेवाले बौद्धोंके यहाँ पररूपसे नास्तित्व माने बिना स्वरूपकी प्रतिनियत व्यवस्था ही नहीं बन सकती। दानक्षणका दानत्व प्रतीत होनेपर भी उसकी स्वर्गदानशक्तिका निश्चय नहीं होता। ऐसी दशामें दानक्षणमें निश्चितता और अनिश्चितता दोनों ही मानना होंगी। एक रूपस्वलक्षण अनादिकालसे अनन्तकाल तक प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद नहीं होता, वह न तो सजातीय रूपान्तर बनता है और न विजातीय रसादि ही। यह उसकी जो अनाद्यनन्त असंकर स्थिति है, उसका क्या नियामक है ? वस्तु विपरिवर्तमान होकर भी जो समाप्त नहीं होती, इसीका नाम ध्रौव्य है जिसके कारण विवक्षित क्षण क्षणान्तर नहीं होता और न सर्वथा उच्छिन्न ही होता है। अतः जब रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षण ही है, रसादि नहीं, रूपस्वलक्षण प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ भी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होता, रूपस्वलक्षण उपादान भी है और निमित्त भी, रूपस्वलक्षण निश्चित भी है और अनिश्चित भी, रूपस्वलक्षणोंमें सादृश्यमूलक सामान्य धर्म भी है और वह विशेष भी है, रूपस्वलक्षण रूपशब्दका अभिधेय है रसादिका अनभिधेय; तब ऐसी स्थितिमें उसकी अनेकधर्मात्मकता स्वयं सिद्ध है।

स्याद्वाद वस्तुकी इसी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन करनेवाली एक भाषा-पद्धति है, जो वस्तुका सही-सही प्रतिनिधित्व करती है। आप सामान्यको अन्या-

---

१. "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते ॥"—प्रमाणवा० ३।४४।

पोहरूप कह भी लीजिए पर 'अगोव्यावृत्ति गोव्यक्तियोंमें ही क्यों पायी जाती है, अश्वादिमें क्यों नहीं' इसका नियामक गोमें पाया जानेवाला सादृश्य ही हो सकता है। सादृश्य दो पदार्थोंमें पाया जानेवाला एक धर्म नहीं है, किन्तु प्रत्येकनिष्ठ है। जितने पररूप हैं उनकी व्यावृत्ति यदि वस्तुमें पायी जाती है, तो उतने धर्मभेद माननेमें क्या आपत्ति है ? प्रत्येक वस्तु अपने अखंडरूपमें अविभागी और अनिर्वाच्य होकर भी जब उन-उन धर्मोंकी अपेक्षा निर्देश्य होती है तो उसकी अभिधेयता स्पष्ट ही है। वस्तुका अवक्तव्यत्व धर्म स्वयं उसकी अनेकान्तात्मकताको पुकार-पुकारकर कह रहा है। वस्तुमें इतने धर्म, गुण और पर्याय हैं कि उसके पूर्ण स्वरूपको हम शब्दोंसे नहीं कह सकते और इसी लिये उसे अवक्तव्य कहते हैं। आ० शान्तिरक्षित[1] स्वयं क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पादमें अनाद्यनन्त और असंक्रान्ति विशेषण देकर उसकी सन्ततिनित्यता स्वीकार करते हैं, फिर भी द्रव्यके नित्या-नित्यात्मक होनेमें उन्हें विरोधका भय दिखाई देता है ! किमाश्चर्यमतः परम् !! अनन्त स्वलक्षणोंकी परस्पर विविक्तसत्ता मानकर पररूप-नास्तित्वसे नहीं बचा जा सकता। मेचकरत्न या नरसिंहका दृष्टान्त तो स्थूल रूपसे ही दिया जाता है, क्योंकि जब तक मेचकरत्न अनेकाणुओंका कालान्तरस्थायी संघात बना हुआ है और जब तक उनमें विशेष प्रकारका रासायनिक मिश्रण होकर बन्ध है; तब तक मेचकरत्नकी, सादृश्यमूलक पुन्जके रूपमें ही सही, एक सत्ता तो है ही और उसमें उस समय अनेक रूपोंका प्रत्यक्ष दर्शन होता ही है। नरसिंह भी इसी तरह कालान्तरस्थायी संघातके रूपमें एक होकर भी अनेकाकारके रूपमें प्रत्यक्षगोचर होता है।

तत्त्वसं० त्रैकाल्यपरीक्षा (पृ० ५०४) में कुछ बौद्धैकदेशियोंके मत दिये हैं, जो त्रिकालवर्ती द्रव्यको स्वीकार करते थे। इनमें भदन्त धर्मत्रात भावान्यथावादी थे। वे द्रव्यमें परिणाम न मानकर भावमें परिणाम मानते थे। जैसे कटक, कुंडल, केयूरादि अवस्थाओंमें परिणाम होता है द्रव्यस्थानीय सुवर्णमें नहीं, उसी तरह धर्मोंमें अन्यथात्व होता है, द्रव्यमें नहीं। धर्म ही अनागतपनेको छोड़कर वर्तमान बनता है और वर्तमानको छोड़कर अतीतके गह्वरमें चला जाता है।

भदन्त घोषक लक्षणान्यथावादी थे। एक ही धर्म अतीतादि लक्षणोंसे युक्त होकर अतीत, अनागत और वर्तमान कहा जाता है।

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथावादी थे। धर्म अतीतादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं-को प्राप्त कर अतीतादि कहा जाता है, द्रव्य तो त्रिकालानुयायी रहता है। जैसे

---

१. तत्त्वसं० श्लो० ४।

एक मिट्टीकी गोली भिन्न-भिन्न गोलियोंके ढेरमें पड़कर अनेक संख्यावाली हो जाती है उसी तरह धर्म अतीतादि व्यवहारको प्राप्त हो जाता है, द्रव्य तो एक रहता है।

बुद्धदेव अन्यथान्यथिक थे। धर्म पूर्व-परकी अपेक्षा अन्य-अन्य कहा जाता है। जैसे एक ही स्त्री माता भी है और पुत्री भी। जिसका पूर्व ही है, अपर नहीं, वह अनागत कहलाता है। जिसका पूर्व भी है और अपर भी, वह वर्तमान; और जिसका अपर ही है, पूर्व नहीं; वह अतीत कहलाता है।

ये चारों अस्तिवादी कहे जाते थे। इनके मतोंका विस्तृत विवरण नहीं मिलता कि ये धर्म और अवस्थासे द्रव्यका तादात्म्य मानते थे, या अन्य कोई सम्बन्ध, फिर भी इतना तो पता चलता है कि ये वादी यह अनुभव करते थे कि सर्वथा क्षणिकवादमें लोक-परलोक, कर्म-फलव्यवस्था आदि नहीं बन सकते, अतः किसी रूपमें ध्रौव्य या द्रव्यके स्वीकार किये बिना चारा नहीं है।

शान्तरक्षित स्वयं परलोकपरीक्षा[1] में चार्वाकका खंडन करते समय ज्ञानादि-सन्ततिको अनादि-अनन्त स्वीकार करके ही परलोककी व्याख्या करते हैं। यह ज्ञानादि-सन्ततिका अनाद्यनन्त होना ही तो द्रव्यता या ध्रौव्य है, जो अतीतके संस्कारोंको लेता हुआ भविष्यतका कारण बनता जाता है। कर्म-फलसम्बन्धपरीक्षा (पृ० १८४) में किन्हीं चित्तोंमें विशिष्ट कार्यकारणभाव मानकर ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिके घटानेका जो प्रयास किया गया है वह संस्काराधायक चित्त-क्षणोंकी सन्ततिमें ही संभव हो सकता है' यह बात स्वयं शान्तरक्षित भी स्वीकार करते हैं। वे बन्ध और मोक्षकी व्याख्या करते हुए लिखते[2] हैं कि कार्यकारण-परम्परासे चले आये अविद्या, संस्कार आदि बन्ध हैं और इनके नाश हो जाने पर जो चित्तकी निर्मलता होती है उसे मुक्ति कहते हैं। इसमें जो चित्त अविद्यादि-मलोंसे सास्रव हो रहा था उसीका निर्मल हो जाना, चित्तकी अनुस्यूतता और अनाद्यनन्तताका स्पष्ट निरूपण है, जो वस्तुको एक ही समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध कर देता है। तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ० १८४) में उद्धृत एक प्राचीन श्लोकमें तो "तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते" यह कहकर 'तदेव'

---

१. 'उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसन्ततेः।
काचिन्नियतमर्यादावस्थैव परिकीर्त्यते॥
तस्याश्चानाद्यनन्तायाः परः पूर्व इहेति च'
—तत्त्वसं० श्लो० १८७२–७३।

२. "कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मताः।
बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निर्मलता धियः॥"
—तत्त्वसं० श्लो० ५४४।

पदसे चित्तकी सान्वयता और बन्ध-मोक्षाधारताका अतिविशिद वर्णन कर दिया गया है।

'किन्हीं चित्तोंमें ही विशिष्ट कार्यकारणभावका मानना और अन्यमें नहीं', यह प्रतिनियत स्वभावव्यवस्था तत्त्वको भावाभावात्मक माने बिना बन नहीं सकती। यानी वे चित्त, जिनमें परस्पर उपादानोपादेयभाव होता है, परस्पर कुछ विशेषता अवश्य ही रखते हैं, जिसके कारण उन्हींमें ही प्रतिसन्धान, वास्यवासक-भाव, कर्तृ-भोक्तृभाव आदि एकात्मगत व्यवस्थाएँ जमती हैं, सन्तानान्तरचित्तके साथ नहीं। एकसन्तानगत चित्तोंमें ही उपादानोपादेयभाव होता है, सन्तानान्तर-चित्तोंमें नहीं। यह प्रतिनियत सन्तानव्यवस्था स्वयं सिद्ध करती है कि तत्त्व केवल उत्पाद-व्ययकी निरन्वय परम्परा नहीं है। यह ठीक है कि पूर्व और उत्तर पर्यायों-के उत्पाद-व्ययरूपसे बदलते रहने पर भी कोई ऐसा अविकारी कूटस्थ नित्य अंश नहीं है जो सभी पर्यायोंमें सूतकी तरह अविकृत भावसे पिरोया जाता हो। पर वर्तमान अतीतकी यावत् संस्कार-संपत्तिका मालिक बनकर ही तो भविष्यको अपना उत्तराधिकार देता है। यह जो अधिकारके ग्रहण और विसर्जनकी परम्परा अमुक-चित्तक्षणोंमें ही चलती है, सन्तानान्तर चित्तोंमें नहीं, वह प्रकृत चित्तक्षणों-का परस्पर ऐसा तादात्म्य सिद्ध कर रही है, जिसको हम सहज ही ध्रौव्य या द्रव्यकी जगह बैठा सकते हैं। बीज और अंकुरका कार्यकारणभाव भी सर्वथा निरन्वय नहीं है, किन्तु जो अणु पहले बीजके आकारमें थे, उन्हींमेंके कुछ अणु अन्य अणुओंका साहचर्य पाकर अंकुराकारको धारण कर लेते हैं। यहाँ भी ध्रौव्य या द्रव्य विच्छिन्न नहीं होता, केवल अवस्था बदल जाती है। प्रतीत्यसमुत्पादमें भी प्रतीत्य और समुत्पाद इन दो क्रियाओंका एक कर्त्ता माने बिना गति नहीं है। 'केवल क्रियाएँ ही हैं और कारक नहीं है', यह निराश्रय बात प्रतीतिका विषय नहीं होती। अतः तत्त्वको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक तथा व्यवहारके लिये सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार करना ही चाहिये।

कर्णकगोमि और स्याद्वाद :

सर्वप्रथम ये दिगम्बरोंके 'अन्यापोह—इतरेतराभाव न माननेपर एक वस्तु सर्वात्मक हो जायगी' इस सिद्धान्तका खंडन[1] करते हुए लिखते हैं कि 'अभावके

---

१. 'योऽपि दिगम्बरो मन्यते—सर्वात्मकमेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। तस्माद् भेद एवान्यथा न स्यादन्योन्याभावो भावानां यदि न भवेदिति; सोऽप्यनेन निरस्तः, अभावेन भावभेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्। नाप्यभिन्नानां हेतुतो निष्पन्नानामन्योन्याभावः संभवति, अभिन्नाश्चे-न्निष्पन्नाः; कथमन्योन्याभावः संभवति ? भिन्नाश्चेन्निष्पन्नाः कथमन्योन्याभावकल्पनेत्युक्तम्।' प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १०९।

द्वारा भावभेद नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थ अपने कारणोंसे अभिन्न उत्पन्न हुए हैं, तो अभाव उनमें भेद नहीं डाल सकता और यदि भिन्न उत्पन्न हुए हैं, तो अन्योन्याभावकी कल्पना ही व्यर्थ है।'

वे ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेष अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुमें दूषण देते हुए लिखते हैं कि "सामान्य और विशेषमें अभेद माननेपर या तो अत्यन्त अभेद रहेगा या अत्यन्त भेद। अनन्तधर्मात्मक धर्मी प्रतीत नहीं होता, अतः लक्षणभेदसे भी भेद नहीं हो सकता। दही और ऊँट परस्पर अभिन्न है; क्योंकि ऊँटसे अभिन्न द्रव्यत्वसे दहीका तादात्म्य है। अतः स्याद्वाद मिथ्यावाद है[1]।" आदि।

यह ठीक है कि समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे स्वस्वभावस्थित उत्पन्न होते हैं। 'परन्तु एक पदार्थ दूसरेसे भिन्न है' इसका अर्थ है कि जगत् इतरेतराभावात्मक है। इतरेतराभाव कोई स्वतन्त्र पदार्थ होकर दो पदार्थोंमें भेद नहीं डालता, किन्तु पटादिका इतरेतराभाव घटरूप है और घटका इतरेतराभाव पटादिरूप है। पदार्थमें दोनों रूप हैं—स्वास्तित्व और परनास्तित्व। परनास्तित्वरूपको ही इतरेतराभाव कहते हैं। दो पदार्थ अभिन्न अर्थात् एकसत्ताक तो उत्पन्न होते ही नहीं है। जितने पदार्थ हैं सब अपनी-अपनी धारासे बदलते हुए स्वरूपस्थ है। दो पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिनियत होना ही एकका दूसरेमें अभाव है, जो तत्-तत् पदार्थके स्वरूप ही होता है, भिन्न पदार्थ नहीं है। भिन्न अभावमें तो जैन भी यही दूषण देते हैं।

द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुमें कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायें परस्पर उपादानोपादेयरूपसे जो अनाद्यनन्त बहती हैं, कभी भी उच्छिन्न नहीं होतीं और न दूसरी धारासे संक्रान्त होती हैं, इसीको ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य या ध्रौव्य कहते हैं। अव्यभिचारी उपादान-उपादेयभावका नियामक यही होता है, अन्यथा सन्तानान्त-

---

१. "तेन योऽपि दिगम्बरो मन्यते—नास्माभिः घटपटादिष्वेकं सामान्यमिष्यते, तेषामेकान्तभेदात्, किन्त्वपरापरेण पर्यायेणावस्थासंज्ञितेन परिणामि द्रव्यम्, एतदेव च सर्वपर्यानुयायित्वात् सामान्यमुच्यते। तेन युगपदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् इति वस्तुनो लक्षणमिति। तदाह–घटमौलिसुवर्णार्थी...सोऽप्यत्र निराकृत एव द्रष्टव्यः, तद्वति सामान्यविशेषवति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदभेदौ स्याताम्...अथ सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्भेद इष्यते। अत्राप्याह—अन्योन्यमित्यादि। सदृशासदृशात्मनोः सामान्यविशेषयोः यदि कथञ्चिदन्योन्यं परस्परं भेदः तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात्...दिगम्बरस्यापि तद्वति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्।...मिथ्यावाद एव स्याद्वादः॥"

—प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ३३२–४२।

रक्षणके साथ उपादानोपादेयभावको कौन रोक सकता है ? इसमें जो यह कहा जाता कि 'द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण पर्यायें एकरूप हो जाँयगी या द्रव्य भिन्न हो जायगा', सो जब द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूपसे प्रतिक्षण परिवर्तित होता जाता है, तब वह पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है और उन पर्यायोंमें जो स्वधाराबद्धता है उस रूपसे वे सब एकरूप ही हैं। सन्तानान्तरके प्रथम क्षणसे स्वसन्तानके प्रथमक्षणमें जो अन्तर है और जिसके कारण अन्तर है और जिसकी वजह स्वसन्तान और परसन्तान विभाग होता है वही ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्य है। "स्वभाव-परभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः।" (प्रमाणवा० ३।३९) इत्यादि श्लोकोंमें जो सजातीय और विजातीय या स्वभाव और परभाव शब्दका प्रयोग किया गया है, यह 'स्व-पर' विभाग कैसे होगा ? जो 'स्व' की रेखा है वही ऊर्ध्वतासामान्य है।

दही और ऊँटमें अभेदकी बात तो निरी कल्पना है; क्योंकि दही और ऊँटमें कोई एक द्रव्य अनुयायी नहीं है, जिसके कारण उनमें एकत्वका प्रसंग उपस्थित हो। यह कहना कि 'जिस प्रकार अनुगत प्रत्ययके बलपर कुंडल, कटक आदिमें एक सुवर्णसामान्य माना जाता है उसी तरह ऊँट और दहीमें भी एक द्रव्य मानना चाहिये' उचित नहीं है; क्योंकि वस्तुतः द्रव्य तो पुद्गल अणु ही हैं। सुवर्ण आदि भी अनेक परमाणुओंकी चिरकाल तक एक-जैसी बनी रहनेवाली सदृश स्कन्ध-अवस्था ही है और उसीके कारण उसके विकारोंमें अन्वय प्रत्यय होता है। प्रत्येक आत्माका अपनी हर्ष, विषाद, सुख, आदि पर्यायोंमें कालभेद होनेपर भी जो अन्वय है वह ऊर्ध्वतासामान्य है। एक पुद्गलाणुका अपनी कालक्रमसे होनेवाली अवस्थाओंमें जो अविच्छेद है वह भी ऊर्ध्वतासामान्य ही है, इसीके कारण उनमें अनुगत प्रत्यय होता है इनमें उस रूपसे एकत्व या अभेद कहनेमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें सादृश्यमूलक ही एकत्वका आरोप होता है, वास्तविक नहीं। अतः जिन्हें हम मिट्टी या सुवर्ण द्रव्य कहते हैं वे सब अनेक परमाणुओंके स्कन्ध हैं। उन्हें हम व्यवहारार्थ ही एक द्रव्य कहते हैं। जिन परमाणुओंके स्कन्धमें सुवर्ण जैसा पीला रंग, वजन, लचीलापन आदि जुट जाता है उन्हें हम प्रतिक्षण सदृश स्कन्धरूप परिणमन होनेके कारण स्थूल दृष्टिसे 'सुवर्ण' कह देते हैं। इसी तरह मिट्टी, तन्तु आदिमें भी समझना चाहिये। सुवर्ण ही जब आयुर्वेदीय प्रयोगोंसे जीर्णकर भस्म बना दिया जाता है, और वही पुरुषके द्वारा भुक्त होकर मलादि रूपसे परिणत हो जाता है तब भी एक अविच्छिन्न धारा परमाणुओंकी बनी ही रहती है, 'सुवर्ण' पर्याय तो भस्म आदि बनकर समाप्त हो जाती है। अतः अनेकद्रव्योंमें व्यवहारके लिये जो सादृश्यमूलक अभेदव्यवहार

होता है वह व्यवहारके लिये ही है। यह सादृश्य बहुतसे अवयवों या गुणोंकी समानता है और यह प्रत्येकव्यक्तिनिष्ठ होता है, उभयनिष्ठ या अनेकनिष्ठ नहीं। गौका सादृश्य गवयनिष्ठ है और गवयका सादृश्य गौनिष्ठ है। इस अर्थमें सादृश्य उस वस्तुका परिणमन ही हुआ, अतएव उससे वह अभिन्न है। ऐसा कोई सादृश्य नहीं है जो दो वस्तुओंमें अनुस्यूत रहता हो। इसकी प्रतीति अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो व्यक्तिनिष्ठ ही है। अतः जैनोंके द्वारा माना गया तिर्यक्सामान्य जिससे कि भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें सादृश्यमूलक अभेदव्यवहार होता है, अनेकानुगत न होकर प्रत्येकमें परिसमाप्त है। इसको निमित्त बनाकर जो अनेक व्यक्तियोंमें अभेद कहा जाता है वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। ऐसी दशामें दही और ऊँटमें अभेदका व्यवहार एक पुद्गलसामान्यकी दृष्टिसे जो किया जा सकता है वह औपचारिक कल्पना है। ऊँट चेतन है और दही अचेतन, अतः उन दोनोंमें पुद्गल-सामान्यकी दृष्टिसे अभेद व्यवहार करना असंगत ही है। ऊँटके शरीरके और दहीके परमाणुओंसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वरूप सादृश्य मिलाकर अभेदकी कल्पना करके दूषण देना भी उचित नहीं है; क्योंकि इस प्रकारके काल्पनिक अतिप्रसंगसे तो समस्त व्यवहारोंका ही उच्छेद हो जायगा। सादृश्यमूलक स्थूलप्रत्यय तो बौद्ध भी मानते ही हैं।

तात्पर्य यह कि जैनी तत्त्वव्यवस्थाको समझे बिना ही यह दूषण धर्मकीर्तिने जैनोंको दिया है। इस स्थितिको उनके टीकाकार आचार्य कर्णक गोमिने ताड़ लिया, अतएव वे वहीं शंका करके लिखते हैं कि "शंका—जब कि दिगम्बरोंका यह दर्शन नहीं है कि 'सर्व सर्वात्मक है या सर्व सर्वात्मक नहीं है' तो आचार्यने क्यों उनके लिये यह दूषण दिया? समाधान—सत्य है, यथादर्शन अर्थात् जैसा उनका दर्शन है उसके अनुसार तो 'अत्यन्तभेदाभेदौ च स्याताम्' यही दूषण आता है[1] प्रकृत दूषण नहीं।"

बात यह है कि सांख्यका प्रकृतिपरिणामवाद और उसकी अपेक्षा जो भेदाभेद है उसे जैनोंपर लगाकर इन दार्शनिकोंने जैनदर्शनके साथ न्याय नहीं किया। सांख्य एक प्रकृतिकी सत्ता मानता है। वही प्रकृति दहीरूप भी, बनती है और ऊँट रूप भी, अतः एक प्रकृतिरूपसे दही और ऊँटमें अभेदका प्रसंग देना उचित हो

१. "ननु दिगम्बराणां 'सर्वं सर्वात्मकं, न सर्वं सर्वात्मकम्' इति नैतद्दर्शनम्, तत्किमर्थमिद-मार्चार्येणोच्यते? सत्यं, यथादर्शनं तु 'अत्यन्तभेदाभेदौ च स्याताम्' इत्यादिना पूर्वमेव दूषितम्।"

—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३९।

भी सके, पर जैन तत्त्वज्ञानका आधार बिलकुल जुदा है। वह वास्तव-बहुत्ववादी है और प्रत्येक परमाणुको स्वतंत्र द्रव्य मानता है। अनेक द्रव्योंमें सादृश्यमूलक एकत्व उपचरित है, आरोपित है और काल्पनिक है। रह जाती है एक द्रव्यकी बात; सो उसके एकत्वका लोप स्वयं बौद्ध भी नहीं कर सकते। निर्वाणमें जिस बौद्धपक्षने चित्तसन्ततिका सर्वथा उच्छेद माना है उसने दर्शनशास्त्रके मौलिक आधारभूत नियमका ही लोप कर दिया है। चित्तसन्तति स्वयं अपनेमें 'परमार्थसत्' है। वह कभी भी उच्छिन्न नहीं हो सकती। बुद्ध स्वयं उच्छेदवादके उतने ही विरोधी थे, जितने कि उपनिषत्प्रतिपादित शाश्वतवादके। बौद्धदर्शनकी सबसे बड़ी और मोटी भूल यह है कि उसके एक पक्षने निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्ततिका सर्वथा उच्छेद मान लिया है। इसी भयसे बुद्धने स्वयं निर्वाणको अव्याकृत कहा था, उसके स्वरूपके सम्बन्धमें भाव या अभाव किसी रूपमें उनने कोई उत्तर नहीं दिया था। बुद्धके इस मौनने ही उनके तत्त्वज्ञानमें पीछे अनेक विरोधी विचारोंके उदयका अवसर उपस्थित किया है।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और अनेकान्तवाद

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि[1] (परि० २ खं० २) टीकामें निर्ग्रन्थादिके मतके रूपसे भेदाभेदवादका पूर्वपक्ष करके दूषण दिया है कि "दो धर्म एक धर्मीमें असिद्ध हैं।" किन्तु जब प्रतीतिके बलसे उभयात्मकता सिद्ध होती है, तब मात्र 'असिद्ध' कह देनेसे उनका निषेध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्धमें पहिले लिखा जा चुका है। आश्चर्य तो इस बातका है कि एक परम्पराने जो दूसरेके मतके खंडनके लिये 'नारा' लगाया, उस परम्पराके अन्य विचारक भी आँख मूँदकर उसी 'नारे' को बुलन्द किये जाते हैं! वे एक बार भी रुककर सोचनेका प्रयत्न ही नहीं करते। स्याद्वाद और अनेकान्तके सम्बन्धमें अब तक यही होता आया है।

इस तरह स्याद्वाद और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामवादमें जितने भी दूषण बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंमें देखे जाते हैं वे तत्त्वका विपर्यास करके ही थोपे गये हैं, और आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी दुहाई देनेवाले मान्य दर्शनलेखक इस सम्बन्धमें उसी पुरानी रूढिसे चिपके हुए हैं! यह महान् आश्चर्य है!

---

१. 'सद्भूता धर्माः सत्तादिधर्मैः समाना भिन्नाश्चापि, यथा निर्ग्रन्थादीनाम्। तन्मतं न समञ्जसम्। कस्मात्? न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोर्दोषभावात्।········ उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात्।······भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूतं न्यायासिद्धं सत्याभासं गृहीतम्।'

—विज्ञप्ति० परि० २ ख० २।

श्री जयराशिभट्ट और अनेकान्तवाद :

तत्त्वोपप्लवसिंह एक खण्डनग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वोंका उपप्लव ही निरूपित है। इसके कर्त्ता जयराशि भट्ट हैं। वे दिगम्बरों द्वारा आत्मा और सुखादिका भेदाभेद माननेमें आपत्ति उठाते हैं[1] कि "एकत्व अर्थात् एक-स्वभावता। एकस्वभावता माननेपर नानास्वभावता नहीं हो सकती, क्योंकि दोनोंमें विरोध है। उसीको नित्य और उसीको अनित्य कैसे कहा जा सकता है? पररूपसे असत्त्व और स्वरूपसे सत्त्व मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि—वस्तु तो एक है। यदि उसे अभाव कहते हैं तो भाव क्या होगा? यदि पररूपसे अभाव कहा जाता है; तो स्वरूपकी तरह घटमें पररूपका भी प्रवेश हो जायगा। इस तरह सब सर्वरूप हो जायँगे। यदि पररूपका अभाव कहते हैं; तो जब पररूपका अभाव है तो वह अनुपलब्ध हुआ, तब आप उस पररूपके द्रष्टा कैसे हुए? और कैसे उसका अभाव कर सकते हैं? यदि कहा जाय कि पररूपसे वस्तु नहीं मिलती अतः परका सद्भाव नहीं है, तो अभावरूपसे भी निश्चय नहीं है अतः परका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि पररूपसे वस्तु उपलब्ध होती है तो अभावग्राही ज्ञानसे अभाव ही सामने रहेगा, फिर भावका ज्ञान नहीं हो सकेगा।" आदि।

यह एक सामान्य मान्यता रूढ़ है कि एक वस्तु अनेक कैसे हो सकती है? पर जब वस्तुका स्वरूप ही असंख्य विरोधोंका आकार है तब उससे इनकार कैसे किया जा सकता है? एक ही आत्मा हर्ष, विषाद, सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान आदि अनेक पर्यायोंको धारण करनेवाला प्रतीत होता है। एक कालमें वस्तु अपने स्वरूपसे है यानी उसमें अपना स्वरूप पाया जाता है, परका स्वरूप नहीं। पररूपका नास्तित्व यानी उसका भेद तो प्रकृत वस्तुमें मानना ही चाहिये, अन्यथा स्व और परका विभाग कैसे होगा? उस नास्तित्वका निरूपण परपदार्थकी दृष्टिसे होता

---

१. "एकं हीदं वस्तूपलभ्यते। तच्चेदभावः किमिदानीं भावो भविष्यति? यद्यदि पररूपतया भावः; तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति। यथा पररूपतया भावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेशः तथा अभावत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात्। अथ पररूपस्य भावः, तदविरोधि त्वेकत्वं तस्याभावः। नहि तस्मिन् सति भवान् तस्यानुपलब्धेर्द्रष्टा, अन्यथा हि आत्मनोऽप्यभावो भवेत्। अथ आत्मसत्ताऽविरोधित्वेन स्वात्मनोऽभावो न भवत्येव; परसत्ताविरोधित्वात् परस्याप्यभावो न भवति। अथापराकारतया नोपलभ्यते तेन परस्य भावो न भवति, अभावाकारतया चानुपलब्धेः परस्याभावोऽपि न भवेत्। अथ अभावाकारतया उपलभ्यते; तदा भावोऽन्यो नास्ति, अभावाकारान्तरितत्वात्, अभाव-स्वभावावगाहिना अवबोधेन अभाव एव द्योतितो न भावः।..."

—तत्त्वोप० पृ० ७७-७९।

है, क्योंकि परका ही तो नास्तित्व है। जगत् अन्योऽन्याभावरूप है। घट घटेतर यावत् पदार्थोंसे भिन्न है। 'यह घट अन्य घटोंसे भिन्न है' इस भेदका नियामक परका नास्तित्व ही है। पररूप उसका नहीं है', इसीलिये तो उसका नास्तित्व माना जाता है। यद्यपि पररूप वहाँ नहीं है, पर उसको आरोपित करके उसका नास्तित्व सिद्ध किया जाता है कि 'यदि घड़ा पटादिरूप होता, तो पटादिरूपसे उसकी उपलब्धि होनी चाहिये थी।' पर नहीं होती, अतः सिद्ध होता है कि घड़ा पटादिरूप नहीं है। यही उसका एकत्व या कैवल्य है जो वह स्वभिन्न परपदार्थ-रूप नहीं है। जिस समय परनास्तित्वकी विवक्षा होती है; उस समय अभाव ही वस्तुरूप पर छा जाता है, अतः वही वही दिखाई देता है, उस समय अस्तित्वादि धर्म गौण हो जाते हैं और जिस समय अस्तित्व मुख्य होता है उस समय वस्तु केवल सद्रूप ही दिखती है, उस समय नास्तित्व आदि गौण हो जाते हैं। यही अन्य भंगोंमें समझना चाहिए।

तत्त्वोपप्लवकार किसी भी तत्त्वकी स्थापना नहीं करना चाहते, अतः उनकी यह शैली है कि अनेक विकल्प-जालसे वस्तुस्वरूपको मात्र विघटित कर देना। अन्तमें वे कहते हैं कि इस तरह उपप्लुत तत्त्वोंमें ही समस्त जगत्के व्यवहार अविचारितरमणीय रूपसे चलते रहते हैं। परन्तु अनेकान्त-तत्त्वमें जितने भी विकल्प उठाए जाते हैं, उनका समाधान हो जाता है। उसका खास कारण यह है कि जहाँ वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक एवं अनन्तगुण-पर्यायवाली है वहीं वह अनन्तधर्मोंसे युक्त भी है। उसमें कल्पित-अकल्पित सभी धर्मोंका निर्वाह है और तत्त्वोप्लववादियों जैसे वावदूकोंका उत्तर तो अनेकान्तवादसे ही सही-सही दिया जा सकता है। विभिन्न अपेक्षाओंसे वस्तुको विभिन्नरूपोंमें देखा जाना ही अनेकान्त-तत्त्वकी रूपरेखा है। ये महाशय अपने कुविकल्पजालमें मस्त होकर दिगम्बरोंको मूर्ख कहते हुए अनेक भण्ड वचन लिखनेमें नहीं चूके!

तत्त्वोपप्लवकार यही तो कहना चाहते हैं कि 'वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य, न उभय, और न अवाच्य। यानी जितने एकान्त प्रकारोंसे वस्तुका विवेचन करते हैं उन-उन रूपोंमें वस्तुका स्वरूप सिद्ध नहीं हो पाता।' इसका सीधा तात्पर्य यह निकलता है कि 'वस्तु अनेकान्तरूप है, उसमें अनन्तधर्म हैं। अतः उसे किसी एकरूपमें नहीं कहा जा सकता।' अनेकान्तदर्शनकी भूमिका भी यही है कि वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है, उसका पूर्णरूप अनिर्वचनीय है, अतः उसका एक-एक धर्मसे कथन करते समय स्याद्वाद-पद्धतिका ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा तत्त्वोपप्लववादीके द्वारा दिये गये दूषण आयेंगे। यदि इन्होंने वस्तुके

विधेयात्मक रूपपर ध्यान दिया होता, तो वे स्वयं अनन्तधर्मात्मक स्वरूपपर पहुँच ही जाते। शब्दोंकी एकधर्मवाचक सामर्थ्यके कारण जो उलझन उत्पन्न होती है उसके निवटारेका मार्ग है स्याद्वाद। हमारा प्रत्येक कथन सापेक्ष होना चाहिए और उसे सुनिश्चित विवक्षा या दृष्टिकोणका स्पष्ट प्रतिपादन करना चाहिये।

श्रीव्योमशिव और अनेकन्तवाद :

आचार्य व्योमशिव प्रशस्तपादभाष्यके प्राचीन टीकाकार हैं। वे अनेकान्त-ज्ञानको मिथ्यारूप कहते समय व्योमवती टीका (पृ० २० ङ) में वही पुरानी विरोधवाली दलील देते हैं कि "एकधर्मीमें विधि-प्रतिषेधरूप दो विरोधी धर्मोंकी सम्भावना नहीं है। मुक्तिमें भी अनेकान्त लगनेसे वही मुक्त भी होगा और वही संसारी भी। इसी तरह अनेकान्तमें अनेकान्त माननेसे अनवस्था दूषण आता है।" उन्हें सोचना चाहिये कि जिस प्रकार एक चित्र-अवयवीमें चित्ररूप एक होकर भी अनेक आकारवाला होता है, एक ही पृथिवीत्वादि अपरसामान्य स्वव्यक्तियोंमें अनुगत होनेके कारण सामान्य होकर भी जलादिसे व्यावृत्त होनेसे विशेष भी कहा जाता है और मेचकरत्न एक होकर भी अनेकाकार होता है, उसी तरह एक ही द्रव्य अनेकान्तरूप हो सकता है, उसमें कोई विरोध नहीं है। मुक्तमें भी अनेकान्त लग सकता है। एक ही आत्मा, जो अनादिसे बद्ध था, वही कर्मबन्धनसे मुक्त हुआ है, अतः उस आत्माको वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे मुक्त तथा अतीतपर्यायोंकी दृष्टिसे अमुक्त कह सकते हैं, इसमें क्या विरोध है? द्रव्य तो अनादि-अनन्त होता है। उसमें त्रैकालिक पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक व्यवहार हो सकते हैं। मुक्त कर्म-बन्धनसे हुआ है, स्वस्वरूपसे तो वह सदा अमुक्त (स्वरूपस्थित) ही है। अनेकान्तमें भी अनेकान्त लगता ही है[1]। नयकी अपेक्षा एकान्त है और प्रमाणकी अपेक्षा वस्तुतत्त्व अनेकान्तरूप है। आत्मसिद्धि-प्रकरणमें व्योमशिवाचार्य आत्माको स्वसंवेदनप्रत्यक्षका विषय सिद्ध करते हैं। इस प्रकरणमें जब यह प्रश्न हुआ कि 'आत्मा तो कर्ता है वह उसी समय संवेदनका कर्म कैसे हो सकता है?' तो इन्होंने इसका समाधान अनेकान्तका आश्रय लेकर ही इस प्रकार किया है[2] कि 'इसमें कोई विरोध नहीं है, लक्षणभेदसे दोनों रूप हो सकते हैं। स्वतंत्रत्वेन वह कर्ता है

---

१. देखो, यही ग्रन्थ पृ० ५२५।

२. "अथात्मनः कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासंभवेनाप्रत्यक्षत्वम्; तन्न; लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः। तथाहि—ज्ञानचिकीर्षाधारत्वस्य कर्तृलक्षणस्योपपत्तेः कर्तृत्वम्, तदेव च क्रियया व्याप्यत्वो-पलब्धेः कर्मत्वं चेति न दोषः, लक्षणतन्त्रत्वाद् वस्तुव्यवस्थायाः।"

—प्रश० व्यो० पृ० ३९२।

और ज्ञानका विषय होनेसे कर्म है।' अविरोधी अनेक धर्म माननेमें तो इन्हें कोई सीधा विरोध है ही नहीं।

श्रीभास्कर भट्ट और स्याद्वाद :

ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोंमें भास्कर भट्ट भेदाभेदवादी माने जाते हैं। इनने अपने भाष्यमें शंकराचार्यका खण्डन किया है। किन्तु "नैकस्मिन्नसम्भवात्" सूत्रमें आर्हतमतकी समीक्षा करते समय ये स्वयं भेदाभेदवादी होकर भी शंकराचार्यका अनुसरण करके सप्तभंगीमें विरोध और अनवधारण नामके दूषण देते हैं। वे कहते हैं कि "सब अनेकान्तरूप है, ऐसा निश्चय करते हो या नहीं? यदि हाँ, तो यह एकान्त हो गया, और यदि नहीं; तो निश्चय भी अनिश्चयरूप होनेसे निश्चय नहीं रह जायगा। अतः ऐसे शास्त्रके प्रणेता तीर्थङ्कर उन्मत्ततुल्य हैं।"

आश्चर्य होता है इस अनूठे विवेकपर! जो स्वयं जगह-जगह भेदाभेदात्मक तत्त्वका समर्थन उसी पद्धतिसे करते हैं जिस पद्धतिसे जैन, वे ही अनेकान्तका खण्डन करते समय सब भूल जाते हैं। मैं पहले लिख चुका हूँ कि स्याद्वादका प्रत्येक भङ्ग अपने दृष्टिकोणसे सुनिश्चित है। अनेकान्त भी प्रमाणदृष्टिसे (समग्रदृष्टिसे) अनेकान्तरूप है और नयदृष्टिसे एकान्तरूप है। इसमें अनिश्चय या अनवधारणकी क्या बात है? एक स्त्री अपेक्षाभेदसे 'माता भी है और पत्नी भी, वह उभयात्मक है' इसमें उस कुतर्कीको क्या कहा जाय, जो यह कहता है कि 'उसका एकरूप निश्चित कीजिये—या तो माता कहिये या फिर पत्नी?' जब हम उसका उभयात्मकरूप निश्चितरूपसे कह रहे हैं, तब यह कहना कि 'उभयात्मकरूप भी उभयात्मक होना चाहिये; यानी 'हम निश्चित रूपसे उभयात्मक नहीं कह सकते। उसका सीधा उत्तर है कि 'वह स्त्री उभयात्मक है, एकात्मक नहीं' इस रूपसे उभयात्मकतामें भी उभयात्मकता है। पदार्थका प्रत्येक अंश और उसको ग्रहण करनेवाला नय अपनेमें सुनिश्चित होता है।

अब भास्कर-भाष्य[1]का यह शंका समाधान देखिए—

प्रश्न—'भेद और अभेदमें' तो विरोध है?

उत्तर—यह प्रमाण और प्रमेयतत्त्वको न समझनेवालेकी शंका है!........जो वस्तु प्रमाणसे जिस रूपमें परिच्छिन्न हो, वह उसी रूप है! गौ, अश्व आदि

---

१. "यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति; तदभिधीयते, अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्।......

यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत्तथा।

वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते।"—भास्करभा० पृ० १६।

समस्त पदार्थ भिन्नाभिन्न ही प्रतीत होते हैं ! वे आगे लिखते हैं कि सर्वथा अभिन्न या भिन्न पदार्थ कोई दिखा नहीं सकता। सत्ता, ज्ञेयत्व और द्रव्यत्वादि सामान्यरूपसे सब अभिन्न हैं और व्यक्तिरूपसे परस्पर विलक्षण होनेके कारण भिन्न। जब उभयात्मक वस्तु प्रतीत हो रही है, तब विरोध कैसा ? विरोध या अविरोध प्रमाणसे ही तो व्यवस्थापित किये जाते हैं। यदि प्रतीतिके बलसे एकरूपता निश्चित की जाती है तो द्विरूपता भी जब प्रतीत होती है तो उसे भी मानना चाहिये। 'एकको एकरूप ही होना चाहिये' यह कोई ईश्वराज्ञा नहीं है।

प्रश्न—शीत और उष्णस्पर्शकी तरह भेद और अभेदमें विरोध क्यों नहीं है ?

उत्तर—यह आपकी बुद्धिका दोष है, वस्तुमें कोई विरोध नहीं है ? छाया और आतपकी तरह सहानवस्थान विरोध तथा शीत और उष्णकी तरह भिन्नदेशवर्तित्वरूप विरोध कारणब्रह्म तथा कार्यप्रपंचमें नहीं हो सकता; क्योंकि वह ही उत्पन्न होता है, वही अवस्थित है और वही प्रलय होता है। यदि विरोध होता, तो ये तीनों नहीं बन सकते थे। अग्निसे अंकुरकी उत्पत्ति आदिरूपसे कार्यकारणसम्बन्ध तो नहीं देखा जाता। कारणभूत मिट्टी और सुवर्ण आदिसे ही तज्जन्य कार्य सर्वदा अनुस्यूत देखे जाते हैं। अतः आँखें बन्द करके जो यह परस्पर असंगतिरूप विरोध कहा जाता है वह या तो बुद्धि-विपर्यासके कारण कहा जाता है या फिर प्रारम्भिक श्रोत्रियके कानोंको ठगनेके लिए। शीत और उष्ण स्पर्श हमेशा भिन्न आधारमें रहते हैं, उनमें न तो कभी उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध रहा है और न आधाराधेयभाव ही, अतः उनमें विरोध हो सकता है। अतः 'शीतोष्णवत्' यह दृष्टान्त उचित नहीं है। शंकाकार बड़ी प्रगल्भतासे कहता है कि—

शंका—'यह स्थाणु है या पुरुष' इस संशयज्ञानकी तरह भेदाभेदज्ञान अप्रमाण क्यों नहीं है ?

उत्तर—परस्परपरिहारवालोंका ही सह अवस्थान नहीं हो सकता। संशयज्ञानमें किसी भी प्रमेयका निश्चय नहीं होता, अतः वह अप्रमाण है। किन्तु यहाँ तो मिट्टी, सुवर्ण आदि कारण पूर्वसिद्ध हैं, उनसे बादमें उत्पन्न होनेवाला कार्य तदाश्रित ही उत्पन्न होता है। कार्य कारणके समान ही होता है। कारणका स्वरूप नष्टकर भिन्न देश या भिन्न कालमें कार्य नहीं होता। अतः प्रपञ्चको मिथ्या कहना उचित नहीं है। किसी पुरुषकी अपेक्षा वस्तुमें सत्यता नहीं आँकी जा सकती कि 'मुमुक्षुओंके लिये प्रपञ्च असत्य है और इतर व्यक्तियोंके लिये सत्य है।' रूपको अन्धेके लिये असत्य और आँखवालेको सत्य नहीं कह सकते। पदार्थ पुरुषकी

इच्छानुसार सत्य या असत्य नहीं होते। सूर्य स्तुति करनेवाले और निन्दा करने वाले दोनोंको ही तो तपाता है। यदि मुमुक्षुओंके लिये प्रपञ्च मिथ्या हो और अन्यके लिए तथ्य; तो एक साथ तथ्य और मिथ्यात्वका प्रसंग होता है।........अतः ब्रह्मको भिन्नाभिन्न रूप मानना चाहिये। कहा भी है—

"कार्यरूपसे अनेक और कारणरूपसे एक हैं, जैसे कि कुंडल आदि पर्यायोंसे भेद और सुवर्णरूपसे अभेद होता है।"

इस तरह ब्रह्म और प्रपञ्चके भेदाभेदका समर्थन करनेवाले आचार्य जो एकान्तवादियोंको 'प्रज्ञापराध, अनिरूपितप्रमाणप्रमेय' आदि विचित्र विशेषणोंसे सम्बोधित करते हैं, वे स्वयं दिगम्बर—विवसन मतका खंडन करते समय कैसे इन विशेषणोंसे बच सकते हैं?

पृ० १०३ में फिर ब्रह्मके एक होने पर भी जीव और प्राज्ञके भेदका समर्थन करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार पृथिवीत्व समान होने पर भी पद्मराग तथा क्षुद्र पाषाण आदिका परस्पर भेद देखा जाता है उसी तरह ब्रह्म और जीवप्राज्ञमें भी समझना चाहिये। इसमें कोई विरोध नहीं है।"

पृ० १६४ में फिर ब्रह्मके भेदाभेद रूपके समर्थनका सिद्धान्त दुहराया गया है। मैंने यहाँ जो भास्कराचार्यके ब्रह्मविषयक भेदाभेदका प्रकरण उपस्थित किया है, उसका इतना ही तात्पर्य है कि 'भेद और अभेदमें परस्पर विरोध नहीं है, एक वस्तु उभयात्मक हो सकती है' यह बात भास्कराचार्यको सिद्धान्तरूपमें इष्ट है। उनका 'ब्रह्मको सर्वथा नित्य स्वीकार करके ऐसा मानना उचित हो सकता है या नहीं?' यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं है। जो कोई भी तटस्थ व्यक्ति उपर्युक्त भेदाभेदविषयक शंका-समाधानके साथ-ही-साथ इनके द्वारा किये गये जैनमतके खंडनको पढ़ेगा, वह मतासहिष्णुताके स्वरूपको सहज ही समझ सकेगा!

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि स्याद्वादके भंगोंको ये आचार्य 'अनिश्चय'के खाते में तुरंत खतया देते हैं! और 'मोक्ष है भी नहीं भी' कहकर अप्रवृत्तिका दूषण दे बैठते है और दूसरोंको उन्मत्त तक कह देते हैं! भेदाभेदात्मकतत्त्वके समर्थनका वैज्ञानिक प्रकार इस तत्त्वके द्रष्टा जैन आचार्योंसे ही समझा जा सकता है। यह परिणामी नित्य पदार्थमें ही संभव है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्यमें नहीं; क्योंकि द्रव्य स्वयं तादात्म्य होता है, अतः पर्यायसे अभिन्न होनेके कारण द्रव्य स्वयं अनित्य होता हुआ भी अपनी अनाद्यनन्त अविच्छिन्न धाराकी अपेक्षा ध्रुव या नित्य होता है। अतः भेदाभेदात्मक या उभयात्मक तत्त्वकी जो प्रक्रिया, स्वरूप और समझने-समझानेकी पद्धति आर्हत दर्शनमें व्यवस्थित रूपसे पाई जाती है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

श्रीविज्ञानभिक्षु और स्याद्वाद :

ब्रह्मसूत्रके विज्ञानामृत भाष्यमें दिगम्बरोंके स्याद्वादको अव्यवस्थित बताते हुए लिखा है[1] कि "प्रकारभेदके बिना दो विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते। यदि प्रकारभेद माना जाता है, तो विज्ञानभिक्षुजी कहते हैं कि हमारा ही मत हो गया और उसमें सब व्यवस्था बन जाती है, अतः आप अव्यवस्थित तत्त्व क्यों मानते हैं ?" किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्तमें अपेक्षाभेदसे प्रकारभेदका अस्वीकार कहाँ है ? स्याद्वादका प्रत्येक भंग अपने निश्चित दृष्टिकोणसे उस धर्मका अवधारण करके भी वस्तुके अन्य धर्मोंकी उपेक्षा नहीं होने देता। एक निर्विकार ब्रह्ममें परमार्थतः प्रकारभेद कैसे बन सकते हैं ? अनेकान्तवाद तो वस्तुमें स्वभावसिद्ध अनन्तधर्म मानता है। उसमें अव्यवस्थाका लेशमात्र नहीं है। उन धर्मोंका विभिन्न दृष्टिकोणों-से मात्र वर्णन होता है, स्वरूप तो उनका स्वतःसिद्ध है। प्रकारभेदसे कहीं एक साथ दो धर्मोंके मान लेनेसे ही व्यवस्थाका ठेका नहीं लिया जा सकता। अनेकान्त-तत्त्वकी भूमिका ही समस्त विरोधोंका अविरोधी आधार हो सकती है।

श्रीश्रीकण्ठ[2] और अनेकान्तवाद :

श्रीकण्ठाचार्य अपने श्रीकण्ठभाष्यमें उसी पुरानी विरोधवाली दलीलको दुहराते हुए कहते हैं कि "जैसे पिंड, घट और कपाल अवस्थाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं, उसी तरह अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्म भी।" परन्तु एक द्रव्यकी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायें युगपत् सम्भव न हों, तो न सही, पर जिस समय घड़ा स्वचतुष्टयसे 'सत्' है उसी समय उसे पटादिकी अपेक्षा 'असत्' होनेमें क्या विरोध है ? पिंड, घट और कपाल पर्यायोंके रूपसे जो पुद्गलाणु परिणत होंगे, उन अणुद्रव्योंकी दृष्टिसे अतीतका संस्कार और भविष्यकी योग्यता वर्तमान-पर्यायवाले द्रव्यमें तो है ही। आप 'स्यात्' शब्दको ईषदर्थक मानते हैं। पर 'ईषत्'से स्याद्वादका अभिधेय ठीक प्रतिफलित नहीं होता। 'स्यात्'का वाच्यार्थ

---

१. अपरे वेदबाह्या दिगम्बरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यन्ते…सर्वं वस्त्वव्यवस्थितमेव स्यादस्ति स्यान्नास्ति…अत्रेदमुच्यते; न; एकस्मिन् यथोक्तभावाभावादिरूपत्वमपि। कुतः ? असम्भवात्। प्रकारभेदं विना विरुद्धयोरेकदा सहावस्थानसंस्थानासम्भवात्। प्रकार-भेदाभ्युपगमे चास्मन्मतप्रवेशेन सर्वत्र व्यवस्थास्ति कथमव्यवस्थितं जगदभ्युगम्यते भवद्भि-रित्यर्थः।"–विज्ञानामृतभा० २।२।३३।

२. "जैना हि सप्तभङ्गीन्यायेन…स्याच्छब्द ईषदर्थः। एतदयुक्तम्; कुतः ? एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभेदाभेदादीनामसंभवात्। पर्यायभाविनश्च द्रव्यस्यास्तित्वनास्ति-त्वादिशब्दबुद्धिविषयाः परस्परविरुद्धाः पिण्डत्वघटत्वकपालत्वाद्यवस्थावत् युगपन्न संभवन्ति। अतो विरुद्ध एव जैनवादः।"—श्रीकण्ठभा० २।२।३३।

है—'सुनिश्चित दृष्टिकोण ।' श्रीकण्ठभाष्यकी टीकामें श्रीअप्पय्यदीक्षित[1]को देश काल और स्वरूप आदि अपेक्षाभेदसे अनेक धर्म स्वीकार करना अच्छा लगता है और 'अपेक्षाभेदसे अनेक धर्म स्वीकार करनेमें लौकिक और परीक्षकोंको कोई विवाद नहीं हो सकता ।' यह भी वे मानते है, परन्तु फिर हिचककर कहते हैं कि 'सप्तभंगीका यह स्वरूप जैनोंको इष्ट नहीं है ।' वे यह आरोप करते हैं कि 'स्याद्वादी तो अपेक्षाभेदसे अनेक धर्म नहीं मानते किन्तु बिना अपेक्षाके ही अनेक धर्म मानते हैं ।' आश्चर्य है कि वे आचार्य अनन्तवीर्य कृत—

"तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत् ।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तान्निषेधे विवक्षिते ॥"

इत्यादि कारिकाओंको उद्धृत भी करते हैं और स्याद्वादियोंपर यह आरोप भी करते जाते हैं कि 'स्याद्वादी बिना अपेक्षाके ही सब धर्म मानते हैं ।' इन स्पष्ट प्रमाणोंके होते हुए भी ये कहते हैं कि 'दूसरोंके गले उतारनेके लिए जैन लोग अपेक्षारूपी गुड़ चटा देते हैं, वस्तुतः वे अपेक्षा मानते नहीं हैं, वे तो निरुपाधि सत्त्व और असत्त्व मानना चाहते हैं ।' इस मिथ्या आरोपके लिये क्या कहा जाय ? और इसी आधारपर वे कहते हैं कि 'स्त्रीमें माता' पत्नी आदि आपेक्षिक व्यवहार न होनेसे स्याद्वादमें लोक-विरोध होगा ।' भला, जो दूषण स्याद्वादी एकान्तवादियोंको देते हैं वे ही दूषण जैनोंको जबरदस्ती दिये जा रहे हैं, इस अन्धेरका

---

१. "यद्येवं पारिभाषिकोऽयं सप्तभङ्गीनयः स्वीक्रियत एव । घटादिः स्वदेशेऽस्ति अन्यदेशे नास्ति, स्वकालेऽस्ति अन्यकाले नास्ति, स्वात्मना अस्ति अन्यात्मना नास्ति, इति देशकालप्रतियोगिरूपोपाधिभेदेन सत्त्वासत्त्वसमावेशे लौकिकपरीक्षकाणां विप्रतिपत्त्यसंभवात् । न चैतावता पराभिमतं वस्त्वनैकान्त्यमापद्यते—स्वकाले सदेव, अन्यकाले असदेव इत्यादि नियमस्य भङ्गाभावात् । स देश इह नास्ति, स काल इदानीं नास्तीत्यादिप्रतीतौ देशकालाद्युपाध्यन्तराभावात्, तत्राप्युपाध्यन्तरापेक्षणेऽनवस्थानात् । इतरान् अङ्गीकारयितुं परं गुडजिह्विकान्यायेन देशकालाद्युपाधिभेदमन्तर्भाव्य सत्त्वासत्त्वप्रतीतिरुपन्यस्यते । वस्तुतो विमृश्यमाना सा निरुपधिकैव सत्त्वासत्त्वादिसंकरे प्रमाणम् । अत एव स्याद्वादिना 'घटोऽस्ति घटो नास्ति पटः सन् पटोऽसन्' इत्यादि प्रत्यक्षप्रतीतिमेव सत्त्वासत्त्वाद्यनैकान्त्ये प्रमाणमुपगच्छन्ति,··· परस्परविरुद्धधर्मसमावेशे सर्वानुभवसिद्धस्तावदुपाधिभेदो नापह्नोतुं शक्यते । लोकमर्यादामनतिक्रममाणेन देशकालादिसत्त्वनिषेधेऽपि देशकालाद्युपाध्यवच्छेदः अनुभूयत एव । इहात्माश्रयः, परस्पराश्रयः, अनवस्था वा न दोषः, यथा प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिवृत्तौ, यथा च बीजाङ्कुरादिकार्यकारणभावे विरुद्धधर्मसमावेशे । सर्वथोपाधिभेदं प्रत्याचक्षाणस्य चायमस्याः पुत्रः, अस्याः पतिः, अस्याः पिता, अस्याश्श्वसुर इत्यादिव्यवस्थापि न सिद्ध्येदिति कथं तत्र तत्र स्याद्वादे मातृत्वाद्युचितव्यवहारान् व्यवस्थयाऽनुतिष्ठेत् । तस्मात् सर्वबहिष्कार्योऽयमनेकान्तवादः ।"—श्रीकण्ठभा० टी० पृ० १०३ ।

कोई ठिकाना है ! जैनोंके संख्याबद्ध ग्रन्थ इस स्याद्वाद और सप्तभङ्गीकी विविध अपेक्षाओंसे भरे पड़े हैं और इसका वैज्ञानिक विवेचन भी वहीं मिलता है। फिर भी उन्हींके मत्थे ये सब दूषण मढ़े जा रहे हैं और यहाँ तक लिखा जा रहा है कि यह लोकविरोधी स्याद्वाद सर्वतः बहिष्कार्य है ! किमाश्चर्यमतः परम् !! इसकी लोकविरोधिता आदिकी सिद्धिके लिये इस 'स्याद्वाद और सप्तभङ्गी' प्रकरणमें पर्याप्त लिखा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य और स्याद्वाद :

श्री रामानुजाचार्य भी स्याद्वादमें उसी तरह निरुपाधि या निरपेक्ष सत्त्वासत्त्वका आरोप करके विरोध दूषण देते हैं[1]। वे स्याद्वादियोंको समझानेका साहस करते हैं कि "आप लोग प्रकारभेदसे धर्मभेद मानिये।" गोया स्याद्वादी अपेक्षाभेदको नहीं समझते हों, या एक ही दृष्टिसे विभिन्न धर्मोंका सद्भाव मानते हों। अपेक्षाभेद, उपाधिभेद या प्रकारभेदके आविष्कारक आचार्योंको उन्हींका उपदेश देना कहाँ तक शोभा देता है ? स्याद्वादका तो आधार ही यह है कि विभिन्न दृष्टिकोणोंसे अनेक धर्मोंको स्वीकार करना और कहना। सच पूँछा जाय तो स्याद्वादका आश्रयण किये बिना ये विशिष्टाद्वैतताका निर्वाह नहीं कर सकते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य और स्याद्वाद :

श्रीवल्लभाचार्य भी विवसन-समयमें प्राचीन परम्पराके अनुसार विरोध दूषण ही उपस्थित करते हैं[2]। वे कहना चाहते हैं कि "वस्तुतः विरुद्धधर्मान्तरत्व ब्रह्ममें ही प्रमाणसिद्ध हो सकता है।" 'स्यात्' शब्दका अर्थ इन्होंने 'अभीष्ट' किया है। आश्चर्य तो यह है कि ब्रह्मको निर्विकार मानकर भी ये उसमें उभयरूपता वास्तविक मानना चाहते हैं और जिस स्याद्वादमें विरुद्ध धर्मोंकी वस्तुतः सापेक्ष स्थिति बनती है उसमें विरोध दूषण देते हैं ! ब्रह्मको अविकारी कहकर भी ये उसका जगत्के रूपसे परिणमन कहते हैं। कुंडल, कटक आदि आकारोंमें परिणत

---

१. "द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च 'इदमित्थम्' इति प्रतीतेः, प्रकारिप्रकारतया पृथक् पदार्थत्वात् नैकस्मिन् विरुद्धप्रकारभूतसत्त्वासत्त्वस्वरूपधर्मसमावेशो युगपत् संभवति···एकस्य पृथिवीद्रव्यस्य घटत्वाश्रयत्वं शरावत्वाश्रयत्वं च प्रदेशभेदेन न त्वेकेन प्रदेशेनोभयाश्रयत्वं, यथैकस्य देवदत्तस्य उत्पत्तिविनाशयोग्यत्वं कालभेदेन। न ह्येतावता द्व्यात्मकत्वमपि तु परिणामशक्तियोगमात्रम्।"

—वेदान्तदीप पृ० १११–१२।

२. 'ते हि अन्तर्निष्ठाः प्रपञ्चे उदासीनाः सप्तविभक्तीः परेच्छया वदन्ति। स्याच्छब्दोऽभीष्टवचनः।··· तद्विरोधेनासम्भवादयुक्तम्।'—अणुभा० २।२।३३।

होकर भी सुवर्णको अविकारी मानना इन्हींकी प्रमाणपद्धतिमें है। भला सुवर्ण जब पर्यायोंको धारण करता है तब वह अविकारी कैसे रह सकता है ? पूर्वरूपका त्याग किये बिना उत्तरका उपादान कैसे हो सकता है ? 'ब्रह्मको जब रमण करनेकी इच्छा होती है तब वे अपने आनन्द आदि गुणोंका तिरोभाव करके जीवादिरूपसे परिणत होते हैं।' यह आविर्भाव और तिरोभाव भी पूर्वरूपका त्याग और उत्तरके उपादानका ही विवेचन है। अतः इनका स्याद्वादमें दूषण देना भी अनुचित है।

श्रीनिम्बार्काचार्य और अनेकान्तवाद :

ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोंमें निम्बार्काचार्य स्वभावतः भेदाभेदवादी हैं। वे स्वरूपसे चित्, अचित् और ब्रह्मपदार्थमें द्वैतश्रुतियोंके आधारसे भेद मानते हैं। किन्तु चित्, अचित्की स्थिति और प्रवृत्ति ब्रह्माधीन ही होनेसे वे ब्रह्मसे अभिन्न हैं। जैसे पत्र, पुष्पादि स्वरूपसे भिन्न होकर भी वृक्षसे पृथक् प्रवृत्त्यादि नहीं करते, अतः वृक्षसे अभिन्न हैं, उसी तरह जगत् और ब्रह्मका भेदाभेद स्वाभाविक है, यही श्रुति, स्मृति और सूत्रसे समर्थित होता है। इस तरह ये स्वाभाविक भेदाभेदवादी होकर भी जैनोंके अनेकान्तमें सत्त्व और असत्त्व दो धर्मोको विरोधदोषके भयसे नहीं मानना चाहते[1], यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! जब इसके टीकाकार श्रीनिवासाचार्यसे प्रश्न किया गया[2] कि 'आप भी तो ब्रह्ममें भेदाभेद मानते हो, उसमें विरोध क्यों नहीं आता ? तो वे बड़ी श्रद्धासे उत्तर देते हैं कि 'हमारा मानना युक्तिसे नहीं है, किन्तु ब्रह्मके भेदाभेदका निर्णय श्रुतिमें ही हो जाता है।' यानी श्रुतिसे यदि भेदाभेदका प्रतिपादन होता है, तो ये माननेको तैयार हैं, पर यदि वही बात कोई युक्तिसे सिद्ध करता है, तो उसमें इन्हें विरोधकी गन्ध आती है। पदार्थके स्वरूपके निर्णयमें लाघव और गौरवका प्रश्न उठाना अनुचित है, जैसे कि एक ब्रह्मको कारण माननेमें लाघव है और अनेक परमाणुओंको कारण माननेमें गौरव। वस्तुकी व्यवस्था प्रतीतिसे की जानी चाहिये। 'अनेक समान स्वभाववाले

---

१. "जैना वस्तुमात्रम् अस्तित्व-नास्तित्वादिना विरुद्धधर्मद्वयं योजयन्ति; तन्नोपपद्यते; एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपदसंभवात् ।"

—ब्रह्मसू० नि० भा० २।२।३३ ।

२. "ननु भवन्मतेऽपि एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयाङ्गीकारोऽस्ति, तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादिषु एकत्वं प्रतिपाद्यते । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः द्वासुपर्णा इत्यादावनेकत्वञ्च प्रतिपाद्यते, इति चेत्; न; अस्यार्थस्य युक्तिमूलत्वाभावात्, श्रुतिभिरेव परस्पराविरोधेन यथार्थं निर्णीतत्वात्...इत्थं जगद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिसूत्रसाधितौ भवतः, कोऽत्र विरोधः ।"—निम्बार्कभा० टी० २.२।३३ ।

सिद्धोंको स्वतन्त्र माननेमें गौरव है और एक सिद्ध मानकर उसीकी उपासना करनेमें लाघव है' यह कुतर्क भी इसी प्रकारका है; क्योंकि वस्तुस्वरूपका निर्णय सुविधा और असुविधाकी दृष्टिसे नहीं होता। फिर जैनमतमें उपासनाका प्रयोजन सिद्धोंको खुश करना नहीं है, वे तो वीतराग सिद्ध हैं, उनका प्रसाद उपासनाका साध्य नहीं है; किन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें चित्तमें आत्माके शुद्धतम आदर्श रूपका आलम्बन लेकर उपासनाविधि प्रारम्भ की जाती है, जो आगेकी ध्यानादि अवस्थाओंमें अपने आप छूट जाती है।

भेदाभेद-विचार :

'अनेक दृष्टियोंसे वस्तुस्वरूपका विचार करना' यह अनेकान्तका सामान्य स्वरूप है। भ० महावीर और बुद्धके समयमें ही नहीं, किन्तु उससे पहले भी वस्तुस्वरूपको अनेक दृष्टियोंसे वर्णन करनेकी परम्परा थी। ऋग्वेदका 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (२।३।२३,४६) यह वाक्य इसी अभिप्रायको सूचित करता है। बुद्ध विभज्यवादी थे। वे प्रश्नोंका उत्तर एकांशमें 'हाँ' या 'ना' में न देकर अनेकांशिक रूपसे देते थे। जिन प्रश्नोंको उनने अव्याकृत कहा है उन्हें अनेकांशिक[1] भी कहा है। जो व्याकरणीय हैं, उन्हें 'एकांशिक—अर्थात् सुनिश्चितरूपसे जिनका उत्तर हो सकता है', कहा है, जैसे दुःख आर्यसत्य है ही। बुद्धने प्रश्नव्याकरण चार प्रकारका बताया है—(दीघनि० ३३ संगीतिपरियाय) एकांशव्याकरण, प्रतिपृच्छा व्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न। इन चार प्रश्नव्याकरणोंमें विभज्यव्याकरणीय प्रश्नमें एक ही वस्तुका विभाग करके उसका अनेक दृष्टियोंसे वर्णन किया जाता है।

बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें (१।४।२०–२१) आचार्य आश्मरथ्य और औडुलोमिका मत आता है। ये भेदाभेदवादी थे, ब्रह्म तथा जीवमें भेदाभेदका समर्थन करते थे। शंकराचार्यने बृहदारण्यकभाष्य (२।३।६) में भेदाभेदवादी भर्तृप्रपञ्चके मतका खंडन किया है। ये ब्रह्म और जगत्में वास्तविक एकत्व और नानात्व मानते थे। शंकराचार्यके बाद भास्कराचार्य तो भेदाभेदवादीके रूपमें प्रसिद्ध ही हैं।

सांख्य प्रकृतिको परिणामी नित्य मानते हैं। वह कारणरूपसे एक होकर भी अपने विकारोंकी दृष्टिसे अनेक है, नित्य होकर भी अनित्य है।

---

१. "कतमे च पोट्ठपाद मया अनेकंसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता ? सस्सतो लोको त्ति वा पोट्ठपाद मया अनेकंसिको धम्मो देसितो पञ्ञत्तो। असस्सतो लोकोत्ति खो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको…"—दीघनि० पोट्ठपादसुत्त।

योगशास्त्रमें इसी तरह परिणामवादका[1] समर्थन है। परिणामका लक्षण भी योगभाष्य (३।१३) में अनेकान्तरूपसे ही किया है। यथा—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।' अर्थात् स्थिरद्रव्यके पूर्वधर्मकी निवृत्ति होनेपर नूतन धर्मकी उत्पत्ति होना परिणाम है।

भट्ट कुमारिल तो आत्मवाद[2] (श्लो० २८) में आत्माका व्यावृत्ति और अनुगम उभय रूपसे समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं कि 'यदि आत्माका अत्यन्त नाश माना जाता है तो कृतनाश और अकृतागम दूषण आता है और यदि उसे एकरूप माना जाता है तो सुख-दुःख आदिका उपभोग नहीं बन सकता। अवस्थाएँ स्वरूपसे परस्पर विरोधी हैं, फिर भी उनमें एक सामान्य अविरोधी रूप भी है। इस तरह आत्मा उभयात्मक है।" (आत्मवाद श्लो० २३–३०)।

आचार्य हेमचन्द्रने वीतरागस्तोत्र (८।८–१०) में बहुत सुन्दर लिखा है कि—

"विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्।
इच्छँस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥"

अर्थात् एक ज्ञानको अनेकाकार माननेवाले समझदार बौद्धोंको अनेकान्तका प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिये।

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥९॥"

अर्थात् अनेक आकारवाले एक चित्ररूपको माननेवाले नैयायिक और वैशेषिकको अनेकान्तका प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिये।

"इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥"

अर्थात् एक प्रधान (प्रकृति) को सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली माननेवाले समझदार सांख्यको अनेकान्तका प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिये।

इस तरह सामान्यरूपसे ब्राह्मणपरम्परा, सांख्य-योग और बौद्धोंमें भी अनेक दृष्टिसे वस्तुविचारकी परम्परा होने पर भी क्या कारण है जो अनेकान्तवादीके रूपमें जैनोंका ही उल्लेख विशेष रूपसे हुआ है और वे ही इस शब्दके द्वारा पहिचाने जाते हैं ?

---

१. "द्वयी चेयं नित्यता–कूटस्थनित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्।"—योगद० व्यासभा० १।४।३३।

२. तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥१८॥"—मी० श्लो०।

इसका खास कारण है कि 'वेदान्त परम्परामें जो भेदका उल्लेख हुआ है, वह औपचारिक या उपाधिनिमित्तक है। भेद होने पर भी वे ब्रह्मको निर्विकार ही कहना चाहते हैं। सांख्यके परिणामवादमें वह परिणाम अवस्था या धर्म तक ही सीमित है, प्रकृति तो नित्य बनी रहती है। कुमारिल भेदाभेदात्मक कहकर भी द्रव्यकी नित्यताको छोड़ना नहीं चाहते, वे आत्मामें भले ही इस प्रक्रियाको लगा गये हैं, पर शब्दके नित्यत्वके प्रसंगमें तो उनने उसकी एकान्त-नित्यताका ही समर्थन किया है। अतः अन्य मतोंमें जो अनेकान्तदृष्टिका कहीं-कहीं अवसर पाकर उल्लेख हुआ है उसके पीछे तात्त्विकनिष्ठा नहीं है। पर जैन तत्त्वज्ञानकी तो यह आधार-शिला है और प्रत्येक पदार्थके प्रत्येक स्वरूपके विवेचनमें इसका निरपवाद उपयोग हुआ है। इनने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंको समानरूपसे वास्तविक माना है। इनका अनित्यत्व केवल पर्याय तक ही सीमित नहीं है किन्तु उससे अभिन्न द्रव्य भी स्वयं तद्रूपसे परिणत होता है। पर्यायोंको छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। 'स्याद्वाद और अनेकान्लदृष्टिका कहाँ कैसे उपयोग करना' इसी विषय पर जैनदर्शनमें अनेकों ग्रन्थ बने हैं और उसकी सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति स्थिर की गई है, जब कि अन्य मतोंमें इसका केवल सामयिक उपयोग ही हुआ है। बल्कि इस गठबंधनसे जैनदृष्टिका विपर्यास ही हुआ है और उसके खंडनमें उसके स्वरूपको अन्य मतोंके स्वरूपके साथ मिलाकर एक अजीब गुटाला हो गया है।

[1]बौद्ध ग्रन्थोंमें भेदाभेदात्मकताके खंडनके प्रसंगमें जैन और जैमिनिका एक साथ उल्लेख है तथा विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलका एक ही रूपमें निर्देश हुआ है। जैन और जैमिनिका अभाव पदार्थके विषयमें दृष्टिकोण मिलता है, क्योंकि कुमारिल भी भावान्तररूप ही अभाव मानते हैं; पर इतने मात्रसे अनेकान्तकी विरासतका सार्वत्रिक निर्वाह करने वालोंमें उनका नाम नहीं लिखा जा सकता।

सांख्यकी प्रकृति तो एक और नित्य बनी रहती है और परिणमन महदादि विकारों तक सीमित है। इसलिये धर्मकीर्तिका दही और ऊँटमें एक प्रकृतिकी दृष्टिसे अभेदप्रसंगका दूषण जम जाता है, परन्तु यह दूषण अनेकद्रव्यवादी जैनोंपर लागू नहीं होता। किन्तु दूषण देनेवाले इतना विवेक तो नहीं करते, वे तो सरसरी तौरसे परमतको उखाड़नेकी धुनमें एक ही झपट्टा मारते हैं।

---

१. तेन यदुक्तं जैनजैमिनीयैः—सर्वात्मकमेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।"

—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १४३।

"को नामातिशयः प्रोक्तः विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः।" —तत्त्वसं० श्लो० १७७६।

तत्त्वसंग्रहकारने जो विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलोंको एक ही साथ खदेड़ दिया है, वह भी इस अंशमें कि कल्पनारचित विचित्र धर्म तीनों स्वीकार करते हैं। किन्तु निर्ग्रन्थपरम्परामें धर्मोंकी स्थिति तो स्वाभाविक है, उनका व्यवहार केवल परापेक्ष होता है। जैसे एक ही पुरुषमें पितृत्व और पुत्रत्व धर्म स्वाभाविक है, किन्तु पितृव्यवहार अपने पुत्रकी अपेक्षा होता है तथा पुत्रव्यवहार अपने पिताकी दृष्टिसे। एक ही धर्मीमें विभिन्न अपेक्षाओंसे दो विरुद्ध व्यवहार किये जा सकते हैं।

इसी तरह वेदान्तके आचार्योंने जैनतत्त्वका विपर्यास करके यह मान लिया कि जैनका द्रव्य नित्य (कूटस्थनित्य) बना रहता है, केवल पर्यायें अनित्य होती हैं, और फिर विरोधका दूषण दे दिया है। सत्त्व और असत्त्व को या तो अपेक्षाभेदके बिना माने हुए आरोपित कर, दूषण दिये गये हैं या फिर सामान्यतया विरोधका खड्ग चला दिया गया है। वेदान्त भाष्योंमें एक 'नित्य सिद्ध' जीव भी मानकर दूषण दिये हैं। जब कि जैनधर्म किसी भी आत्माको नित्यसिद्ध नहीं मानता। सब आत्माएँ बन्धनोंको काटकर ही सादिमुक्त हुए हैं और होंगे।

संशयादि दूषणोंका उद्धार :

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात हो गया होगा कि स्याद्वादमें मुख्यतया विरोध और संशय ये दो दूषण ही दिये गये हैं। तत्त्वसंग्रहमें संकर तथा श्रीकंठभाष्यमें अनवस्था दूषणका भी निर्देश है। परन्तु आठ दूषण एक ही साथ किसी ग्रन्थमें देखनेको नहीं मिले। धर्मकीर्ति आदिने विरोध ही मुख्यरूपसे दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो विरोध ही समस्त दूषणोंका आधार है।

जैन ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम अकलंकदेवने संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दूषणोंका परिहार प्रमाण-संग्रह (पृ० १०३) और अष्टशती (अष्टसह० पृ० २०६) में किया है। विरोध दूषण तो अनुपलम्भके द्वारा सिद्ध होता है। जब एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे तथा सदसदात्मक रूपसे प्रतीतिका विषय है तब विरोध नहीं कहा जा सकता। जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक रङ्गोंको युगपत् धारण करता है उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मोंको धारण कर सकती है। जैसे पृथिवीत्वादि अपरसामान्य स्वव्यक्तियोंमें अनुगत होनेके कारण सामान्यरूप होकर भी जलादिसे व्यावर्तक होनेसे विशेष भी हैं, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी दो धर्मोंका स्वभावतः आधार रहती है। जिस प्रकार एक ही वृक्ष एक शाखामें चलात्मक तथा दूसरी शाखामें अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा मुँहपर लाल-रङ्गका तथा पेंदेमें काले रङ्गका होता है, एक प्रदेशमें आवृत तथा दूसरे प्रदेशमें

अनावृत, एक देशसे नष्ट तथा दूसरे देशसे अनष्ट रह सकता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु उभयात्मक होती है। इसमें विरोधको कोई अवकाश नहीं है। यदि एक ही दृष्टिसे विरोधी दो धर्म माने जाते, तो विरोध होता।

जब दोनों धर्मोंकी अपने दृष्टिकोणोंसे सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है, तब संशय कैसे कहा जा सकता है? संशयका आकार तो होता है—'वस्तु है या नहीं?' परन्तु स्याद्वादमें तो दृढ़ निश्चय होता है 'वस्तु स्वरूपसे है ही, पररूपसे नहीं ही है।' समग्र वस्तु उभयात्मक है ही। चलित प्रतीतिको संशय कहते हैं, उसकी दृढ़ निश्चयमें सम्भावना नहीं की जा सकती।

संकर दूषण तो तब होता, जब जिस दृष्टिकोणसे स्थिति मानी जाती है उसी दृष्टिकोणसे उत्पाद और व्यय भी माने जाते। दोनोंकी अपेक्षाएँ जुदी-जुदी हैं। वस्तुमें दो धर्मोंकी तो बात ही क्या है, अनन्त धर्मोंका संकर हो रहा है; क्योंकि किसी भी धर्मका जुदा-जुदा प्रदेश नहीं है। एक ही अखंड वस्तु सभी धर्मोंका अविभक्त आम्रेडित आधार है। सबकी एक ही दृष्टिसे युगपत् प्राप्ति होती, तो संकर दूषण होता, पर यहाँ अपेक्षाभेद, दृष्टिभेद और विवक्षाभेद सुनिश्चित है।

व्यतिकर परस्पर विषयगमनसे होता है। यानी जिस तरह वस्तु द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है तो उसका पर्यायकी दृष्टिसे भी नित्य मान लेना या पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य है तो द्रव्यकी दृष्टिसे भी अनित्य मानना। परन्तु जब अपेक्षाएँ निश्चित हैं, धर्मोंमें भेद है, तब इस प्रकारके परस्पर विषयगमनका प्रश्न ही नहीं है। अखंड धर्मीकी दृष्टिसे तो संकर और व्यतिकर दूषण नहीं, भूषण ही हैं।

इसीलिये वैयधिकरण्यकी बात भी नहीं है; क्योंकि सभी धर्म एक ही आधारमें प्रतीत होते हैं। वे एक आधारमें होनेसे ही एक नहीं हो सकते; क्योंकि एक ही आकाशप्रदेशरूप आधारमें जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्योंकी सत्ता पाई जाती है, पर सब एक नहीं है।

धर्ममें अन्य धर्म नहीं माने जाते, अतः अनवस्थाका प्रसंग भी व्यर्थ है। वस्तु त्रयात्मक है न कि उत्पादत्रयात्मक या व्ययत्रयात्मक या स्थितित्रयात्मक। यदि धर्मोंमें धम लगते तो अनवस्था होती।

इस तरह धर्मोंको एकरूप माननेसे एकान्तत्वका प्रसंग नहीं उठना चाहिये; क्योंकि वस्तु अनेकान्तरूप है, और सम्यगेकान्तका अनेकान्तसे कोई विरोध नहीं है। जिस समय उत्पादको उत्पादरूपसे अस्ति और व्ययरूपसे नास्ति कहेंगे उस समय उत्पाद धर्म न रहकर धर्मी बन जायगा। धर्म-धर्मिभाव सापेक्ष है। जो

अपने आधारभूत धर्मीकी अपेक्षा धर्म होता है वही अपने आधेयभूत धर्मोंकी अपेक्षा धर्मी बन जाता है।

जब वस्तु उपर्युक्त रूपसे लोकव्यवहार तथा प्रमाणसे निर्बाध प्रतीतिका विषय हो रही है तब उसे अनवधारणात्मक, अव्यवस्थित या अप्रतीत कहना भी साहसकी ही बात है। और जब प्रतीत है तब अभाव तो हो ही नहीं सकता।

इस तरह इन आठ दोषोंका परिहार अकलंक, हरिभद्र, सिंहगणिक्षमाश्रमण आदि सभी आचार्योंने व्यवस्थित रूपसे किया है। वस्तुतः बिना समझे ऐसे दूषण देकर जैन तत्त्वज्ञानके साथ विशेषतः स्याद्वाद और सप्तभंगीके स्वरूपके साथ बड़ा अन्याय हुआ है।

भ० महावीर अपनेमें अनन्तधर्मा वस्तुके सम्बन्धमें व्यवस्थित और पूर्ण निश्चयवादी थे। उनने न केवल वस्तुका अनेकान्तस्वरूप ही बताया किन्तु उसके जानने देखनेके उपाय—नयदृष्टियाँ और उसके प्रतिपादनका प्रकार (स्याद्वाद) भी बताया। यही कारण है कि जैनदर्शन ग्रन्थोंमें उपेयतत्त्वके स्वरूपनिरूपणके साथ-ही-साथ उपायतत्त्वका भी उतना ही विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। अतः स्याद्वाद न तो संशयवाद है, न कदाचित्वाद, न किंचित्वाद, न संभव-वाद और न अभीष्टवाद; किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है। इसे संस्कृतमें 'कथञ्चित्वाद' शब्दसे कहा है, जो एक सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। यह संजयके अज्ञान या विक्षेपवादसे तो हर्गिज नहीं निकला है; किन्तु संजयको जिन बातोंका अज्ञान था और बुद्ध जिन प्रश्नोंको अव्याकृत कहते थे, उन सबका सुनिश्चित दृष्टिकोणोंसे निश्चय करनेवाला अपेक्षावाद है।

समन्वयकी पुकार :

आज भारतरत्न डॉ० भगवान्‌दासजी जैसे मनीषी समन्वयकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। उनने अपने 'दर्शनका प्रयोजन', 'समन्वय' आदि ग्रन्थोंमें इस समन्वय-तत्त्वकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु वस्तुको अनन्तधर्मा माने बिना तथा स्याद्वाद-पद्धतिसे उसका विचार किये बिना समन्वयके सही स्वरूपको नहीं पाया जा सकता।

जैन दर्शनकी भारतीय संस्कृतिको यही परम देन है जो इसने वस्तुके विराट् स्वरूपको सापेक्ष दृष्टिकोणसे देखना सिखाया। जैनाचार्योंने इस समन्वय-पद्धतिपर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। आशा है इस अहिंसाधार और मानस अहिंसाके अमृतमय प्राणभूत स्याद्वादका जीवनको संवादी बनानेमें यथोचित उपयोग किया जायगा।

●

११. जैनदर्शन और विश्वशान्ति

विश्वशान्तिके लिये जिन विचारसहिष्णुता, समझौतेकी भावना, वर्ण, जाति रंग और देश आदिके भेदके बिना सबके समानाधिकारकी स्वीकृति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना आदि मूलभूत आधारोंकी अपेक्षा है उन्हें दार्शनिक भूमिकापर प्रस्तुत करनेका कार्य जैनदर्शनने बहुत पहलेसे किया है। उसने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे विचारनेकी दिशामें उदारता, व्यापकता और सहिष्णुताका ऐसा पल्लवन किया है, जिससे व्यक्ति दूसरेके दृष्टिकोणको भी वास्तविक और तथ्यपूर्ण मान सकता है। इसका स्वाभाविक फल है कि समझौतेकी भावना उत्पन्न होती है। जब तक हम अपने ही विचार और दृष्टिकोणको वास्तविक और तथ्य मानते हैं तब तक दूसरेके प्रति आदर और प्रामाणिकताका भाव ही नहीं हो पाता। अतः अनेकान्तदृष्टि दूसरोंके दृष्टिकोणके प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादरका भाव उत्पन्न करती है।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समानस्वभाव और समानधर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकारभेदको नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तवबहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड़पदार्थोंको अपने अधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने आधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है।

वास्तविक स्थिति ऐसी होनेपर भी जब आत्माका शरीरसंधारण और समाजनिर्माण जड़पदार्थोंके बिना संभव नहीं है; तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि आखिर शरीरयात्रा, समाजनिर्माण और राष्ट्रसंरक्षा आदि कैसे किये जाँय ? जब अनिवार्य स्थितिमें जड़पदार्थोंका संग्रह और उनका यथोचित विनियोग आवश्यक हो गया, तब यह उन सभी आत्माओंको ही समान भूमिका और समान अधिकारकी चादरपर बैठकर सोचना चाहिये कि 'जगत्के उपलब्ध साधनोंका कैसे विनियोग

हो ?' जिससे प्रत्येक आत्माका अधिकार सुरक्षित रहे और ऐसी समाजका निर्माण संभव हो सके, जिसमें सबको समान अवसर और सबकी समानरूपसे प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके। यह व्यवस्था ईश्वरनिर्मित होकर या जन्मजात वर्गसंरक्षणके आधारसे कभी नहीं जम सकती, किन्तु उन सभी समाजके घटक अंगोंकी जाति, वर्ण, रंग और देश आदिके भेदके बिना निरुपाधि समानस्थितिके आधारसे ही बन सकती है। समाजव्यवस्था ऊपरसे बदलनी नहीं चाहिये, किन्तु उसका विकास सहयोगपद्धतिसे सामाजिक भावनाकी भूमिपर होना चाहिये, तभी सर्वोदयी समाज-रचना हो सकती है। जैनदर्शनने व्यक्तिस्वातन्त्र्यको मूलरूपमें मानकर सहयोगमूलक समाजरचनाका दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है! इसमें जब प्रत्येक व्यक्ति परिग्रहके संग्रहको अनधिकारवृत्ति मानकर ही अनिवार्य या अत्यावश्यक साधनोंके संग्रहमें प्रवृत्ति करेगा, सो भी समाजके घटक अन्य व्यक्तियोंको समानाधिकारी समझकर उनकी भी सुविधाका विचार करके ही; तभी सर्वोदयी समाजका स्वस्थ निर्माण संभव हो सकेगा।

निहित स्वार्थवाले व्यक्तियोंने जाति, वंश और रंग आदिके नामपर जो अधिकारोंका संरक्षण ले रखा है तथा जिन व्यवस्थाओंने वर्गविशेषको संरक्षण दिये हैं, वे मूलतः अनधिकार चेष्टाएँ हैं। उन्हें मानवहित और नवसमाजरचनाके लिये स्वयं समाप्त होना ही चाहिये और समान अवसरवाली परम्पराका सर्वाभ्युदयकी दृष्टिसे विकास होना चाहिये।

इस तरह अनेकान्तदृष्टिसे विचारसहिष्णुता और परसन्मानकी वृत्ति जग जाने पर मन दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ माननेकी ओर प्रवृत्त होकर समझौतेकी ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकारके साथ-ही-साथ स्वकर्त्तव्यका भी भाव उदित होता है; तब वह दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता। इस तरह विश्वशान्तिके लिये अपेक्षित विचारसहिष्णुता, समानाधिकार-की स्वीकृति और आन्तरिक मामलोंमें अहस्तक्षेप आदि सभी आधार एक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके मान लेने से ही प्रस्तुत हो जाते हैं। और जब तक इन सर्वसमतामूलक अहिंसक आधारोंपर समाजरचनाका प्रयत्न न होगा, तब तक विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। आज मानवका दृष्टिकोण इतना विस्तृत, उदार और व्यापक हो गया है जो वह विश्वशान्तिकी बात सोचने लगा है। जिस दिन व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समानाधिकारकी बिना किसी विशेषसंरक्षणके सर्वसामान्यप्रतिष्ठा होगी, वह दिन मानवताके मंगलप्रभातका पुण्यक्षण होगा। जैनदर्शनने इन आधारोंको सैद्धान्तिक रूप देकर मानवकल्याण और जीवनकी मंगलमय निर्वाहपद्धतिके

विकासमें अपना पूरा भाग अर्पित किया है। और कभी भी स्थायी विश्वशान्ति यदि संभव होगी, तो इन्हीं मूल आधारों पर ही वह प्रतिष्ठित हो सकती है।

भारत राष्ट्रके प्राण पं० जवाहरलाल नेहरूने विश्वशान्तिके लिये जिन पंचशील या पंचशिलाओंका उद्‌घोष किया है और बाडुङ्ग सम्मेलनमें जिन्हें सर्वमतिसे स्वीकृति मिली, उन पंचशीलोंकी बुनियाद अनेकान्तदृष्टि—समझौतेकी वृत्ति, सहअस्तित्वकी भावना, समन्वयके प्रति निष्ठा और वर्ण, जाति, रंग आदिके भेदोंसे ऊपर उठकर मानवमात्रके सम-अभ्युदयकी कामनापर ही तो रखी गई है। और इन सबके पीछे है मानवका सन्मान और अहिंसामूलक आत्मौपम्यकी हार्दिक श्रद्धा। आज नवोदित भारतकी इस सर्वोदयी परराष्ट्रनीतिने विश्वको हिंसा, संघर्ष और युद्धके दावानलसे मोड़कर सहअस्तित्व, भाईचारा और समझौतेकी सद्-भावनारूप अहिंसाकी शीतल छायामें लाकर खड़ा कर दिया है। वह सोचने लगा है कि प्रत्येक राष्ट्रको अपनी जगह जीवित रहनेका अधिकार है, उसका स्वास्तित्व है, परके शोषणका या उसे गुलाम बनानेका कोई अधिकार नहीं है, परमें उसका अस्तित्व नहीं है। यह परके मामलोंमें अहस्तक्षेप और स्वास्तित्वकी स्वीकृति ही विश्वशान्तिका मूलमन्त्र है। यह सिद्ध हो सकती है—अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और जीवनमें भौतिक साधनोंकी अपेक्षा मानवके सन्मानके प्रति निष्ठा होनेसे। भारत राष्ट्रने तीर्थङ्कर महावीर और बोधिसत्त्व गौतमबुद्ध आदि सन्तोंकी अहिंसाको अपने संविधान और परराष्ट्रनीतिका आधार बनाकर विश्वको एक बार फिर भारतकी आध्यात्मिकताकी झाँकी दिखा दी है। आज उन तीर्थङ्करोंकी साधना और तपस्या सफल हुई है कि समस्त विश्व सह-अस्तित्व और समझौतेकी वृत्तिकी ओर झुककर अहिंसकभावनासे मानवताकी रक्षाके लिये सन्नद्ध हो गया है।

व्यक्तिकी मुक्ति, सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्वकी शान्तिके लिये जैनदर्शनके पुरस्कर्ताओंने यही निधियाँ भारतीयसंस्कृतिके आध्यात्मिक कोशागारमें आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थताकी तिल-तिल साधना करके संजोई हैं। आज वह धन्य हो गया कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और अपरिग्रहभावनाकी ज्योतिसे विश्वका हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सबके उदयमें अपना उदय मानने लगे हैं।

राष्ट्रपिता पूज्य बापूकी आत्मा इस अंशमें सन्तोषकी साँस ले रही होगी कि उनने अहिंसा संजीवनका व्यक्ति और समाजसे आगे राजनैतिक क्षेत्रमें उपयोग करनेका जो प्रशस्त मार्ग सुझाया था और जिसकी अटूट श्रद्धामें उनने अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया, आज भारतने दृढ़तासे उसपर अपनी निष्ठा ही व्यक्त नहीं

२८

की, किन्तु उसका प्रयोग नव एशियाके जागरण और विश्वशान्तिके क्षेत्रमें भी किया है। और भारतकी 'भा' इसीमें है कि वह अकेला भी इस आध्यात्मिक दीपको संजोता चले, उसे स्नेह दान देता हुआ उसीमें जलता चले और प्रकाशकी किरणें बखेरता चले। जीवनका सामंजस्य, नवसमाजनिर्माण और विश्वशान्तिके यही मूलमन्त्र हैं। इनका नाम लिये बिना कोई विश्वशान्तिकी बात भी नहीं कर सकता।

●

१२. जैनदार्शनिक साहित्य

इस प्रकरणमें प्रमुख रूपसे उन प्राचीन जैनदार्शनिकों और मूल जैनदर्शन-ग्रन्थोंका नामोल्लेख किया जायगा, जिनके ग्रन्थ किसी भंडारमें उपलब्ध हैं तथा जिनके ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका निर्देश भी यथासंभव करनेका प्रयत्न करेंगे, जिनके ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं हैं, परन्तु अन्य ग्रन्थोंमें जिनके उद्धरण पाये जाते हैं या निर्देश मिलते हैं। इसमें अनेक ग्रन्थकारोंके समयकी शताब्दी आनुमानिक हैं और उनके पौर्वापर्यमें कहीं व्यत्यय भी हो सकता है, पर यहाँ तो मात्र इस बात की चेष्टा की गई है कि उपलब्ध और सूचित प्राचीन मूल दार्शनिक साहित्यका सामान्य निर्देश अवश्य हो जाय।

इस पुस्तकके 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' प्रकरणमें जैनदर्शनके मूल बीज जिन सिद्धान्त और आगम ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनका सामान्य विवरण दिया जा चुका है, अतः यहाँ उनका निर्देश न करके उमास्वाति (गृद्धपिच्छ) के तत्त्वार्थ-सूत्रसे ही इस सूचीको प्रारम्भ कर रहे हैं।

दिगम्बर आचार्य[1]

उमास्वाति- (वि० १–३ री)	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
समन्तभद्र (वि० २-३री)	आप्तमीमांसा	प्रकाशित
	युक्त्यनुशासन	,,
	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	,,
	जीवसिद्धि	'पार्श्वनाथचरित' में वादिराज-द्वारा उल्लिखित
सिद्धसेन (वि० ४-५वीं)	सन्मतितर्क	प्रकाशित
	(कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ)	,,
देवनन्दि (वि० ६वीं)	सारसंग्रह	धवला-टीकामें उल्लिखित

१. श्रीवर्णीग्रन्थमाला, बनारस में संकलित ग्रन्थ-सूचीके आधारसे।

श्रीदत्त (वि० ६वीं)	जल्पनिर्णय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्दद्वारा उल्लिखित।
सुमति (वि० ६वीं)	सन्मतितर्कटीका	पार्श्वनाथचरितमें वादिराज-द्वारा उल्लिखित
	सुमतिसप्तक	मल्लिषेण-प्रशस्तिमें निर्दिष्ट

[इन्हींका निर्देश शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें 'सुमतेर्दिगम्बरस्य' के रूपमें है]

पात्रकेसरी (वि० ६वीं)	त्रिलक्षणकदर्थन	अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धि-विनिश्चय टीकामें उल्लिखित
	पात्रकेसरी-स्तोत्र	प्रकाशित

[इन्हींका मत शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें 'पात्रस्वामि' के नामसे दिया है ।]

वादिसिंह (६-७वीं)		वादिराजके पार्श्वनाथचरित और जिनसेनके महापुराणमें स्मृत
अकलंकदेव (वि० ७००)	लघीयस्त्रय (स्ववृत्तिसहित),	प्रकाशित (अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	न्यायविनिश्चय (न्यायविनिश्चय-विवरणसे उद्धृत),	प्रकाशित (अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	प्रमाणसंग्रह,	प्रकाशित (अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिविनिश्चय-टीकासे उद्धृत),	प्रकाशित
	अष्टशती (आप्तमीमांसाकी टीका)	प्रकाशित
	प्रमाणलक्षण (?)	मैसूरकी लाइब्रेरी तथा कोचीनराज पुस्तकालय तिरू-पुणिट्टुणमें उपलब्ध
	तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका)	प्रकाशित

[जिनदासने निशीथचूर्णिमें इन्हींके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख दर्शन-प्रभावक शास्त्रोंमें किया है]

कुमारसेन (वि० ७७०)		जिनसेन द्वारा महापुराणमें स्मृत
कुमारनन्दि (वि० ८वीं)	वादन्याय	विद्यानन्दद्वारा प्रमाणपरीक्षामें उल्लिखित
वादीभसिंह (वि० ८वीं)	स्याद्वादसिद्धि	प्रकाशित
	नवपदार्थनिश्चय	मूडविद्रो भंडारमें उपलब्ध
अनन्तवीर्य (वृद्ध) (वि० ८-९वीं)	सिद्धिविनिश्चयटीका	रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका में उल्लिखित
अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवी (९वीं)	सिद्धिविनिश्चयटीका	प्रकाशित
विद्यानन्द (वि० ९वीं)	अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा–अष्टशतीकी टीका)	प्रकाशित
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका),	,,
	युक्त्यनुशासनालङ्कार,	,,
	विद्यानन्दमहोदय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें स्वयं निर्दिष्ट तथा वादिदेवसूरि द्वारा स्याद्वादरत्नाकरमें उद्धृत
	आप्तपरीक्षा	प्रकाशित
	प्रमाणपरीक्ष	प्रकाशित
	पात्रपरीक्षा	,, आप्तपरीक्षाके साथ
	सत्यशासनपरीक्षा	प्रकाशित
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	प्रकाशित
	पंचमप्रकरण	अप्रकाशित जैनमठ श्रवणवेलगोलामें उपलब्ध (मैसूरकुर्गसूची नं० २८०३)

	नयविवरण (?) (त० श्लोकवा० का अंश)	प्रकाशित
अनन्तकीर्ति (१०वीं)	जीवसिद्धिटीका	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	प्रकाशित
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	,,
देवसेन	नयचक्रप्राकृत	प्रकाशित
(९९० वि०)	आलापपद्धति	,,
वसुनन्दि (१०वीं, ११वीं)	आप्तमीमांसावृत्ति	,,
माणिक्यनन्दि (वि० ११वीं)	परीक्षामुख	,,
सोमदेव (वि० ११वीं)	स्याद्वादोपनिषत्	दानपत्रमें उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८८
वादिराज सूरि	न्यायविनिश्चयविवरण	प्रकाशित
(वि० ११वीं)	प्रमाणनिर्णय	,,
माइल्ल धवल (वि० ११वीं)	द्रव्यस्वभावप्रकाश प्राकृत	प्रकाशित
प्रभाचन्द्र (वि० ११-१२वीं)	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुख-टीका)	,,
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय-टीका),	,,
	परमतझंझानिल	जैन गुरु चित्तापुर आरकाट नाथके पास
अनन्तवीर्य (वि० १२वीं)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख-टीका)	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि० १२-१३वीं)	विश्वतत्त्वप्रकाश	स्याद्वाद विद्यालय बनारस में उपलब्ध
लघुसमन्तभद्र (१३वीं)	अष्टसहस्री-टिप्पण	प्रकाशित

आशाधर (वि० १३वीं)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधर-प्रशस्तिमें उल्लिखित
शान्तिषेण (वि० १३वीं)	प्रमेयरत्नाकर	जैन सिद्धान्त-भवन, आरा
जिनदेव	कारुण्यकालिका	न्यायदीपिकामें उल्लिखित
धर्मभूषण (वि० १५वीं)	न्यायदीपिका	प्रकाशित
अजितसेन	न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला-टीका)	जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध
विमलदास	सप्तभङ्गितरङ्गिणी	प्रकाशित
शुभचन्द्र	संशयवदनविदारण	,,
	षड्दर्शनप्रमाणप्रमेय-संग्रह	प्रशस्तिसंग्रह, वीरसेवा-मन्दिर, दिल्ली
शुभचन्द्रदेव	परीक्षामुखवृत्ति	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका (परीक्षामुखवृत्ति)	जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध
चारुकीर्ति पंडिताचार्य	प्रमेयरत्नालङ्कार	,, ,,
नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	प्रकाशित
सुखप्रकाश मुनि	न्यायदीपावलि टीका	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
अमृतानन्द मुनि	न्यायदीपावलिविवेक	,, ,,
खण्डनाकन्द	तत्त्वदीपिका	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
जगन्नाथ (१७०३ वि०)	केवलिभुक्तिनिराकरण	जयपुर तेरापंथी मन्दिरमें उपलब्ध
वज्रनन्दि	प्रमाणग्रन्थ	धवलकविद्वारा उल्लिखित
प्रवरकीर्ति	तत्त्वनिश्चय	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
अमरकीर्ति	समयपरीक्षा	हुम्मच गाणंगणि पुटप्पामें उपलब्ध
नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	जैन सिद्धान्त-भवन, आरा
मणिकण्ठ	न्यायरत्न	,,
शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	,,
अज्ञातकर्तृक	षड्दर्शन	पद्मनाभशास्त्री मूडबिद्रीके पास उपलब्ध

अज्ञातकर्तृक	श्लोकवार्तिकटिप्पणी	जैनमठ श्रवणवेलगोलामें उपलब्ध
,,	षड्दर्शनप्रपञ्च	जैन भवन मूडबिद्रीमें उपलब्ध
,,	प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति	मद्रास सूची नं० १५७४
,,	अर्थव्यञ्जनपर्याय-विचार	,, ,, १५५७
,,	स्वमतस्थापन	जैनमठ मूडबिद्री
,,	सृष्टिवाद-परीक्षा	,, ,,
,,	सप्तभङ्गी	,, ,,
,,	षण्मततर्क	,, ,,
,,	शब्दखण्डव्याख्यान	,, ,,
,,	प्रमाणसिद्धि	,, ,,
,,	प्रमाणपदार्थ	,, ,,
,,	परमतखण्डन	,, ,,
,,	न्यायामृत	,, ,,
,,	नयसंग्रह	,, ,,
,,	नयलक्षण	,, ,,
,,	न्यायप्रमाणभेदी	जैन सिद्धान्त भवन आरा
,,	न्यायप्रदीपिका	,, ,,
,,	प्रमाणनयग्रन्थ	,, ,,
,,	प्रमाणलक्षण	,, ,,
,,	मतखंडनवाद	,, ,,
,,	विशेषवाद	बम्बई सूची नं० १६१२

श्वेताम्बर आचार्य[1]

उमास्वाति (वि० ३ री)	तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य	प्रकाशित
सिद्धसेन दिवाकर (वि० ५-६वीं)	न्यायावतार	प्रकाशित
	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	,,

१. "जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार' के आधारसे।

मल्लवादि	नयचक्र (द्वादशार)	प्रकाशित
वि० ६वीं)	सन्मतितर्कटीका	अनेकान्तजयपताकामें उल्लिखित
हरिभद्र	अनेकान्तजयपताका	प्रकाशित
(वि० ८वीं)	सटीक,	
	अनेकान्तवाद प्रवेश,	,,
	षड्दर्शनसमुच्चय,	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चय	,,
	सटीक,	
	न्यायप्रवेश-टीका,	,,
हरिभद्र	धर्मसंग्रहणी,	प्रकाशित
	लोकतत्त्वनिर्णय,	,,
	अनेकान्त प्रघट्ट,	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूचीसे
	तत्त्वतरङ्गिणी,	,,
	त्रिभङ्गीसार,	,,
	न्यायावतारवृत्ति,	,,
	पञ्चलिङ्गी,	,,
	द्विजवदनचपेटा	,,
	परलोकसिद्धि	,,
	वेदबाह्यतानिराकरण	,,
	सर्वज्ञसिद्धि	,,
	स्याद्वादकुचोद्यपरिहार	,,
शाकटायन	स्त्रीमुक्तिप्रकरण	जैन साहित्य संशोधकमें
(पाल्यकीर्ति)	केवलभुक्तिप्रकरण	प्रकाशित
(वि० ९वीं)		
(यापनीय)		
सिद्धर्षि	न्यायावतार-टीका	प्रकाशित
(वि० १०वीं)		
अभयदेव सूरि	सन्मतिटीका	प्रकाशित
(वि० ११वीं)	(वादमहार्णव)	
जिनेश्वरसूरि	प्रमालक्ष्म सटीक	प्रकाशित
(वि० ११वीं)	पञ्चलिङ्गीप्रकरण	,,

शान्तिसूरि (पूर्णतल्लगच्छीय) (वि० ११वीं)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	प्रकाशित
मुनिचन्द्रसूरि (वि० २वीं)	अनेकान्तजयपताका-वृत्तिटिप्पण	प्रकाशित
वादिदेवसूरि (१२वीं सदी)	प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालङ्कार	प्रकाशित
	स्याद्वादरत्नाकर	,,
हेमचन्द्र (पूर्णतल्लगच्छ) (वि० १२वीं)	प्रमाणमीमांसा	प्रकाशित
	अन्ययोगव्यवच्छेदिका	,,
	वादानुशासन	(अनुपलब्ध)
	वेदांकुश	प्रकाशित
देवसूरि (वीरचन्द्रशिष्य) (वि० ११६२)	जीवानुशासन	प्रकाशित
श्रीचन्द्रसूरि (वि० १२वीं)	न्यायप्रवेशहरिभद्र-वृत्तिपञ्जिका	प्रकाशित
देवभद्रसूरि (मलधारि श्रीचन्द्र शिष्य) (वि० १२वीं)	न्यायावतारटिप्पण	,,
मलयगिरि (वि० १३)	धर्मसंग्रहणीटीका	प्रकाशित
चन्द्रसेन (प्रद्युम्नसूरि शिष्य) (वि० १३वीं)	उत्पादादिसिद्धि सटीक	,,
आनन्दसूरि अमरसूरि (सिंहव्याघ्रशिशुक)	सिद्धान्तार्णव	अनुपलब्ध
रामचन्द्रसूरि (हेमचन्द्र शिष्य) (१३ वीं)	व्यतिरेकद्वात्रिंशिका	प्रकाशित

मल्लवादि (१३ वीं)	धर्मोत्तरटिप्पणक	पं० दलसुखभाईके पास
प्रद्युम्नसूरि (१३ वीं)	वादस्थल	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
जिनपतिसूरि (१३ वीं)	प्रबोधवादस्थल	,, ,,
रत्नप्रभसूरि (१३ वीं)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
देवभद्र (१३ वीं)	प्रमाणप्रकाश	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
नरचन्द्रसूरि (देवप्रभ शिष्य) (१३ वीं)	न्यायकन्दलीटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
अभयतिलक (१४ वीं)	पञ्चप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या	,, ,,
	तर्कन्यायसूत्रटीका	,, ,,
	न्यायालंकारवृत्ति	,, ,,
मल्लिषेण (१४ वीं)	स्याद्वादमञ्जरी	प्रकाशित
सोमतिलक (वि० १३९२)	षड्दर्शनटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
राजशेखर (१५ वीं)	स्याद्वादकलिका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
	रत्नाकरावतारिका पञ्जिका	प्रकाशित
	षड्दर्शन समुच्चय	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
	न्यायकन्दलीपञ्जिका	
ज्ञानचन्द्र (१५ वीं)	रत्नाकरावतारिकाटिप्पण	प्रकाशित
जयसिंहसूरि (१५ वीं)	न्यायसारदीपिका	प्रकाशित

मेरुतुङ्ग (महेन्द्रसूरि शिष्य) (१५ वीं)	षड्दर्शननिर्णय	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
गुणरत्न. (१५ वीं)	षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका	प्रकाशित
भुवनसुन्दरसूरि (१५ वीं)	परब्रह्मोत्थापन	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	लघु-महाविद्याविडम्बन	,,
सत्यराज	जल्पमंजरी	,,
सुधानन्दगणिशिष्य (१६ वीं)		
साधुविजय (१६ वीं)	वादविजयप्रकरण	,,
	हेतुदर्शनप्रकरण	,,
सिद्धान्तसार (१६ वीं)	दर्शनरत्नाकर	,,
दयारत्न (१७ वीं)	न्यायरत्नावली	,,
शुभविजय (१७ वीं)	तर्कभाषावार्तिक	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	स्याद्वादमाला	प्रकाशित
भावविजय (१७वीं)	षड्त्रिंशत्जल्प-विचार	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
विनयविजय (१७वीं)	नयकर्णिका	प्रकाशित
	षट्त्रिंशत्जल्पसंक्षेप	जैनग्रन्थ ग्रनथकारमें
यशोविजय (१८वीं)	अष्टसहस्रीविवरण,	प्रकाशित
	अनेकान्तव्यवस्था,	,,
	ज्ञानबिन्दु (नव्यशैलीमें),	,,
	जैनतर्कभाषा,	,,
	देवधर्मपरीक्षा,	,,
	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका,	,,
	धर्मपरीक्षा,	,,
	नयप्रदीप,	,,

	नयोपदेश,	प्रकाशित
	नयरहस्य,	,,
	न्यायखण्डखाद्य (नव्यशैली),	,,
	न्यायालोक, ,,	,,
	भाषारहस्य,	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका,	,,
	उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धिटीका,	,,
	ज्ञानार्णव,	,,
	अनेकान्त प्रवेश,	,,
	गुरुतत्त्वविनिश्चय,	,,
	आत्मख्याति,	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
	तत्त्वालोकविवरण,	,,
	त्रिसूत्र्यालोक,	,,
	द्रव्यालोकविवरण	,,
	न्यायबिन्दु,	,,
	प्रमाणरहस्य,	,,
यशोविजय	मंगलवाद,	,,
	वादमाला,	,,
	वादमहार्णव,	,,
	विधिवाद,	,,
	वेदान्तनिर्णय,	,,
	सिद्धान्ततर्क परिष्कार,	,,
	सिद्धान्तमञ्जरी टीका,	,,
	स्याद्वादमञ्जूषा,	,,
	(स्याद्वादमञ्जरीकी टीका),	,,
	द्रव्यपर्याययुक्ति	,,
यशस्वत् सागर	जैनसप्तपदार्थी	प्रकाशित
(१८वीं)	प्रमाणवादार्थ	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
	वादार्थनिरूपण	,,
	स्याद्वादमुक्तावली	प्रकाशित
भावप्रभसूरि	नयोपदेशटीका	प्रकाशित
(१८वीं)		

मयाचन्द्र (१९वीं)	ज्ञानक्रियावाद	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार
पद्मविजयगणि (१९वीं)	तर्कसंग्रहफक्किका	,,
ऋद्धिसागर (२०वीं)	निर्णयप्रभाकर	,,

इत्यादि

इस तरह जैनदर्शन ग्रन्थोंका विशाल कोशागार है। इस सूचीमें संस्कृत ग्रन्थोंका ही प्रमुखरूपसे उल्लेख किया है। कन्नड़ भाषामें भी अनेक दर्शनग्रन्थोंकी टीकाएँ पाई जाती हैं। इन सभी ग्रन्थोंमें जैनाचार्योंने अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुतत्त्वका निरूपण किया है, और प्रत्येक वादका खंडन करके भी उनका नयदृष्टिसे समन्वय किया है। अनेक अजैनग्रन्थोंकी टीकाएँ भी जैनाचार्योंने लिखी हैं, वे उन ग्रन्थोंके हार्दको बड़ी सूक्ष्मतासे स्पष्ट करती हैं। इति।

हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी
२०।९।५३

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

—हरिभद्र

२. ग्रन्थसंकेत विवरण[1]

अकलङ्कग्रन्थ०	अकलङ्कग्रन्थत्रय
अकलंकग्र० टि०	अकलङ्कग्रन्थत्रयटिप्पण
अट्ठशालनी	धम्मसंगणीकी अट्ठकथा
अणुभा०	ब्रह्मसूत्रअणुभाष्य
अनगारध०	अनगारधर्मामृत
अन्ययोगव्य०	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका
अभिधर्मको०	अभिधर्मकोश
अष्टश० अष्टसह०	अष्टशती अष्टसहस्र्यन्तर्गत
अष्टसह०	अष्टसहस्री
आचा० आचाराङ्गसू०	आचाराङ्गसूत्र
आदिपुराण	महापुराणान्तर्गत
आप्तप०	आप्तपरीक्षा
आप्तमी०	आप्तमीमांसा
आ० नि०	आवश्यकनिर्युक्ति
आप्तस्वरूप	सिद्धान्तसारादिसंग्रहान्तर्गत
ऋग्वेद	ऋग्वेदसंहिता
कठोप०	कठोपनिषत्
काव्या० रुद्र० नमि०	काव्यालङ्कार-रुद्रटकृत-नमिसाधुकृत टीका
गो० जीवकाण्ड, गोम्मटसारजी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड
चत्तारि दंडक	दशभक्त्यादिके अन्तर्गत
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषत्
जड़वाद अनीश्वरवाद	लक्ष्मणशास्त्री जोशीकृत
जैनतर्कवा०	जैनतर्कवार्तिक
जैनतर्कवा० टि०	जैनतर्कवार्तिकटिप्पण

१. इस ग्रन्थके लिखनेमें जिन ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है उनमें जिन ग्रन्थोंके नामोंका 'संकेत' से निर्देश किया है उन्हींका इस सूचीमें समावेश है।

जैनदार्शनिक साहित्यका सिंहावलोकन	प्रो० दलसुखभाई मालवणिया द्वारा लिखित
जैनसाहित्यमें विकार	पं० बेचरदासजी दोशीकृत
जैनेन्द्रव्याकरण	पूज्यपादकृत
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह
तत्त्वसं० पं०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
तत्त्वार्थराजवा०, तत्त्वार्थवा० राजवा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक
तत्त्वार्थश्लो०, त० श्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थाधि० भा०, तत्त्वार्थभा०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य
त० सू०, तत्त्वार्थसू०	तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वोप०	तत्त्वोपप्लवसिंह
तैत्तिरी०	तैत्तिरीयोपनिषत्
त्रि० प्रा०	त्रिविक्रमकृत प्राकृतव्याकरण
त्रिलोकप्रज्ञप्ति	तिलोयपण्णत्ति
दर्शनका प्रयोजन	डॉ० भगवानदासकृत
दर्शनदिग्दर्शन	महापंडित राहुल सांकृत्यायनकृत
दीघनि०	दीघनिकाय
द्रव्यसं०	द्रव्यसंग्रह
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका	यशोविजयकृत
धर्म०	धर्मसंग्रह
धवला टी० सत्प्र०	धवलाटीका सत्प्ररूपणा
धवला प्र० भा०	धवला टीका प्रथम भाग
नन्दीसू० टी०	नन्दीसूत्रटीका
नयविवरण	प्रथमगुच्छकान्तर्गत
नवनीत	नवनीत मासिक पत्र
नाटयशा०	नाट्यशास्त्र
नियमसा०	नियमसार
न्यायकुमु०	न्यायकुमुदचन्द्र २ भाग
न्यायकुसुमा०	न्याकुसुमाञ्जलि
न्यायदी०	न्यायदीपिका

न्यायबि०	न्यायबिन्दु
न्यायबि० टी०	न्यायबिन्दुटीका–धर्मोत्तर
न्यायभा०	न्यायभाष्य
न्यायमं०	न्यायमञ्जरी
न्यायवा०	न्यायवार्तिक
न्यायवा० ता० टी०	न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका
न्यायवि०	न्यायविनिश्चय
न्यायसार	भासर्वज्ञकृत
न्यायसू०	न्यायसूत्र
न्यायावता०	न्यायावतार
पत्रप०	पत्रपरीक्षा
पात्रकेसरिस्तोत्र	प्रथमगुच्छकान्तर्गत
परी०	परीक्षामुख
पंचा०	पञ्चास्तिकाय
पात० महाभाष्य	पातञ्जल महाभाष्य
पात० महा० पस्पशा०	पातञ्जल महाभाष्य पस्पशाह्निक
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन	डॉ० देवराजकृत
पंचाध्यायी	राजमल्लकृत
प्रमाणनयतत्त्वा०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार
प्रव०	प्रवचनसार
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा
प्रमाणवा० प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक
प्रमाणवार्तिकालं०	प्रमाणवार्तिकालंकार
प्रमाणवा० मनोरथ० प्र० वा० मनोर०	प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनी टीका
प्रमाणवा० स्ववृ०	प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० प्र० वा०स्ववृत्ति टी०	प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका
प्रमाणसमु०	प्रमाणसमुच्चय
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रह अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड

प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्यकृत
प्रश० कन्द०	प्रशस्तपादभाष्य-कन्दलीटीका
प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्य
प्रश० भा० व्यो०	प्रशस्तपादभाष्य-व्योमवतीटीका
प्राकृतच०	प्राकृतचन्द्रिका
प्राकृतसर्व०	प्राकृतसर्वस्व
प्राकृतसं०	प्राकृतसंग्रह
बुद्धचर्या	राहुल सांकृत्यायनकृत
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतार
बोधिचर्या० पं०	बोधिचर्यावतारपञ्जिका
बृहट्टिपणिका जैन सा० सं०	बृहट्टिप्पणिका, जैन साहित्य संशोधकमें प्रकाशित
बृहत्स्व०	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (प्रथमगुच्छक)
बृहदा० भा० वा०	बृहदारण्कभाष्यवार्तिक
सम्बन्धवा०	सम्बन्धवार्तिक
बृहद्द्रव्यसं०	बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका
ब्रह्मबिन्दूप०	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्रह्मसू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मसू० नि० भा०	ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य
ब्रह्मसू० शां० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
ब्रह्मसू० शां० भा० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामतीटीका
भगवतीसूत्र	व्याख्याप्रज्ञप्ति अपर नाम भगवतीसूत्र
भगवद्गी०	भगवद्गीता
भागवत	श्रीमद्भागवत
भारतीयदर्शन	बलदेव उपाध्यायकृत
भास्करभा०	ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य
मज्झिमनिकाय	हिन्दी अनुवाद
मत्स्यपु०	मत्स्यपुराण
माध्यमिककारिका	नागार्जुनीया
महाभा०	महाभारत
मिलिन्दप्रश्न	हिन्दी अनुवाद

मी० श्लो० चोदना०	मीमांसाश्लोकवार्तिकचोदनासूत्र
मी० श्लो० अभाव०	मीमांसश्लोकवार्तिकअभावपरिच्छेद
मी० श्लो० अर्था०	,, अर्थापत्ति ,,
मी० श्लो० उपमान०	,, उपमान ,,
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्
मूला०	मूलाचार
योगद० व्यासभा०, योगभा०	योगदर्शनव्यासभाष्य
योगदृष्टिस०	योगदृष्टिसमुच्चय
योगसू० तत्त्ववै०	योगसूत्रतत्त्ववैशारदी टीका
रत्नाकरावतारिका	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारटीका
लघी०, लघीय०	लघीयस्त्रय अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत
लघी० स्व०	लघीयस्त्रयस्ववृत्ति
लोकतत्त्वनिर्णय	हरिभद्रकृत
वाक्यप०	वाक्यपदीय
वाग्भट्टा० टी०	वाग्भटालङ्कारटीका
वादन्या०	वादन्याय
विज्ञप्ति०	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि
विज्ञानामृतभा०	ब्रह्मसूत्रविज्ञानामृतभाष्य
वेदान्तदीप	रामानुजाचार्यकृत
विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्य
वैशे० सू०	वैशेषिकसूत्र
वैज्ञानिक भौतिकवाद	राहुल सांकृत्यायनकृत
वैशे० उप०	वैशेषिकसूत्रउपस्कारटीका
शब्दकौ०	शब्दकौस्तुभ
शब्दानुशासन	हेमचन्द्रकृत
शावरभा०	शावरभाष्य
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका
श्रीकण्ठभा०	ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्य
श्वेता०, श्वे०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
षट् खं० पयडि०	षट्खंडागम-पयडि-अनुयोगद्वार
षट् खं० सत्प्र०	षट्खंडागमसत्प्ररूपणा
षट्द० समु० गुणरत्नटीका	षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका

सन्मति०	सन्मतितर्क
सन्मति० टी०	सन्मतितर्कटीका
समयसार	समयप्राभृत अपरनाम समयसार
समयसार तात्पर्यवृ०	समयसार तात्पर्यवृत्ति
सर्वद०	सर्वदर्शनसंग्रह
सर्वार्थसि०	सर्वार्थसिद्धि
सांख्यका०	सांख्यकारिका
सांख्यका० माठरवृ०	सांख्यकारिका-माठरवृत्ति
सांख्यतत्त्वकौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सिद्धिवि०	सिद्धिविनिश्चय
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका
सूत्रकृताङ्गटी०	सूत्रकृताङ्गटीका
सौन्दर०	सौन्दरनन्द
स्थाना०	स्थानाङ्गसूत्र
स्फुटार्थ अभि०	स्फुटार्थ-अभिधर्मकोश-व्याख्या
स्या० रत्ना०	स्याद्वादरत्नाकर
स्वतन्त्रचिन्तन	कर्नल इंगरसोल कृत
हेतुबि०	हेतुबिन्दु
हेतुबि० टी०	हेतुबिन्दुटीका
हेमप्रा०	हेमचन्द्रप्राकृतव्याकरण